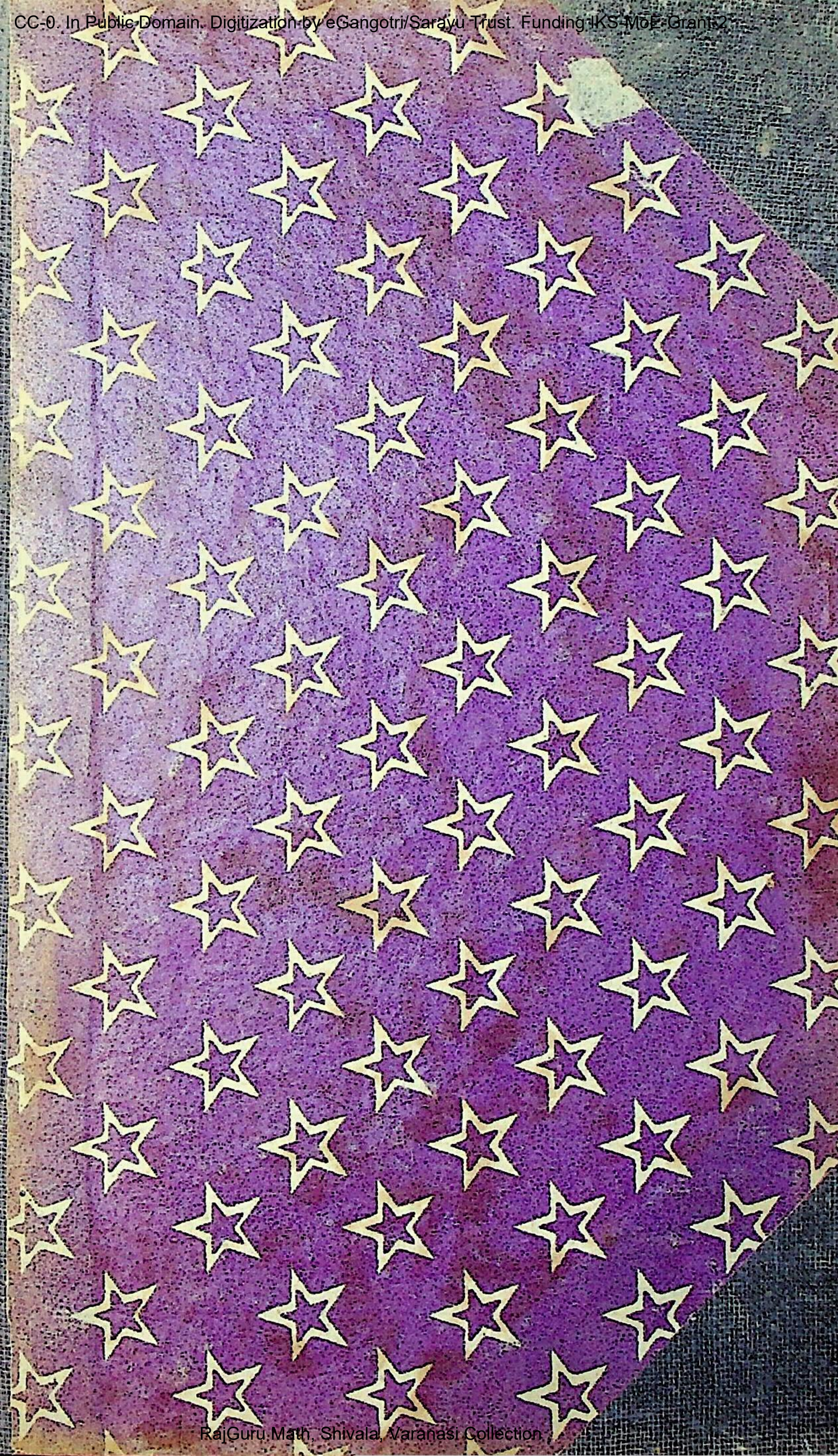


परामर्श

(हिंदी)

खण्ड १२ अंक ३

जून, १९९१ / वैशाख–ज्येष्ठ, २०४७

संपादक

सुरेन्द्र बारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद

आनन्दप्रकाश दीक्षित मो. प्र. मराठे

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

परामर्श (हिन्दी)

□ पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक पत्रिका

□ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे □ राजेन्द्र प्रसाद □ आनन्दप्रकाश दीक्षित □ मो. प्र. मराठे

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल □ रमाकान्त सिनारी □ विजयकुमार भारद्वाज □ शारदा जैन संगमलाल पांडे □ आर्. बालसुब्रमणियन् □ अशोक रा. केळकर □ के. जे. शाह □ नारायणशास्त्री द्राविड □ के. सच्चिदानंद मूर्ति □ जी. सी. नायक □ ग. ना. जोशी □ मोहनलाल मेहता □ जे. फाईस □ सुमन गुप्ता □ रा. स्व. भटनागर

कार्यकारी संपादक : चन्द्रकान्त बांदिवडेकर □ सु. ए. भेलके □ मीना अ. केळकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें; संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या डिमांड ड्राफ्ट के द्वारा इस पते पर भेजा जाए : संपादक, परामर्श (हिंदी), दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने के भीतर कार्यालय में मिल जाए, तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१) संस्थाओं के लिए	रु. ४०-००
(२) व्यक्तियों के लिए	रु. ३०-००
(३) छात्रों के लिए	रु. २०-००
एक प्रति	रु. ८-००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १२५०-००
व्यक्तियों के लिए रु. ३००-००

□ राशि मनिऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट के माध्यम से ही भेजें।

आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

हिन्दी नवगीत में मिथकीय सन्दर्भ : प्रयोग और औचित्य

मिथक जातीय जीवन की गतिशील चिन्तन-परम्परा होते हैं। यों वे स्वच्छ और निर्मल दर्पण हैं जिनमें कोई भी जाति अपने विश्वासों, परम्पराओं, जीवन मूल्यों, आस्थाओं, सांस्कृतिक उत्थान-पतन, संघर्षों, विजयों-पराजयों समष्टि-गत विचारों, आदर्शों, कल्पनाओं, इच्छाओं, आकांक्षाओं, स्वप्नों, अनुभवों और सम्वेदनों के प्रतिबिम्ब देखती है।[1] किसी जाति के मिथक उसकी पहचान होते हैं। इनकी मूल्यवत्ता, इनकी पुरातनता, परम्परा और गतिशीलता में होती है। प्रवहमान जीवनधारा को प्रतीकित करते हुए मिथक काव्य और धर्म के बीच का सेतु बन कर लोक-जीवन को समृद्ध करते हैं। ये प्रकृति और आदिम विश्वासों से मानव को अविच्छिन्न रूप से सम्बन्धित रखते हैं। ये समष्टिगत जीवन की अमूर्तताओं को इतिवृत्तात्मक आधार प्रदान करते हैं। लोक-जीवन के गहरे विश्वास इनका आधार होते हैं इसीलिए ये "मिथ्या कल्पना या युटोपिया न होकर सत्य के मूल तक पहुँचने का एक नैतिक उपक्रम"[1] होते हैं। अंग्रेजी के Myth (मिथ) के रूपान्तरण के रूप में प्रचलित मिथक शब्द का हिन्दी में सर्व प्रथम प्रयोग आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया था। उन्होंने इन्हें मिथुनी कृत मनुष्य भावों का बिम्ब[2] कहा था। ये पुराकथा, इतिहास, पुराण, धर्मकथा, कल्पकथा, गाथा नाराशंसी, लोक-गाथा और लोक-विश्वासों का अद्भुत संगम होते हैं। इन सबके तत्त्व मिथक में किसी न किसी रूप में अनुस्यूत रहते हैं। लौकिक विश्वासों की दृढ़ भूमि पर अवस्थित इन कथाओं को इतिहास के किसी साक्ष्य की अपेक्षा नहीं होती। इसकी जड़ें सुदूर अतीत के उस धुंधले और तमसावृत काल तक जा पहुँचती है जहाँ सम्भवत: प्रागैतिहासिक

परम्पराएँ भी झांकी नहीं जातीं। " मिथक अतीत की घटनाओं से जुड़े होने पर भी वर्तमान के सामूहिक राष्ट्रीय जीवन के सन्दर्भ में नई अर्थवत्ता की तलाश करते हैं।[३] मिथक की शक्ति–सामर्थ्य का पता इसी बात से चल जाता है कि यह निरक्षर व्यक्ति के पास जितनी आस्था–निष्ठा से रहता है उतनी ही आस्था निष्ठा से यह बुद्धिमान् और विद्वान् व्यक्ति के साथ रह कर उसकी रचना–धर्मिता और सृजनशीलता को प्रभावित करता है। "[४]

मिथक कथा–तत्त्व के रूप में संघटित होता है। प्रबन्धत्व उसका अनिवार्य उपादान है। इसलिए उसे " विचारणा एवं आलोचना–शक्ति से सर्वथा शून्य आदिम चेतना की स्वतःस्फूर्त उद्भावना को व्यक्त करनेवाली कथा के रूप में परिभाषित किया गया है, जिसमें "अतिमानवीय व अतिप्राकृतिक कार्यों का वर्णन हो।"[५] यह कहा जा चुका है कि मिथकीय सत्य एवं ऐतिहासिक सत्य में मौलिक अन्तर होता है क्योंकि मिथक अखण्ड श्रद्धा और प्रबल विश्वास (या अन्धविश्वास) पर आधारित है और इतिहास घटित सत्य पर। इतिहास सत्य विज्ञान पर आधारित है और मिथकीय सत्य कर्मकाण्डों पर। वस्तुतः मिथक प्रतीकीकरण की प्रक्रिया के नित्य नवीन बने रहने के कारण शाश्वत और अमर हो जाता है; फिर भी हर स्थिति में कथा–तत्त्व उसका मेरुदण्ड होता है। कथा-तत्त्व की प्रधानता के कारण मिथक का प्रयोग प्रबन्ध कृतियों के लिए तो पूर्ण उपयुक्त रहता है, परन्तु गीतिकाव्य की ऋजु, तरल और संवेदनशील प्रकृति के वह अधिक उपयुक्त नहीं बैठता। गीतकार तो मिथक का प्रयोग शैल्पिक उपादान के रूप में ही कर सकता है, जबकि प्रबन्धकार समूचे मिथक को नयी प्रतीकात्मक अर्थवत्ता दे कर सांस्कृतिक पुनर्जागरण और पुनर्व्याख्या का कार्य करता है और मिथक की चिरन्तनता को भी सुरक्षित रखता है। आत्माभिव्यञ्जन की तीव्रता, प्रखर रागात्मकता, तरल संवेदनशीलता, मार्मिकता, ऋजुता, संक्षिप्तता और संगीतात्मकता आदि सभी तत्त्व गीतिकाव्य को मिथक के अधिक और पूर्ण प्रयोग से रोकते हैं, क्योंकि मिथक में प्रतीकात्मकता रहती ही है और "जो कवि अपने वक्र व्यापार को एक हल्की छुअन के साथ भाव के प्रकृत सौन्दर्य को उभारना जानता है वही सफल गीतिकार हो सकता है। बिम्बों और प्रतीकों की तह पर तह लगा कर भाव की तीव्रता को दफना देने वाला कवि गीति रचना में सफल नहीं हो सकता।"[६]

'नवगीत' सातवें दशक के प्रारम्भ में नई कविता के समान्तर जन्मी सहज काव्य–प्रवृत्ति है। वस्तुतः आधुनिकता के जिस खुरदुरे यथार्थ ने जीवनगत विसंगतियों को प्रकट करने के लिए नयी कविता में गद्यात्मकता का आश्रय लिया, उसी को थोड़े नये शैल्पिक विधान के साथ 'नवगीत' ने ग्रहण कर लिया।

इसमें युग अपनी समग्रता के साथ उपस्थित है। नवगीत में बौद्धिकता की उत्तप्त चेतना है, रोमान की अस्वीकृति है, परम्पराओं की नकार है, अनास्था है; युगबोध से उपजा अजनबीपन है, संस्कारों से मुक्ति की माँग है, सामाजिक और राज-नीतिक यथार्थ का खुरदुरापन है, जीवनगत संघर्ष है, प्रणय की भूख की सहज स्वीकृति है, जीवनगत विसंगतियाँ और विषमताए हैं, जूझता, टूटता और निरन्तर गतिपथ की ओर बढ़ता मानव है, नया सौन्दर्य-बोध है, आधुनिकता के स्वर हैं, और सहज अनुभूति की आँच। इस सबको सहज रागात्मक चेतना के साथ अभिव्यक्त करने के लिए गीतकार ने जिस शिल्प को अपनाया हैं उसमें संक्षिप्तता है। नये अप्रस्तुत, नये बिम्ब, नये प्रतीक और नया छन्द-विधान है। लयात्मक संगीत है जिसमें पुरानी गीतात्मकता के कई प्रतिमान या तो टूट गए हैं या परिवर्तित हो गए हैं। इन गीतों में सम-सामयिकता तो है ही, उसे व्यक्त करने का जो व्यंग्यात्मक तेवर है, वह उन्हें 'नवता' प्रदान करता है। प्रणय की पुकार हो, या टूटती आस्थाओं का दर्द, नये मूल्यों का स्वागत हो या पुरातन की विदाई का कष्ट, लोक–जीवन से सम्पृक्ति हो या महानगरीय संत्रास का पीडा–जनक चित्रण, प्रकृति के प्रति अनुराग हो या प्रणय की वासना का धरातल–छूती सहजता, इन का शिल्प ही इनकी सहज स्वीकृत विशेषता है। इसकी दूसरी सहज-स्वीकृत विशेषता है भावुकता के अतिवादी स्वरों का तिरस्कार। यह सहज मानवता का गीत है। यह तितली को पंख से, फूलों को गंध से, लय को मानवता से, और मन को संवेदन से जोड़ने वाला गीत है। इसने भावुकता और समाप्त–प्राय छन्दों को रूढ़ियों को तोड़ दिया है; यह जीने की शर्तों से जुडा हुआ है और अंकुराती पीढ़ी का नवप्रयास है।" [७] उसमें यदि स्वर, तुक, ताल और पुरातन मूल्य नहीं है तो न सही, स्पन्दित होता युग का हर भूचाल तो है, अनिवार्य रूप से है। [८]

नवगीत ने अपने अभिनव शिल्प-विधान में मिथक को भी महत्त्व दिया है। यद्यपि यह कहा जा चुका है कि मिथक की प्रवृत्ति के कारण गीत में उसकी स्वीकृति सम्पूर्णतः सम्भव नहीं है, परन्तु युग-बोध को वाणी देने, सामाजिक धारणाओं के खण्डन-मण्डन, जीवन-गत यथार्थ को अधिक क्षिप्र बनाने और जीने की यातना, संघर्ष और जिजीविषा को प्रकट करने के लिए मिथकों का प्रयोग बिम्ब-प्रतीक, अलंकार या अप्रस्तुत के रूप में हुआ है। मिथक के प्रयोग से नवगीतकार ने शिल्प-विधान में रमणीयता, तीव्रता एवं कथ्य में प्रभावोत्पादकता उत्पन्न की है। गीत को बोधगम्य और जनसामान्य के लिए सरल भी बनाया है। मिथकीय सन्दर्भों के प्रयोग से भाषा को गरिमा और कथ्य को एक नयी भंगिमा मिल गयी है। इनसे कथन में प्रामाणिकता भी आयी है।

नवगीत में मिथकीय सदन्भों का सर्वाधिक प्रयोग युगबोध की अभिव्यक्ति के लिए किया गया है। आधुनिक युग की जीवनगत विसंगतियों और प्राणघाती यंत्रणाओं को विविध मिथकों के प्रयोग से बडी सार्थकता से व्यक्त किया गया है। बीसवीं सदी यान्त्रिकता का वरदान (या अभिशाप) ले कर आयी है। यह आत्मयन्त्रणा को लेकर चल रही है। इस सदी में सत्य पराजित है। पौरुष पराजित है, और वेदना केवल अकेले अकेले सहने को है। पीड़ा द्रौपदी की तरह सभा के मध्य लज्जा खो रही है। इस युग-सत्य को महाभारत के प्रसिद्ध मिथकीय बिम्ब के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है –

"हर सत्य का युधिष्ठिर बैठा है मौन सहने / ये पार्थ, भीम सारे आए हैं ज़ुल्म सहने / आँसू हैं चीर जैसे, हर औरत द्रोपदी है। यह बीसवीं सदी है।"[९]

इस तरह के मिथकीय विम्बों के प्रयोग से कथ्य की जीवन्तता और सामर्थ्य बहुत बढ़ गयी है। यद्यपि मिथकीय बिम्बों का प्रयोग थोड़ा कठिन कार्य है क्योंकि "मिथ मनुष्य की सामूहिक चेतना की उपज है और बिम्ब व्यक्ति-चेतना की।"[१०] बिम्ब को ग्रहण करने के लिए केवल अनुभूति की गहनता और संवेदन-शीलता ही पर्याप्त है, जबकि मिथक को ग्रहण करने के लिए एक पूरे सांस्कृतिक सन्दर्भ से परिचित होने तथा गहन विश्वास से संयुक्त होने की आवश्यकता है। और एक कठिनाई यह भी है कि बिम्ब की प्रवृत्ति स्थिरता की है और मिथक गतिशील एवं बराबर परिवर्तित होने वाले सीमान्तों से युक्त होता है। फिर भी मिथकीय विम्बों का प्रयोग हुआ है और पूरी सार्थकता के साथ हुआ है। आधुनिक युग की असत्य जीवन-स्थितियों को देख कर भी शान्त रह जाने वाले मानव को उत्प्रेरित करने के लिए राजा शिवि और कपोत के मिथकीय विम्ब को उपादान बना कर प्रस्तुत किया गया है –

"बाज जब कपोत को / दबोच ले / और शिवि / समर्पण की सोच ले/ ऐसे में भी / क्यों नहीं तिरी / आँखों में ज्वलित और रक्तिम।"[११]

आज जीवन बहुत क्षिप्रता से बदल रहा है। यह परिवर्तनों की सदी है। क्षिप्रता से बदलाव हो रहे हैं। राजनीतिक व्यवस्थाएं बदल रही हैं, मानसिकता बदल रही है। व्यवस्थाओं के सूत्रधार बदल रहे हैं, परन्तु आम आदमी के जीवन की यन्त्रणा नहीं बदल रही। जीवन वनवास हो गया है, राम का वनवास। परन्तु जीवन की यन्त्रणाएं नहीं बदल रहीं। यही स्थिति एक नये ढंग से रामकथा के मिथकीय बिम्ब के माध्यम से व्यक्त की गयी है –

"जो समय के फेर का बन्दी / राम का वनवास है जीवन / रोज कैकेयी बदलती है। मन्थराएँ तो नहीं बदलीं।"[१२]

कहीं स्थिर, कहीं गत्यात्मक और संश्लिष्ट बिम्बों के माध्यम से नवगीतों में जीवन-गत यन्त्रणा और पीड़ा को व्यक्त किया गया है। ये मिथकीय बिम्ब कथ्य को रमणीयता और भव्यता दे सके हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में बढ़ते हुए औद्योगीकरण ने महानगरी-करण को प्रश्रय दिया। महानगर केवल धरती पर नहीं, जीवन में भी प्रवेश करते गए। महानगर में व्यक्ति भीड़ का अंश बन जाता है, वह अपनी अस्मिता खो देता है। सारे चेहरे, सारी पहचानें और एक दूसरे को अलगाने वाले सारे तत्त्व खो जाते हैं। जीवन के भावुक और संवेदनशील क्षण खो जाते हैं। महानगरीय बोध को समग्रता के साथ ग्रहण करते हुए नवगीतकारों ने अनेक रचनाओं का सृजन किया है – चन्द्रसेन विराट (नित घोल रहा नसनस में मधुर जहर। यूं मन को मार रहा है महानगर–भीतर की नागफनी पृ. १०–११) कुंअर बेचैन (ऊपर लेबिल अमृत का है। भीतर भरा जहर। जिस बोतल में कैद हुआ हूँ उसका नाम शहर–भीतर सांकल बाहर सांकल–पृ. २२) रमेश रंजक, उमाकान्त मालवीय, कुमार रवीन्द्र, किशन सरोज, और बालस्वरूप राही आदि ने अनेक गीतों में इस महानगरीय जीवन की यंत्रणाओं को प्रकट किया है। गीतकार अमरनाथ श्रीवास्तव ने द्वारिका और मथुरा के द्वापरयुगीन मिथकीय बिम्ब के माध्यम से इस बोध को प्रकट किया है। द्वारिका ऐसा स्थल है जिसने कृष्ण को जीवन के दुर्दान्त कर्मक्षेत्र में फेंक दिया था और वे जीवन की भावुकता, मथुरा, यमुना, गोपग्वाल, गोपियों और वृन्दावन से इतनी दूर चले गए थे कि फिर लौट कर उधर देख भी नहीं सके थे। इसलिए गीतकार कहता है हे महानगर 'तुम्हें द्वारिकापुरी पर पूरा-पूरा हक है उसके साथ रहो या उसे अपने साथ रखो; परन्तु यमुना तट पर बैठी हुई मथुरा की उस शाम को मेरे पास छोडते जाओ। जीवन में संवेदनशीलता की कमी की कचोट और उसके प्रति यह गहन अनुरक्ति यों है।–

"महानगर द्वारिकापुरी पर। तुमको पूरा हक है लेकिन। जमुना तट पर बैठी मथुरा की। यह शाम छोड़ते जाओ।"[१]

नवगीतों में द्रौपदी, अभिमन्यु और कृष्ण के मिथकों का बहुतायत के साथ प्रयोग हुआ है। कोई लक्ष्य, कोई उद्देश्य और कोई बडी अभिलाषा न होते हुए भी हम जीने को विवश हैं। जीवन में पीड़ा है, अनास्था है, यन्त्रणा है, फिर भी जीने की विवशता है। कहीं यह विवशता सभा के बीच विवश खडी द्रौपदी और पांसे फेंकते धर्मराज युधिष्ठिर (सत्यनारायण–नवगीत अर्द्धशती–२६७) के मिथक से अभिव्यक्त हुई है, और कहीं विवशता से पंख कटाने वाले जटायु के मिथक से (रमेश चन्द्र पन्त–नवगीत–अर्द्धशती–पृ. १९४) और जीवन की

लक्ष्य–हीनता, या जीवन में किसी उदात्त उद्देश्य के अभाव को इस पीढी के जीवन में सिंहासन और जड़ाऊ मुकुट को ही नहीं, राम की खड़ाऊं के सेवने के अवसर के अभाव को प्रकट करके किया है। राम खड़ाऊं का मिथक जीवन की महानता को संकेतित करता है। इसी प्रकार मानव–जीवन में आज धूर्तता घर कर गई है, सहजता खो गई है। मनुष्य एक दूसरे को ठगने में लगा हुआ है। हम अपनों के लिए ही गड्ढे खोदने में लगे हुए हैं। स्वार्थ और धूर्तता आज मानव के अस्त्र बन गए हैं। इस कट्टु, कठोर स्थिति को प्रकट करने के लिए नवगीतकार को शकुनि के मिथक का सन्दर्भ सर्वोपयुक्त लगा है। इसीलिए उसने बात को यों कहा–

"धूप के हुए। न कभी छांव के हुए। हम जब भी हुए। शकुनि दांव के हुए। फेंके हमने। झूठे वचनों के पांसे। जैसे कोई। धीवर मछली को फांसे × × लाक्षागृह। षड्यन्त्रों के सुघड़ बनाएं। अपने ही। स्वजन हमें शत्रु नजर आए।"[१४]

माना कि जीवन कष्टप्रद हो गया है। जीवन में बहुत कुछ ऐसा है जो पीडादायक है, जिजीविषा को सोखता है, यातनाएं बढ़ाता है, आत्मीयता का औपचारिकता में पर्यवसान है, ऊब है, ऊब से उत्पन्न संशय, तनाव, व्यस्तता; भीड़भाड़, निराशा, कुण्ठा, अनास्था, घबराहट, हृदय–हीनता, सडकें, भीड़, बसें, दुर्घटनाएं, चीखें, रोजी–रोटी का संकट, बौने होते आदमी, मूल्य–संकट, आदि बहुत कुछ है, जो आदमी को निरन्तर कष्ट देता है। परन्तु इस सबके बावजूद बहुत कुछ ऐसा भी है जिसे ले कर जिया जा सकता है। मानव के पास आस्था भी तो है। कम से कम कवि के पास बहुत–कुछ है। उसके पास उसकी रचना-धर्मिता का वरदान है, उसकी परम्परा है, उस परम्परा के गलत बिन्दुओं को तोड़ने का साहस भी है। परम्पराओं के तोड़ने की इस शक्ति और नया समाज गढ़ने की ललक को कई कवियों ने शिवधनुष और सीतास्वयंवर के मिथक से व्यक्त किया है। कहीं कवि के लिए ये तोडी गयी परम्पराएं जीवन के व्यापक सन्दर्भों की थीं, और कहीं गीत–रचना में छन्द की परम्परा के रूप में। गीतकार देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' ने गीत के स्वयंवर में छन्द की प्रत्यंचा तोड़ने की बात कही है और गिरिजाकुमार माथुर ने परम्पराओं के शिव–धनुष के अपने द्वारा अनायास टूट जाने का संकेत किया है (क्या हुआ। जो शम्भु–धनु टूटा तुम्हारा। तोड़ने को मैं विवश हूँ – अन्तराल)

इन मिथकीय बिम्बों से भाषा की क्षमता बढी है। अभिव्यक्ति में वक्रता, प्रामाणिकता और पैनापन आया है, क्योंकि इनमें पूरे सन्दर्भ को प्रतीकात्मकता मिल गयी है। कहीं–कहीं पूरे सन्दर्भ या घटना को प्रतीक बनाने के स्थान पर

कवियों ने मिथकीय पात्रों को प्रतीकात्मकता सौंपी है। एकलव्य शिष्य-परम्परा का एक उदात्त मिथक है। ज्ञान की साधना में रत, गुरु के द्वारा उपेक्षित हो कर भी वह एकान्त साधना कर के ज्ञान का सागर-संतरण कर सका और फिर भी जिसने गुरु-दक्षिणा चुकाई। एकलव्य के नाम के मिथकीय प्रतीक का प्रयोग कवि ने अपनी (कवि की) जातीय चेतना के लिए किया है – (हमसे ही जीवित है। इतिहासों में। एकलव्य की परम्परा–देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'– नवगीत अर्द्धशती पृ १२८) इसी तरह नहुष को राज्य-व्यवस्था या शासन-व्यवस्था का प्रतीक बनाया गया है (हमने कब ढोयी है पालकी नहुष की – वहीं)

प्रतीक भाषा को रमणीयता और अर्थ-गाम्भीर्य सौंपने वाले साधन हैं। प्रतीक किसी वस्तु या भाव अथवा गुण की सूचना देने वाले विधान हैं। परिस्थिति तथा सन्दर्भ के अनुसार प्रतीकों के अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है। फिर मिथक तो यों भी सतत गतिशील कथा-परम्परा होते हैं। इसलिए प्रयुक्त पात्रों या संकेतों के प्रतीकात्मक प्रयोग से अर्थ-वैचित्र्य का लक्ष्य आसानी से पूरा कर लेता है। 'दधीचि' का मिथक सर्वविदित है। अपनी हड्डियाँ देवहित के लिए दान दे कर दधीचि ने त्याग का एक अपूर्व आदर्श स्थापित किया था। स्वतन्त्रता से पूर्व जिन्होंने सर्वस्व दान किया था, स्वतन्त्रता लाने के लिए जो प्राणपण से जुटे रहे, वे ही स्वातन्त्र्योत्तर भारत में उपेक्षित रहे। कवि अनिलकुमार गौड़ ने दधीचि के मिथकीय प्रतीक का इसी सन्दर्भ में प्रयोग किया है (हड्डी-हड्डी दे कर। मर गया दधीचि। जुटे हुए हैं कुत्ते / गीध काक नीच – नवगीत अर्द्धशती- पृ ५०)। इसी प्रकार नवगीतकारों ने अन्य अनेक मिथकीय प्रतीकों के आधुनिक संवेदना को व्यक्त करने वाले सार्थक प्रयोग किए हैं यथा–सुधा कलश (सुधा कलश लुढ़का कर मरु में – राजेन्द्र गौतम – नवगीत दशक – ३ पृ. ३९) चक्रव्यूह (चक्रव्यूह में घायल मुक्ति छीन लाए–घनश्याम अस्थाना – नवगीत अर्द्धशती – पृ. १००) द्रौपदी का चीर (योगेन्द्र दत्त शर्मा – खुशबुओं के दंश–पृ ५२) फूल में दुबका तक्षक और परीक्षित (फूल दुबके तक्षकों से क्षण हुए / और यह मन परीक्षित का वश -) वहीं – पृ. ६०) धृतराष्ट्र, गान्धारी (वहीं – पृ. ६६) नचिकेता व यम (नचिकेता के शिखर-स्नेह से यम की आँख भरी–उमाकान्त मालवीय–एक चावल नेहरींधा–पृ. ८८) और अभिमन्यु (क्या हुए अभिमन्यु के वे व्यूह भेदी दाँव – श्रीकृष्ण तिवारी – नवगीत दशक – २ पृ. ११२) आदि मिथकीय प्रतीकों के भी बड़े सार्थक, समर्थ और प्राणवान प्रयोग हुए हैं। गीतकारों ने इनके माध्यम से कथ्य को बहुत रमणीय और भव्य बना कर प्रस्तुत किया है, और शिल्प-कौशल का परिचय दिया है।

मिथक के अनेक स्त्रोत हैं। पुराण, धर्म, इतिहास, लोक-गाथा, दन्त कथा, किम्वदन्ती और परम्परा आदि सभी क्षेत्रों से मिथक अपने सृजन की सामग्री खोज लेते हैं। साहित्य की बहुत सी कृतियाँ, पात्र तथा घटनाएं भी मिथक बन जाती हैं – कुछ अपने जीवन-काल में ही, और कुछ कुछ काल गुजर जाने के बाद। मेघदूत का यक्ष और कामायनी के मनु एक समर्थ और सार्थक 'मिथ' बन चुके हैं। प्रणय का कथानक सहस्त्राब्दियों पुराना है या यों कहें कि शायद उतना पुराना है जितनी पुरानी मानव-जाति है तो अतिशयोक्ति न होगी। इस चिर-पुरातन कथानक को हर कवि ने चिर नवीन बना के रखा है। यह नित नया है। मनुष्य-जाति की समाप्ति के साथ भले प्रणय कथाएं समाप्त हों; अन्यथा वे नित नवीन हो कर अमर हैं। इस संवेदना को कामायनी के मिथक के माध्यम से चन्द्र सेन विराट् ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

"वही है महाकाव्य मनु की व्यथा का / कि शायद तभी गीत अन्तिम लिखें हम। कि जब आखिरी क्षण निकट हो प्रलय का।"[१५]

क्रौञ्च युगल का अहेरी द्वारा वध और क्रौञ्च वध से वाल्मीकि के मन में उपजी करुणा से काव्य का प्रस्फुटन भारतीय सन्दर्भों में पुराकाल से चला आता हुआ मिथक है। यह मिथक कवियों की सर्जना-शक्ति में करुणा का प्रतिपादन है। यह गीतकारों को बहुत प्रिय है। कई गीतकारों ने इस मिथक का सार्थक प्रयोग किया है यथा–

१. जब सृजन क्रौञ्च के वध को निकले। तीर नये तीखे। तब तब।
रत्नाकर वाल्मीकि सबको। बनते दीखे[१६]

२. क्रौञ्च के वंशधर। जब भी उड़ानों के लिए। निकले खुले आकाश में।
तब तब। अहेरी की कुटिलता ने इन्हें बांधा। जकड़ कर पाश में।[१७]

यहाँ प्रथम में क्रौञ्च सृजन का प्रतीक है और द्वितीय में स्वयं सर्जक का।

नवगीतों में कहीं-कहीं कवियों ने मिथकीय सन्दर्भों को थोड़ा सा परिवर्तन करके भी कथन की वक्रता और कथ्य के पैनेपन को बढ़ाया है। जैसे राम और इन्द्र-पुत्र जयन्त के मिथक में जयन्त को राम के बाप से भयभीत हो कर भागना पड़ा था और त्रिभुवन में किसी की शरण न मिलने पर अन्ततः राम की शरण में आना पड़ा था। परन्तु कवि ने मेहनतकश को राम और व्यवस्था के सूत्रधारों को कौवा बता कर मेहनतकश के कष्ट को इस प्रकार व्यक्त किया है –" मेहनत कश वनवासी को। कौवों ने रुला दिया (रमेशचन्द्र पन्त – नवगीत अर्द्धशती पृ. ९४)

कहीं-कहीं संश्लिष्ट मिथकों के प्रयोग भी हुए हैं। सलीब पर लटका हुआ मनु (ईसा और मनु के मिथक का समन्वित रूप) रन्तिदेव और शाइलॉक (स्वयं भूखा होने पर भी भोजन याचक को दे देने वाला रन्तिदेव और कानून के नाम पर ऋणी का माँस काटने की आज्ञा चाहने वाला शाइलॉक का संश्लिष्ट रूप) आदि ऐसे ही संश्लिष्ट मिथकीय प्रयोग हैं।

अप्रस्तुत योजना काव्य-शिल्प की सबसे बडी कसौटी है, यह कवि के अर्थों के शरीरीकरण का उपाय है। अप्रस्तुत योजना के द्वारा काव्यगत भावसादृश्य के लिए संवेदनशील बनता है। कवि जितना ही भावप्रवण एवं सहृदय होगा उतनी ही उसकी अप्रस्तुत योजना मार्मिक एवं अखण्ड आनन्द का स्त्रोत होगी। "... अनुभूतियों का परस्परान्वय, अर्थों का घनी-भाव, केन्द्रीकरण और अर्थों के सूक्ष्म स्वरों की एक साथ प्रतिष्ठा काव्य के अप्रस्तुत विधान पर ही आधृत है। काव्यानुभूति की अभिव्यक्ति और उसके सम्प्रेषण के लिए तो यह अनिवार्य ही है"[१८] अप्रस्तुत विधान में भी नवगीतकारों ने मिथकीय पात्रों, घटनाओं और सन्दर्भों का सफल प्रयोग किया है। कबन्ध, तक्षक, परीक्षित अभिमन्यु, सुरसा, रावण, पचवटी, धृतराष्ट्र, गान्धारी, अश्वत्थामा, एकलव्य आदि को अप्रस्तुत के रूप में बडी कुशलता और सिद्ध-हस्तता के साथ प्रयोग में लाया गया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

i) यह कबन्ध सा युगबन बैठा। मूल्यों का पर्याय [१९]
ii) मणि हारे तक्षक सी। बस्ती की है। नींद हराम [२०]
iii) अश्वत्थामा के घायल मस्तक सी। यह जो झिल मिल होती शाप की मणी [२१]
iv) रति सी लाज घोल तालों में [२२]
v) कर्जे की सुरसा को किस तरह उतारें [२३]
vi) संवराये घन वीथी सौदामिनी गोरी
जैसे कान्हा की बाँहों में हो ग्वालिन छोरी [२४]

इन उद्धरणों में नवगीतकारों के अप्रस्तुत विधान की सामर्थ्य व्यंजित है। इन मिथकीय अप्रस्तुतों के प्रयोग द्वारा कवियों ने अपनी संवेदना को अधिक प्रामाणिक और मार्मिक बना दिया है।

नवगीत युग की गीतात्मक अभिव्यक्ति है। यह आधुनिक युग की संवेदनात्मक पुकार है। इसमें शिल्प की सहजता और सार्थकता के लिए मिथकीय सन्दर्भों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। ये मिथकीय सन्दर्भ प्रतीक, बिम्ब, अप्रस्तुत

मिथक के अनेक स्त्रोत हैं। पुराण, धर्म, इतिहास, लोक–गाथा, दन्त कथा, किम्वदन्ती और परम्परा आदि सभी क्षेत्रों से मिथक अपने सृजन की सामग्री खोज लेते हैं। साहित्य की बहुत सी कृतियां, पात्र तथा घटनाएं भी मिथक बन जाती हैं – कुछ अपने जीवन-काल में ही, और कुछ कुछ काल गुजर जाने के बाद। मेघदूत का यक्ष और कामायनी के मनु एक समर्थ और सार्थक 'मिथ' बन चुके हैं। प्रणय का कथानक सहस्त्राद्वियों पुराना है या यों कहें कि शायद उतना पुराना है जितनी पुरानी मानव–जाति है तो अतिशयोक्ति न होगी। इस चिर–पुरातन कथानक को हर कवि ने चिर नवीन बना के रखा है। यह नित नया है। मनुष्य–जाति की समाप्ति के साथ भले प्रणय कथाएं समाप्त हों; अन्यथा वे नित नवीन हो कर अमर हैं। इस संवेदना को कामायनी के मिथक के माध्यम से चन्द्र सेन विराट् ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

"वही है महाकाव्य मनु की व्यथा का / कि शायद तभी गीत अन्तिम लिखें हम। कि जब आखिरी क्षण निकट हो प्रलय का।"[१५]

क्रौञ्च युगल का अहेरी द्वारा वध और क्रौञ्च वध से वाल्मीकि के मन में उपजी करुणा से काव्य का प्रस्फुटन भारतीय सन्दर्भों में पुराकाल से चला आता हुआ मिथक है। यह मिथक कवियों की सर्जना–शक्ति में करुणा का प्रतिपादन है। यह गीतकारों को बहुत प्रिय है। कई गीतकारों ने इस मिथक का सार्थक प्रयोग किया है यथा–

१. जब सृजन क्रौञ्च के वध को निकले। तीर नये तीखे। तब तब।
रत्नाकर वाल्मीकि सबको। बनते दीखे[१६]

२. क्रौञ्च के वंशधर। जब भी उड़ानों के लिए। निकले खुले आकाश में।
तब तब। अहेरी की कुटिलता ने इन्हें बांधा। जकड़ कर पाश में।[१७]

यहाँ प्रथम में क्रौञ्च सृजन का प्रतीक है और द्वितीय में स्वयं सर्जक का।

नवगीतों में कहीं–कहीं कवियों ने मिथकीय सन्दर्भों को थोड़ा सा परिवर्तन करके भी कथन की वक्रता और कथ्य के पैनेपन को बढ़ाया है। जैसे राम और इन्द्र–पुत्र जयन्त के मिथक में जयन्त को राम के बाप से भयभीत हो कर भागना पड़ा था और त्रिभुवन में किसी की शरण न मिलने पर अन्ततः राम की शरण में आना पड़ा था। परन्तु कवि ने मेहनतकश को राम और व्यवस्था के सूत्रधारों को कौवा बता कर मेहनतकश के कष्ट को इस प्रकार व्यक्त किया है –" मेहनत कश वनवासी को। कौवों ने रुला दिया (रमेशचन्द्र पन्त – नवगीत अर्द्धशती पृ. ९४)

कहीं-कहीं संश्लिष्ट मिथकों के प्रयोग भी हुए हैं। सलीब पर लटका हुआ मनु (ईसा और मनु के मिथक का समन्वित रूप) रन्तिदेव और शाइलॉक (स्वयं भूखा होने पर भी भोजन याचक को दे देने वाला रन्तिदेव और कानून के नाम पर ऋणी का माँस काटने की आज्ञा चाहने वाला शाइलॉक का संश्लिष्ट रूप) आदि ऐसे ही संश्लिष्ट मिथकीय प्रयोग हैं।

अप्रस्तुत योजना काव्य-शिल्प की सबसे बडी कसौटी है, यह कवि के अर्थों के शरीरीकरण का उपाय है। अप्रस्तुत योजना के द्वारा काव्यगत भावसादृश्य के लिए संवेदनशील बनता है। कवि जितना ही भावप्रवण एवं सहृदय होगा उतनी ही उसकी अप्रस्तुत योजना मार्मिक एवं अखण्ड आनन्द का स्त्रोत होगी। "... अनुभूतियों का परस्परान्वय, अर्थों का घनी-भाव, केन्द्रीकरण और अर्थों के सूक्ष्म स्वरों की एक साथ प्रतिष्ठा काव्य के अप्रस्तुत विधान पर ही आधृत है। काव्यानुभूति की अभिव्यक्ति और उसके सम्प्रेषण के लिए तो यह अनिवार्य ही है"[१८] अप्रस्तुत विधान में भी नवगीतकारों ने मिथकीय पात्रों, घटनाओं और सन्दर्भों का सफल प्रयोग किया है। कबन्ध, तक्षक, परीक्षित अभिमन्यु, सुरसा, रावण, पचवटी, धृतराष्ट्र, गान्धारी, अश्वत्थामा, एकलव्य आदि को अप्रस्तुत के रूप में बडी कुशलता और सिद्ध-हस्तता के साथ प्रयोग में लाया गया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

i) यह कवन्ध सा युगबन बैठा। मूल्यों का पर्याय [१९]
ii) मणि हारे तक्षक सी। बस्ती की है। नींद हराम [२०]
iii) अश्वत्थामा के घायल मस्तक सी। यह जो झिल मिल होती शाप की मणी [२१]
iv) रति सी लाज घोल तालों में [२२]
v) कर्जे की सुरसा को किस तरह उतारें [२३]
vi) संवराये घन बीथी सौदामिनी गोरी
जैसे कान्हा की बाँहों में हो ग्वालिन छोरी [२४]

इन उद्धरणों में नवगीतकारों के अप्रस्तुत विधान की सामर्थ्य व्यंजित है। इन मिथकीय अप्रस्तुतों के प्रयोग द्वारा कवियों ने अपनी संवेदना को अधिक प्रामाणिक और मार्मिक बना दिया है।

नवगीत युग की गीतात्मक अभिव्यक्ति है। यह आधुनिक युग की संवेदनात्मक पुकार है। इसमें शिल्प की सहजता और सार्थकता के लिए मिथकीय सन्दर्भों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। ये मिथकीय सन्दर्भ प्रतीक, बिम्ब; अप्रस्तुत

आदि रूपों में स्वीकृत हुए हैं। कवि इनके प्रयोग में अतिरिक्त सजग है। जहाँ भी मिथक स्वीकृत हुआ है. वह शिल्प के उपादान के रूपमें ही स्वीकृत है। इस रूप में मिथकीय घटनाएं भी ली गयीं हैं और पात्र भी। इन्हें पूरेपूरे बिम्ब के रूप में भी स्वीकृति मिली है, और खण्डित रूप में भी। कुल मिला कर कहा जा सकता है कि शिल्प का उपादान बन कर नवगीतकारों के हाथों मिथकों का भी संस्कार हुआ है, उन्हें नयी अर्थवत्ता और प्रतीकात्मकता मिल गयी है।

राम सनेहीलाल शर्मा

हिन्दी विभाग
एस्. आर्. के. स्नातकोत्तर महाविद्यालय
फीरोज़ाबाद – २८३२०३
(उ. प्र)

टिप्पणियाँ

१. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक – भूमिका – भारतीय मिथक कोश (सम्पादक– डॉ. उषा पुरी विद्या वाचस्पति)
पृ. ८ – प्रथम संस्करण – १९८६ – नेशनल पब्लिशिग हाऊस, नई दिल्ली

२. डॉ. बच्चनसिंह – समकालीन हिन्दी साहित्य,
पृ. ३५ – प्रथम संस्करण – १९६८ – हिन्दी प्रचारक संस्थान-वाराणसी

३. डॉ शंभुनाथ – मिथक और आधुनिक कविता
पृ. १४–१५ – प्रथम संस्करण – १९८५ – नेशनल पब्लिशिग हाऊस, नई दिल्ली.

४. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक – भूमिका – भारतीय मिथक कोश – (सम्पा. डॉ. उषा पुरी विद्यावाचस्पति) – पृ. ११

५. मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खण्ड) सम्पादक – डॉ. नगेन्द्र
पृ. १७७ – १९६५ – राजकमल प्रकाशन दिल्ली

६. गीति–सप्तक (भूमिका) सम्पादक – डॉ. राकेश गुप्त एवं ऋषिकुमार चतुर्वेदी,
(पृ. १३ – प्रथम संस्करण – १९७२ – राजपाल एण्ड सन्स – दिल्ली.

७. तितली को पंख से,
फूलों को गन्ध से
लय को मानवता से
मन को संवेदना से जोड़ेगा
लेकिन भावुकता की
रीत गए छन्दों की रूढ़ियाँ तोड़ेगा
जीने की शर्तों से जुड़ा हुआ
अंकुराती पीढ़ी का नवप्रयास
गीत नया जन्मा –

बाल स्वरूप राही — जो नितान्त मेरी हैं
प्रथम संस्करण – १९७१ – नेशनल पब्लिशिंग
हाऊस – नई दिल्ली.

८. अचरज क्या
यदि नए गीत में
स्वर–तुक–ताल नहीं
उसमें स्पन्दित है
इस युग का
उठता हर भूचाल

विद्यानन्दन राजीव – नवगीत अर्द्धशती
(सम्पा. डॉ. शम्भुनाथ सिंह) पृ. २२७–२२८
प्रथम संस्करण – १९८९ पराग प्रकाशन–दिल्ली.

९. डॉ. कुअर बेचैन – पिन बहुत सारे – पृ. २६
प्रथम संस्करण १९७२ – स्वयं प्रकाशन, गाज़ियाबाद

१०. डॉ. चित्रा शर्मा – कामायनी में प्रतीक–विधान – पृ. २४
प्रथम संस्करण – १९७२ – पंचशील प्रकाशन – जयपुर

११. उमाकान्त मालवीय – सुबह एक पलाश की – पृ. ५२
प्रथम संस्करण – १९७६ – स्मृति प्रकाशन – इलाहाबाद

१२. डॉ कुंअर बेचैन – भीतर सांकल बाहर सांकल – पृ. ६४
प्रथम संस्करण – १९७८ – प्रगीत प्रकाशन – गाज़ियाबाद

१३. अमरनाथ श्रीवास्तव – नवगीत दशक २ – सम्पादक डॉ. शम्भुनाथ सिंह
पृ. १३० – प्र. सं. १९०३ पराग प्रकाशन दिल्ली

१४. इंशाक अश्क – नवगीत अर्द्धशती – पृ. ५५

१५. चन्द्रसेन विराट् – भीतर की नागफनी – पृ. १३
प्र. सं. १९७७

१६. डॉ. रामसनेही लाल शर्मा ' यायावर ' –मन पलाशवन और दहकती सन्ध्या
पृ. १८ – प्रथम संस्करण – १९८७ पोरवाल प्रकाशन – टूण्डला

१७. योगेन्द्रदत्त शर्मा – खुशबुओं के वंश, पृ. ६८
प्रथम संस्करण – १९८६ – काकली प्रकाशन – गाजियाबाद

१८. डॉ. नरेन्द्रमोहन – आधुनिक हिन्दी काव्य में अप्रस्तुत विधान – पृ. ९.
प्रथम संस्करण – १९७२ – नेशनल पब्लिशिंग हाऊस दिल्ली

१९–२०. बुद्धिनाथ मिश्र – नवगीत दशक – ३ – पृ. १०६–१०७

२१. देवेन्द्र शर्मा – ' इन्द्र '; नवगीत अर्द्धशती – पृ. १२८

२२. बुद्धिनाथ मिश्र; वहीं – पृ. १६१

२३. राजकुमारी रश्मि; वहीं – पृ. २०१

२४. उमाकान्त मालवीय – एक चावल नेहरोंधा – पृ. १०१
प्र. सं. १९८३ – स्मृति प्रकाशन – इलाहाबाद

साहित्य का प्रामाण्य

आचार्य कुन्तक के मतानुसार साहित्य, शब्द और अर्थ के सहभाव की अन्यून, अनतिरिक्त और मनोहारिणी अवस्थिति है।[1] शब्दार्थ का गुम्फ या बन्ध इसमें ज्ञानजनक सामग्री है। यह सामग्री अपने ज्ञान का प्रामाण्य स्वत: सत्यापित करती है, अत: साहित्यजन्य शाब्दबोध स्वत:प्रमाण है।

काव्यशास्त्र की परम्परा तो निर्भ्रान्त रूप से यही स्वीकार करती आयी है कि काव्यार्थ का अनुभव स्वार्थसिद्धि के लिये अन्य किसी प्रमाण पर अवलम्बित नहीं है — "सचेतसामनुभव: प्रमाणं तत्र केवलम्।' काव्यार्थ को रस के द्वारा परिभाषित किया गया है। रस अखण्ड, प्रकाशानन्दमय, स्वसंवेदनसिद्ध और साक्षात्कार–कल्प कहा गया है।[2] स्वसंवेदनसिद्धि के कारण इसे अन्य ग्राहक सामग्री की अपेक्षा नहीं है. साक्षात्कारकल्प होने से यह प्रत्यक्षवद् ग्राह्य है। प्रमाता का अनुभव स्वयम्प्रकाश्य ही होता है। साक्षिभास्यता के कारण विषय तथा तद्विषयक बोध का साक्षात्कार साक्षी स्वत: करता है। रामानुजाचार्य इसी दृष्टि से अनुभूति की अनुमेयता का खण्डन करते हैं। अनुभूति को अनुमित नहीं किया जा सकता, अन्य ज्ञान से उसे साध्य बनाने की अपेक्षा भी नहीं होती। वह आत्मा में नित्य स्वप्रकाश्य ही है।[3]

अभिनवगुप्त ने काव्य या नाट्य से भावक अथवा प्रेक्षक को होने वाले अनुभव को 'अनुव्यवसाय' माना है। अनुव्यवसायरूप–परिणति की प्रधानता के कारण नाट्य उनकी दृष्टि में 'अनुव्यवसायापरपर्याय' ही है।[4] अनुव्यवसाय भी भावक या प्रेक्षक के भीतर उद्भूत अनुभव है, प्रमाणान्तरनिरपेक्षता के कारण अनुव्यवसायरूप काव्यार्थबोध या नाट्यानुभव का स्वत:प्रामाण्य ही ग्राह्य है।

परामर्श (हिन्दी), खण्ड १२, अंक ३, जून १९९१

फिर भी काव्यार्थ के प्रामाण्य पर अनादि काल से आज तक संशय उठाया जाता रहा है। संशय उठाने वाले प्राचीनों में जडबुद्धि धर्मशास्त्री, तार्किक और मीमांसक तथा नव्यों में आधुनिक उपभोक्ता संस्कृति से प्रभावित समीक्षक आते हैं।

तार्किक की दृष्टि से साहित्य के प्रामाण्य-मात्र पर आपत्ति उठती है। प्रमा यथार्थ अनुभव है और प्रामाण्य यथार्थानुभूति का ही हो सकता है। काव्य की अनुभूति यथार्थानुभूति नहीं, वह असत् है। काव्यशास्त्री भी रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया के निरूपण में रसग्राहक समस्त सामग्री को कृत्रिम मानता है, जो सहृदय को अकृत्रिम भासित होती है। इस मिथ्य सामग्री से अन्य अनुभव प्रमाण कैसे हो सकता है? काव्य के आचार्यों की एक परम्परा रस को भ्रमात्मक अनुभव भी मानती है।[५] यदि रस का अनुभव शुक्तिरजतन्याय से अन्यथा-ख्याति का है, तो वह प्रमाण नहीं है - इतना यहां पूर्वपक्ष बनता है।

इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि लौकिक प्रमाणों की अपेक्षा से काव्यानुभूति को भ्रमात्मक अनुभव कहा गया, इससे उसका स्वतः प्रामाण्य विखण्डित नहीं हो जाता। भ्रमात्मक अनुभव में भी अर्थक्रिया-कारिता रहती है। सम्पुष्टि में काव्यानुभव के विचार में धर्मकीर्ति की यह कारिका उद्धृत की जाती रही है :

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावताम्।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥

प्र. वार्तिक, II--५७

काव्यानुभव के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का यह विचार लौकिक अर्थ में उसके सत्य या असत्य होने की दृष्टि से किया जाता है, जो सन्दर्भच्युत होने से निरर्थक है। काव्यानुभव स्वायत्त और स्वशासी होने से लौकिक प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता। भारतीय काव्यदृष्टि इसीलिये कवि को काव्यविश्व का प्रजापति घोषित करती है। महिम-भट्ट कहते हैं कि काव्य-हेतु और काव्यास्वाद के सत्यासत्यत्व का विचार करने की प्रवृत्ति ही अनुचित है।[६]

धर्मशास्त्र का आश्रय ले कर काव्य तथा काव्यानुभव के प्रामाण्य पर दूसरे कोण से आपत्ति उठायी जाती है। स्थूल अर्थ में काव्यविश्व की सत्ता नहीं है - यह तो आपत्ति है ही। इसके साथ काव्य के प्रामाण्य को यहां अग्राह्य इस आधार पर भी माना जाता है कि वह अपनी परिणति में असत् का उपदेश करता है, मिथ्यात्व या वंचना की ओर ले जाता है। धर्मशास्त्र के नाम से उद्धृत

'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' या 'रण्डागीतानि काव्यानि' आदि वचन इस प्रकार की धारणा से प्रेरित हैं। यदि कहा जाय कि इस प्रकार के कथित धर्मशास्त्र-वचन कुकाव्यों के सम्बन्ध में हैं, तो कुकाव्य और सुकाव्य का निर्धारण विषयिनिष्ठ दृष्टि से अथवा देशकालानुरोध से होने लगेगा और अव्यवस्था होगी। उदाहरण के लिये विद्याधरकृत एकावली की तरल–व्याख्या में मल्लिनाथ कहते हैं कि 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्'। इस प्रकार के निषेधवचन मुद्राराक्षस आदि असत्काव्यों के लिये हैं, सत्काव्यों के लिए नहीं। अन्यथा रामायण आदि भी हेय कहे जाने लगेंगे।[७] विद्याधर द्वारा अपने आश्रयदाता नृसिंहभूप की प्रशस्ति में लिखे चाटुश्लोकों को तो मल्लिनाथ कदाचित् देशकालविशेष के आग्रह से, उत्तम काव्य मान कर टीका करते हैं, और मुद्राराक्षस जैसी मनुष्य का उदात्त गरिमापूर्ण चरित्र प्रस्तुत करने वाली कालजयी कृति को वे असत्काव्य कह कर हेय घोषित करते हैं। ऐसी अराजकता की स्थिति में उत्तम काव्य के प्रामाण्य का निकष खोजा जाना चाहिये।

अभिनव आदि आचार्यों ने रस या काव्यानुभूति को संस्कार से जोड़ कर यह निकष सामने रखा है। काव्य, धर्मशास्त्रादि के समान सीधे सदुपदेश नहीं देता। वह प्रत्यक्षायमाण या साक्षात्कारकल्प अनुभूति के द्वारा चित्त को परोक्षरूप से संस्कारित करता चलता है।

साहित्यशास्त्र के आचार्यों की एक परम्परा रस को भ्रम के स्थान पर अनिर्वचनीय अनुभव के रूप में देखती है। सौन्दर्यानुभूति, स्मृति, अनुमान, स्वप्न, विलक्षण सवेदन, भ्रम, साक्षात्कार, कल्प–बोध इन सब की सम्भेदात्मक या सम्प्लवात्मक स्थिति है। इसमें परस्पर विरुद्ध प्रतीतियां परस्पर संमिश्र हो जाती हैं। शङ्कुक कहते है :

विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसम्प्लवः।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कथा ? ॥

काव्यबोध को युक्ति से परे या तर्कातीत बताने वाली यह विचार–सरणि उसे लोकातीत अनुभव के रूप में तो फिर भी नहीं देखती। उसे अलौकिक कहने का आशय भी लोक के बाहर का अनुभव बताने से कदापि नहीं है, उसकी लौकिक प्रमाण–सापेक्षता का निवारण करने से है। कलाजन्य पर्युत्सुकीभाव —— चित्त को उन्मथित करने वाला अनुभव —— बोध के लौकिक स्तर पर नहीं, अबोधपूर्वक होता है। अभिनवगुप्त रसास्वाद की व्याख्या के उपक्रम में शाकुन्तल का यह पद्य उद्धृत करते हुए यही बताते हैं :

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि ॥

यह अबोधपूर्वता वैचित्र्य और वैविध्य के संघात के कारण है। और इसका प्रामाण्य भी स्वतः ही माना जाना चाहिये। आचार्य प्रभाकर यही बताते हैं। उनके अनुसार संविद्रूप में प्रत्येक ज्ञान प्रत्यक्ष है। स्मृति, अनुमान, स्वप्न आरोप, मिथ्याध्यवसाय या अख्याति -- इन सभी का प्रभाकर भट्ट के अनुसार स्वतःप्रामाण्य ही स्वीकार किया जाना चाहिये।

सहृदय व्यक्ति के चित्त को और संस्कारित करने तथा संस्कारहीन में संस्काराधान की काव्यानुभूति से उपक्रान्त प्रक्रिया धीमी पर अधिक स्थायी और दूरगामी प्रभाव छोड़ने वाली होती है। जो काव्य केवल रसास्वाद की दशा मात्र में रिझा कर, लुभा कर पर्यवसित हो जाय, उसका प्रामाण्य सर्वमान्य तो नहीं ही हो सकता है। रसास्वाद के क्षणों में प्रमाता के व्यक्तित्व के निस्सीम होने की... प्रमृष्टपरिमितभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभाव की ... चर्चा आचार्यों ने की है। जिस साहित्य के रसास्वाद के काल में इस अपरिमेय भाव की दशा में रह कर विभावादिविनाश पर रसास्वाद की निवृत्ति होने पर प्रमाता 'पुनर्मूषको भव' के न्याय से अपने प्रकृत रूप में वापस आये, काव्यानुभव के दौरान जिस आनन्त्य का सार्वजनीन अनुभव हुआ, उसकी बाद में चित्र पर कोई छाप ही न बचे, तो ऐसा अनुभव वस्तुतः सार्वभौम अनुभव नहीं है, उसमें भूमा से योग ही हो नहीं सका, वह छद्म ही है, और उसमें कथित विश्रान्ति देने वाला साहित्य भी कुछ तथाकथित रसिकों की अय्याशी का साधन भर है। ऐसे साहित्य से होने वाले बोध का प्रामाण्य मान भी लिया जाय, तो बोद्धा और प्रतिपादयिता दोनों का अप्रामाण्य तो मानना ही होगा। बोद्धा और प्रतिपादयिता में संकल्प की परिशुद्धि भी साहित्य के सर्वतोमुख प्रामाण्य के लिये अपेक्षित है। तब इन दोनों के बीच जो साहित्य रहेगा, उसका अनुभव निरन्तर संस्कार और परिष्कार देता रहेगा। अभिनव ने नाट्य, काव्य आदि के माध्यम से संस्कार की ऐसी सतत प्रक्रिया का विशद विवेचन किया है :

नाट्ये तु परमार्थिकं किञ्चिदद्य मे कृत्यं भविष्यतीत्येवम्मताभिसन्धि-संस्काराभावात् सर्वपरिषत्साधारणप्रमोदसारापर्यन्त समादरणीय लोकोत्तर दर्शनश्रवणयोगी भविष्यामीत्याभिसन्धिसंस्कारादुचितगीतातोद्यविस्मृत चर्वणा

विस्मृतसांसारिक भावतया विमलमुकुरकल्पीभूतनिजहृदय:, सच्चाद्यभिनयावलोकनोद्भिन्न प्रमोदशोकादितन्मथीभाव:, पाठ्याकर्णनपात्रान्तरप्रवेशवशात् समुत्पन्ने देशकालविशेषवेशानालिङ्गिते सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यसम्भावनादिज्ञानविज्ञेयत्वपरामर्शनास्पदे, रामरावणादिविषयाध्यवसाये, तत्संस्कारानुवृत्तिकारणभूत – तत्सहचरहृद्यवस्तुरूपपीतातोद्यप्रमदानुभवसंस्कारसूचितसमनुगतत – दुक्तरूपपरामाध्यवसायसंस्कार एव भवप्त चेषैदिवसै: सचमत्कारतदीयचरितमध्य प्रविष्टस्वात्मरूपमति: स्वात्मद्वारेण विश्वं तथा पश्यन् प्रत्येकं सामाजिको देशकालविशेषापरामर्शेन एवंकारिणामिदमिति लिङ्गात्मकविधि समर्पित संविज्जातीयमेव संविद्विशेषरजकप्राणवल्लभाप्रतिभरसास्वादसहचररम्यगीतातोद्यादिसंस्कार–रसानुभववशेन हृदयाभ्यन्तरनिखातं तत एवोत्पुङ्खशतैरपि म्लानिमात्रमप्यभजमानं भजंस्तत्तच्छुभाशुभप्रेप्साजिहासाततस्यूतवृत्तित्वादेव शुभमाचरत्यशुभं समुज्झति ।

(अभिनवभारती, भाग–१, पृ. ३६)

काव्यप्रामाण्य पर एक अन्य आपत्ति काव्यसर्जन तथा काव्य के संरचनात्मक पक्ष की दृष्टि से उठायी जाती है। इस आधार पर कविता और कला का प्रबल विरोध पश्चिम में बहुत पहले प्लेटो ने किया। प्लेटो का तर्क यही था कि कविता अनुकृति की भी अनुकृति है, अत एव सत्य से वह और भी अधिक दूर है। हमारे यहां के जड धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण के समान प्लेटो ने भी इस तर्क को आगे बढाते हुए देवों के स्तुति में लिखे जाने वाले सूक्तों के अलावा बाकी सारे ललित वाङ्मय––त्रासदी, महाकाव्य तथा प्रगीत––को मिथ्यात्व से प्रेरित और मिथ्यात्व में गुमराह करने वाले बताया। अपने आदर्श राज्य में होमर तक को जगह देने को प्लेटो तैयार न था, यद्यपि होमर की कविता के प्रति दुर्निवार आकर्षण उसके मन में था, जिसे रिपब्लिक के दसवें अध्याय में स्वीकार किया है।

प्लेटो के इस अन्तर्विरोध का समाधान करते हुए, अनुकृति का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट कर, कविता के प्रामाण्य को अरस्तू ने स्थापित किया। अनुकृति का स्थूल सतही अर्थ–अपने से भिन्न किसी पदार्थ की हूबहूब नकल उतारने की कोशिश–कविता के सन्दर्भ में लागू नहीं होता। नाट्य को भावानुकीर्तन या लोकवृत्तानुकरण बताते समय भारतीय नाट्शास्त्र के प्रवक्ता भी इस तथ्य को रेखांकित करते हैं। अभिनवगुप्त कहते हैं कि दूसरे की चेष्टाओं की नकल हास या हास्यास्पद स्थिति को ही उत्पन्न करती है। (काव्य या कला को नहीं।) अत: अनुकरण का आशय अनुव्यवसायविशेष माना जाना चाहिये, अन्यथा अनुकरण के प्रकृत स्थूल रूप का कविता में या नाट्य में प्रयोग द्वेष, असूया आदि को जन्म देगा सार्वजनीन मनुष्यता के या आनन्त्य के अनुभव को नहीं।

काव्य, नाट्य आदि में अनुकृति बाहर के दिक्काल को काव्य या नाट्य के अपने दिक्काल में पुनः रच कर की जाती है । दिक्काल की यह पुनःसृष्टि थोड़ी देर के बहलाव में ही उपरत न हो, न द्वेष, असूया आदि संकीर्ण वैयक्तिक प्रतिक्रिया में भटकाये, बल्कि हमें अपने दिक्काल के बीच समृद्धतर व्यक्तित्व प्रदान करे – इसमें कविता और कला की प्रामाणिकता है ।

ज्ञानमीमांसा के स्तर पर कविता के विश्व की सत्ता प्रातिभासिक सत्ता कही जा सकती है, पर यह प्रातिभासिक सत्ता पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ताओं के बीच सेतु की तरह अवस्थित है । हम सेतु के रूप में इसका प्रामाण्य नकारने वाली दृष्टियों का स्वतः अप्रामाण्य इतिहास और कालचक्र का विवर्तन सत्यापित करता रहा है । डॉ. जिवागो हमारे युग में दिक्काल की पुनः सृष्टिमूलक अनुकृति का अच्छा उदाहरण है । इस उपन्यास के प्रामाण्य को नकार कर पास्तरनाक को प्रताड़ित और लांछित करने वाली अधिनायकतावादी निरंकुश प्रशासनसरणि को काल के विवर्तन ने स्वतः अप्रमाणित घोषित कर दिया है ।

डॉ. जिवागो या वॉर एंड पीस जैसी महान् कृतियां विस्तीर्ण फलक पर दिक्काल के आयामों को रचती हैं । प्रगीत में किसी एक नन्हें क्षण का अनुभव स्पन्दित होता हुआ ब्रह्माण्ड को अपने क्रोड में समेट लेता है । यह भी अनुकृति का एक रूप है । इसका भी प्रामाण्य स्वतः स्वीकार करना ही चाहिये । जगन्नाथ पाठक जब कहते हैं :

चषका इह जीवने मया
परिपीता अपि चूर्णिता अपि ।
मदमेष बिभर्मि केवलं
क्षणपीतस्य मधुस्मितस्य ते ॥

पी कर खाली किये गये या तोड़ दिये गये प्यालों की सापेक्षता में किसी एक स्मित का क्षण जो यहां विराट् हो कर परिव्याप्त हो गया है, उसमें प्रकृत दिक्काल की नश्वरता और ऐहिकता के आगे काव्यविश्व की सार्थकता का प्रामाण्य होता है । इस प्रकार की कविता इतिहास के दिक्काल की एकरेखीयता में जो कुछ मूल्यवान् जीवनांश रिपट कर निकल गया है, उसे लौटा कर हमारे जीवन में पुनः स्थापित कर देती है । पुनः कापिशायनी से ही :

अवलोक्य नतानना–भवत्
पुनरुन्नीय मुखं ददर्श माम् ।
इयति क्षण एव जीवितं
मरणं चाप्यनुभूतवानहम् ॥

यहां पुन: प्रश्न उठ खड़ा होता है लौकिक प्रत्यक्ष से अनुभूयमान जगत् के आगे काव्य का यह जगत् क्या दिग्भ्रम मात्र अथवा दिग्भ्रमकारकमात्र नहीं है ? तब प्रतिप्रश्न भी खड़ा किया जा सकता है जो दर्शन या धर्मशास्त्र स्वर्ग, नरक, अपूर्व, अदृष्ट आदि के द्वारा अनुभूयमान गोचर वास्तव के ऊपर एक अगोचर वास्तविकता को स्थापित करते हैं और उसका स्वत: प्रामाण्य घोषित करते हैं, उनको काव्यविश्व की वास्तविकता पर सवाल उठाना कहां तक उचित है ? यदि प्रश्न जड धर्मशास्त्रीय दृष्टि से आबद्ध न हो कर वस्तुनिष्ठ अथवा जिज्ञासापरक दृष्टि से उठाया गया है, तो इसका समाधान काव्यानुभुति की अर्थक्रियाकरिता के आधार पर किया जा सकता है । अर्थक्रियाकारिता प्रसुप्त, अव्यक्त संस्कारों के उद्बोध और परिमार्जन में है ।

वस्तुतः साहित्य के सन्दर्भ में प्रश्न प्रामाण्य के स्वतस्त्व और परतस्त्व का नहीं, उसके प्रामाण्य मात्र का व्याहनन करने वाले विजातीय तत्त्वों द्वारा उठायी गयी चुनौतियों के आगे उसकी अर्थवत्ता को स्थापित करने का है । कविता के विश्व में ही यह संभव है कि व्याहारिक, प्रातिभासिक तथा पारमार्थिक सत्ताओं को कृत्रिम विभाजक रेखाएं मिटा दी जाती हैं और मनुष्य अपने सम्पूर्ण जगत् में स्थापित हो पाता है । मनुष्य को उसका सम्पूर्ण जगत् दे सकने की सामर्थ्य में कविता का प्रामाण्य है, स्वत:प्रामाण्य भी ।

संस्कृत विभाग
डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर – ४७०००३
(म प्र.)

राधावल्लभ त्रिपाठी

टिप्पणियाँ

१. साहित्यमनयो: शोभाशालितां प्रतिकाप्यसौ ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थिति: ॥ वक्रोक्तिजीवित, १।१७

२. सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय: ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर: ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राण: कैश्चित् प्रमातृभि: ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस: ॥ साहित्यदर्पण, ३।२

३. श्रीभाष्य १।१।१, पं. ब. ला. अवस्थी की चक्रमुद्रित पुस्तिका भारतीयदर्शनेषु प्रामाण्यवाद: में उद्धृत ।

४. (क) तदिदमनुकीर्तनमनुव्यवसायो नाट्यापरपर्यायः।
(ख) तेनानुव्यवसायवद् विशेषविषयीकार्यं नाट्यम्।
(ग) तस्मादनुव्यवसायात्मकं कीर्तनं रूषितविकल्पसंवेदनं नाट्यम्।
अभिनवभारती, भा. १, पृ ३६, ३७)

५. भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमाः—व्यक्तिविवेक, वाराणसी, १९६४, पृ.७६।

६. काव्यविषये च वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एवेति तत्र प्रमाणान्तरपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यत इति। वही, पृ. ७८

७. ननु 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्– इति काव्यालाप एव निषिद्ध इति कुतः काव्यनिर्माणावकाशः ? . . . निषेधो मुद्राराक्षसाद्यसत्काव्यविषयतया व्यवस्थापनीयः। अन्यथा रामायणादीनामपि हेयत्वप्रसङ्गादिति भावः।
(विद्याधर, एकावली, तरलटीका, हैदराबाद, १९८१, पृ. १६)

८. अभिनवभारती, भा. – १, पृ. ३६.

'पद्मावत' का उपसंहार : पाठ और अर्थ

धनि सो पुरुख जस कीरति जासू । फूल मरै पै मरै न बासू ॥
केइं न जगत जस बेंचा, केइं न लीन्ह जस मोल ।
जो यह पढ़ै कहानी, हम संवरैं दुइ बोल ॥ ६५२
पाठांतर :– १) धनि सो पुरुख जेहि कीरति जासू ।
२) जो यह सुनै कहानी ।
३) हम समुझै दुर बोल ।

पद्मावत – का पाठ और पाठान्तर माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित पद्मावत से उद्धृत है । मैं समझता हूँ उपर्युक्त पाठान्तर स्वीकृत पाठ की अपेक्षा भाव के अधिक निकट है इससे अर्थ अधिक सुबोध और प्रभविष्णु बनता है; प्रसंग के अनुकूल भी हैं ये ।

अर्थ : वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा दी गयी व्याख्या : " धन्य है वह पुरुष जिसके यश की कीर्ति है। फूल मर जाता है, पर उसकी गंध नहीं मरती। किसी ने जगत् में यश नहीं बेचा । किसी ने यश मोल नहीं लिया। (अपनी करनी से सब उसे खोते और पाते हैं ।) जो इस कहानी को पढ़े वह हमारे लिये दो शब्द स्मरण करे " ।

' हम संवरैं दुइ बोल ' पर अग्रवाल जी की विवृति:
' वह हमारे लिए भी दो बोल याद कर ले । '

श्री. शिरेक के अनुसार " दो बोल कुरान शरीफ के दो छोटे सुरे हैं । कब्रों के पत्थर पर प्राय: यह प्रार्थना लिखी रहती है कि जाने वाले पथिक उन दो कलमों को पढ़ दें । उससे मृत व्यक्ति को पुण्य और शान्ति मिलती है । " यह

काव्य जायसी का स्मारक है। जो इस स्मारक को पढ़े वह उसके कर्ता के लिए 'दो बोल' पढ़ दे। यह कवि की नम्र उक्ति है। ये दो शब्द 'दुआएँ मग्फिरत' कहलाते हैं, जो इस प्रकार हैं – 'रब्बे इग़फिर' = हे ईश्वर, क्षमा कर। इस काव्य से तृप्त हुए सहृदय का मन कवि के लिए ईश्वर से क्षमा की प्रार्थना करे।

२) कवि ने अपने काव्य को भी संक्षेप में 'बोल' कहा है। इसमें एक रतनसेन का बोल है, दूसरा पद्मावती का। सारा काव्य इन्हीं दो बोलों की व्याख्या है —

'रतन पदारथ बोलइ बोला।' २३

३) काफ़ और नून को मिला कर भी दुइफ़ं कहते है। अर्थात् कुन = 'हो जा'; सृजनात्मक शक्ति या प्रवृत्ति का सबसे बड़ा प्रतीक है (स्टाइनगास; फारसी कोश, पृ ५४१)।

मीमांसा : अग्रवाल जी 'दुइ बोल' को एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त मान रहे हैं। पद्मावत में अन्यत्र भी 'बोल' है–'बोल अरथ सो बोलै।' तथा, 'कोइ बिनु पूँछ बोल जो बोला। होइ बोल माटी के मोला॥' ८१

बोल, उपर्युक्त संदर्भ में, वाणी, वचन, भारती, शब्द के आकूत में है। दुइ संख्यावाचक अभिधात्मक अर्थ के साथ, सांकेतिक आशय में कहा है; यथा,

'सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी। मानस; १.९१।

जायसी कहना चाहते हैं कि इस प्रेम कहानी पद्मावत में रतन पदारथ की कहानी और उनके प्रेम के बोल हैं। ये बोल अपना महत्त्व रखते हैं। ये बोल अर्थ से भरे हुए हैं। सुआ बोल के कारण ही राजमंदिर में रखने योग्य है :-

'बोल अरथ सौं बोलै सुनत सीस पै डोल।
राजमंदिर महँ चाहिअ अस कह सुआ अमोल।' ७८

गुप्त जी द्वारा स्वीकृत पाठ 'जो यह पढ़ै कहानी हम सँवरै दुइ बोल' में, पाठान्तर के अनुसार, संशोधन करें तो पढ़ै की जगह सुनै और संवरै की जगह समुझै होना चाहिए। 'संवरै' के कारण ही अग्रवाल जी का अर्थ है––'वह हमारे लिए दो शब्द 'स्मरण करे'–इस 'स्मरण' ने अग्रवाल जी को सम्यक् अर्थ की खोज में बाधा पहुँचाई। और 'बोल' को अनावश्यक ढंग से अग्रवाल जी ने क़ुरानशरीफ़ के 'दो सूरे' मान लिए अथवा 'कुन' से इसे संबंधित किया।

पद्मावतकार जायसी का कथन है कि जो यह प्रेम कथा सुनै (पढ़ै) वह हमारे बोल के अमिअ रस को समझे। वह इसके अर्थ की गहराई में जाए। ऐसा होने पर कवि की भारती अमर रहेगी और कवि के यश का विस्तार होगा। कीर्तिलता (विद्यापति) का उपसंहार पद्मावत से मिलता-जुलता है :

माधुर्य को जन्म देनेवाली कवि विद्यापति की यह वाणी (भारती) जब तक यह संसार में है तब तक क्रीडा करती रहे। २९१ (४.९२)।

कवि कुतबन **मृगावती** के उपसंहार खंड में जायसी की भाँति अपने बोल के अर्थ के संबंध में कहते हैं :-

बहुत अरथ इंहि एहि मंह जो कोइ सुधि सेइं बूझ।
कहेउ जहाँ लगि पोरउँ जो किछु हिरदै में सूझ॥

मझन भी **मधुमालती** (सं. डॉ. माताप्रसाद गुप्त) में अपनी कविता (काव्य) और अपने यश के अमर होने की अभिलाषा करते हैं :-

औ अंब्रित जंह छाजै असो सुभर सो ठाउं।
कविता गात जबहिं तहि रहइ जगत मंह नाउ॥ ५३८

जायसी भी इसी यश के लिए उपसंहार में अपने **बोल** (काव्य) की महत्ता को ओर इंगित करते हैं। जायसी का कथन है कि जो भी उनके काव्य को सुनेगा वह इस काव्य के बोल को स्मरण करेगा और बोल का अर्थ, मर्म समझ कर हमें याद करेगा। फलस्वरूप, जो यश क्रय नहीं किया जा सकता उसकी प्राप्ति कवि को अपनी सरस, अमृतमय कृति से होगी। 'सँवरै' की जगह 'समझै' अधिक उपयुक्त है – अर्थ-गांभीर्य को समझने पर ही कवि को कीर्ति मिलेगी। जायसी मानते हैं जीवन उसी का धन्य है जिसका यश रहे – शरीर चला जाए पर सुगंध बनी रहे। काव्य इस सुगंध (बास) को अक्षुण्ण रखने में सहायक है। भर्तृहरि ने कहा है :-

'जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः कायें जरामरणसंभवम्।'

चंद विरदिया (वरदायी) **पृथ्वीराज रासउ** के अंत में अपनी कृति को अमृत समान बताते हैं – वे कहते हैं. यह नव रसों से युक्त काव्य है :

'रासउ जुसंभु नव रस सरस छंद चंदु किअ अमिअ सम।
श्रृंगार वीर करुणा विभछ भय अद्भुत्तह संत सम॥' १२–४१

काव्य संबंधी इस परंपरा से ही जायसी के भाव को समझना चाहिए। 'हम सँवरै (समुझै) दुइ बोल' जायसी की ही नहीं सभी कवियों की अभिलाषा रही है। जायसी के 'बोल' को कुरआनशरीफ़ से जोड़ना अथवा उससे मुसलमानी मज़हब का अर्थ निकालना कवि के प्रति सर्वथा अन्याय है। जायसी मानते हैं (अन्य संतों की ही भाँति) कि यह 'पिरथिवी झूठी' है – यहाँ कोई अमर नहीं –

'जो रे उवा सो अथवा रहा न कोई संसार।' ६४०

अमर होने के लिए सत्पुरुष अथवा सही बनना चाहिए। प्रेमपंथ अमरत्व देता है। 'दुहूँ जग' में प्रेम ही साथी है। जायसी प्रेम कहानी रचकर अमर होना चाहते हैं :-

'ओ मन जानि कबित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत मंह चीन्हा ॥'

'चीन्हा' का अर्थ कविता की अमरता है। भर्तृहरि से चली आई परंपरा से जुड़े हैं जायसी। जायसी मानते हैं कि कवि के यशस्काय को उसकी कृति जरामरण से मुक्त रखती है।

'धनि सो पुरुख जस कीरति जासू।
फूल मरै पै मरै न बासू॥'

पाठान्तर को स्वीकारने पर पाठ होगा – 'धनि सो पुरुख जेहि कीरति जासू —।' कवि का कथ्य है कि पुरुष वही धन्य है जिसे यश मिले, अथवा जो यश का कार्य करे। किताईचरित (सं. श्री. हरिहर निवास द्विवेदी) में कवि नारायण दास अपनी कथा की विशेषता बताते हुए कहते हैं :-

'अरु किधु करउं वीर सिंगारू। नव रस कथा करइ बिस्तारू॥
जंपइ बिस्तु नारायन दासू। मरइ फूल जीवइ दिन बासू॥ ॥ २९ ॥

नारायनदास स्पष्ट कहते हैं यह नव रस कथा युक्त काव्य उनकी कीर्ति को अमर करेगा – फूल नष्ट हो जाता है पर उसका सुवास संसार में रहता है। यहाँ फूल प्रतीक है मनुष्य का, और वास प्रतीक है उसकी कृति का। काव्य 'यशः काय' है कवि का। जायसी की फूल और वास संबंधी कल्पना परंपरा से गृहीत है।

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल की पद्मावत की व्याख्या सन १९५६ में और डॉ. गुप्त जी की टीका सन १९६३ में प्रकाशित हुई। इसमें संदेह नहीं कि गुप्तजी ने शब्दों की व्युत्पत्ति के सहारे अनेक स्थलों पर नया और समीचीन अर्थ दिया है; पर उन्होंने भी परंपरा की ओर ध्यान नहीं दिया, यद्यपि मधुमालती का सपादन (सटीक) वे कर चुके थे सन १९६१ में ही। गुप्त जी द्वारा दिया गया अर्थ : 'वह पुरुष धन्य है जिसका यश और जिसकी कीर्ति (शेष) है। (सुगंधयुक्त) फूल (सूख कर) मर जाता है, किंतु उसकी वासना नहीं मरती है। ससार में किसने नहीं यश को बेचा और किसने नहीं उसे मोल लिया–किसने यश का सौदा नहीं किया ? जो इस कहानी को पढेगा, वह मुझे दो वाक्यों में स्मरण करेगा।'

यश का अर्जुन और उसकी रक्षा भारतीय संस्कृति का मूल सिद्धान्त है। 'यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः।' (रघुवंश ३।४८)। यश धन या–धनों में

सर्वोत्तम। पर अन्य धन की भाँति यह क्रय नहीं किया जा सकता और न इसे अन्य द्रव्य की भाँति बेचना ही संभव है। मनुस्मृति (७।३४ में लिखा है—
'विस्तीर्यंते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि।'

यशस्काय का अर्थ है कीर्ति देह = प्रसिद्धि के रूप में शरीर। सत्पुरुष (सत्पुरुख – पद्मावत २७८) की कीर्ति ही उसका सर्वस्व माना जाता था। भरत माँ कौशल्या से कहते हैं – 'जिसकी अनुमति से भैया श्री राम ने वन में पदार्पण किया है वह पापी सत्पुरुषों के लोक से, सत्पुरुषों की कीर्ति से तथा सत्पुरुषों द्वारा सेवित कर्म से शीघ्र भ्रष्ट हो जाए।' (रामायण २.७५–४७)। यश को सत्य और धर्म की श्रेणी में बताया गया है। रामायण १.८ में राजा कुशनाभ अपनी बेटियों से कहते हैं – 'क्षमा दान है, क्षमा सत्य है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा यश है, क्षमा धर्म है।' राजा जनक धनुषभंग होने पर मुनि विश्वामित्र से कहते हैं – 'मेरी पुत्री सीता दशरथ कुमार श्रीराम को पति रूप में प्राप्त करके जनक वंश की कीर्ति का विस्तार करेगी।' (१.६७.२२)

इसी कीर्ति-शरीर की कामना करते हैं जायसी, इन शब्दों में – 'औ मन जानि कबित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत मँह चीन्हा।' जगत् में कवि का यशस्काय अमर रहता है। 'फूल मरै पर मरै न बासू' प्रतीकात्मक शैली में है– फूल मनुष्य जीवन सदृश है और उसका बास मनुष्य का गुण अथवा उसकी कीर्ति। शरीर छूट जाता है पर यशस्काय इस संसार में रहता है। किसी की कृतियों अथवा उसके गुणों का वर्णन उस व्यक्ति की कीर्ति है। इसीलिए जायसी कहते हैं :–

धन्य सो पुरूख जेहि (जस) कीरति जासू।
फूल मरै पै मरै न बासू॥'

उपसंहार के छंद ६५२ की अंतिम तीन पंक्तियों की मीमांसा के अनन्तर अब उसकी आरंभ की तीन पंक्तियों पर विचार किया जा रहा है :

मुहमद यहि कबि जोरि सुनावा। सुना जो प्रेम पीर गा पावा॥
जोरी लाइ रक्त कै लेई। गाढी प्रीति नैन जल भेइ॥
औ मन जानि कबित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत मँह चीन्हा॥

पाठान्तर : (१) गाढी प्रीति' नैन जल भेई' के स्थान पर 'प्रेम प्रीति नैनन्ह जल भेई।'

अग्रवाल जी की टीका : मुहमद ने यह काव्य रचकर सुनाया। जिसने सुना उसे प्रेम की पीड़ा का अनुभव हुआ। इस प्रेमकथा को रक्त की लेही लगाकर जोड़ा है। इसकी गाढी प्रीति को आँसुओं से भिगोया है। मन में यह समझ कर ऐसा कवित्व रचा है कि शायद जगत् में यही निशानी बची रह जाए।

'जोरी लाइ रकत कै लेई' रतनसेन में प्रेम की पीडा उत्पन्न हुई। उसने उसे सींचा। पद्मावती के मन में गाढी प्रीति थी। अंत में उस गाढी प्रीति को उसने अपने आँसुओं से सींचा। आटे से लेई बनाते समय उसमें पानी मिलाना आवश्यक है। ऐसे ही राजा ने प्रेम की पीडा में अपना रकत मिला कर उसे जोड़ा। गाढी होने पर लेई में पानी मिलाया जाता है। ऐसे ही जब प्रेम गाढ़ा हुआ तो रानी ने उसमें अपने आँसू मिलाए। यही इस प्रेमकथा का सूत्र है – रतनसेन के रकत और पद्मावती के नेत्र–जल मिलने से यह प्रेमकथा पूरी हुई।

कवि जायसी के पक्ष में भी यह अर्द्धाली घटित होती है। अपने शरीर के श्रम और हृदय की करुणा से उसने यह काव्य जोड़ा है।

रामचंद्र शुक्ल जी बताते हैं :– 'इस कविता को मैंने रक्त की लेई लगा कर जोड़ा है और गाढी प्रीति को आंसुओं से भिगो कर गीला किया है।'

माताप्रसाद गुप्त की व्याख्या है : "मुहम्मद जायसी ने इस कविता को जोड़ कर (बनाकर) सुनाया और जिसने इसे सुना, वह प्रेम की पीड़ पा (ले) कर गया। यह रचना उसने रकत की लेई लगा कर जोडी है जो गाढी प्रीति के नेत्र–जल (अश्रुओं) से भिगोई हुई थी। और मन में यह जान कर ऐसा कवित्व किया कि संभव है यह जगत् में उसके चिह्न के रूप में रह जाए।'

मीमांसा : 'मुहमद यह कबि जोहि सुनावा।' तथा 'जोरी लाइ रकत कै लेई।' में जोरना महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। पद्मावत में कहा गया है :– 'जानै प्रीति जो मरि कै जोए।' २३४ मधुमालती में है :–

१) जहाँ न अच्छर जुरै संवारहु। ४१।

२) जओ आखरहि जोरि बनाइहि। ४०।

३) कथा एक बाँधउ रस भाखा। ३९।

मृगावती में है :–

१) दुइ रे मास दिन दस मँह जोरत यह ओशनें जाइ।

एक एक बोल मोति जस पिरोवा बकता चितमन लाई॥ ११॥

२) जहिया हुत पंद्रासै साठी। तहिया एइरे चौराई गांठी॥ ४२६॥

चाँदायन (स. माताप्रसाद गुप्त) में है :–

१) भयो राजु कुनि बररुचि जोरत अरथ अगाइ। १०।

२) जुरत बोल चित सब्रहु टूटत लेहु संवारि। ११॥

इसी परंपरा ने जायसी का 'यह कबि जोरि सुनावा' तथा 'जोरी लाई रकत कै लेई' है। उपर्युक्त उदाहरणों में अच्छर जोरना, अखरहि जोरना, चौपाई गाँठना, बोल जोरना, अरथ जोरना, बोल पिरोना, एक ही आशय में हैं। जायसी मुहम्मद ने पद्मावत काव्य अन्य कवियों की भाँति ही जोरा – एक एक अक्षर जोरा–गाँठा अथवा मोती की तरह पिरोया। कवि ने अपने काव्य में अर्थ

जोरे। जुड़ना का विरोधी टूटना है। अक्षरों का जोड़ना असाधारण काम है। इस जोड़ने में कहीं भूल हो तो पंडित-गुणी उसे सँवार लें। जायसी को अपने काव्य-सर्जन पर आस्था है। उसी आत्म-विश्वास को अभिव्यक्त करने के लिए वे कहते हैं 'जोरी लाइ रकत कै लेई।' जायसी का यह भी कथ्य है: यह प्रेमकथा आरंभ से अंत तक प्रेम के रकत से जोड़ी और सींची गयी है। 'रकत की लेई' के भाव को नीचे दिए गए उद्धरणों से समझा जा सकता है। जायसी ने अन्यत्र भी रकत, रुहिर आदि शब्दों का प्रयोग किया है :

१) रकत न रहा बिरह तनगरा, रती रती होइ नैनन्हि ढरा। ३५१।
२) रकत आँसु घुंघुची बन बोई। ३५९
३) रोई रुहिर आँसु तस ढरै। ६०८

जायसी – काव्य **पद्मावत** में विरह प्रधान है। सूफी मानते हैं कि विरह की पीर बिना प्रीति नहीं। जायसी की पंक्तियाँ हैं :–

'जेहि के बोल बिरह कै घाया। कहं तेहि भूख कहाँ तेहि छाया।
मुहमद कबि जो प्रेम का ना तन रकत न मांसु।
जेइ मुख देखा तेइं हँसा तो आए आसु ।। २३

'गाढी प्रीति नैन जल भेई' का भाव है: 'सुना तो आए आँसु।' अन्यत्र भी 'सोइ बिमोहा जेइ कबि सुनी। २१ (द्रष्टव्य लेखक की कृति–जायसी काव्य: प्रतिभा और संरचना १९८२)। **पद्मावत** के एक-एक अक्षर को कवि ने विरह की पीरा सह कर, रकत के आँसू बहा कर जोड़ा। यह 'प्रेमपीर' काव्य सुनने वाले में उत्पन्न होती. तो उसमें प्रीति उपजती। फलतः उसके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगती। 'प्रेम पीर' का प्रभाव ही जायसी उपर्युक्त आखसे में व्यक्त कर रहे हैं। 'गाढी प्रीति' की जगह यदि 'प्रेम प्रीति' पाठ स्वीकारें तो तो 'गाढी' के प्रयोग से उत्पन्न भ्रम समाप्त हो जाता है। अग्रवाल जी की व्याख्या :– 'इस प्रेमकथा को रकत की लेई लगा कर जोड़ा है। 'इसकी गाढी प्रीति को आँसुओं से भिगोया है' कवि के आशय को सुबोध बनाने में सक्षम नहीं, प्रत्युत भ्रामक है। रतनसेन ने रकत से सींचा और पद्मावती ने अपने आंसुओं से, यह कल्पना औचित्य से परे है। लेई का सादृश्य जोड़ कर दृढ़ता को व्यक्त करने के लिए दिया गया है। यह कहना हास्यास्पद है कि 'प्रेम गाढा हुआ तो रानी ने इसमें आँसू मिलाए।'प्रीति और प्रेमाश्रु का सहज संबंध है। अग्रवाल जी मानते हैं : 'रतनसेन के रकत और पद्मावती के नेत्रांजल से प्रेमकथा पूरी हुई' पर **पद्मावत** में रतनसेन और पद्मावती दोनों ही विरह-मरण से पीड़ित चित्रित हुए हैं। नागमती भी। कवि स्वयं के ईश्वर के प्रेम-विरह में रक्तहीन हो चुका था। अग्रवाल जी का एक निष्कर्ष यह भी है – 'जायसी ने अपने शरीर के श्रम और हृदय की करुणा से यह काव्य जोड़ा है। निश्चय ही यह अर्थ पद्मावत से पुष्ट नहीं है। शुक्ल जी द्वारा किया

गया अर्थ – गाढी प्रीति को आँसुओं से भिगो–भिगोकर गीला किया है।'अग्रवाल जी ने स्वीकार किया और सत्य से दूर हो गए। गाढो प्रीति (प्रेम प्रीति) 'नैन जल भई' श्रोताओं से संबंधित है। काव्य को जिसने सुना उसके हृदय में प्रेम पोर उत्पन्न हुई और प्रेम प्रीति से उसके नेत्रों से आँसू बहने लगे। रकत से जोरी प्रीति का आशय है – 'जानें प्रीति जो मदि कै जाए।' २३१

"औ मन जानि कवित अस कीन्हा।

मकु यह रहै जगत मँह चीन्हा॥" में मकु का अर्थ अग्रवाल जी ने 'शायद' और गुप्त जी ने 'संभव है' किया है।

१) मकु = कदाचित्, संभव है।

'जोगी केर करहु पै खोजू। मकु यह होइ न राजा भोज॥ (पद. २६०)

२) मकु = चाहे :

'तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई।'

मसक फूंक मकु मेरु उड़ाई। मानस. २.२३२

३) मकु = मानों :

'रोकहि रोक बान पै फूटै। सोतहि सोत रुहिर मकु टूटै॥' २२५

४) मकु = जिससे, ताकि (सौ दैट) :

i) 'गहै बीन मकु रैनि बिहाई।' १६५ पद्मावत

ii) 'चोर नाउ आपन कहि मोही।

बोलु मछ मकु चीन्हउं तोहीं॥' (२०१ चाँदायन)

'मकु यह रहै जगत मँह चीन्हा' में 'मकु' 'जिससे' के आशय में है। कवि का कथ्य है कि मैंने ऐसा काव्य रचा है जिससे संसार में यश अमर रहे। अमृत रस–प्रेम रस से भरी यह रचना जब तक जगत में रहे मेरी कीर्ति को अक्षुण्ण रखे। चीन्हा = चिन्हानी, पहचान। जगत् में वह कृति यश का विस्तार करेगी, क्योंकि प्रेम प्रीति की सुन्दर व्यंजना है – इस कृति की रचना रकत के बूंद से, विरह की पीड़ा से हुई है। 'औ मन जानि' से कवि की दृढ इच्छा और आत्मविश्वास प्रकट होता है। सभी काव्यकारों ने ऐसी अभिव्यक्ति की है जैसा ऊपर विवेचित है। जायसी मानते हैं :–

"धनि सो पुरुख जस कीरति जासू।

फूल मरै पै मरै न बासू॥' ६५२

शरीर छूट जाता है पर विचार रह जाते हैं।

१४७, त्रिवेणी रोड
इलाहाबाद–२११००३
(उ. प्र.)
हरिहर प्रसाद गुप्त

औद्धव-मत में प्रत्यक्ष प्रमाण का विचार

भारतीय दर्शन में विशिष्टाद्वैत वेदान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। इस सिद्धान्त के प्रवर्तक श्रीरामानुजाचार्य हैं। रामानुजाचार्य के मत को ही आधार बना कर १८ वीं शताब्दी में औद्धव-सम्प्रदाय का प्रभाव हुआ। यह सम्प्रदाय स्वामी सम्प्रदाय के रूप में आज भी गुजरात में सर्वातिशयेन जाना जाता है। गुजरात में ही उत्पन्न हुए श्रीहरिजीवनदास ने इस सम्प्रदाय के प्रचार एवं प्रसार हेतु अत्यन्त योगदान दिया। इन्होंने **मानमेयप्रकाशिका** नामक दार्शनिक कृति का निर्माण करके इस मत का सर्वाधिक रूप में प्रचार किया। इस मत के प्रमाण एवं प्रमेय द्विविध पदार्थ के अनुशीलनपूर्वक श्रीहरिजीवनदास ने रामानुजसम्मत विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का ही प्रकाशन किया।

औद्धव मत में विशिष्टाद्वैत के चित्, अचित् एवं ईश्वरतत्त्व को ही प्रकरान्तर से जड, जीव, एव ईश्वर इन त्रिविध प्रमेय पदार्थों के रूप में स्वीकार किया गया है। साम्प्रदायिकगण ब्रह्म के सगुण एवं साकार रूप का ही प्रतिपादन इस मत के आधार पर किया करते हैं। परमज्ञानी उद्धव को इस मत का आदि गुरु मानने के कारण ही इस मत को औद्धव मत कहना अभिप्रेत है। उद्धव के शिष्य रामानन्द हुए तथा उनके शिष्यत्व को ही स्वामीनारायण ने प्राप्त किया। अतः गुरुपरम्परागत सदुपदेश के रूप में प्रोक्त होने के कारण इस मत को स्वामीनारायण मत के नाम से विशेष ख्याति प्राप्त हुई।[1]

श्री हरिजीवनदास की कृति **मानमेयप्रकाशिका** में इस मत के प्रमाण एवं प्रमेयों का विवेचन प्राप्त होता है। प्रमाणों के अन्तर्गत इस मत में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम ये तीन प्रमाण स्वीकृत हैं। प्रमेय पदार्थ का द्विधा तथा

पंचधा विभाग मान्य है। द्विधा विभाग के अन्तर्गत प्रमेय द्रव्य एवं अद्रव्य के रूप में विभाजित है। त्रिधा विभाग के अन्तर्गत माया, जीव एवं ईश्वर-तत्त्व का पृथक् निरूपण किया जाता है। साथ ही पंचधा विभाग के अन्तर्गत माया, जीव, ईश्वर, ब्रह्म एवं परब्रह्म के रूप में प्रमेय निरूपण विहित है। प्रमाणों की मान्यता में प्रायः न्यायदर्शनसम्मत स्वरूपविमर्श यहाँ भी प्राप्त होता है, किन्तु विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रकाशनार्थ कतिपय भेद एवं मान्यतायें भी प्रसिद्ध रहीं हैं। इस लेख में सम्प्रदायगत मान्यताओं के प्रकाश में प्रत्यक्ष प्रमाण का ही विवेचन किया जा रहा है।

प्रत्यक्ष प्रमाण सभी अनुमानादि प्रमाणों का उपजीव्य है। अनुमानादि प्रमाण उपजीवक हैं। प्रत्यक्षपूर्वक ही अनुमानादि की प्रवृत्ति होती है। अनुमान तो पूर्ण रूपेण प्रत्यक्ष के आधार पर ही सिद्ध होता है। अनुमान की प्रवृत्ति व्याप्तिज्ञान के विना नहीं होती तथा व्याप्तिज्ञान प्रत्यक्ष-पूर्वक ही सिद्ध होता है। अतः सभी प्रमाणों में प्रत्यक्ष ही सभी वादी एव प्रतिवादियों को सम्मत प्रमाण है।

प्रत्यक्ष का लक्षण : साक्षात्कारिणी प्रमा प्रत्यक्ष है, एवं उसका करण प्रत्यक्ष प्रमाण है।[२] साक्षात् अपरोक्ष अनुभव ही प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है। प्रत्यक्ष का विशिष्ट गुण यह है कि यह ज्ञान अन्य ज्ञान के माध्यम से नहीं होता है। इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान को ही प्रत्यक्ष का स्वरूप मानने पर ईश्वर के नित्य ज्ञान में अव्याप्ति होती है। अतः इस अव्याप्ति के वारणार्थ वेंकटनाथ ने भी इसे अपरोक्ष ज्ञान माना है तथा इसका लक्षण " जिस ज्ञान में करण ज्ञात न हो तथा जो स्मृतित्व से रहित हो " इस रूप में किया है।[३] अनुमानादि ज्ञानों में लिंग ज्ञात रहता है, तथा स्मृत्यादि ज्ञान में पूर्वानुभव करण रूप में ज्ञात रहता है। अतएव प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण की अनुमानादि ज्ञानों में व्यावृत्ति के लिए ही **मानमेयप्रकाशिका** में अपरोक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया है।

नव्य नैयायिकों के अनुसार जिस ज्ञान में अन्य ज्ञान की कारणता न हो; ऐसा प्रत्यक्ष का लक्षण है।[४] इस लक्षण से भी ईश्वर के नित्य ज्ञान में अव्याप्ति का परिहार हो जाता है। यह लक्षण ईश्वर तथा जीव के प्रत्यक्ष के लिए समान है।[५] नैयायिक केशवमिश्र भी प्रत्यक्ष में साक्षात्त्व मानते हुए साक्षात्कारिणी प्रमा को इन्द्रियजन्य स्वीकार करते हैं।[६] न्याय मत के साथ ही प्रभाकर मीमांसक साक्षात् प्रतीति को प्रत्यक्ष प्रमाण मान कर स्मृति में प्रत्यक्षापत्ति को निर्दिष्ट करते हैं।[७] हरिजीवनदास ने प्रत्यक्ष के विषय में विभिन्न लक्षणों के प्रकाश में साक्षात्कारिणी प्रमा को प्रत्यक्ष तथा उसके करण को प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध किया है। साक्षात्कारिणी प्रमा का आपरोक्ष्य उसके विशदावभासक होने से है।[८] जैन तार्किक हेमचन्द्र सूरि ने भी प्रत्यक्ष को अपरोक्ष प्रमाण मानते हुए उसको

वैशद्यमूलक लक्षित किया है।[९] वस्तुतः वैशद्य का तात्पर्य असाधारण रूप से वस्तु का प्रकाशन है। प्रत्यक्ष लक्षण के सम्बन्ध में उपर्युक्त लक्षणों में साम्य होने पर भी ज्ञान के प्रकारों के विषय में मतभेद पाया जाता है, जिसे प्रस्तुत किया जा रहा है :

प्रत्यक्ष के भेद : सामान्यतः प्रत्यक्ष के दो भेद माने जाते हैं : निर्विकल्पक एवं सविकल्पक। **मानमेयप्रकाशिका** में नैयायिकों को मान्य निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के स्वरूप का खण्डन किया गया है। हरिजीवनदास का अभिमत है कि निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों ही प्रकार के ज्ञान सविषयक सिद्ध होते हैं। नैयायिक निर्विकल्पक ज्ञान को निष्प्रकारक, नाम, जाति तथा योजना से हीन मानते हैं।[१०] किन्तु हरिजीवनदास का मन्तव्य रहा है कि बालमूकादि ज्ञान भी संज्ञा, विकल्प आदि से रहित होने पर विशिष्टविषयक माने जा सकते हैं। हेयोपादेयता का ज्ञान होने से ही बाल, मूकादि की इष्ट में प्रवृत्ति तथा दिष्ट से निवृत्ति देखी जाती है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिमात्र में राग, द्वेष, भयादि प्रवृत्तियों की समानता के कारण ही रज्जु को रज्जुत्वेन देखने से प्रवृत्ति एवं सर्पत्वेन देखने से निवृत्ति होती है। गोसर्पादि को देखने से हानोपादान की प्रवृत्ति से भी यह सिद्ध होता है कि निर्विकल्पक ज्ञान विशिष्टविषयक है, निष्प्रकारक नहीं।[११]

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष विचार:–जिस ज्ञान में पदार्थ के विशिष्ट गुण को प्रत्यवमर्श के अभाव में उस पदार्थ के रूप में जाना जाता है, वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है।[१२] संस्कारों के उद्बुद्ध हुए बिना ही होनेवाला इन्द्रियजन्यज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है।[१३] कुमारिलभट्ट ने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को बालमूकादि ज्ञान के समान आलोचन मात्र मान कर उसे शब्द–सम्बन्ध से रहित माना है।[१४] बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति के मत में भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का यही स्वरूप है।[१५]

मानमेयप्रकाशिका में यह स्वीकार किया गया है कि ज्ञान में शब्दानुवेध होने से उसे भी विशिष्ट ज्ञान मानना चाहिए। भर्तृहरि के वचन द्वारा भी ज्ञानों के शब्दानुवेधत्व की सिद्धि होती है।[१६]

निर्विकल्प ज्ञान जात्यादिक कल्पना से युक्त है। संस्थान ही जातिरूप है। यद्यपि प्रथम पिण्ड के ग्रहण के समय यह इस जाति का है इस रूप में वस्तु का ग्रहण नहीं होता, तथापि दृष्ट पदार्थ में 'यह विजातीय है' इस रूप में ग्रहण अवश्य होता है। गुण का ज्ञान भी शुक्ल, नीलादि के वैषम्य से गृहीत है। जाति एवं व्यक्ति में अभेद होने से व्यक्ति के साथ ही जाति का ग्रहण अवश्यम्भावी है।[१७] अतएव प्रथम पिण्ड के दर्शन से 'यह गो है' यह ज्ञान निर्विकल्पक है तथा सामान्य (सादृश्य) के ग्रहणपूर्वक द्वितीयादि पिण्डों में 'यह भी गो है' यह निश्चयात्मक ज्ञान सविकल्पक माना जाता है। निर्विकल्पक में

वस्तु को विशेषशून्य नहीं कहा जा सकता है। इसका अन्य सिद्धान्त से विरोध होगा क्योंकि धर्म एवं धर्मी भाव को स्वीकार किए बिना कोई भी वस्तु विषय हो नहीं बन सकती है। अतः नैयायिक को मान्य वस्तुमात्रावगाहि ज्ञान उत्पन्न हो नहीं कहा जा सकता है। इसलिए दर्शन मात्र से 'यह इस प्रकार का है' यह विशिष्ट ज्ञान अबाधित रूप में मानना तर्कप्रतिष्ठित है।

सविकल्पक प्रत्यक्ष विचार : प्रत्यवमर्श के सहित होने वाला प्रत्यक्ष सविकल्पक है।[१८] प्रत्यवमर्श से तात्पर्य पदार्थ का विकल्पों के साथ पुनर्ग्रहण से है। गुण, संस्थानादि से विशिष्ट प्रथम पिण्ड का ग्रहण निर्विकल्प प्रत्यक्ष, तथापि पूर्वकालिक अनुभव का संस्कारसहित गुण, संस्थानादि से विशिष्ट रूप में द्वितीयादि पिण्ड का ग्रहण सविकल्पक प्रत्यक्ष है। न्याय मत से यहाँ यह भेद है कि इस मत में सभी ज्ञान सविषयक ही माने गये हैं।[१९] पूर्व में न देखे गये गवादिक पदार्थ का दर्शन करने में 'यह इस प्रकार का कोई पशु है' ऐसा प्रत्यवमर्शरहित ज्ञान होता है। जब कि सजातीय द्वितीयपिण्ड में 'यह भी वही है' इस प्रकार से प्रथम पिण्ड के रूप में दृष्ट पश्वादि की जाति–विशेष का प्रत्यवमर्श होता है। इस प्रकार होने वाले पुनर्ग्रहण में सहकारी हेतु पूर्व के अनुभवजन्य संस्कारों का उद्बुद्ध होना ही है।[२०] कोई भी ज्ञान इन्द्रियमात्र से जन्य नहीं कहा जा सकता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी विषय, आलोक एवं उद्बुद्ध रूप सहकारी बनते हैं उसी प्रकार सविकल्पक प्रत्यक्ष में पूर्वानुभवजन्य संस्कारों का उद्बोध सहकारी बनता है। सविकल्पक को प्रत्यक्ष का प्रकार भी मानना इसलिए आवश्यक होता है कि इसे न मानने पर प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यक्षत्व की क्षति होती है।

संक्षेप में वर्णित उभयविध प्रत्यक्ष का निष्कृट लक्षण यह है कि उद्बुद्ध संस्कारों से होने वाला इन्द्रियजन्य ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष तथा अनुद्बुद्ध संस्कारों से होनेवाला इन्द्रिजन्य ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है।[२१]

प्रत्यक्ष के अवान्तर भेद : सर्वप्रथम ज्ञान के प्रकारों की दृष्टि से निर्विकल्पक एवं सविकल्पक रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान की द्विविधता का परिचय प्रस्तुत किया गया। अब अवान्तर भेद से प्रत्यक्ष के अर्वाचीन एवं अनर्वाचीन विभाग का परिचय प्रस्तुत किया जाता है :

अर्वाचीन प्रत्यक्ष : अर्वाचीन प्रत्यक्ष के दो भेद हैं : इन्द्रियसापेक्षप्रत्यक्ष एवं इन्द्रियनिरपेक्षप्रत्यक्ष।

(क) **इन्द्रियसापेक्ष :** अस्मदादिजनों को इन्द्रियों के साहाय्य से होनेवाला प्रत्यक्ष ही इन्द्रियसापेक्ष प्रत्यक्ष है।[२२] यह पंचविध ही है, षड्विध नहीं।

१. **चाक्षुष** – नेत्रेन्द्रियद्वारा रूप का ग्रहण होता है। नेत्रेन्द्रिय से ग्राह्य प्रत्यक्ष की चाक्षुष संज्ञा है।

२. रासन – रसनेन्द्रिय द्वारा रस का ग्रहण होता है, अतः रसनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य प्रत्यक्ष की रासन संज्ञा है।

३. घ्राणज – घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का ग्रहण होता है, अतः घाणेन्द्रिय से ग्राह्य प्रत्यक्ष की घ्राणज संज्ञा है।

४. त्वाच – त्वगिन्द्रिय से स्पर्श का ग्रहण होता है, अतः त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य प्रत्यक्ष की त्वाच संज्ञा है।

५. श्रावण – श्रवणेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है। अतः श्रवणेन्द्रिय से ग्राह्य प्रत्यक्ष की श्रावणसंज्ञा है।

मानस प्रत्यक्ष का अभाव : नैयायिक मत में आत्मा जड है, किन्तु विशिष्टाद्वैत मत में आत्मा स्वयंप्रकाश द्रव्य है। नैयायिक मन को इन्द्रिय मानने के कारण मानस प्रत्यक्ष मानते हैं, किन्तु विशिष्टाद्वैत मत में यद्यपि मन का इन्द्रियत्व स्वीकार है, पुनरपि मानस प्रत्यक्ष की मान्यता इष्ट नहीं है। अतः मानस सुख, दुःखादि की उपपत्ति के लिए मानस प्रत्यक्ष कारण न होकर ज्ञान का स्वयंप्रकाशत्व ही कारण है[२३] विशिष्टाद्वैती स्मृति आदि के करण के रूप में ही मन इन्द्रियत्व का साधन करते हैं।[२४]

(ख) इन्द्रियनिरपेक्ष प्रत्यक्ष : इन्द्रियनिरपेक्ष प्रत्यक्ष योगिजनों का होता है। यह द्विविध है।

१. स्वयंसिद्ध – योगज प्रत्यक्ष स्वयंसिद्ध कहलाता है। योगज प्रत्यक्ष में योगाभ्यास एवं तपश्चर्यादि से उत्पन्न सूक्ष्म अदृष्ट कारण होता है।[२५] योगज महर्षियों का ज्ञान है।

२. दिव्य – भागवत्कृपा से होने वाला प्रत्यक्ष दिव्य है। परांकुश आदि भक्तों तथा गोपालानन्द प्रभृति जनों का इस प्रकार का प्रत्यक्ष औद्धव मत में मान्य है। यह प्रत्यक्ष ईश्वर, मुक्त तथा आर्ष पुरुषों का ही होता है।[२६]

अनर्वाचीन प्रत्यक्ष : ईश्वर एवं मुक्त पुरुषों का अनर्वाचीन प्रत्यक्ष मान्य है। वेंकटनाथ ने भी साक्षात्त्व के दो भेदों में ईश्वरीय ज्ञान को नित्य माना है।[२७] ईश्वर को प्रत्येक वस्तु का साक्षात्कार देश, काल तथा अवधि में सर्वदा होता रहता है। श्रीनिवासदास ने अनर्वाचीन प्रत्यक्ष को ईश्वरीय कहा है।[२८]

सन्निकर्ष – इन्द्रिय सन्निकृष्ट अर्थ की ही ग्राहिका होती है। अतः प्रत्यक्ष में द्विविध इन्द्रियसन्निकर्ष मान्य है :।– संयोग २ – संयुक्ताश्रय। घटादि अर्थ के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष को संयुक्ताश्रय सन्निकर्ष कहते हैं। वस्तु को ग्रहण करके शीघ्र प्रकाशित करना ही इन्द्रिय का स्वभाव है। चाक्षुष प्रत्यक्ष में अन्तःकरण की वृत्ति विषय देश में जा कर विषय का ग्रहण करती है। अन्य इन्द्रियसापेक्ष प्रत्यक्षों में विषय ही इन्द्रिय प्रवेश में सन्निकृष्ट माने गये हैं। श्रावण प्रत्यक्ष में भी वायु व्दारा समीप लाया गया शब्द श्रोत्रप्रदेश में सन्निकृष्ट होता है। सन्निकर्ष की द्विविधता इन्द्रियसापेक्ष प्रत्यक्ष के लिए ही चरितार्थ होती है।

उक्त समस्त विवेचन के आधार पर यह सहज रूप में कहा जा सकता है कि विशिष्टाद्‌वैत सिद्धान्त के प्रकाशन के अनुरूप ही औद्‌धव मत में प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप पर विचार प्राप्त होता है। इस तरह नैयायिक मान्यता से औद्‌धव मत में प्रत्यक्ष का भेद भी स्फुट हो जाता है।

संस्कृत विभाग कौस्तुभानन्द पाण्डे
कुमाऊँ विश्वविद्यालय परिसर
अल्मोड़ा – २६३६०१
(उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. मन्त्रादीनां श्रीहरेर्यद्‌गुरुशिष्यक्रमागतम्। सम्यक् प्रकर्षवद्‌दानं सम्प्रदायः स उच्यते ।। हरिजीवनदास, मानमेयप्रकाशिका, पृ. ५१४।

२. साक्षात्कारिप्रमाप्रत्यक्षम्, तत्करणं प्रत्यक्षप्रमाणम्। तदेव, पृ. १९।

३. वेंकटनाथ (वेदान्तदेशिक), न्यायपरिशुद्धिः, पृ. ६९।

४. न्यायसिध्दान्तमुक्तावली, पृ. १२८।

५. न्यायपरिशुध्दिटीका, पृ. ६९।

६. केशवमिश्र, तर्कभाषा, पृ. १।

७. प्रकरणपंचिका, पृ. १४६–१४७।

८. वरद विष्णुमिश्रैर्मानयाथात्म्यनिर्णये त्वेवमुक्तम् – अपरोक्षप्रमा, प्रत्यक्षम्, प्रमाया आपरोक्ष्यं नाम विशदावभासकत्वमिति ब्रूमः। किमिदं वैशद्यं नाम? असाधारणाकारेण वस्त्वभासकत्वं इत्यादिति। मानमेयप्रकाशिका, पृ. १९।

९. विशदः प्रत्यक्षम्। प्रमाणमीमांसा, पृ. २४।

१०. केशवमिश्र, तर्कभाषा, पृ. ५९।

११. मानमेयप्रकाशिका, पृ. १९–२०।

१२. सप्रत्यवमर्शं प्रत्यक्षं सविकल्पकम्, तद्रहितं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्। अदृष्टपूर्वं पिण्डविशेषं गवादिकं पश्यतः "अयमीदृशः कोऽपि पशु" रिती भवति प्रत्यवमर्शरहितं प्रत्यक्षम्। मानमेयप्रकाशिका; पृ. २१।

१३. संस्कारोद्बोधनिरपेक्षेन्द्रियजं ज्ञानं निर्विकल्पकम् प्रत्यक्षमिति। तदेव, पृ. २२

१४. श्लोकवार्तिक, पृ. १६७.

१५. अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना, तया रहितम्। न्यायबिन्दुः पृ. ४७।

१६. सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ – वाक्यपदीयम्। १२३।

१७. मानमेयप्रकाशिका, पृ. २०।

१८. सप्रत्यवर्शं प्रत्यक्षं सविकल्पकम्। मान प्र. पृ. २१।

१९. न्याय. प्र. पृ. ७५।

२०. मान. प्र. पृ. २२।

२१. तथा चैतत् निष्कृष्टं लक्षणम् – संस्कारोद्बोधसहकृतेन्द्रियजं ज्ञानं सविकल्पक प्रत्यक्षम्, संस्कारोद्बोधनिरपेक्षेन्द्रियजं ज्ञानं निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमिति । – तदेव, पृ, २२

२२. मान प्र. पृ. २३ ।

२३. ज्ञान ज्ञाताऽहमर्थं आत्मा च स्वयं प्रकाशेते इति न तस्य मनःसापेक्ष-प्रत्यक्षविषयता तस्माच्चक्षुषो रूपादिकमेव मनसो न कश्चिदसा-धारणोऽर्थः । तदेव, पृ. २४ ।

२४. तत्र स्मृतिकरणमिन्द्रियं मनः – तदेव, पृ. १५४ ।

२५. तदेव, पृ. २३ ।

२६. तदेव, पृ. २३ ।

२७. यतीन्द्रमतदीपिका, प्रकाशटीका, पृ. ६ ।

२८. न्यायपरिशुद्धिः, पृ. ७० ।

व्यक्तिवाची संज्ञायें और उनके अर्थ

न्यायमतानुसार पदों के विभाग को यदि ध्यान में रखा जाय तो पद तीन प्रकार के स्वीकृत हैं...प्रकृति, प्रत्यय और निपात। इनमें से प्रकृति भी दो प्रकार की है...नाम और धातु। पुन: नाम के भी कई विभाग किये गये हैं, जैसे ...संज्ञा, लक्षक, योगरूढ़ और यौगिक। संज्ञा के अन्तर्गत नैमित्तिक, पारिभाषिक और औपाधिक पद आते हैं। इस तरह से 'नाम' शब्द के द्वारा नैयायिक एक व्यापक शब्द-भण्डार का निर्देश करते हैं, जिनमें धातु और प्रत्यय छोड़ कर प्राय: सभी शब्द आ जाते हैं जैसे...समस्तादि।

सामान्यतया सार्थक शब्द एक विशेष अर्थ का ही प्रतिपादक होता है जैसे ...'गो' शब्द सास्नादियुक्त पशु-विशेष का स्मारक होता है, अश्व महिषादि का उपस्थापक नहीं होता है। पदार्थ स्मरण का नियम है कि...'एक सम्बन्धि-ज्ञानमपरसम्बन्धि स्मारकम्' अर्थात् दो वस्तुओं में परस्पर सम्बन्ध ज्ञात होने से एक के ज्ञान से दूसरे का भी स्मरण हो जाता है। अतः शब्द के श्रवण से अर्थ का स्मरण होता है। शब्द असम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादक नहीं होता है। अन्यथा किसी भी शब्द के साथ किसी भी अर्थ का स्मरण हो कर शाब्दबोध होने लगता। किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतएव नियत शब्द, किसी सम्बन्ध-विशेष के द्वारा नियन्त्रित होकर, नियत अर्थ का ही स्मारक होता है। शब्द और उसके अर्थ में शाब्दबोध के अनुकूल इस प्रकार के सम्बन्ध को वृत्ति कहते हैं। अन्यथा घट शब्द के श्रवण से आकाश का भी बोध हो सकता है, क्योंकि 'घट' पद, शब्द होने के कारण आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहता है; अतएव 'घट' पद के श्रवण से

परामर्श (हिन्दी), खण्ड १२, अंक ३, जून १९९१

आकाश का बोध हो जायेगा। परन्तु शब्द और अर्थ में 'वृत्ति' सम्बन्ध स्वीकारने से ऐसा नहीं हो सकता है, क्योंकि तब घट पद वृत्त्यधीन हो कर घट पदार्थ का ही स्मारक होगा, आकाश का नहीं।

वृत्ति, शक्ति और लक्षणा भेद से द्विविध स्वीकृत है। जो पद जिस अर्थ-ज्ञापन की सामर्थ्य रखता है, वह पद उस अर्थ में शक्तिमत् होता है। नैयायिक मत में संकेत को ही शक्ति कहते हैं। 'अस्मात् पदात् अयमर्थो बोद्धव्यः' अर्थात् इस पद से इस अर्थ का बोध हो, इस प्रकार की इच्छा को न्याय मत में शक्ति या संकेत कहते हैं। अथवा 'इदं पदमियमर्थं बोधयतु' अर्थात् यह पद इस अर्थ का बोधक हो इस प्रकार की इच्छा भी शक्ति या संकेत रूप में स्वीकृत है। मूल बात यह है कि न्याय मत में ईश्वर की अनादि इच्छा शक्ति कही जाती है। 'गो' 'घट' इत्यादि पद कब से प्रयुक्त हो रहे हैं, इसका निर्धारण करना संभव नहीं है। अतः ये सभी शब्द और उनसे जनित बोध अनादि कहे जाते हैं। लेकिन इसके विपरीत कुछ शब्द ऐसे हैं जो 'सादि' कहे जाते हैं, जैसे – पिता के द्वारा पुत्र का नामकरण राम, श्याम इत्यादि करना। इस तरह के सभी व्यक्तिवाचक पदों में आधुनिक संकेत को ही शक्ति कहा जाता है। लेकिन यह प्रश्न विवादास्पद है जिसे हम बाद में उठायेंगे।

ऊपर लिखित तीन प्रकार की संज्ञाओं में नैमित्तक पदों की व्याख्या अथवा अर्थ–निर्णय करने से न्याय दार्शनिकों ने कोई त्रुटि नहीं की है। 'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः' (न्यायसूत्रः–२/२/६८) कह कर न्याय सूत्रकार ने निश्चित ही कर दिया है कि नैमित्तिक पदों का अर्थ जाति, आकृति और व्यक्ति में निहित है। मोटे तौर पर अनुगमक धर्म को ही जाति कहा जाता है। जैसे – गोत्वादि धर्म गो इत्यादि पद के द्वारा उपस्थित पदार्थ में विशेषण रूप से गोचर होता है। क्योंकि नियम है कि 'नागृहीतं विशेषणं विशेष्ये उपसंक्रामते', अर्थात् विशेषण अज्ञात रहने से विशेष्य भी विशिष्ट बुद्धि का विषय नहीं हो सकता है। 'गो' शब्द उच्चारण करने से सकल 'गो' पशु का बोध गोत्व रूप से होता है, जो 'गो' का अनुगमक धर्म है। लेकिन 'गोत्व' के द्वारा 'अ – गो' की व्यावृत्ति भी होती है, अतएव 'गोत्व' एक ओर जहां अनुगमक धर्म है वहीं दूसरी ओर व्यावर्तक धर्म भी है। जो धर्म अनेक वस्तुओं को अनुगत रूप से एकत्रित करता है उसे अनुगमक धर्म, एवं जो धर्म अन्य वस्तुओं से भिन्न रूप से व्यावर्तन करता है उसे व्यावर्तक धर्म कहते हैं। उदाहरण के लिये प्रमेयत्व, वाच्यत्व केवल अनुगमक धर्म ही होते हैं। दूसरी ओर आकाशत्व धर्म सिर्फ व्यावर्तक धर्म है क्योंकि आकाश एक होने से उसका अनुगम संभव नहीं है। किन्तु आकाशत्व धर्म आकाशेतर पदार्थ से आकाश को सिर्फ व्यावृत्ति करता है।

इसी प्रकार 'गो' शब्द का उच्चारण करने से गवाकृति भी शाब्द बुद्धि का विषय होती है, अतः न्यायमत में आकृति भी पदार्थ है। लेकिन आकृति के स्वरूप को लेकर दार्शनिकों में मतभेद है। तथापि प्रस्तुत सन्दर्भ में उसकी चर्चा अनावश्यक है। यद्यपि आकृति शाब्द-बुद्धि का विषय होती है, तथापि जाति को ही पदार्थतावच्छेदक या शक्यतावच्छेदक माना जाता है। क्योंकि आकृति का अर्थ है अवयव-विशेष अथवा अवयव-सम्बन्ध-विशेष। 'गो' पशु के सिर, पूंछ, सास्ना प्रभृति का परस्पर सम्बन्ध-विशेष ही आकृति है। इस तरह से आकृति, प्रति गो-भेद से भिन्न होने के कारण अनुगमक धर्म नहीं हो सकती। अतएव नैमित्तिक पदों के स्थल में, यथा 'गो' इत्यादि पद के श्रवण से गोत्वादि विशिष्ट गो आदि पदार्थ का ही होता है – ऐसा स्वीकृत है।

लेकिन जहाँ जाति उपलब्ध नहीं होती ऐसे पाचक, पाठक इत्यादि औपाधिक पदों के स्थल में किस प्रकार से पदार्थ का निर्णय किया जाय? यहां पाचकत्वादि जाति न होने के कारण "पाचक पद के श्रवण के पश्चात् किस प्रकार अर्थ-बोध होगा? इसके समाधान के लिये न्यायसूत्र-वृत्तिकार के अनुसार 'जाति' पद का अर्थ यदि 'धर्म' लिया जाय तो औपाधिक पदों का भी अर्थ-निर्णय करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। यथा 'जाति पदं वा धर्मपरम्' (२.२.६६)।

अब प्रश्न उठता है कि पारिभाषिक पदों के स्थल में यह अर्थ-निर्णय कैसे किया जायगा? यथा – चैत्र, मैत्र, आकाश. डित्थ इत्यादि। पारिभाषिक पद एक-व्यक्ति-मात्र वृत्ति होने के कारण, उसका धर्म अनेकानुगत नहीं हो सकता है, जैसे – आकाशगत शब्दाश्रयत्व-रूप आकाश, काष्ठमय हस्ती-रूप डित्थ पदार्थ का डित्थत्व इत्यादि। ये सभी एकमात्र -पदार्थ-वृत्ति होने के कारण इनका धर्म 'अनेकानुगत' नहीं हो सकता है। फलस्वरूप इनका अर्थ-निर्णय कैसे किया जायेगा? यह एक विवाद का विषय है जिसकी चर्चा आगे की जायेगी। 'पारिभाषिक पद' कहने से प्रस्तुत सन्दर्भ में व्यक्तिवाची पद को ही ग्रहण करेगें। श्री जगदीश तर्कालकार अपने ग्रन्थ शब्द शक्ति प्रकाशिका में पारिभाषिक पदों का लक्षण इस प्रकार करते हैं –

उभयावृत्तिधर्मेण संज्ञा स्यात् पारिभाषिकी। – कारिका २२

पारिभाषिक पदों को यदृच्छा पद भी कुछ हद तक कहा जा सकता है क्योंकि 'स्वेच्छया व्यवहारार्थो यः संकेतः सः यदृच्छा' ऐसा कहा जाता है, जैसे– पिता ने अपने पुत्र का नामकरण राम किया। पिता के व्दारा पुत्र का नामकरण अपनी सुविधा और व्यवहार के लिए किया गया है। पिता अपने पुत्र का नाम राम न रख कर अन्य कुछ भी रख सकता था। पर एकबार जब यह निश्चित हो गया कि इस व्यक्ति-विशेष को राम नाम से ही जाना जाय तो इसमें अब दो मत नहीं हो

सकते कि इस व्यक्ति-विशेष का अन्य कोई नाम हो। नामकरण के पूर्व तक पिता स्वतंत्र था कि पुत्र का जो चाहें नाम रख सकता था पर नामकरण के पश्चात् पिता की यह स्वतंत्रता कुछ सीमा तक समाप्त हो गई। अब इस व्यक्ति-विशेष को 'राम' पद से बुलाया जायेगा, अन्य किसी नाम से नहीं, यद्यपि इस विषय को लेकर नैयायिकों और वैयाकरणों में प्रबल मतभेद भी है। नैयायिक-कहीं-कहीं 'राम' पद के द्वारा बोधित पदार्थ में "रामत्व" जाति भी स्वीकार करते हैं, पर वैयाकरण इसे जाति नहीं मानते हैं। वैयाकरणों और नैयायिकों के मतों की चर्चा भी आगे की जायेगी।

इस प्रसंग में एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न का बारीकी से उत्तर देना अनिवार्य है, और वह यह है कि कोई शब्द किसी विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त क्यों किया जाता है? निश्चय ही उसका कुछ निमित्त या प्रयोजक होता है जिसे उस विशेष पद के व्यवहार का निमित्त कहा जाता है। बिना प्रवृत्तिनिमित्त को जाने शब्दों का अर्थ-निर्णय भी नहीं किया जा सकता है। साधारणतः शब्द को प्रवृत्ति का निमित्त या प्रयोजक उसका धर्म कहा जाता है। जैसे — 'घट' पद का प्रयोग केवल घट पदार्थ के लिए ही होता है, क्योंकि 'घट' पद का प्रवृत्तिनिमित्त 'घटत्व' है। यदि 'घट' पद का प्रवृत्तिनिमित्त 'द्रव्यत्व' होता तो 'घट' पद का प्रयोग सभी द्रव्यों के लिये हो जाता, पर वैसा होता नहीं है। 'घट' पद के द्वारा घट पदार्थ का ही बोध होता है। अतएवट घट पद का प्रवृत्तिनिमित्त घटत्व ही होगा।

यहां यह बात भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि किसी पद के द्वारा जिस पदार्थ का बोध होता है अथवा पद की शक्ति जिस पदार्थ में होती है उसे 'शक्य' कहा जाता है, तथा जिस निमित्त के कारण उस पदार्थ में हमारी प्रवृत्ति होती है उसे 'शक्यतावच्छेदक' कहा जाता है तथा न्याय का पारिभाषिक शब्द इसके लिए प्रवृत्तिनिमित्त है।

प्रवृत्तिनिमित्त के असली स्वरूप को समझने के लिये वर्धमान उपाध्याय के द्वारा दिये गये प्रवृत्तिनिमित्त के लक्षण को ध्यान में रखा जाना चाहिये। उनके अनुसार प्रवृत्तिनिमित्त का लक्षण है –

शक्यत्वे शक्यवृत्तित्वे स्वाभिन्नशक्यानधिकरणत्वं।

— गुणकिरणावलीप्रकाश (पृ: ३३१)

वर्धमान उपाध्याय के इस लक्षण को ध्यान में रखते हुए गदाधर ने प्रवृत्ति निमित्त का लक्षण कुछ इस प्रकार से किया है –

वाच्यत्वे सति वाच्यवृत्तित्वे सति वाच्योपस्थितिप्रकारकत्वम्।

— शक्तिवाद (पृ: ४१)

अर्थात् क, ख का प्रवृत्तिनिमित्त तभी हो सकता है जब (१) क, ख के अर्थ का एक अंश हो (२) क, ख को विशेषित भी करता हो और (३) जब हमें 'ख' का स्मरण होता है तो 'क' उसमें प्रकार रूप से उपस्थित भी होता हो। जैसे घटत्व, 'घट' पद का प्रवृत्तिनिमित्त है, क्योंकि घटत्व 'घट' पद का वाच्य भी है और 'घट' पद के द्वारा उपस्थित पदार्थ में प्रकार भी है।

उपर्युक्त लक्षण में यदि 'वाच्यत्वे सति' अंश को न दिया जाय तो प्राचीन मतानुसार 'आकाशत्व' में अतिव्याप्ति हो जायेगी। लेकिन 'आकाशत्व' यानी शब्दाश्रयत्व जाति न होने के कारण वाच्य नहीं है। अतएव इस अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए 'वाच्यत्वे सति' लक्षण में दिया गया है। नवीन मतानुसार 'घट' पद के द्वारा जैसे 'घटत्व उपस्थित होता है वैसे ही 'द्रव्यत्व' भी उपस्थित होता है। यदि 'वाच्यत्वे सति' विशेषण नहीं दिया गया तो 'घट' पद के द्वारा 'द्रव्यत्व' भी उपस्थित हो जायेगा, फलतः 'द्रव्यत्व' भी 'घट' पद का प्रवृत्ति निमित्तक हो जायेगा और 'घट' पद के द्वारा समस्त द्रव्य पदार्थ उपस्थित हो जायेगें। लेकिन उपर्युक्त अंश देने से 'घट' पद के द्वारा घटत्व ही उपस्थित होगा, क्योंकि वह 'घट' पद का वाच्य है, 'द्रव्यत्व 'घट' पद का वाच्य न होने के कारण उपस्थित नहीं होगा, अतएव अतिव्याप्ति भी नहीं होगी।

प्रवृत्तिनिमित्त के लक्षण में 'वाच्य वृत्तित्वे सति' अंश न देने से प्रवृत्ति निमित्त का लक्षण आकृति में भी अतिव्याप्त हो जायेगा। आकृति का अर्थ है अवयव-संस्थान-विशेष। 'जात्याकृतिविशिष्टवाचकता' मत में आकृति भी वाच्य है और वाच्य की उपस्थिति में प्रकार भी है। उदाहरण के लिये 'घट' पद के द्वारा उपस्थित घटाकृति भी वाच्य हो जायेगी क्योंकि जो लोग आकृतिव्यंग्या जाति मानते हैं उनके मत से आकृति के द्वारा जाति अभिव्यक्त होती है। अतः 'वाच्यवृत्तित्व' न देने से आकृति भी वाच्य होगी, और वाच्य (घटत्व) की उपस्थिति प्रकार होगी। लेकिन 'वाच्यवृत्तित्व' अंश देने से उसकी निवृत्ति हो जायेगी क्योंकि आकृति (अवयव संयोग) में व्यक्ति (अवयवी) रहता है तथा व्यक्ति में जाति रहती है। पर आकृति तो वाच्यवृत्ति नहीं है। वृत्ति का अर्थ है साक्षात् सम्बन्ध से होना। आकृति = अवयव संयोग, तो अवयव में रहता है; घट (अवयवी) में तो संयोग नहीं है, अतः 'वाच्यवृत्तित्व' न होने के कारण आकृति में अतिव्याप्ति नहीं होगी। अवयवसंयोग तो कपाल में रहता है।

'वाच्योपस्थिति प्रकारक' यह अंश यदि लक्षण में नहीं दिया गया तो 'दधि' इत्यादि स्थल में अतिव्याप्ति हो जायेगी। क्योंकि 'दधि' पद के द्वारा दधि (पदार्थ) उपस्थित होता है जो वाच्य भी है। दधि के अवयव भी वाच्य हैं जो कि खुद दधि हैं, वे वाच्य दधि में वृत्ति भी हैं। अवयव दधि में ही रहते

हैं, अतः 'दधि' पद का प्रवृत्तिनिमित्त भी हो जायेगा, जिसका वारण करने के लिये 'वाच्योपस्थिति प्रकारक' अंश दिया गया है। 'दधि' दधि पद के द्वारा उपस्थित पदार्थ में प्रकार रूप से भासमान नहीं होता है। प्रकार तो दधित्व ही होता है।

प्रवृत्तिनिमित्त का यह लक्षण पदार्थबोध और पदार्थनिर्णय दोनों को ही प्रस्तुत करने में सहायक सिद्ध होता है। अर्थ की दृष्टि से यह वस्तु के ही अन्तर्गत होता है और ज्ञान की दृष्टि से यह वस्तुज्ञान के प्रकार के रूप से भासमान होता है। जैसे —— 'गोत्व' गो–पद का अर्थ भी है तथा 'गो–पद' के द्वारा उपस्थित 'गो' पदार्थ का प्रकार भी है। अर्थात् ज्ञानीय प्रकारता भी उसमें है। गदाधर के उपर्युक्त प्रवृत्तिनिमित्त के लक्षण से एक बात स्पष्ट रूप से उभर कर आती है कि प्रवृत्तिनिमित्त एकमात्र जाति ही हो सकता है। चूंकि नैमित्तिक पद ही जाति–विशिष्ट होते हैं इसलिए नैमित्तिक पदों के ही स्थल में प्रवृत्तिनिमित्त सुलभ हो सकता है। औपाधिक और पारिभाषिक पद जातिविशिष्ट न होने के कारण वहां प्रवृत्तिनिमित्त उपलब्ध नहीं हो सकेगा। (तो ऐसे पदों का प्रयोग क्या होता ही नहीं हैं ?)

दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि इसलिए उक्त प्रवृत्तिनिमित्त के लक्षण से प्रथम अश को बिकाल देते हैं। अर्थात् प्रवृत्तिनिमित्त के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह पद द्वारा उपस्थित पदार्थ का एक अंश हो। प्रवृत्तिनिमित्त का जाति होना भी अनिवार्य नहीं है। प्रवृत्तिनिमित्त तो एक धर्म (जाति या उपलक्षण) है जो किसी विशेष अर्थ को ग्रहण करने में सहायक सिद्ध होता है। जैसे —— 'गोत्व' गो–पद का प्रवृत्तिनिमित्त अवश्य है पर 'गो' पदार्थ का अनिवार्य अंश नहीं है, क्योंकि यदि उसे अनिवार्य अंश माना जाता तो 'आकाश' पद के द्वारा उपस्थित शब्दाश्रयत्व भी आकाश पदार्थ का अनिवार्य अंश हो जाता, जबकि वह होता नहीं है। क्योंकि 'आकाश' पद से सर्वदा ही शब्दाश्रयत्व रूप से आकाश पदार्थ उपस्थित नहीं होता है। कभी शब्दाश्रयत्व रूप से, कभी अष्टद्रव्यातिरिक्त-द्रव्यत्व रूप से, कभी अन्य किसी प्रकार से उपस्थित होता है। रघुनाथ शिरोमणि के कहने का तात्पर्य है कि प्रवृत्तिनिमित्त अनिवार्य रूप से जाति ही हो, ऐसा नहीं कह सकते हैं। अन्यथा आकाशादि पद के द्वारा पदार्थ स्मरण ही नहीं हो सकेगा। और यदि ऐसा मान लिया जाय कि 'आकाश' पद के द्वारा शब्दाश्रयत्व रूप से आकाश पदार्थ उपस्थित हो सकता है (जो उपलक्षण है, जाति नहीं है) तो 'गो' पद के द्वारा भी गोत्व रूप से गो–पदार्थ उपस्थित हो सकता है। 'शब्दाश्रयत्व' और 'गोत्व' दोनों ही वाच्य नहीं है, पर उन्हें वाच्यतावच्छेदक

मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि अन्यथा 'गो' पद के द्वारा उपस्थित पदार्थ में 'द्रव्यत्व' भी वाच्यतावच्छेदक रूप से भासमान होने लगेगा।

II

अब इस अनुच्छेद में वैयाकरणों के मत का उल्लेख करना भी प्रासंगिक होगा। यास्क ने प्राचीन परम्परा के अनुसार अपना तथा समस्त निरुक्तकारों का मत दिया है कि सारे नाम धातुज होते हैं।

सर्वाणि आख्यातजानि नामानि स्युः।

(निरुक्त १. १२)

यास्क ने उणादि सूत्रों के रचयिता शाकटायन का भी उल्लेख किया है कि वह भी इसी मत के पोषक हैं। यास्क के कथन का अभिप्राय है कि किसी भी वस्तु को दिये जाने वाले किसी भी नाम का आधार कोई क्रिया होती है। वस्तुगत किसी क्रिया–विशेष को देख कर प्रारम्भ में तदनुरूप नाम रख लिया जाता है। यथा गतिशीलता के आधार पर पृथिवी के लिये 'गो' शब्द प्रचलित हो गया। व्यापकता के आधार पर 'पृथ्वी' नाम पड़ा। मननशीलता के कारण 'मनुष्य' नाम पड़ा। इसी तरह चलने के कारण 'अश्व' नाम पड़ा और छेदनशीलता के कारण 'तृण'।

यास्क ने गार्ग्य और अन्य वैयाकरणों के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वे समस्त नामों को धातुज नहीं मानते हैं। जिनकी सिद्धि व्याकरण के नियमानुसार प्रकृति और प्रत्यय से हो सके, वे ही धातुज होते हैं। जिनकी सिद्धि व्याकरण के नियमानुसार नहीं हो सकती है ऐसे अन्य शब्द अव्युत्पन्न और परम्परागत ही हैं। यथा 'गो, अश्व, पुरुष, हस्ती' आदि। पतंजलि ने 'उणादयो बहुलम्' (३.३.१) की व्याख्या करते हुए संज्ञाओं के धातुज होने का समर्थन किया है। लेकिन यास्क यह आपत्ति भी उठाते हैं कि यदि नामों को इस प्रकार धातुज ही माना जायेगा, तो जो भी उस कार्य को करेगा उसी का वह नाम पड़ जायेगा। यथा मार्ग पर चलने से 'अश्व' नाम पड़ा है, तो जो भी मनुष्य या पशु मार्ग पर चलते हैं, उन्हें भी अश्व कहा जाना चाहिये। इसके अलावा एक वस्तु का जितनी क्रियाओं से सम्बन्ध होगा, उतने ही उसके नाम होने चाहिये। यथा खंभे का 'दरशया' और 'आसंजनी' भी नाम पड़ना चाहिये, क्योंकि वह गड्ढे में रखा जाता है और वल्ली को आश्रय देता है। परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता कि एक वस्तु के उसके कर्मानुरूप सारे नाम पड़ते हों।

यास्क ने (१.१०) में इन सभी आक्षेपों का उत्तर दिया है। प्रथमतः लोकव्यवहार में देखा गया है कि समान कर्म करने वालों में से किसी एक को

वह नाम दिया जाता है, अन्य को नहीं। यथा प्रत्येक तक्षण क्रिया करने वाले को तक्षा (बढ़ई), तथा प्रत्येक घूमने वाले को परिव्राजक नहीं कहा जाता है। नाम और उसकी बोधकता आदि के विषय में लोक-व्यवहार ही सबसे प्रमुख है। नाम किस क्रिया के आधार पर पड़ेगा, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। पर एकबार नाम पड़ने पर फिर उनकी संदिग्धता होने पर भी वही नाम बने रहते हैं। इस तरह से प्रारम्भ में नाम अपने यौगिक अर्थ से पड़ते हैं, परन्तु पश्चात् वह योगरूढ़ हो जाते हैं।

पतंजलि ने नामकरण के महत्त्व पर लिखा है कि किसी वस्तु के नाम डालने के मूल में मुख्य भावना लाघव है। संक्षिप्त और सरलतम उपाय से उस वस्तु का ज्ञान हो सके, अतः प्रत्येक वस्तु को नाम दिया जाता है।

लघ्वर्थं हि सञ्ज्ञाकरणम्। संज्ञा च
नाम यतो न लघीयः।

— महाभाष्य १.२.२२

कैयट इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि — यद्यपि शब्द की शक्ति अनन्त है, वह सर्वार्थबोधक है, तथापि जब एक शब्द विशिष्ट अर्थ में व्यवहार के लिये नियन्त्रित कर दिया जाता है, तब वह उस अर्थ का बोध कराता है, अन्य का नहीं।

सर्वार्थाभिधानशक्तियुक्तः शब्दो यदाविशिष्टेऽर्थे संव्यवहाराय नियम्यते तदा तत्रैव प्रतीति जनयति नान्यत्र।

— महाभाष्य प्रदीप १.२.२२

एक प्रमुख वैयाकरण नागेश लिखते हैं कि रूढ़ि शब्दों में क्रिया का निर्देश केवल उसकी व्युत्पत्ति के ज्ञान के लिये होता है। जैसे — 'गच्छतीति गौः' वस्तुतः उसका अर्थ रूढ़ि संज्ञा हो जाने के कारण समाप्तप्राय हो जाता है, अतएव गमन क्रिया के अभाव में भी उसे 'गौ' कहते हैं, और अन्य वस्तुयें जो गमन करती हैं उन्हे 'गौ' नहीं कहते हैं।

रूढ़िशब्देषु क्रिया केवलं व्युत्पत्त्यर्थमाश्रीयते—गच्छतीति गौरिति।
तेन गमनक्रियारहितोऽपि गौर्भवति, गोपिण्डाच्चान्योऽर्थो गमनविशिष्टोऽपि गौर्नभवति।

—महाभाष्यप्रदीपोद्योत ३ २.५६

किसी गुण या भाव के आधार पर एक बार नाम यदि पड़ भी जाता है; तो फिर उसके प्रयोग से सूक्ष्मार्थ पर ध्यान नहीं दिया जाता है। नाम इस प्रकार से वस्तु के संकेत-शब्द होते हैं। वस्तु की अपेक्षा नाम बहुत सूक्ष्म होते हैं, अतः वे वस्तु के उतने ही स्वरूप का संग्रह करते हैं जितना कि एक शब्द में संग्रह सम्भव

है। नाम वस्तु के एक गुण को ले कर चलता है, और धीरे-धीरे संकेत-शब्द रह जाता है। कितने ही शब्द पहले नाना अर्थों के बोधक रहते हैं, परन्तु प्रसिद्धि के कारण उनके अर्थों में संकोच होने से कोई अर्थ शेष रह जाता है, अन्य अर्थ अप्रयुक्त हो जाता है। यथा 'धेनु' पद प्रत्येक दूध देने वाले पशु का वाचक था; परन्तु उसका अर्थ-संकोच होने के कारण गाय ही अर्थ शेष रह गया है। छत्र शब्द से पतंजलि ने छात्र शब्द की व्युत्पत्ति बतलाई, वह विद्यार्थी के अर्थ में रूढ़ हो गया है। गुरु छत्र है क्योंकि वह शिष्य को आच्छादित करता है, अर्थात् शिष्य के अज्ञान को दूर करता है, जिस प्रकार छत्र उष्णादि को दूर करता है।

गुरुणा शिष्यश्छत्रवत् छाद्यः। शिष्येण च गुरुश्छत्रवत् परिपाल्यः।

— महाभाष्य ४/४/६२

कभी कभी शब्द अपने संकुचित अर्थ को छोड़ कर एक व्यापक अर्थ को ग्रहण करता है। जैसे — कैयट उदाहरण देते हैं कि 'प्रवीण' शब्द का अर्थ 'प्रकृष्टो वीणायाम्' है, परन्तु यह शब्द अपने संकुचित अर्थ वीणावादन की विशेषता को छोड़ कर किसी भी कृत्य में कौशल के लिये प्रयुक्त होने लगा। अपने मुख्यार्थ का विस्तार हो जाने से वीणा-वादन में ही चतुर के लिए 'वीणायां' प्रवीणः' यह प्रयोग नहीं होता है, क्योंकि 'प्रवीण' शब्द वीणा में प्रवीणता का नियमित रूप से बोध नहीं कराता है।

'कौशलं त्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्। तेन वीणायां प्रवीण इत्यापि भवति।

— महाभाष्य प्रदीप ५.२.२९

भर्तृहरि ने अर्थ का ग्रहण अनुभव और ज्ञान के अधीन बतलाया है। वक्ता अपनी भावना के अनुसार एक शब्द का एक अर्थ में प्रयोग करता है, परन्तु भिन्न भिन्न श्रोता अपने ज्ञान के अनुसार उसका पृथक् पृथक् अर्थ समझते हैं।

वक्त्रान्यैव प्रक्रान्तो भिन्नेषु प्रतिपतृषु।
स्वप्रत्ययानुकारेण शब्दार्थः प्रविभज्यते ॥

वाक्यपदीय २/१३७

व्यक्तियों का अनुभव समयानुसार परिवर्तित होता रहता है, और इसके फलस्वरूप वही व्यक्ति, जो एक वस्तु कुछ काल पूर्व दूसरे नाप में देखता या समझता था, उसी को कालान्तर में अन्य रूप में देखता और समझता है।

एकस्मिन्नपि दृश्येऽर्थे दर्शनं भिद्यते पृथक्।
कालान्तरेण वैकोऽपि तं पश्यत्यन्यथा पुनः ॥

वाक्यपदीय २/१२८

ऊपर की समस्त आलोचना का निचोड़ साहित्यदर्पणकार के शब्दों में यही है कि शब्दों की व्युत्पत्ति का आधार कुछ होता है और प्रवृत्ति का कुछ अन्य।

अर्थात् यह जरूरी नहीं है कि शब्द के व्युत्पत्तिगत अर्थ के आधार पर ही प्रवृत्ति हो। जैसे–'गो' शब्द की व्युत्पत्ति का निमित्त गमनकर्तृता है, परन्तु उसके संकेतग्रह में कारण रूप है गोत्व जाति, जिसके आधार पर प्रवृत्ति होती है।

अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्चप्रवृत्तिनिमित्तम्।

– साहित्यदर्पण २/५ (पृ. ३१)

नागेश लघुमंजूषा में लिखते हैं कि प्रवृत्ति प्रचलित अर्थ को लेकर चलती है, जैसे – व्याघ्र, मणि, नुपूर, मण्डप आदि शब्द रूढ़ हैं, इनमें व्युत्पत्त्यर्थ का बोध नहीं होता है, क्योंकि व्युत्पत्यर्थ की अपेक्षा लोकव्यवहार प्रबल होता है। जैसे – 'मातृ' शब्द के दो अर्थ हैं – माता और तोलनेवाला। परन्तु प्रसिद्ध के आधार पर अर्थ–संकोच हो जाने से माता का अर्थ जननी ही लिया जाता है, तोलनेवाला नहीं।

अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी।

– परिभाषेन्दु शेखर (परिभाषा १०७)

उपर्युक्त संदर्भ में यहां यह भी देख लेना अनिवार्य है कि वैयाकरणों के मत में प्रवृत्तिनिमित्त का क्या तात्पर्य है? प्रवृत्तिनिमित्त का अर्थ पहले ही कहा जा चुका है कि जो प्रवृत्ति का प्रयोजक कारण हो। पतंजलि कहते हैं –

चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः,
गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः, यदृच्छा शब्दाश्चतुर्थाः।

– महाभाष्य १.१.१

अर्थात् शब्द की प्रवृत्ति चार प्रकार से होती है – जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा। इसी प्रवृत्ति का निमित्त भी चार प्रकार का है। नागेश लिखते हैं –

शब्दानामर्थे या प्रवृत्तिः सा प्रवृत्तिनिमित्तभेदा त्प्रकारचतुष्टयवतीत्यर्थः।

लेकिन इन चार प्रकार के शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त कैसे प्राप्त हो? इसके उत्तर में कहते हैं––शब्द के उत्तर में 'त्व' या 'तल्' प्रत्यय लगा कर प्रवृत्तिनिमित्त प्राप्त हो जाता है। पाणिनि सूत्र 'तस्य भावस्त्वतलौ। (५/१/११६) में इसी बात की पुष्टि होती है। अर्थात् शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त उसका भाव है जो 'त्व' और 'तल' प्रत्यय के द्वारा अभिव्यक्त होता। जैसे– अश्वस्य भावः अश्वत्वम्, अश्वता। इस तरह से चार प्रकार के प्रवृत्तिनिमित्त क्रमशः अश्वत्व (जाति), शुक्लत्व (गुण), पाचकत्व (क्रिया) और डित्थत्व (यदृच्छा) प्राप्त होंगे। लेकिन इनमें से मात्र अश्वत्व को छोड़ कर कोई भी जाति-रूप नहीं है। वैयाकरणों का ऐसा कोई पूर्वाग्रह भी नहीं है कि प्रवृत्तिनिमित्त जाति का ही होना चाहिये (यद्यपि पारमार्थिक दृष्टि से सत्ता जाति में ही सबका अवसान होता है, जिसकी चर्चा हमें अभीष्ट नहीं है) ऐसा कहने से यदृच्छा

(एकमात्र वृत्ति) का प्रवृत्तिनिमित्त मिलने में कोई दिक्कत नहीं होगी, क्योंकि तब प्रवृत्तिनिमित्त का अर्थ जाति भी नहीं है, अनेकानुगत धर्म भी नहीं है –वरन् धर्म मात्र ही है, जो कि भाव–स्वरूप है। अर्थात् भाव प्रदर्शित करने के लिये जहां भी 'त्व' या 'तल्' प्रत्यय लगाया जाय, वही प्रवृत्तिनिमित्त होगा, यहां तक कि सम्बन्ध में भाव की अपेक्षा से प्रवृत्तिनिमित्त होगा। जैसे स्वामिभाव सम्बन्ध से राजपुरुषत्व, क्रियाकारकभाव सम्बन्ध से पाचकत्व, अपत्यापत्यी भाव सम्बन्ध से औपगवत्व में प्रवृत्तिनिमित्त स्वीकारना चाहिये। पदमंजरीकार हरदत्त लिखते हैं –

समासकृत्तद्धितेषु यद्यपि केवलं सम्बन्धं नाभिदधति तथापि सम्बन्धिनिवर्तमानाः सम्बन्धं प्रवृत्तिनिमित्तमपेक्षन्त इति तेभ्यः सम्बन्धे भावप्रत्ययः। तथा च राजपुरुषत्वमिति स्वस्वामिभावः सम्बन्धः प्रतीयते, पाचकत्वमिति क्रियाकारक सम्बन्धः औपगवत्वमित्यादावपत्यापत्यिसम्बन्धः।

– पदमंजरी ५/१/११६ पाणिनि सूत्र

कहा भी गया है –

'जातिगुणाज्जातिगुणे समासकृत्तद्धिताच्च सम्बन्धे डित्थादेः स्वे रूपे धवखदिराज्जातिसंघाते'

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रवृत्ति का प्रयोजक जाति का होना अनिवार्य नहीं है, जाति, गुण, सम्बन्ध, डित्थ (स्व स्वरूप) जाति संघात (धवखदिरत्व) कुछ भी हो सकता है, यद्यपि प्रकृत सन्दर्भ में हमारी आलोचना का केन्द्र व्यक्तिवाची संज्ञा (यदृच्छा) पद ही हैं।

यदृच्छा शब्द का अर्थ पहले ही कहा जा चुका है कि जो स्वेच्छा से व्यवहार के लिए प्रयुक्त किया जाय। संज्ञा शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त के विषय में भाष्यकार ने यह माना है कि प्राथमिक कल्प के संज्ञा के गुण और क्रिया ही शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त होंगे।

कश्चित् प्रथमकल्पिको डित्थो डाम्भिदश्चेतित्तेन
कृतां क्रियां गुणं वा यः कश्चित् करोति स
उच्यते –– "डित्थत्वं त एतत्, डाम्भिदत्वं त एतत्।
एवं डित्था कुर्वन्ति, एवं डाम्भिदृटा कुर्वन्ति।

यस्तर्हि प्राथमकल्पिको डित्थो डाम्भिट्टस्य, तस्य
वर्त्यभावाद् वृत्तिर्न प्राप्नोति।

—महाभाष्य ५/१/११९

लेकिन प्राथमकल्पिक वृत्ति कैसे होगी, इस पर भाष्यकार ने विशेष प्रकाश नहीं डाला है, केवल यह कहा है कि जैसे उसका (संज्ञा शब्द का) प्रयोग होता है, वैसे किसी तरह उसमें वृत्ति भी हो जायेगी।

यथैव तस्य कार्थचित्कः प्रयोगः, एवं वृत्तिरपि भविष्यति।

इस पर कैयट ने प्रवृत्तिनिमित्त के प्रश्न को दो तरह से सुलझाया है। उनके मत में शब्द के स्वरूप में अर्थ का अध्यास कर 'यह डित्थ है' ऐसा संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध करते हैं। शब्द स्वरूप के आसंग से डित्थ शब्द का जिस तरह डित्थ अर्थ में व्यवहार होता है, उसी तरह शब्दस्वरूप अर्थ में भावप्रत्यय होता है। दूसरा समाधान यह है कि डित्थादि संज्ञी में भी जाति रहती है। उत्पत्ति से लेकर अन्त तक कुमार, यौवन आदि अवस्था भेद से भिन्न भिन्न द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति डित्थत्व, डित्थ में है ही, जिसके कारण बालक डित्थ को युवा अवस्था में देखने पर 'यह वही डित्थ है'—ऐसी प्रतीति होती है। वही जाति-शब्द संज्ञा शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है, उसी में प्रत्यय होता है; ऐसा मत कुछ नैयायिकों का भी है, जिसकी आलोचना आगे की जायेगी।

यदृच्छा शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त शब्दस्वरूप भी माना जाता है। कैयट लिखते हैं—

शब्दस्वरूपमर्थेऽध्यस्य 'अयं डित्थः' इति संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धः क्रियते। ततः शब्दस्वरूपासंगाद्यथा डित्थशब्दस्यार्थे प्रयोगस्तथैव शब्दस्वरूपेऽर्थेऽध्यस्ते प्रत्यय इत्यर्थः। अन्ये तूत्पत्तिप्रभृत्या विनाशात्कौमाराद्यवस्थाभेदभिन्नद्रव्यसमवायिनीं जातिमिच्छन्ति। यद्दर्शनादवस्थान्तरेऽपि 'स एवायं डित्थः' इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यय उत्पद्यते तस्यां प्रत्ययः।

—महाभाष्यप्रदीप ५/१/११६

शब्द और अर्थ में अभेद मान कर संज्ञी के संज्ञास्वरूप में प्रत्यय का अध्यास होता है। किसी किसी के मत में संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध में प्रत्यय होता है। इस पर

नागेश कहते हैं कि 'डित्थ' संज्ञा में 'त्व' लगाने से 'डित्थत्व' अवश्य प्राप्त होता है. पर वास्तव में यदि देखा जाय तो डित्थ और डित्थत्व पर्याय शब्द हैं; क्योंकि डित्थत्व घटत्व की तरह जाति रूप प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है, वरन् वह विशेष्यरूप में ही प्रवृत्तिनिमित्त है। 'त्व' का प्रयोग तो साधुत्व की कल्पना के लिये किया जाता है।

'तत्र घटत्वम्' इत्यादौ जात्यादिरूपं प्रवृत्तिनिमित्तं तदर्थः 'डित्थत्वम्' इत्यादौ त्वन्यासम्भवाद्विशेष्यभूतोऽर्थ एव त्वार्थः। एवञ्च डित्थडित्थत्वशब्दयोः पर्यायता। ईदृशस्थले एव प्रकृतिः शब्दपरा 'त्व'स्य साधुत्वाय कल्प्यते। एवञ्च 'कुत्वम्' इत्यादे कवर्ग इत्यादिरेवार्थः। किञ्चैवं डित्थत्वम् इत्यादौ प्रकृतिप्रत्ययार्थयोर्भेदाभावः।

— महाभाष्यप्रदीपोद्योत – ५/१/११९
(पृ० ३०२)

सर्वे शब्दाः स्वेन वाच्येन करणेन यस्मात्प्रवृत्ति निमितादभवन्ति वाच्यार्थं बोधनाय प्रयोग प्राप्नुवन्ति स प्रवृत्तिनिमित्त रूपोऽर्थस्तेषां शब्दानां भावः।

प्रवृत्ति निमित्तत्वं च स्वजन्य बोधीयमुख्यविशेष्यतानिरूपितविषयतावत्त्वम्।

— महाभाष्यप्रदीपोद्योत – ५.१.११९ (पृ० ३०२)

भर्तृहरि के अनुसार संज्ञा शब्दों के प्रवृत्ति-निमित्त उनके स्वरूप हैं। कहीं तो उसमें अर्थ का सान्निध्य भी निमित्त रूप में रहता है और कभी कभी अर्थशून्य भी स्वरूप-निमित्त होता है। एकाक्षर संज्ञा हो या बड़ी संज्ञा हो, इस विषय में उनमें भेद नहीं है। शास्त्र में महती संज्ञा करने के कारण यह अनुमान होता है कि उनका शब्द-स्वरूप ही प्रवृत्तिनिमित्त है, और उनके अवयवों का प्रत्यायक है। यह अनुमान तीन रूपों में देखा जाता है: आवृत्ति के रूप में, शब्द-भेद के रूप में और शक्ति-भेद के रूप में। एक ही संज्ञा शब्द की दो बार आवृत्ति की जाती है। एक के द्वारा स्वरूप-निरूपित संज्ञी का ज्ञान होता है, और दूसरे के द्वारा अवयवार्थ निबन्धन ज्ञान होता है। सारूप्य के कारण आवृत्ति का अनुमान होता है अथवा दो बार शब्द का उच्चारण हुआ है इसी का अनुमान करते हैं। उनमें से एक से स्वरूप से आच्छादित संज्ञी का ज्ञान होता है, दूसरे से अवयवार्थ निबन्धन प्रतिपत्ति होती है, अथवा वही एक शब्द दो शक्तियों से उच्चरित हुआ है, ऐसा अनुमान कर लेते हैं। इनमें से एक से संज्ञी की प्रतिपत्ति होती है और

दूसरे से अवयवार्थ की संगति होती है। भर्तृहरि तो यहां तक मानते हैं कि संज्ञा शब्द अनित्य सम्बन्ध वाले नहीं हैं। वैयाकरण शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को अनादि मानते हैं। यद्यपि शब्द प्रत्येक अर्थ को द्योतित करने में समर्थ होता है; परन्तु व्यवहार में किसी एक अर्थ के लिए ही निश्चित कर दिया जाता है।

"संज्ञाशब्दानां तु सर्वसंज्ञिप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वेऽपि विशिष्टे संज्ञिनि शक्त्यवच्छेदः सामायिकः।

—हेलाराज, वा. प. सम्बन्ध समुद्देश (२८)

इसी तरह शास्त्रीय वृद्धि आदि संज्ञायें भी सभी तरह के अर्थ प्रकाशन में समर्थ हैं, परन्तु दूसरी संज्ञाओं से भेद दिखाने के लिए और व्यवहार में सुविधा के लिये नियम कर दिया जाता है कि 'आदैच्' की ही वृद्धि संज्ञा मानी जाय। जिस तरह से विशेष्य विशेषण में नील उत्पल में नीलादि का योग कोई पुरुष नहीं करता है, यह योग स्वाभाविक सम्बन्ध ही है, उसी तरह वृद्धि आदि संज्ञा शब्दों का भी सम्बन्ध स्वाभाविक है, कृत्रिमं नहीं। भर्तृहरि लिखते हैं—

व्यवहाराय नियमः संज्ञाया संज्ञिनि क्वचित्।
नित्य एव तु सम्बन्धो डित्थादिषु गवादिवत्।।
वृद्धयाऽदीनां तु शास्त्रेऽस्मिन्छक्त्यवच्छेद लक्षणः।
अकृत्रिमोऽभिसम्बधो विशेषणविशेष्यवत्।।

—वाक्यपदीय २/३६९,७०

भारतीय नामों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि नाम अधिकतर सार्थक होता है, केवल संकेतार्थक नाम कम होते हैं। 'मिल' आदि पाश्चात्य विद्वान्, व्यक्तियों के नाम निरर्थक मानते हैं। परन्तु नामों की सार्थकता से यह नहीं समझना चाहिये कि जिस व्यक्ति का जो नाम है वह तद्गुण—सम्पन्न होगा ही। नामकरण के विषय में यह कहा जा चुका है कि नाम प्रारम्भ में अन्वर्थ (अर्थानुकूल) होते हुए भी बाद में यौगिक अर्थ न प्रकट कर विशेष अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं।

III

वैयाकरणों के उपर्युक्त मत की विशद व्याख्या के पश्चात् अब हम इस प्रकरण में न्यायमतानुसार व्यक्तिरवाची संज्ञाओं के स्तर के सम्बन्ध में आलोचना करेंगें। नैयायिकों के मत को साधारणतः हम चार भागों में बांट सकते हैं।

प्राचीन मत के अनुसार व्यक्तिवाची संज्ञाओं के द्वारा सिर्फ व्यक्ति का बोध होता है, अर्थात् 'राम' पद सिर्फ राम व्यक्ति के लिए ही प्रयोज्य है। उसमें जाति को शामिल करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'रामत्व' अनेकानुगत धर्म नहीं है। जैसाकि 'गो' पद के स्थल में गोत्व जाति का भी अर्थ-बोध होता है, वैसा 'राम' पद के स्थल में 'रामत्व' का अर्थबोध नहीं होता है। जयन्तभट्ट कहते हैं –

अभिधेयस्य सामान्यशून्यत्वात् व्यक्तिवाचिता।

– न्यायमंजरी (पृ. ४२)

आकाश, राम इत्यादि जैसे व्यक्तिवाची पद जातिविहीन व्यक्ति का ही बोध करवाते हैं। अतएव 'राम' पद द्वारा निर्विकल्पक पदार्थ का ही स्मरण होता है। उदयनाचार्य कहते हैं –

अत्रोच्यते अभिनवनैयायिकैः, पंचधा हि वाच्यवाचकव्यवस्था। निमित्तोपलक्षणे रहिते शृंगग्राहिकया चैत्रमैत्रवत्। निर्निमित्तेऽन्तर्भूतलक्षणे निर्वचनिकया, पाचकादिशब्दवत्। निर्निमित्त एव तटस्थोपलक्षणे परिभाषिणिकया, आकाशादिशब्दवत्। सनिमित्ते तटस्थोपलक्षण एवंप्रकारिकया पृथिव्यादिवत्। विशेषवन्निमित्ते निमित्तसंकोचनिकया स्वर्गादिवदिति।

न्यायभाष्यवार्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि– (१.१.६)

इससे साफ झलकता है कि प्राचीन मत में चैत्रमैत्रादि पद सर्वथा प्रवृत्तिनिमित्त और उपलक्षण–रहित ही स्वीकारे गये हैं, जो गो आदि पद से भिन्न हैं। इसके अलावा इस मत से एक बात और स्पष्ट होती है कि राम और आकाश पद भी समान स्तर के नहीं हैं, क्योंकि 'राम' पद तो प्रवृत्ति निमित्त और उपलक्षण-शून्य है, जबकि 'आकाश' पद में शब्दाश्रयत्व को उपलक्षण माना गया है। बहरलाल हम यहां मान कर चल रहे हैं कि 'आकाश' पद और 'राम' पद दोनों ही एकमात्रवृत्ति होने के कारण व्यक्ति–वाची संज्ञायें हैं।

प्राचीन मत में एक व्यक्ति–बोधक पद स्थल में निर्विशेषणक व्यक्ति मात्र ही पदार्थ स्वीकृत हैं। राम व्यक्ति–बोधक पद के द्वारा रामत्व धर्म विवर्जित राम व्यक्ति मात्र का बोध होगा, अतएव पदार्थतावच्छेदक न रहने से पदार्थतावच्छेदक भेदनिबन्धन वाच्यता भेद की भी संभावना नहीं रहेगी। 'राम दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र थे' इस वाक्य में 'राम' पद द्वारा शुद्ध राम व्यक्ति की उपस्थिति होती है जिसमें 'दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र' पदार्थ का अन्वय हो जाता है। 'राम सीतापति हैं' इस वाक्य में भी 'राम' पद द्वारा निर्विशेषणक राम की उपस्थिति होती है एवं उसका अन्वय 'सीतापति' पदार्थ से हो जाता है।

विशिष्टवस्तुबोधक घट पद और निर्विशेषणक राम व्यक्ति मात्र बोधक पद स्थल में वाच्यताज्ञान एक प्रकार से नहीं होता है । कारण, घट पद स्थल में वाच्यता सम्बन्ध से 'घट पदवान् घटः' यह वाच्यता संसर्गक ज्ञान शाब्द–बुद्धि का कारण होता है । इस ज्ञान में घट पद प्रकार, घट रूप अर्थ विशेष्य एवं वाच्यता सम्बन्ध है । अतएव शाब्दबोध का जनक वाच्यतासंसर्गज्ञान में भासमान वाच्यत्वांश में घट विशेष्य हुआ, घटत्व विशेष्यतावच्छेदक हुआ । विशेष्यतावच्छेदक ही यहाँ वाच्यताच्छेदक है ।

किन्तु निरवच्छिन्न व्यक्तिबोधक स्थल में 'राम पदवान् रामः' ऐसा बोध नहीं होगा, क्योंकि तब 'रामत्व' विशेष्यतावच्छेदक होने के कारण प्रश्न उठेगा कि रामत्व क्या है ? 'रामत्व' जाति नहीं हो सकता क्योंकि यह एकमात्र वृत्ति है । तब इसका स्वरूप क्या होगा ? यह अखण्डरूप भी नहीं है, क्योंकि 'रामत्व' गुणसमुदाय है जिसे खण्डरूप में विभाजित किया जा सकता है । अतः सखण्ड रूप में ही इसकी कल्पना करनी पड़ेगी । जो धर्म–समुदाय राम में विद्यमान रहने से 'राम' राम कहा जाता है वही 'रामत्व' है । सकल धर्म–समुदाय–युक्त व्यक्ति ही राम है एवं धर्मसमुदाय 'रामत्व' है । लेकिन ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि राम व्यक्ति असंख्य और अनन्त गुण सम्पन्न हैं; उनमें से किस विशेष गुण का प्रकार रूप से पदार्थ–बोध होगा ? यह कहना निश्चित नहीं है । यदि कहा जाय कि 'राम' पद के द्वारा 'दशरथ का पुत्र' ही प्रकार रूप से उपस्थित होता है तो 'राम' पद उसी में रूढ़ हो जायेगा, फिर उससे 'सीतापति का बोध कैसे होगा ? यदि 'राम' पद कभी 'सीतापति', कभी 'रावण–हन्ता', कभी 'दशरथ–पुत्र' में उपस्थित होगा तो कोई भी धर्म निश्चित न होने कारण शाब्दबोध भी अव्यवस्थित हो जायेगा । अतएव व्यक्तिवाची पद के व्दारा निर्विकल्पक शाब्दबोध ही स्वीकारना उचित है ।

इसके अलावा यदि 'राम' पद के व्दारा 'दशरथ पुत्र' रूप से पदार्थ की उपस्थिति मान भी ली जाय, तो उपर्युक्त वाक्य में उद्देश्यतावच्छेदक भी 'दशरथ का पुत्र' तथा प्रकारतावच्छेदक भी 'दशरथ का पुत्र है' होने के कारण वाक्यार्थ होगा "'दशरथ का पुत्र' दशरथ का पुत्र है" जो कि निरर्थक है । अर्थात् इस वाक्य के व्दारा कोई शाब्दबोध नहीं होगा । जैसे – 'घटो घटः' इस स्थल में शाब्दबोध स्वीकृत नहीं है वैसे ही 'राम दशरथ का पुत्र है' इस वाक्य के व्दारा भी शाब्दबोध नहीं होगा । क्योंकि नियम है उद्देश्यतावच्छेदक और विधेयतावच्छेदक के ऐक्य से शाब्द–बोध नहीं होता । यथा 'घटो घटः' स्थल में उद्देश्यतावच्छेदक और विधेयतावच्छेदक दोनों ही घटत्व होने के कारण अभेद सम्बन्ध से अन्वयबोध स्वीकृत नहीं है । लेकिन यदि 'राम दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र हैं'

इस वाक्य में 'राम' पदार्थ यदि 'सीतापतित्व' उद्देश्यताच्छेदक रूप से उपस्थित हो और विधेय दशरथ ज्येष्ठ पुत्र, दशरथज्येष्ठपुत्रत्व विधेयतावच्छेदक रूप से उपस्थित होने के कारण, उद्देश्यतावच्छेदक और विधेयतावच्छेदक में भेद रहने से शाब्दबोध हो जायेगा।

इस पर यदि कोई जिज्ञासा करे कि 'राम' पद का अर्थ यदि 'सीतापतित्व विशिष्ट' ही किया जाय तो 'सीतापति राम' इस वाक्य के द्वारा कोई शाब्दबोध नहीं होगा, क्योंकि 'राम' और 'सीतापति' पद समानार्थक हो जायेंगे। विपरीत रूप से, यदि 'राम' शब्द का अर्थ 'दशरथ ज्येष्ठ पुत्र' करें तो 'राम दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र हैं' इस वाक्य के द्वारा शाब्दबोध नहीं होगा, दोनों समानार्थक हो जायेंगे। उभयत: कठिनाई होने से कहीं भी शाब्दबोध नहीं होगा। वैसे उपरोक्त समाधान यदि मान भी लिया जाय तो 'राम' पद के विभिन्न अर्थ हो जायेंगे, कभी सीतापति, कभी दशरथपुत्र, कभी 'कौशल्या पुत्र' आदि। 'घट' पद की वाच्यता यावत् घट में स्वीकृत होती है, पर यहां पर 'राम' पद के द्वारा विभिन्न धर्म उपस्थित होने के कारण 'हरि' पद की तरह राम पद भी अनेकार्थक हो जायेगा।

अतएव उपरोक्त सभी समस्याओं को मद्देनजर रखते हुए प्राचीन मत में वाच्यता सम्बन्ध से 'राम पदवान्' सिर्फ इतना ही बोध होगा। और यह ज्ञान निर्धर्मितावच्छेदक वाच्यज्ञान कहा जायेगा। विशेष्यतावच्छेदक रामत्व का भान न होने से, वाच्यतावच्छेदक भेद से नानार्थकत्व की अपत्ति नहीं होगी। इस मत में निरवच्छिन्नविशेष्यताक ज्ञान से निरवच्छिन्न राम की उपस्थिति हो सकती है, अर्थात् निर्विकल्पक राम का स्मरण हो सकता है। जैसे – किसी समय कटक में राम को देखने के पश्चात् पुन: कलकत्ता में राम को देखने पर कटक अंश के प्रणष्ट हो जाने के कारण सिर्फ 'राम' का ही बोध होता है। उसी प्रकार निर्विकल्पक पदार्थ के स्मरण में कोई बाधा यहीं होती हे। किन्तु निर्विकल्पक की शाब्द–बुद्धि नहीं हो सकती है। शाब्द–बुद्धि का अर्थ है अन्वय–बुद्धि और अन्वय यानि सम्बन्ध। निर्विकल्प ज्ञान में विषय नहीं होता है। शाब्द–बोध यदि निर्विकल्पक होगा, तो वहां अन्वय–बोध ही नहीं हो सकता है। 'राम दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र हैं' इस वाक्य में रामांश में रामत्व का भान नहीं होता है. पर 'दशरथ जेष्ठ पुत्र' यह शब्दार्थ में प्रकार होने से शाब्द–बुद्धि निर्विकल्पक नहीं होगी।

प्राचीमों के इस मत का खंडन करते हुए नव्य नैयायिकों का कहना है कि यदि व्यक्तिवाची संज्ञाओं के द्वारा व्यक्ति मात्र का ही निर्देश होता है तो जो श्रोता 'राम' पद से सर्वथा अनभिज्ञ है उसे किसी भी प्रकार का शाब्द–बोध

नहीं हो सकता है। फलतः ऐसी व्यक्तिवाची संज्ञा का प्रयोग व्यर्थ ही हो जायेगा। (हम इस पर विस्तृत चर्चा रघुनाथ शिरोमणि के मत के प्रसंग में करेगें)

दूसरी बात यह है कि जयन्त आदि प्राचीनों के मत को यदि स्वीकार भी कर लिया जाय, तो भी न्याय मत के साथ उनका विरोध होगा, क्योंकि नैयायिकों के अनुसार सिर्फ अनुल्लिख्यमान जाति और अखण्डोपाधि का ही निष्प्रकारक बोध होता है। व्यक्ति-वाची संज्ञा न जाति है, न अखण्डोपाधि है; अतएव उसका बोध निष्प्रकारक कैसे होगा ?

तीसरी आपत्ति यह है कि रामजाया, रामभ्राता इत्यादि स्थल में शाब्दबोध की उपपत्ति कैसे होगी ? क्योंकि यहां जायादि पद विशेष है एवं 'राम' पदार्थ विशेषण है, किन्तु राम पद से तो स्वरूपतः पदार्थ उपस्थित होता है इसलिए जायादि पदार्थ में किसी रूप से युक्त हो कर 'राम' पदार्थ का भान नहीं हो सकता उसका भान स्वरूपतः ही स्वीकारना होगा।

नव्यनैयायिक जगदीश आदि के अनुसार व्यक्तित्वाची और जातिवाचक संज्ञा में कोई खास फर्क नहीं है। जिस तरह 'मनुष्य' पद के द्वारा मनुष्यत्व रूप से असंख्य मनुष्यों का बोध होता है, उसी तरह 'राम' पद के द्वारा भी असंख्य रामों का बोध 'रामत्व' रूप से हो जायेगा। क्योंकि 'राम' पद के द्वारा उपस्थापित व्यक्ति राम, व्यक्ति-धारा के रूप में उपस्थित होता है और 'राम' पद के द्वारा उस प्रत्येक का बोध होता है जो इस धारा का सदस्य है। 'रामत्व' धर्म बाल्य, कौमार भेद से नाना शरीर वृत्ति होने के कारण जातिरूप एक ही है। इसलिए 'राम' पद जातिविशिष्ट व्यक्ति का वाचक होने के कारण नैमित्तिक संज्ञा ही होगा।

न च शरीरवृत्तेरपि चैत्रस्य कुतो जातित्वमनेकवृत्तित्वाभावादिति वाच्यम्। बाल्यादिभेदेन चैत्र शरीरस्यापि नानात्वात्।

—कृष्णकान्त टीका (पृ० १२२)

इसके अलावा जिस तरह सामान्य-वाचक 'गो' पद के व्दारा 'गो' पदार्थ, गोत्व धर्म और समवाय सम्बन्ध तीनों ही उपस्थित होते हैं वैसे ही व्यक्ति-वाचक 'राम' पद के द्वारा भी 'राम' व्यक्ति, (विभिन्न काल और शरीर भेद से) रामत्व धर्म और समवाय सम्बन्ध तीनों ही उपस्थित होते हैं। इस मत का उल्लेख वैयाकरणों के मत की व्याख्या के प्रसंग में हमें प्राप्त हुआ था, जिसकी उत्थापना कैयट ने की थी।

इस मत के विरुद्ध कुछ आपत्तियां उठाई गई हैं जो इस प्रकार हैं। प्रथमतः इस मत में व्यक्तिवाचक और जाति-वाचक संज्ञाओं में कोई भेद नहीं स्वीकारा

गया है। पर इन दोनों में भेद परस्पर सापेक्ष है, जबकि 'गो' पद के द्वारा निर्देशित विभिन्न गो परस्पर सापेक्ष नहीं हैं। उदाहरण के लिए मथुरा की गाय और कलकत्ता की गाय परस्पर सापेक्ष नहीं है। द्वितीयत:, न्यायमतानुसार सभी पदार्थ अभिधेय होते हैं। फलत: 'राम' व्यक्ति भेद के प्रत्येक सदस्य को एक नाम दिया जा सकता है। तब प्रत्येक सदस्य एक सामान्य वाचक हो जायेगा। लेकिन ऐसा करने से अनवस्था दोष तो होगा ही; साथ ही साथ इसके पक्ष में कुछ भी कहना हास्यास्पद होगा। क्योंकि धारा का प्रत्येक सदस्य सामान्य वाचक होने से उसमें पुन: अनेक सदस्यों की कल्पना करनी पड़ेगी, तथा द्वितीय धारा का प्रत्येक सदस्य सामान्यवाची होने से उसमें पुन: अनेक सदस्यों की कल्पना करनी पड़ेगी। इस तरह इस धारा का कहीं अन्त नहीं होगा। तृतीयत:, यदि व्यक्ति-वाचक संज्ञाओं में जाति स्वीकार भी कर ली जाय, तो इससे गौरव दोष ही होगा, क्योंकि असंख्य व्यक्ति-वाची संज्ञाओं के लिये असंख्य जातियां स्वीकारनी पड़ेंगी, जो कि व्यक्ति के जन्म के पूर्व से ही वर्तमान होनी चाहिये। लेकिन ऐसा सम्भव नहीं है। अत: यह मत ग्राह्य नहीं है। (वैसे इस अन्तिम आपत्ति का उत्तर यह कह कर दिया जा सकता है—नैयायिक पूर्वजन्म में विश्वास करते हैं अत: जाति की कल्पना भी अनादि रूप में स्वीकार की जा सकती है।)

नव्यनैयायिकों के ही एक सम्प्रदाय के अनुसार व्यक्तिवाची संज्ञा और सामान्यवाची संज्ञाओं का स्तर समान नहीं है। 'राम' पद के द्वारा व्यक्ति राम (विशेष्य) तद्व्यक्तित्व रूप से रामत्व धर्म (विशेषण) तथा उनके बीच का सम्बन्ध यह तीनों उपस्थित होते हैं। यह सम्बन्ध स्वरूपसम्बन्ध है, जो विशेष्य और विशेषण से भिन्न कोई अतिरिक्त सत्ता नहीं है। 'रामत्व' धर्म एक विशिष्ट धर्म है, जो राम छोड़ कर कहीं भी नहीं है। अतएव राम का स्व के साथ सम्बन्ध तादात्म्य ही है।

तद्व्यक्तित्वंच तदात्म्येन सैव व्यक्ति:

पक्षता (जागदीशी)

इस कहने का अर्थ यह है कि 'राम' विशेष्य और विशेषण दोनों ही हो जायेगा। लेकिन इसके द्वारा हमारी मूल समस्या का समाधान नहीं हो सकता, क्योंकि यदि श्रोता को यह ज्ञान नहीं है कि 'राम' पद का बोध्य कौन है, तो उसे 'राम' पद के श्रवण से अर्थ-बोध कैसे होगा? इसके अलावा यदि रामत्व (तद्व्यक्तित्व) का अर्थ राम ही होगा, तो विशेष्य और प्रकार के एक होने से शाब्द-बोध भी नहीं हो सकेगा।

गदाधर मानते हैं कि रामत्व 'राम' पद का वाच्यतावच्छेदक नहीं है;

वाच्यत्वांश में यदि रामत्व को उपलक्षण माना जाय, तो 'राम दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र हैं' इस वाक्य के द्वारा शाब्द-बोध होने में कोई आपत्ति नहीं होगी। उपलक्षण का अर्थ है जो स्वयं शक्य नहीं होता है, पर शक्य का व्यावर्तक होता है।

स्वबोधकत्वे सति स्वेतरप्रतिपादकत्वं।

उदाहरण के लिये 'काकवद् गृहम्,' 'जटाभिःतापसः' स्थलों में 'काक' का गृह पर बैठना कोई अनिवार्य धर्म नहीं है पर अन्य गृहों से इस विशेष गृह का व्यावर्तन करना 'काक' शब्द उल्लेख करने का प्रयोजन है। अतएव यहां 'काक' उपलक्षण है। इसी तरह 'राम' का दशरथ पुत्र होना कोई अनिवार्य धर्म नहीं है। राम 'कौशल्या पुत्र' भी है, सीतापति भी है रावणहन्ता भी है इत्यादि 'राम' पद के असंख्य परिचायक हैं। और ये सभी उपलक्षण हैं, क्योंकि इनमें से कोई भी अनिवार्य नहीं है। यदि इनमें से किसी भी धर्म को अनिवार्य मान लिया जाय, तो शाब्दबोध असंभव हो जायेगा। उदाहरण के लिये "रामः रामपदात् बोद्धव्यः" इस इच्छा में यदि 'दशरथ ज्येष्ठ पुत्रत्व' रूप रामत्व को रामपदजन्यबोधविषयता का अवच्छेदक स्वीकार किया जाय, तो 'कौशल्या पुत्रत्व' रूप रामत्व प्रकार में राम का बोध नहीं हो सकेगा, एवं 'कौशल्या पुत्रत्व' रूप रामत्व को रामपदजन्य बोधविषयता का अवच्छेदक स्वीकार करने से 'दशरथज्येष्ठपुत्रत्व' रूप रामत्व प्रकार का बोध नहीं हो सकेगा। अतएव रामपद-जन्य बोध विषयता का अवच्छेदक कोई भी अभिप्रेत नहीं है। किन्तु एक ही राम व्यक्ति में विशेषण रूप से रामपद-जन्य बोधविषयत्व, धर्मितावच्छेदकरूप से दशरथ ज्येष्ठ पुत्रत्व अथवा कौशल्या-पुत्रत्व, इच्छा में अवगाहन करने से इनके बीच में सामानाधिकरण्य है। फलतः रामपदजन्यबोधविषयत्वांश में दशरथ-जेष्ठपुत्रत्व अथवा कौशल्यापुत्रत्व उपलक्षण ही होगा। उपलक्षण यदि अन्यूना-नतिरिक्त वृत्ति हो, तभी वह शाब्द-बोध में प्रकार रूप से भासमान होता है। अन्यथा घट पद के द्वारा 'द्रव्यत्व' रूप से कोई भी द्रव्य उपस्थित हो सकता है, क्योंकि 'द्रव्यत्व' घट पद का उपलक्षण है। परन्तु द्रव्यत्व अतिरिक्त वृत्ति धर्म होने के कारण घट पद के द्वारा उपस्थित पदार्थ में प्रकार रूप से भासमान नहीं होता है।

'रामजाया' आदि स्थल में दशरथ-ज्येष्ठपुत्रत्वादि रूप रामत्व विशिष्ट राम पदार्थ का जाया पदार्थ से अन्वय होता है, अतएव शाब्द-बोध होने में कोई आपत्ति नहीं होगी।

दीधितिकार का मत इन सबसे भिन्न है। उनके अनुसार प्रवृत्तिनिमित्त के लक्षण में प्रथम सत्यन्त दल 'वाच्यत्वे सति' देने की कोई आवश्यकता

नहीं है; अन्यथा 'आकाश' पद के द्वारा कोई शाब्द बोध नहीं हो सकेगा; क्योंकि 'शब्दाश्रयत्व' जाति न होने के कारण आकाश पद का प्रवृत्तिनिमित्त स्वीकृत नहीं है। इसलिए उन्होंने 'गो' पद के द्वारा भी 'गोत्व' को शक्यतावच्छेदक स्वीकार किया है। पर उसे शक्य नहीं माना है जैसे 'आकाश' पद के स्थल में 'शब्दाश्रयत्व' उपलक्षण है, वैसे ही 'गो' पद के स्थल में 'गोत्व' भी उपलक्षण है। 'राम' पद के द्वारा रामत्व (तद्व्यक्तित्व) उपस्थित होता है जो शक्यतावच्छेदक भी है, पर वह शक्य नहीं है। लेकिन ऐसा करने से अनन्त पदार्थ स्वीकृत हो जायेंगे, और फलतः गौरव होगा।

यहां पर यह आशंका की जा सकती है कि जिसने 'राम' को कभी देखा ही नहीं है, उसको किस धर्म रूप से 'राम' पद से शक्ति ग्रह होगा? 'गो', 'घट' प्रभृति शब्द स्थल में पूर्वज्ञात किसी 'गो' विशेष में वाच्यताज्ञान होता है, एवं तत् सामान्य योग से 'गो' उपस्थित हो कर शाब्दबोध हो जाता है। अतः प्रत्यक्षादि द्वारा ज्ञात किसी अर्थ में पद का सम्बन्ध (वाच्यता ज्ञान) होता है। तब इस अर्थ के सामान्य रूप से अप्रत्यक्ष अर्थ में शाब्दबुद्धि होती है। किन्तु राम एकमात्र व्यक्ति होने के कारण शाब्द-बुद्धि के पूर्व राम की उपस्थिति संभव नहीं है, फलस्वरूप 'राम' पदार्थ में राम पदवाच्यत्व का ज्ञान नहीं हो सकता है।

इस प्रसंग में श्री रघुदेव न्यायालंकार पदार्थ तत्त्व निरूपणम् ग्रंथ की टीका में लिखते हैं कि यद्यपि रामत्व धर्म रूप से राम विषयक अनुभव या तज्जनित संस्कार आधुनिक जीव के पक्ष में संभव न होने पर भी 'प्रमेयवानयम्' इस प्रकार प्रमेयत्वरूप से निखिल धर्म को विशेषण बनाकर इदन्त्व रूप से सकल पदार्थ का अनुभव तो हो ही जाता है. ऐसे अनुभव से प्रमेय मात्र को विशेषण कर के 'प्रमेयवानयम्' इस आकार का पूर्वानुभवजनित संस्कार उत्पन्न होता है; किसी दोषवशतः उक्त संस्कार प्रमेयत्वांश में उद्बुद्ध नहीं होता है, लेकिन शुद्ध रामत्व धर्मांश में उद्बोधक रहने के कारण प्रमेयान्तर्गत शुद्ध रामत्व धर्म राम अंश में उद्बुद्ध हो जाता है तब 'रामोऽयम्' इस आकार का शुद्ध राम को विशेषण बना कर स्मरण हो जाता है। इस स्मरण-ज्ञान के मूल में राम पद का शक्ति-ज्ञान एवं शक्तिज्ञानमूलक रामत्व-विशिष्ट की उपस्थिति से 'रामोऽयम्' इस आकार का विशिष्ट शाब्दबोध होता है।

लेकिन तत्प्रकारक स्मरण के प्रति तत्प्रकारक अनुभवत्व रूप से अनुभव ही संस्कार के द्वारा कारण होता है। उक्त रूप से कारणता की कल्पना करने से कार्यतावच्छेदक एवं कारणतावच्छेदक के गर्भ में निरवच्छिन्नत्व का निवेश

करने से गौरव स्वीकार करना पड़ेगा। अतएव 'प्रमेयवानयम्' इस अनुभव से समानाकार संस्कार के द्वारा निरवच्छिन्न (शुद्ध रामत्व प्रकारक) स्मरण होता है। एवं अदृष्ट राम स्थल में उक्त स्मरण ज्ञान से उत्पन्न राम पद की शक्ति ज्ञान और उसके द्वारा उपस्थित पदार्थोपस्थिति के द्वारा शुद्ध रामत्व प्रकारक राम विशेष्यक शाब्दबोध की उपपत्ति होती है।

'प्रमेयवानयमित्यनुभवजन्य: प्रमेयवानयमिति संस्कारो जातस्तदनन्तरं तस्मात्प्रमेयत्वांशे दोषवशाद्दशरथत्वमात्रप्रकारकस्मृतिजनकोद्बोधकवशाद्दशरथत्वप्रकारकस्मरणं : तत्र दशरथत्वादिविशिष्टे शक्तिग्रहसम्भवेन तज्जन्यदशरथत्वादिविशिष्टोपस्थितेः सुलभतया दशरथत्वादि प्रकारकशाब्दबोधे बाधकाभाव:।

–श्रीरघुदेवन्यायालंकारकृता पदार्थतत्त्वनिरूपणस्य टीका (पृ १०१–१०२)

इस पर यदि यह कहा जाय कि 'रामपदवाच्यत्व' ही रामत्व है, क्योंकि 'रामपदवाच्यत्व' केवल राम में ही है, तो यह भी कहना ठीक नहीं है। इस तरह से रामत्व भी राम पद का वाच्यताच्छेदक नहीं हो सकता, कारण राम पद का वाच्यतावच्छेदक रामपदवाच्यत्व घटित होने से परस्पर सापेक्षत्व दोष उपस्थित हो जायेगा।

नव्य मतानुसार बहुव्यक्तिबोधक पद स्थल में जैसे पद–जन्य–बोध–विषयतावच्छेदक कोई धर्म अवश्य रहता है, वैसे ही एकव्यक्तिबोधक पदस्थल में पदजन्य–बोध–विषयतावच्छेदक कोई धर्म अवश्य रहता है। अत: एकमात्र बोधक पद स्थल में वाच्यतावच्छेदक धर्म होता है। राम पद से 'दशरथ–ज्येष्ठ-पुत्रत्व' प्रकार से शाब्दबुद्धि जब होती है, तो उसे वाच्यतावच्छेदक स्वीकार करना चाहिये। राम में अनेक धर्म हैं एवं पृथक् पथक् स्थल में पृथक्–पृथक धर्म शाब्दबुद्धि में पदार्थ के विशेषण रूप से भासमान होते हैं। जैसे–ज्येष्ठपुत्रत्व; कौशलपतित्व, सीतापतित्व इत्यादि। विनिगमना न रहने के कारण इनमें से कौन सा धर्म वाच्यतावच्छेदक होगा – यह निश्चित नहीं किया जा सकता। अतएव किसी किसी नव्यगण का कहना है कि किसी एक धर्म को वाच्यतावच्छेदक मान कर बाकी धर्म का बोध लक्षणावृत्ति द्वारा निर्वाह किया जाना चाहिये। उदाहरण के लिये 'राम' पद के द्वारा उपस्थित राम पदार्थ में प्रकार रूप से भासित 'रामत्व' का अर्थ यदि 'दशरथ ज्येष्ठ पुत्रत्व' लिया जाय तो 'राम दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र हैं' इस वाक्य के द्वारा शाब्दबोध नहीं हो सकता है, क्योंकि यहां उद्देश्यतावच्छेदक और विधेयतावच्छेदक समानार्थक हो जायेंगे।

परन्तु यदि ' राम ' पद के द्वारा लक्षणा वृत्ति से ' कौशल्या पुत्र ' स्वीकार किया जाय तो शाब्द-बोध होने में कोई आपत्ति नहीं होगी। इस तरह से अन्वयानुपपत्ति ही यहां लक्षणा का बीज होगा । इसके विपरीत यदि ' राम कौशल्या पुत्र है ' इस वाक्य का प्रयोग किया जाय, तो यहां लक्षणा स्वीकारना आवश्यक नहीं है, क्योंकि ' राम ' पद के व्दारा ' दशरथ ज्येष्ठ पुत्रत्व ' रूप से व्यक्ति राम उपस्थित होता है और ' कौशल्या पुत्र ' पद के द्वारा कौशल्या-पुत्रत्व ' रूप से व्यक्ति उपस्थित होता है, फलतः अभेद-अन्वय होने में कोई बाधा नहीं होगी । इस तरह से किसी एक धर्म को वाच्यतावच्छेदक स्वीकार करके अन्य धर्म को यदि लक्षणा के द्वारा स्वीकार किया जाय तो ' राम दशरथ के जेष्ठ पुत्र हैं ' स्थल में शाब्दबोध की अनुपपत्ति नहीं होगी । लेकिन यहां लक्षणा न मानने से ' राम ' पद में नानार्थकत्व की आपत्ति ही जायेगी

फिर भी इस स्थल में एक आशंका रह ही जाती है कि ' राम दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र हैं ' इस वाक्य के द्वारा लक्षणावृत्तिक बोध का अनुभव किसी को नहीं होता ।

इसके बावजूद भी पदार्थ तत्त्वनिरूपणम् ग्रंथ के टीकाकार रामभद्रसार्वभौम भी उक्त इस स्थल में लक्षणा स्वीकारने पर बल देते हैं : ।

एवं च लक्षणया दशरथादिपदवाच्यत्वप्रकारक वाच्यत्वसम्बन्धेन दशरथादि प्रकारकं वा स्मरणमेवापेक्षितं तच्च दशरथादिपदवाच्यत्ववृत्ति दशरथादिपदशक्य सम्बन्धप्रकारकाद्वाच्यत्वसंसर्गेण दशरथादिपदवृत्ति शक्य सम्बन्धसंसर्गेण दशरथादि कारकाद्वा मानसबोधादेवोत्पत्स्यति इति युक्तमुत्पश्यामः ।

— पदार्थ तत्त्व विवेचन प्रकाश

III

अब हम पूर्वोक्त चर्चा से निष्कर्ष निकालने का प्रयास करेंगे । इतना निश्चित है कि व्यक्तिवाची संज्ञा जैसे है रामादि का, एक व्यक्तिमात्र वृत्तिक होने के कारण, कोई अनुगमक धर्म नहीं हो सकता 'रामत्व' केवल इतर-व्यावर्तक धर्म ही होगा। अतः जिस जिस धर्म के द्वारा राम व्यक्ति को ' अ-राम ' से पृथक् किया जा सकता है, उस धर्मसमूह में जो सर्वापेक्षा लघु धर्म होगा एवं राम में सर्वदा

विद्यमान रहेगा, वही धर्म रामत्व होगा। यदि ऐसे धर्म अनेक हों तो उक्त धर्म-समूह में से अन्यतम धर्म ही रामत्व होगा, अतः यावत् धर्म का ज्ञान अनावश्यक है। लेकिन किसी एक धर्म का ज्ञान अवश्य ही होना चाहिये, क्योंकि किसी वस्तु का व्यवहार कोई धर्मयुक्त रूप से ही होता है, निर्विशेष रूप से वस्तु का सविकल्पक एवं व्यवहार के लिये उपयुक्त ज्ञान नहीं होता। बिना किसी धर्म को स्वीकार किये निरवच्छिन्न पदार्थ का स्मरण सम्भव नहीं है। गदाधर भट्टाचार्य भी प्राचीनों के विरुद्ध कहते हैं कि निष्प्रकारक शाब्द-बोध नहीं हो सकता है; क्योंकि वहां भी (रामः में) विभक्ति के द्वारा उपस्थापित एकत्व प्रकार रूप से भासमान होता ही है।

न तु तदंशे सामान्यतोनिष्प्रकारकत्वं, विभक्त्युपस्थापितैकत्वादीनां तदंशे प्रकारताया आवश्यकत्वात्।

(शक्तिवाद – पृ. ५७)

एकमात्र व्यक्तिबोधक रामादि पद-स्थल में राम शरीर-मात्र वृत्ति, अ-राम व्यावर्तक कोई धर्म-विशेष ही 'राम' पद का वाच्यतावच्छेदक है एवं यही धर्म राम का रामत्व भी है। लेकिन राम के अवयवादि का जो वर्णन रामायण में किया गया है, उनका समूह रामत्व है अथवा कोई एक धर्म रामत्व है? यदि गुणसमूह को रामत्व कहा जाय तो आपत्ति होगी कि गुण तो असंख्य हैं और सभी गुणों को जानकारी हो पाना संभव भी नहीं है। यदि किसी एक धर्म को रामत्व कहा जायेगा तो धर्म अनेक होने कारण नानात्व का प्रसंग उपस्थित होगा। अतएव कहना चाहिये कि समान अवयव और तुल्य गुणादि युक्त दो वस्तुओं के सहित इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर दो वस्तुओं का ज्ञान होता है, एवं उनमें परस्पर भेद भी गृहीत होता है। वस्तु-द्वय का परस्पर भेदस्वरूप कोई धर्म या वैशिष्ट्य ही रामत्व है। यही धर्म तद्व्यक्तित्व है, क्योंकि यह धर्म एक व्यक्ति में ही निहित रहता है जो गुणादि का समूह नहीं है। गुणादि के समूह में यत्किंचित् गुण भी नहीं है, क्योंकि गुणादि का परिहार करके भी तद्व्यक्तित्व धर्म-युक्त रूप में भी तदव्यक्तित्व का ज्ञान होता है, जैसे अन्ध व्यक्ति को तद्वयक्तित्व का ज्ञान वस्तु के स्पार्शन प्रत्यक्ष से होता है, किन्तु रूप-प्रत्यक्ष नहीं होता। अतएव गुणादि से अतिरिक्त वस्तुनिष्ठ तद्व्यक्तित्व रूप धर्म स्वीकारना पड़ेगा।

जगदीश तर्कालङ्कार कहते हैं कि "तद्व्यक्तित्वाभेदेन सैव व्यक्तिः" अर्थात अभेद या तादात्म्य सम्बन्ध से यह व्यक्ति ही तद्व्यक्ति है। यह कोई

स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। एकही व्यक्ति में धर्म-धर्मीभाव की कल्पना करके व्यवहार उत्पन्न होता है। व्यक्ति ही तादात्म्य सम्बन्ध से धर्म होता है, तद् व्यक्ति का धर्म तद्व्यक्तित्व तादात्म्य सम्बन्ध से तद्व्यक्तित्व स्वरूप ही होता है। यहाँ पर वैयाकरणों के मतानुसार जैसे 'डित्थ' और 'डित्थत्व' पर्याय कहे जाते हैं, वैसे ही न्याय मत में तद्व्यक्ति (राम) और तद्व्यक्तित्व (रामत्व) में समानार्थता कही जाती है। राम से भिन्न रामत्व नहीं है, ये दोनों पर्याय हैं। लेकिन इससे गौरव तो होगा ही। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जैसे परमाणु और नित्यपदार्थ में विशेषधर्म स्वतोव्यावर्तक कहा जाता है, यानि दो जलीय परमाणु का भेदक धर्म उनका विशेष धर्म ही कहा जाता है, वैसे ही राम का विशेष धर्म रामत्व है, जो श्याम से भिन्न है। मान लिया जाय कि दो जुड़वा भाइयों का समस्त व्यवहार, आचरण, चेहरा मोहरा आदि एकदम एक जैसा है, तो भी इन दोनों का जो भेद है वही उनका भेदक धर्म है – रामत्व और श्यामत्व।

लेकिन समस्या वहीं आकर अटक जाती है कि जिस व्यक्तिवाची संज्ञा से हम सर्वथा अपरिचित हैं उसके द्वारा पदार्थ स्मरण कैसे होगा? मान लिया जाय कि हमारे समक्ष कोई ऐसा वाक्य उच्चारण करता है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति का परिचय हमें ज्ञात नहीं है जैसे – 'मोती बीमार है।' इस वाक्य में प्रयुक्त 'मोती' संज्ञा का वाच्य कौन है इससे हम सर्वथा अपरिचित हैं। लेकिन श्रोता के इस वाक्य-उच्चारण के साथ ही साथ हम समझ जाते हैं कि यह कोई प्राणी है क्योंकि 'बीमार' विधेय किसी प्राणी से ही सम्बन्धित है। यहां पर 'प्राणित्व' ही 'मोती' संज्ञा का धर्म माना जायेगा जो 'मोतीत्व' प्रकार रूप से उपस्थित होता है। धीरे – धीरे जैसे-जैसे वार्तालाप की गति बढ़ती है, श्रोता समझने लगता है कि 'मोती' वक्ता के घर के पालतु कुत्ते का नाम है। इस तरह 'मोती' संज्ञा उस वक्ता के कुत्ते के लिये रूढ़ हो गई। लेकिन यदि कोई वक्ता कहे 'जवाहर के पिता मोती थे' तो इस वाक्य में निहित 'मोती' संज्ञा से सर्वथा अपरिचित होने पर भी श्रोता यह तो जान ही लेता है कि 'मोती' किसी व्यक्ति का ही नाम है, जो पुरुष है। क्योंकि हम जिस भाषा में बात करते हैं, उस भाषा के गठन और प्रयोग से भी हम परिचित अवश्य होते हैं, अन्यथा वार्तालाप ही संभव नहीं हो सकेगा।

राम रामपद का वाच्य है– इतना बोध होने में भी राम का पूर्व-परिचय आवश्यक है। यह जरूरी नहीं है कि राम का कोई विशेष धर्म हमें ज्ञात हो, पर सामान्य रूप से इतना तो ज्ञात होता ही है कि 'राम' किसी मनुष्य का ही

बोधक पद है। कहने का तात्पर्य है कि जब हम भाषा की अन्तरंगता से परिचित हो जाते हैं तो उस भाषा में प्रयुक्त किसी विशेष संज्ञा से अनभिज्ञ होने पर भी प्रकरण या वक्ता के तात्पर्य से अर्थ-बोध कर लेते हैं। और जहां पर किसी भी प्रकार से अर्थ-बोध संभव नहीं होता है वहां हम पुनः पुनः जिज्ञासा के द्वारा अर्थबोध करने का प्रयास करते हैं।

किसी ने मुझ से कहा कि 'अमुक कार्यालय में देवदत्त से मिल कर यह सन्देश दे आओ'। मैंने यदि देवदत्त और उसके कार्यालय को पहले कभी नहीं देखा है तो मैं वक्ता से कार्यालय का रास्ता, देवदत्त की कुछ पहचान आदि जान कर ही उस स्थल में जाकर देवदत्व को ढूंढ़ने का प्रयास करती हूं। अर्थात् व्यक्ति के कुछ कार्योपयोगी धर्म (उपलक्षण) को जानकर हम उसके बारे में एक मानसिक चित्र तयार कर लेते हैं, फिर जब उस व्यक्ति को देखते हैं तब उसे पहचानने में कोई कठिनाई नहीं होती है। शायद 'मानसबोध' कहने से रामभद्र सार्वभौम का यही तात्पर्य है। रामायणादि उपाख्यान से भी राम के सम्बन्ध में वर्णन जानने के पश्चात् हम एक मानसिक चित्र तैयार कर लेते हैं, जिसके आधार पर हम राम के स्वरूप की कल्पना कर लेते हैं। लेकिन इसके लिए भी उन सभी विशेषणों का पूर्व-परिचय होना आवश्यक है। मनुष्य के अन्दर एक ऐसी सहज प्रवृत्ति, जिसे भर्तृहरि प्रतिभा कहते हैं, वर्तमान है जिसकी सहायता से हम खण्डों में उपलब्ध विषय को अखण्ड रूप से प्रस्तुत कर सकते हैं। अन्यथा पक्षिराज घोड़ा और मत्स्यकन्या की कल्पना ही संभव नहीं होती। यह एक ऐसी सृष्टि-मूलक क्षमता है जो सभी मनुष्यों में कम या अधिक वर्तमान रहती है, और जिसके द्वारा मनुष्य अपने दैनन्दिन कार्यों के अलावा शिल्प, साहित्य आदि का भी सम्पादन करने में समर्थ होता है। (उस प्रसंग की आलोचना करने में पृथक् प्रबन्ध की आवश्यकता होगी)।

अतएव किसी शब्द को सुन कर उसके अर्थ की कल्पना करने में मानस-बोध की सहायता ली जाती है, अथवा यदि व्यक्ति साक्षात् रूप से उपस्थित है तो उसे शृंगग्राहिक व्यवस्था से ग्रहण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यदि किसी पदार्थ का ज्ञान हमें पहले हो जाता है तो उसे अन्य पदार्थों से व्यावर्तन करने के लिये नामकरण कर देते हैं। कहने का अर्थ है कि नामकरण के स्थल में दोनों ही तरफ से रास्ता जाता है। यदि 'राम' शब्द और उसका स्वरूप हमें ज्ञात होता है तो हमें मानस-ज्ञान का सहारा लेना पड़ता है; और यदि व्यक्ति

का ज्ञान पहले हो जाता है तो उसे हम 'शब्द' (नामकरण) प्रदान करके उसे अन्य व्यक्तियों से पृथक् कर लेते हैं।

विवेकानन्द कालेज, मधु कपूर
ठाकुर पुकुर,
कलकत्ता – ७०००६८

ग्रंथ सूची

१ न्याय मंजरी – जयन्तभट्ट (सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित)।

२. पाणिनीय व्याकरणमहाभाष्यम् – निर्णयसागर मुद्रित।

३. शक्तिवाद – गदाधरभट्टाचार्य (काशी संस्कृत सीरिज, विद्याविलास प्रेस, वाराणसी)।

४. पदार्थतत्त्वनिरूपणम् – रघुनाथ शिरोमणि (पण्डित श्री मधुसूदन भट्टाचार्य कृत बंगानुवाद) संस्कृत कालेज, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित।

५. पदार्थतत्त्व निरूपण की टीका – पदार्थतत्त्व विवेचन प्रकाश–रामभद्र सार्वभौम।

६. व्यक्तिवाचक शब्द – पं विश्वबन्धु भट्टाचार्य (अप्रकाशित प्रबन्ध)।

७ शब्दशक्ति प्रकाशिका – जगदीश तर्कालङ्कार; चौखम्बा प्रकाशन।

८. पक्षता जागदीशी, जगदीश तर्कालंकार

९. पाणिनीयाष्टाध्यायी सूत्रवृत्ति :– काशिका – न्याय पदमंजरी – पं. जयशंकर लाल त्रिपाठी और डॉ. सुधाकर मालवीय द्वारा सम्पादित (तारा बुक एजेन्सी वाराणसी।

१०. वाक्यपदीय – भर्तृहरि (सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।)

११. न्यायभाष्यवार्तिकतात्पर्यटीका परिशुद्धि – उदयनाचार्य, पं. अनन्त लाल ठाकुर सम्पादित (तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी)

१२. अर्थ–विज्ञान और व्याकरण दर्शन – कपिलदेव द्विवेदी – (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद)।

१३. संस्कृत व्याकरण दर्शन – रामसुरेश त्रिपाठी, (राजकमल प्रकाशन. दिल्ली)।

१४. गुणकिरणावलीप्रकाश – वर्द्धमानोपाध्याय – सम्पादित नरेशचन्द्र वेदान्ततीर्थ (द. एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता)।

१५. साहित्य–दर्पण – श्रीविश्वनाथ कविराज (मोतीलाल बनारसी दास।

16. Analytical Philosophy in Comparative Perspective – Edited by B K. Matilal & Jaysankarlal Shaw (Articles on (1) " Proper Names : Contemporary Philosopy and the Nyaya – " J. L. Shaw. (2) " Awareness and Meaning in Navya–Nyaya " – B K. Matilal.

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१९)
विषयता (V)

पिछले लेखों में विषयता के प्रकारता तथा विशेष्यता नामक भेदों पर प्रकाश डाला जा चुका है। विषयता का ही एक तीसरा भेद संसर्गता भी है। संसर्गता भी प्रकारता और विशेष्यता के समान विशिष्टबुद्धि में प्रतीत होती है। प्रकार और विशेष्य (आश्रय) के समान सम्बन्ध भी विशिष्टज्ञान का विषय होता है।[१] विशेषण और विशेष्य से भिन्न जो विशिष्टबुद्धि का विषय होता है उसे संसर्ग (सम्बन्ध) कहते हैं। दो असम्बद्ध पदार्थों के विषय में विशिष्टबुद्धि उत्पन्न नहीं होती है। इसीलिये आचार्य गंगेश ने सम्बध की परिभाषा देते हुए कहा है कि अविशिष्ट से भिन्न विशिष्टबुद्धि का नियामक सम्बन्ध है।[२]

परन्तु गंगेश के उक्त लक्षण में 'विशिष्ट' पद सम्बन्ध का पर्यायी होने से आत्माश्रय दोष होता है। अत: रुचिदत्त[३] ने व्यावृत्त-ज्ञान के कारण-ज्ञान के असाधारण विषय को सम्बन्ध कहा है। परन्तु 'प्रमेयत्व' आदि को भी जो सम्बन्ध मानते हैं उनके मत में प्रमेयत्व का ज्ञान व्यावृत्तज्ञान का कारण न होने से अव्याप्ति दोष होता है।[४] पक्षधर[५] (जयदेव) के अनुसार 'अविशिष्ट-ज्ञान का कारण न होते हुए जो विशिष्ट-ज्ञान का कारण होता है वह सम्बन्ध है'। तथापि अतीन्द्रिय संयोग में तथा कालिक-स्वरूप सम्बन्ध में उक्त लक्षण घटित न होने से वह त्याज्य है। अत: इस लक्षण को छोड़ कर विशेषणज्ञान से जन्य ज्ञान का जो असाधारण विषय है वह संसर्ग है ऐसा स्वीकार करना उचित है। इसका तात्पर्य यह है कि विशिष्टज्ञान के लिये विशेषण का ज्ञान कारण होता है। 'दण्डी' यह ज्ञान दण्ड के ज्ञान के बिना नहीं होता है। 'दण्डी' इस ज्ञान के

विषय दण्ड और दण्ड का आश्रय (पुरुष) होने पर भी उसका असाधारण विषय दण्ड और पुरुष के बीच में प्रतीत होने वाला संयोग सम्बन्ध है। इस प्रकार विशिष्टबुद्धि का विषय सम्बन्ध भी होता है तथा उसमें संसर्गता भी होती है और इस प्रकार की संसर्गता यह विषयता का ही एक भेद है।

कुछ नैयायिक 'संसर्ग' को विशिष्ट-बुद्धि का विषय नहीं मानते हैं। उनके अनुसार 'यह घट है' इस ज्ञान के पश्चात् "मैं समवाय को जानता हूँ" इस प्रकार का अनुव्यवसाय (पश्चात्-वर्ति ज्ञान) नहीं होता है, अपितु "मैं घट को जानता हूँ" इस प्रकार का अनुव्यवसाय होता है। 'समवायं जानामि' (मैं समवाय को जानता हूँ) यह अनुव्यवसाय समवायत्व से युक्त (समवाय) के वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) को व्यक्त करने वाला होने से वह समवायत्व प्रकार वाले ज्ञान के पश्चात् ही हो सकता है, घटत्व प्रकार वाले ज्ञान के पश्चात् नहीं।

परन्तु यदि संसर्ग को विशिष्ट-बुद्धि का विषय न मानें तो बाध-ज्ञान में प्रतीत होने वाली प्रतिबन्धकता सम्बन्ध-विशेष से नियमित नहीं होगी। और उससे तन्तु में संयोग सम्बन्ध से प्रतीत होने वाला पट के अभाव का निश्चय तन्तु में संयोग सम्बन्ध से प्रतीत होने वाले पट के ज्ञान का विरोधी होता है; तन्तु में होने वाले सभी प्रकार के पटज्ञान का विरोधी नहीं होता है इस अनुभव का विरोध होगा। अतः प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव की व्यवस्था के लिये विशिष्ट-बुद्धि को सम्बन्ध-विषयक मानना आवश्यक है।

उसी प्रकार ज्ञान का प्रमात्व या भ्रमत्व सम्बन्ध-विशेष से नियमित होने के कारण भी विशिष्ट-बुद्धि को सम्बन्ध-विषयक मानना आवश्यक है। भ्रमत्व और प्रमात्व को सम्बन्ध-विशेष से नियमित न मानें तो क्या होगा? ऐसा मानने का कारण यह है कि कपाल विशेष्य-वाला और घट प्रकार-वाला कोई ज्ञान तो भ्रम है और कोई ज्ञान प्रमा है। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि 'कपाल समवाय सम्बन्ध से घटवाला है' यह ज्ञान प्रमा है तथापि 'कपाल संयोग सम्बन्ध से घटवाला है' यह ज्ञान भ्रम है। सम्बन्ध को विशिष्ट-बुद्धि का विषय न मानने पर कपाल समवाय सम्बन्ध से घटवान् है ऐसा ज्ञान होने पर सभी घटवान् ज्ञान प्रमा होने चाहिये, और कपाल संयोग सम्बन्ध से घटाभाववान् होने से सभी ज्ञान भ्रम होने चाहिये। लेकिन ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता।

संसर्गता-रूप विषयता को अलग न मानने पर ज्ञान को प्रमा और भ्रम के भेद से भिन्न सिद्ध करना सम्भव नहीं होगा। रज्जु में जब सर्प का ज्ञान होता है

तब वहाँ भी सर्पत्व से युक्त रज्जु में उक्त ज्ञान की विषयता विद्यमान होती है। लेकिन वैसे ही वह सत्य सर्प के ज्ञान की दशा में भी विद्यमान होती है। अत: संसर्गता रूप विषयता को स्वतन्त्र मानना आवश्यक है। असत्य सर्प-स्थल में सर्पत्व का सम्बन्ध रज्जु के साथ न होने से वह ज्ञान प्रमा ज्ञान से भिन्न है। याने सत्य सर्प-स्थल में सर्पत्व का सम्बन्ध सर्प से होता है तो असत्य सर्प-स्थल में सर्पत्व का सम्बन्ध सर्प से न हो कर रज्जु में होता है और इसलिये ये दो ज्ञान प्रकारत: भिन्न हैं।

कुछ नैयायिक संसर्गता को विषयता का एक प्रकार न मान कर अवच्छेदकता का एक प्रकार मानते हैं और उसे सांसर्गिकी (सम्बन्ध-विषयक) अवच्छेदकता कहते हैं। इनके मतानुसार संसर्ग में रहने वाली प्रकारता की अवच्छेदकता को प्रकारता से निरूपित सांसर्गिक विषयता के रूप में परिभाषित करने पर संसर्ग में विशिष्ट-बुद्धि की विषयता आ जाती है यह कथन उचित नहीं है। प्रकारता से निरूपित होनेवाली संसर्गता में रहने वाली अवच्छेदकता स्वरूप सम्बन्ध-रूप या अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार करने पर उसे विषयता का प्रकार न मान कर अवच्छेदकता का प्रकार ही मानना उचित है।

परन्तु गदाधर[७] का विचार है कि यदि संसर्ग को विशिष्टबुद्धि का विषय नहीं मानेंगे तो उस सम्बन्ध वाले पदार्थ के ज्ञान से उससे विशिष्ट (याने सम्बध्द) वस्तु का ज्ञान नहीं होगा और उस सम्बन्ध का उपनीत भान (ज्ञान लक्षण से होने वाला प्रत्यक्ष) नहीं होगा। अत: संसर्ग को विशिष्ट-बुद्धि का विषय मान कर संसर्गता को भी विषयता का एक भेद मानना आवश्यक है।

'भूतल घटवान् है' इस प्रतीति से प्रतीत होने वाली तथा घट में रहने वाली आधेयता (वृत्तिता) का नियामक सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध होता है। वही संयोग सम्बन्ध 'भूतल पर घट नहीं है' इस प्रतीति से प्रतीत होने वाले घट के अभाव की घट में होने वाली प्रतियोगिता का भी नियामक होता है। संयोग सम्बन्ध में रहने वाली जो इस प्रकार की संसर्गता-रूप प्रतियोगिता की अवच्छेदकता या नियामकता है उसका नियामक धर्म संयोगत्व होता है। उसे संसर्गतावच्छेदक भी कहते हैं। परन्तु संसर्गता का नियामक दूसरा कोई संसर्ग नहीं होता है। संसर्गता का नियामक दूसरा संसर्ग है ऐसा स्वीकार करने पर अनवस्था दोष उत्पन्न होता है। जैसे 'घटवान् भूतल' में घट और भूतल के बीच में होने वाले संसर्ग के रूप में संयोग की प्रतीति होती है। लेकिन संयोग गुण होने से वह अपने आश्रय (संयोगिन्) के साथ समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसलिये उक्त संयोग सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता को समवाय सम्बन्ध से नियमित मानने पर उक्त समवाय सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता को स्वरूप

सम्बन्ध से नियमित तथा उक्त स्वरूप सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता को अन्य सम्बन्ध से नियमित मानना होगा। तथापि ऐसा स्वीकार करने से अनवस्था दोष होता है। अत: नैयायिक विशिष्ट प्रतीति में संसर्ग का भान तो स्वीकार करते हैं, परन्तु संसर्ग के संसर्ग का भान स्वीकार नहीं करते और इसलिये संसर्गता अन्य संसर्ग से नियमित नहीं मानते।

तथापि वे सम्बन्ध की प्रतियोगिता उसकी (सम्बन्ध की) अनुयोगिता स्वीकार करते हैं। जैसा कि पूर्व लेखों में कहा जा चुका है कि अभाव के समान ही संसर्ग का एक प्रतियोगी तथा दूसरा (सम्बन्धी) अनुयोगी होता है। और खास कर जिस सम्बन्ध के सम्बन्धियों में आधार-आधेय भाव रहता है वह सम्बन्ध उस सम्बन्ध के अनुयोगी में रहता है (याने अनुयोगी के आधार पर अधिष्ठित होता है) ऐसा कुछ लोग मानते हैं।

तथापि 'घटवान् भूतल' इस प्रत्यय में संयोग का उल्लेख न होने से संयोग में (घट और भूतल के बीच में होने वाले संयोग में) जो संसर्गता है वह किसी सम्बन्ध से नियमित हो कर प्रतीत नहीं होती है, यद्यपि उक्त संयोग उस के संयोगी में समवाय सम्बन्ध से (क्योंकि उनमें आधाराधेय भाव है) होने पर भी उक्त प्रतीति में संयोग का प्रत्यय अन्य सम्बन्ध के प्रत्यय के बिना ही होता है। 'घटसंयोगी भूतल है' यह प्रत्यय होने पर संयोग का (याने संयोग संबंध से संबंधित संयोगियों का) सम्बन्ध समवाय प्रतीत होता हैं क्योंकि इस प्रत्यय में संयोग का प्रत्यय सम्बन्ध का प्रत्यय न हो कर 'प्रकार' का प्रत्यय है तथा यहाँ संसर्ग का प्रत्यय समवाय का प्रत्यय है।

'घटवद् भूतलम्' इस प्रत्यय में संयोग का सम्बन्ध समवाय प्रतीत न होने पर भी उसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता और समवाय संसर्ग होने से उसमें होने वाले संसर्गता के अस्तित्व का भी निषेध नहीं किया जा सकता। तथापि उक्त संसर्ग प्रतीति का विषय न होने से उक्त समवाय सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता विषयता-रूप नहीं है। वह अलग प्रकार की ही संसर्गता है।

कुछ नैयायिकों[१] का विचार है कि जहाँ विशिष्ट-बुद्धि अर्थात् विशेष्य-विशेषण भाव या आधाराधेय-भाव-बुद्धि नहीं होती है वहाँ पर भी सम्बन्ध का ज्ञान होता है। उस सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता भिन्न प्रकार की ही संसर्गिता है जो सम्बद्ध-बुद्धि का विषय होती है तथा प्रतियोगिता और अनुयोगिता से निरूप्य भी होती है। उक्त संसर्गता में रहने वाला संसर्गतात्व एक पृथक् अखण्ड धर्म है। उस संसर्गता में विशिष्ट-बुद्धि का नियामकत्व नहीं है, क्योंकि जहाँ अधिकरण-तार्थक 'मतुप्' आदि प्रत्ययों का प्रयोग होता है वहीं विशिष्ट-बुद्धि उत्पन्न होती है।

इस प्रकार की विशिष्ट-बुध्दि में विशेषण आधेय के रूप में तथा विशेष्य अधिकरण के रूप में प्रतीत होता है। परन्तु दो भेडों की टक्कर में या दो पहलवानों की टक्कर में जो संयोग है उसमें दोनों ही भेडों या पहलवानों में से कोई भी आधार या आधेय नहीं है। इसके बावजुद संयोग तो वहाँ प्रत्यक्ष-सिद्ध है। इसलिये उक्त सम्बन्ध में संसर्गता तो अवश्य माननी ही पडेगी, क्योंकि दो भेडों की टक्कर होने पर एक भेड प्रतियोगी और दूसरा उसके अनुयोगी के रूप में भासित होता है। इसलिये उक्त प्रतियोगिता और अनुयोगिता से प्रदर्शित होनेवाली संसर्गता उक्त संयोग में मानना अनिवार्य है। वह संसर्गता भी विषयता-रूप है क्योंकि सम्बन्ध उक्त ज्ञात का विषय है।

संसर्गता को जो सांसर्गिक अवच्छेदकता के रूप में ग्रहण करते हैं उनमें से यज्ञपति उपाध्याय के अनुयायी संसर्ग के ससर्ग का भी प्रत्यय होता है ऐसा मानते हैं। उनके मत में उक्त संसर्गता सम्बन्धावच्छिन्न होती है। परन्तु जो सम्बन्ध को प्रतीति का विषय नहीं मानते उनके मत में संसर्गता सम्बन्ध से नियमित नहीं होती है।[१०]

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि विशिष्ट-बुद्धि की विषयता तीन पदार्थों में होती है : प्रकार में प्रकारता-रूप, विशेष्य (आश्रय) में विशेष्यता-रूप, तथा संसर्ग में संसर्गता-रूप। अब प्रश्न यह है कि इनमें परस्पर कोई सम्बन्ध है या ये पूर्णतया स्वतंत्र हैं? नैयायिक[११] मानते हैं कि संसर्गता के साथ प्रकारता और विशेष्यता का निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध होता है। प्रकारता से निरूप्य संसर्गता होती है तो संसर्गता निरूप्य कहलाती है और प्रकारता निरूपक कहलाती है। जब संसर्गता से निरूप्य प्रकारता होती है तो संसर्गता निरूपक तथा प्रकारता निरूप्य कहलाती है। प्रकारता और संसर्गता में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। याने, दोनों ही एक दूसरे की निरूप्य और निरूपक होती हैं। उसी प्रकार विशेष्यता के साथ भी संसर्गता का निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। विशेष्यता से निरूपित संसर्गता और संसर्गता से निरूपित विशेष्यता होती है।

उनमें जो यह निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध है वह कार्यत्व, कारणत्व, आधारत्व आदि सम्बन्धों के समान ही स्वरूप सम्बन्ध का प्रकार है या अतिरिक्त पदार्थ है?[१२] यदि संसर्गता को प्रकारता से निरूपित न मानें तो 'उस सम्बन्ध से तत्प्रकारक' की व्याख्या करना दुष्कर है।

'तेन सम्बन्धेन तत्प्रकारक' (उस सम्बन्ध से तत्प्रकार वाले) की व्याख्या 'उस सम्बन्ध-वाला होते हुए उस (वस्तु) में रहनेवाली विशेष्यता से निरूपित तत्प्रकार-वाला' ऐसी करने पर 'भूतल पर घट है' यह संयोग सम्बन्ध से होने-वाला घटज्ञान तथा समवाय सम्बन्ध से रूप है यह रूप-विषयक ज्ञान भूतल

में संयोग सम्बन्ध से रूप-प्रकारक तथा समवाय सम्बन्ध से घट-प्रकार वाला माना जायगा। संसर्गता को निरूपक और प्रकारता को निरूप्य मानने पर भूतल में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित संयोग सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता से निरूपित घट में रहने वाली प्रकारता का प्रतियोगी होना ही उक्त ज्ञान का उस सम्बन्ध से तत्प्रकारकत्व कहलाता है। जहाँ पर जिसका जो सम्बन्ध प्रतीत होता है उसकी विशेष्यता और उसी की प्रकारता से उस सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता निरूपित होती है। जब भूतल पर संयोग में रहने वाली संसर्गता भूतल में रहने वाली विशेष्यता और घट में रहने वाली प्रकारता से निरूपित होती है, संयोग में रहने वाली संसर्गता कपाल में रहने वाली विशेष्यता और घट में रहने वाली प्रकारता से निरूपित नहीं होती है। उसी प्रकार समवाय में रहने वाली संसर्गता कपाल में रहने वाली विशेष्यता और घट में रहने वाली प्रकारता से निरूपित होती है, भूतल में रहने वाली प्रकारता और घट में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित नहीं होती है।

प्रकारता सम्बन्ध से नियमित होती है इसलिये विशेष संसर्ग से नियमित विशेष प्रकारता से निरूपित विशेष विशेष्यता-वाला होना ही उस सम्बन्ध से विशेष प्रकार-वाला होना है ऐसा क्यों न माना जाय? इसका उत्तर यह है कि संसर्ग से नियमित होने का अर्थ है संसर्ग में रहने वाली अवच्छेदकता का निरूपक होना और चूंकि संसर्गता संसर्ग में रहने वाली अवच्छेदकता है अतः उक्त अवच्छेदकता-रूप संसर्गता को निरूप्य-निरूपक-भाव स्वयं-सिद्ध है।

अब यहाँ दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्रकारता और संसर्गता के बीच में निरूप्य-निरूपक-भाव-भाव हो, परन्तु विशेष्यता और संसर्गता के बीच में निरूप्य-निरूपक-भाव क्यों माना जाय? इसका उत्तर यह है कि प्रकारता और विशेष्यता इन दोनों में से किसे संसर्गता का निरूपक मानें और किसे न मानें इसके सम्बन्ध में उनमें से एक का पक्षपात करनेवाली कोई युक्ति नहीं है। अतः इस प्रकार की विनिगमना (एकतर पक्षपातिनी युक्तिः) न होने से दोनों को ही संसर्गता का निरूपक मानना उचित है।

विशेष्यता और प्रकारता में भी जो निरूप्य-निरूपक-भाव है वह भी साक्षात् नहीं है, संसर्गता के द्वारा होता है। प्रकारता, विशेष्यता से निरूपित संसर्गता से निरूपित होती है, उसी तरह विशेष्यता भी प्रकारता से निरूपित संसर्गता से निरूपित होती है। इसलिये प्रकारता से निरूपित होने का अर्थ है प्रकारता से निरूपित संसर्गता से निरूपित होना, तथा विशेष्यता से निरूपित प्रकारता होने का अर्थ है विशेष्यता से निरूपित संसर्गता से निरूपित प्रकारता का होना।

कार्य-कारण-भाव के प्रसंग में जहाँ प्रकारता और विशेष्यता का उल्लेख

होता है वहाँ संसर्ग का उल्लेख अवश्य होता है। अन्यथा कोई भी कार्य-कारण-भाव सही नहीं होगा। अतः संसर्गता और प्रकारता एवं विशेष्यता के बीच में निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध मानने में कोई गौरव दोष नहीं है।

कुछ लोग संसर्गता को विषयता का भेद नहीं मानते। उनका कहना है कि जब हम "रूपवान् घटः" ऐसा सुनते हैं तो हमें सम्बन्ध की कोई प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि उसमें सम्बन्ध का कोई उल्लेख नहीं है। संसर्ग को प्रतियोगिता का अवच्छेदक मान लेने से ही प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव समझने में कोई बाधा नहीं होती है। परन्तु यह मत समीचीन नहीं है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर भूतल संयोग सम्बन्ध से घटवान् है समवाय सम्बन्ध से घटवान् है, कालिक सम्बन्ध से घटवान् है इन प्रतीतियों मे कोई भेद नहीं किया जा सकेगा। अतः संयोग, समवाय आदि विषयताओं के आधार पर ही उक्त प्रतीतियों में भेद किया जा सकता है। इस प्रकार संसर्गों में रहने वाली संसर्ग-विषयता ही संसर्गता-रूप विषयता है।

अग्रिम लेखों में विषयता के ही विधेयता, उद्देश्यता आदि अन्य भेदों का विवेचन किया जायगा।

बलिराम शुक्ल

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे – ४११००७

टिप्पणियाँ

१. गदाधर; विशेष्यता प्रकारतावत् संसर्गत्वस्यापि विषयताविशेष्यताकत्वात् संसर्गस्यापि विशिष्टधीविषयत्वम्। विषयतावादे

२. गंगेशोपाध्याय; अविशिष्टव्यावृत्त विशिष्टधीनियामकस्य सम्बन्धः। तत्त्वचिन्तामणि, प्रत्यक्षखण्डे

३. व्यावृत्तधीकारणज्ञानासाधारणविषयत्वं सम्बन्धत्वमित्यस्य विवक्षितत्वादिति वदन्ति। तत्त्वचिन्तामणिप्रकाशस्य प्रत्यक्षखण्डे

४) तच्चिन्त्यम्। प्रमेयत्वादिसम्बन्धेऽव्याप्तेः न हि तद्विषया धीर्व्यावृत्तधीहेतुः। तत्रैव

५. तथा च विशिष्टबुद्ध्यजनकत्वे सति विशिष्टबुद्धिजनकत्वम्। तत्रैव

६. गदाधर; अत्रोच्छृंखला संसर्गस्य विशिष्टधीविषयत्वे मानाभावः घट इत्यादि ज्ञानान्तरं समवायं जानामीत्याद्याकारकानुव्यवसायसिद्धत्वात्। विषयतावादे
७. अथ संसर्गस्य विशिष्टबुद्ध्यविषयत्वे तत्संसर्गज्ञानात् तद्विशिष्टबुद्धि तदुपनीतभावानुदयप्रसङ्गः। तत्रैव
८. अनुयोगिनिष्ठस्यैव सम्बन्धत्वात्। तत्रैव
९. काशिकानन्द; यत्र नास्त्याधाराधेयभावो न वा विशेष्यविशेषणभाव-नियमस्तत्रापि एतद्वयादौ सम्बन्धबुद्धिर्भवति। न्यायसिद्धान्तरत्न-मालायाम्।
१०. भट्टाचार्यप्रभृतयस्तु संसर्गतामुपेत्यापि संसर्गतावच्छेदकत्वाख्य-विषयत्वं न मेनिरे। वहीं
११. गदाधर; संसर्गतया च समं प्रकारतायाविशेष्यतायाश्च निरूप्यनिरूपक भावाख्यसम्बन्धविशेषोऽभ्युपगन्तव्यः। विषयतावादे
१२. स च सम्बन्धः कार्यत्वकारणत्वाधेयत्वाधारत्व प्रतियोगित्वानुयो-गित्वादीनां मिथः तादृश सम्बन्ध इव स्वरूपविशेषः पदार्थान्तरमेव वा। वहीं

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

२१०. डॉ. मो. दि. पराड्कर
४/११ शाह बिल्डिंग
भगत पथ
माहीम
बम्बई – ४०००१६

२११. डॉ. रञ्जना गुप्त
मोहल्ला महाजन तोली
हाजीपुर – ८४४१०१
वैशाली
(बिहार)

२१२ डॉ कमला पाण्डे
संस्कृत विभाग
वसन्त कन्या महाविद्यालय
कमच्छा
वाराणसी – २२१०१०
(उ. प्र.)

२१३. डॉ. हरिनारायण पाण्डे
छोटी मरई
मसजिद के पास
हाजीपुर – ८४४१०१
वैशाली
(बिहार)

२१४. डॉ. विजयकान्त दुबे
दर्शन विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
कोटद्वार – २४६१४९
(उ. प्र.)



प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जाएगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अतः विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकत. ‌ प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।



पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक मॉडर्न प्रिण्टिंग प्रेस, पुणे ४११००५ में छपवाकर प्रकाशित किया।

परामर्श (हिन्दी) पंजीकरण सं. 39883/79

परामर्श

(हिंदी)

खण्ड १२ अंक ४

सितम्बर, १९९१ / श्रावण–भाद्रपद, २०४७

संपादक

सुरेन्द्र बारलिंगे
आनन्दप्रकाश दीक्षित

राजेन्द्र प्रसाद
मो. प्र. मराठे

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

परामर्श (हिन्दी)

□ पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक पत्रिका
□ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें; संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या डिमांड ड्राफ्ट के द्वारा इस पते पर भेजा जाए : संपादक, परामर्श (हिंदी), दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७
अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने के भीतर कार्यालय में मिल जाए, तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१) संस्थाओं के लिए	रु. ४०-००
(२) व्यक्तियों के लिए	रु. ३०-००
(३) छात्रों के लिए	रु. २०-००
एक प्रति	रु. ८-००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १२५०-००
व्यक्तियों के लिए रु. ३००-००

□ राशि मनिऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट के माध्यम से ही भेजें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

रसस्वरूपविचार

वैदिक चिंतन में वाक् को सब चीजों की जननी कहा गया – 'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे ' (ऋ.)। यह वाक् शब्द रूप है। (यः कश्चन शब्दो वागेव सा – बृहदा १.५.३) और अर्थ इसका सखा है – इसमें संपृक्त है – 'यस्तित्याज सचिविदं सखायं न वाच्यपि भागोऽस्ति। (ऋ. १०.७१.६)

सृष्टि के मूल–तत्त्व के रूप में वाक् सर्वत्र व्याप्त और अनुस्यूत है। (यावत्येव वाक् तावती पृथिवी – बृहदा. १.५.११) शब्दार्थ युग्मरूप अभिव्यक्ति इसी मूल–तत्त्व से होती है। काव्य के क्षेत्र में यह अभिव्यक्ति रस या रसास्वाद में परिणत होती है। यह वाक्–तत्त्व सिसृक्षा के रूप में मनुष्य के भीतर विराजित है। सिसृक्षा मनुष्य को एकाकी नहीं रहने देती; उसे समाज से, विश्व से और अनंत से जोड़ती है।

सिसृक्षा के अगणित रूप हो सकते हैं। कविता के क्षेत्र में यह सिसृक्षा "वाक्" बन जाती है।

नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र में सिसृक्षा रूप वाक् की परिणतियों का प्रतिभा-तत्त्व के विवेचन में विचार किया गया और इसकी शब्दार्थयुग्म में अभिव्यक्ति और उसके प्रभावों का रसतत्व के अन्तर्गत विचार किया गया।

इसलिये रस के प्रसंग में आज विचार करते समय इस परंपरा को दृष्टि में रखना आवश्यक है कि भरत से लेकर बाद के आचार्यों की अवधारणाओं में वैदिक वाक्तत्त्व का स्वरूप अवगत था। भरत कहते हैं –

वाङ्मयानीह शास्त्राणि वाङ्निष्ठानि तथैव च।
तस्माद् वाचः परं नास्ति वाग् हि सर्वस्य कारणम्॥

(ना. शा. १४.३)

ऐसी स्थिती में आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि रस की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त तथा पंडितराज जगन्नाथ यही उपनिषद् वाक्य उद्धृत करते हैं – "रसो वै सः." । निश्चय ही रस की एक अवधारणा वैदिक संहिताओं से चल कर औपनिषदिक चिन्तन में संक्रांत हुई थी और नाट्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र के आचार्यों ने एक स्तर पर अपने प्रस्थान के रस को इस मूल उत्स की धारा से जोड़ना चाहा था।

यदि रस–विषयक चिंतन की मूल परंपरा वेद से उपक्रांत हुई हो, तो भी कला के क्षेत्र में रस और रसानुभूति का स्वरूप वही का वही नहीं रह सकता था, जो वैदिक या औपनिषदिक चिंतन में हम देखते हैं। उपनिषदों का रस एक परम सत्ता की स्वयं को व्यक्त करने की स्थिति है। आनंद इसका स्वरूप है।

रसविचार की इस आदिम परंपरा से हमें "रस" का मूल स्वरूप प्राप्त अवश्य हो जाता है। रस व्यक्ति–चैतन्य के संकीर्णताओं से मुक्त हो कर अनन्त से जुड़ने की स्थिति है। इसलिये उसे व्यक्तिसत्ता का लोकसत्ता में लय कहने में क्षति नहीं है।

इस वैदिकोपनिषदिक परंपरा के अवबोध के होते हुए आचार्य भरत जब रस का स्वरूप समझाने लगते हैं, तो वे इसे अतींद्रिय अनुभव के रूप में नहीं, इस लोग की कारण–सामग्री से जन्म लेने वाले पदार्थ के रूप में प्रस्तुत करते हैं। जिसका आस्वाद लिया जाय वह पदार्थ रस है। विभावानुभावव्यभिचारी की सामग्री का संयोग इसकी निष्पत्ति के लिये वैसे ही होता है जैसे गुड़ आदि द्रव्यों के साथ विभिन्न मिर्च–मसाले डाल कर भोजन में कई तरह के रस निष्पन्न होते हैं। विभिन्न व्यंजनों से संस्कृत अन्न का भोग कर संसार में जैसे लोग रसों का आस्वादन कर हर्ष आदि का अनुभव करते हैं, वैसे ही विभिन्न भावों से व्यंजित स्थायिभावों का सहृदय–जन नाट्य देखते हुए आस्वादन करते हैं और हर्ष आदि का अनुभव करते हैं।

(नाट्यशास्त्र, अ. ६, पृष्ठ २८७–८)

इतने विवेचन के पश्चात् भरत यहाँ यह भी जोड़ते हैं कि यह सारी प्रक्रिया नाट्य के अवलोकन के समय जन्म लेती है – इसलिए इसमें निष्पन्न रस नाट्यरस कहे जा सकते हैं। भरत ने नाट्य को एक यज्ञ के रूप में समझा है और नाट्ययज्ञ से निष्पन्न पदार्थ की प्रक्रिया भोजन में गृहीत आस्वाद से इसलिये समझाई है कि जिस सांस्कृतिक परिवेश में वे जी रहे थे, उसमें भोजन करने की सारी प्रक्रिया यज्ञ से अभिन्न समझी जाती थी। भोजन के भोग की प्रक्रिया यदि एक याज्ञिक प्रक्रिया है, तो यज्ञ के फल के समान उसका फल भी

अदृष्ट होना चाहिये और इसी प्रकार नाटचयज्ञ का फल भी। नानाव्यंजनों से संस्कृत अन्न से प्राप्य आस्वाद-मात्र भोजन का फल नहीं है। आस्वादयिता को हर्ष आदि की प्राप्ति और उसके द्वारा उसे शरीर और चैतन्य का समुचित विकास उसका फल हो सकता है। इसी प्रकार नाट्यज्ञ में व्यंजनस्थानीय विभावादि के साक्षात्कार से निष्पन्न आस्वादमात्र इस नाट्यज्ञ का फल नहीं है। इसका फल रस है। आस्वाद्यता का तत्त्व इस रस से अनुषक्त है, तभी इसे रस कहते हैं। पर परमार्थतः आस्वाद और रस ये दो अलग-अलग चीजें हैं।

आचार्य अभिनव कहते हैं कि भोजन में भी रसनाव्यापार ही अपने आप में आस्वादन नहीं है। आस्वादन एक मानसिक व्यापार है। (अभि. भा. १ पृ. २९) उसी तरह रस प्रक्रिया में रस की निष्पत्ति हेतु प्रयुज्यमान व्यापार; रस का आस्वाद और रस-ये तीन भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। प्रयुज्यमान व्यापार और आस्वाद ये तो लौकिक रूप में दृष्ट हैं, रस ही है जो अदृष्ट है।

रस इस अर्थ में अदृष्ट है कि वह अन्य लौकिक अनुभवों की तरह कुछ एक व्यक्तियों तक सीमित नहीं है। रसेतर प्रत्येक लौकिक अनुभव अलग-अलग प्रमाताओं को पृथक्-पृथक् भासित होता है। रस अपनी परिणति में मूलतः सबके लिये एक है। भरत नाट्य को इसलिये 'सार्ववर्णिक पंचम वेद' कहते हैं। नाटच सबके लिये-सारे समाज के लिये - है-और इसका फल -रस-भी सबके लिये है। भोजन के भोग-काल में ही आस्वाद होता है, पर उसका फल भोग-काल के आगे धीरे-धीरे प्रकट होता है। नाट्य में विभावादि के साक्षात्कार के क्षणों में आस्वाद रहता है, पर नाट्य का वास्तविक फल रस तो नाट्यज्ञ के अनुष्ठान के आगे है, वह व्यक्ति, देश और काल की सीमाएं लांघ कर स्वयं को विस्तारित करता है। इस अर्थ में वह अनन्त और अलौकिक है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि 'रस' इस दुनिया के बाहर का कोई पारलौकिक अनुभव है। उसकी अलौकिकता प्रमाता को व्यक्ति, देश, काल की संकीर्ण सीमाओं को लाँघ कर सारे समाज से एकाकार होने की क्षमता दे पाने में है। रस के अनुभव में व्यक्ति समाज हो जाता है। यही वह स्थिति है, जिसको आचार्यों ने प्रमाता का परिमित प्रमातृत्व प्रमृष्ट होना और तद्वशात् 'वेद्यांतर सम्पर्कशून्य अपरिमित आनन्द' का उन्मिषित होना कहा है। भट्टनायक इसलिये भावकत्व व्यापार को 'निविडनिजमोहसङ्कटनिवारणकारी' कहते हैं।

क्या किसी भी कलाकृति का आस्वाद हर बार एक सा हो सकता है? निश्चय नहीं। क्या अलग-अलग लोग एक कविता से एक सा आस्वाद पाते हैं? इसका उत्तर भी नकारात्मक होगा। इसलिये दशरूपककार धनंजय काव्यजन्य आस्वाद की चार कोटियाँ मानते हैं-विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप। अलग-

अलग रंसों में आस्वाद का प्रकार अलग-अलग होता है। यहीं पर धनंजय इस आस्वाद की प्रक्रिया में " कांव्यार्थसम्भेद " की बात करते हैं। वृत्तिकार धनिक कहते हैं कि विभावादि संसृष्ट स्थाय्यात्मक काव्यार्थ का भावक के चित्त में संभेद या अन्योन्य संवलन होता है (दशरू. ४.४४)। निश्चय ही संभेद या संकलन की यह स्थिति जटिल और मिश्रीकृतक्रम वाली स्थिति है। चित्त में परस्पर विरोधी अनेक तत्त्वों का एक साथ आलोडन-विलोडन होता है। भवभूति इसी दृष्टि से कहते हैं – " मिश्रीकृतक्रमो रसो वर्तते "। रस का स्वरूप ही ऐसा है। उसमें अनेक विरोधी भावों का संभेद या संवर्त होता है। जितना गहरा और जटिल यह संभेद बन सकता है, उतनी ही रचना वडी कही जायेगी। महान् रचना सदैव भावक के चित्त में आस्वाद काल में ऐसा भावों का अन्योन्यसंवलनात्मक संवर्त रचती है, जिसकी छाप उसके चित्त पर विभावादि कारण सामग्री की निवृत्ति और आस्वाद के अवसान के बाद भी बनी रहती है।

इसीलिये रसास्वाद का स्वरूप हर्षमय नहीं कहा जा सकता। केवल प्रहर्षित करके चुक जाने वाली रचना में रस नहीं है। नाना व्यंजनों के संमिश्रण से निर्मित भोज्य सामग्री का आस्वाद भी मात्र हर्षजनक नहीं होता। नाना विभावादि के संयोग से जन्य आस्वाद भी ऐसा ही है। इसीलिये आचार्य भरत दोनों के लिये " हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति " कहते हैं – दोनों ही स्थितियों में मात्र हर्ष नहीं मिलता; हर्ष आदि विभिन्न भावों का संभेद बनता है। हर्ष के आगे भरत ने यह जो " आदि " जोड़ दिया है, उसकी व्याख्या के दो विकल्प आचार्य अभिनवगुप्त ने सुझाये हैं – एक विकल्प उन आचार्यों की परंपरा देती है, जो आस्वाद को सुख:दुःख संमिश्रण अनुभव मानते हैं। दूसरी परंपरा केवल सुखवादी आचार्यों की है, जो हर्ष के आगे जुडे इस " आदि " से कुछ परेशान लगते हैं। वे इस " आदि " को हटा कर " हर्षांश्चाधिगच्छन्ति " यहीं पाठ लेना पसंद करते हैं।

आस्वाद को सुखदु:खसंकुल मिश्रीकृतक्रम दशा मानने वाले ये आचार्य कौन हैं? इस दृष्टि से हमारा ध्यान सर्वप्रथम शंकुक के विवेचन की ओर जाता है। शंकुक कहते हैं कि रसास्वाद काल में परस्पर विरुद्ध मंतव्यों का संभेद बनता है। यह संभेद संप्लव को जन्म देता है, पर आस्वादयिता इस संप्लव का विवेक नहीं कर पाता।

(अभि. भा. भा. १, पृ. २७३ पर उद.)

शंकुक अनुमितिवादी होते हुए भी रसानुभव को ऐसे संप्लव के रूप में देखते हैं, जो युक्ति से समझा नहीं जा सकता। इस संप्लवात्मक अनुभव को

भवभूति " आवर्त – बुदबुद – तरङ्गमय – विकार " संकुल जलधि के रूप में निरूपित करते हैं। भवभूति के लगभग समकालीन आचार्य वामन ऐसे करुणरस प्रधान रूपकों का उल्लेख करते हैं; जिनमें सुख–दुःख का संप्लव बनता है। –

(काव्यालङकारसूत्रवृत्ति ३. १. ८–९)

इस रस के संप्लव का स्वरूप क्या है ? क्या यह एक मानसिक विकार मात्र है जैसा शारदातनय समझते हैं ? (विकारो मानसो यस्तु बाह्यार्थालम्बनात्मकः, विभावाद्याहितोत्कर्षो रस इत्युच्यते बुधैः :– भा. प्र. ३.३७, ९–१०) या फिर जो सांख्यदर्शन की प्रकृति सुखदुःखमोहैकस्वभावा है, उसी की सृष्टि का एक अनुभव होने से ही इसे सुखदुःखमय माना जाय, जैसा अभिनवगुप्त ने उल्लेख किया है ? (सांख्यदृशा सुखदुःखस्वभावो रसः – अभि. भा. भा. १, पृ. २६७) । यों तो रस को सुखदुःखस्वभाव मानने वाले आचार्यों की परंपरा भी लम्बी है। (शृं. प्र. भा. २, पृ. ३६९) रामचन्द्र–गुणचन्द्र तो स्पष्ट कहते हैं कि भयानक, बीभत्स, करुण तथा रौद्र – ये रस दुःखात्मक हैं, इनमें पाठक या प्रेक्षक की प्रवृत्ति कविकौशल या नटकौशल के कारण होती है।

रसानुभव में दुःखानुवेध का अपलाप नहीं किया जा सकता। संसार में होने वाले दुःखों से इसका भेद उस संभेद या संप्लव के कारण है, जिसकी चर्चा शंकुक और वामन करते हैं। रोजमर्रा के अन्य अनुभवों में भी संभेद की स्थितियाँ आती हैं, पर वे आस्वाद का माध्यम नहीं बन पातीं । " विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसम्प्लवः " की स्थिति भवभूति की सीता के चित्त की हो जाती है, जब वे बारह वर्षों के बाद राम को देखती हैं –

तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशात्
वियोगे दीर्घेऽस्मिन् झटिति घटनात् स्तम्भितमिव ।
प्रसन्नं सौजन्याद् दयितकरुणैर्गाढकरुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव ॥

इतने वर्षों बाद राम को सहसा सामने पाकर सीता ने पहले जी को कड़ा करके तटस्थ बनाया है। जो अप्रिय राम ने उनके प्रति किया है उसके कारण उनके मन में कोसलापन भी है राम के लिये। राम को सहसा यों देख उनका मन स्तब्ध भी रह गया है। उनके उसी सौजन्य को समझ कर वे प्रसन्न भी हुई हैं और उनकी करुणा ने गहरी करुणा उनके भीतर भर दी है। अंततः हृदय प्रेम से द्रवीभूत हो गया है। यह परस्पर विरोधी भावों का संघट सीता के मन में है, जो भवभूति की दृष्टि से तो एक ही रस के विवर्त हैं। सीता ने

इस स्थिति का वरण नहीं किया है, न वे इस विरुद्धबुद्धिसम्भेदजन्यसम्प्लव का अनुभव करना चाहती थी, न उन्हें इसमें आस्वाद मिला। प्रेक्षक सीता के पात्र को देखना चाहता है, वह सीता के दुःख का वरण करता है, वह उनके जी में उठते नैराश्य, शोक, सौजन्य और असूया के आवर्त–विवर्त से बने संवर्त का अनुभव करता है और उससे आस्वाद पाता है।

पाठक या प्रेक्षक क्यों राम या सीता के गहरे विषाद का अनुभव करना चाहता है? कुछ आचार्य वस्तुस्थिति को अन्यथा समझ कर विषादातिशय के चित्रण में भी पाठक या प्रेक्षक को सुखानुभूति से सरोबोर होता हुआ समझते हैं, जो ठीक नहीं है। राम के विकट अतर्द्वंद्व और प्रगाढ़ शोक को देख कर किसे सुख होगा? क्या सीता की भावशबलता की उक्त स्थिति हमें सुखानुभूति से उच्छ्वासित कर सकती है? इसलिये पंडितराज जगन्नाथ का परमत के निरूपण में यह कहना कि करुण रस के स्थलों में प्रेक्षकों के अश्रुपात आदि आनंदातिरेक से होते हैं–चित्त में नहीं उतरता, जब तक कि इस आनन्द का स्वरूप क्या है–यह स्पष्ट न किया जाय। इसी तरह रामचन्द्र गुणचन्द्र का यह कथन भी उचित नहीं लगता कि करुणरस की प्रस्तुति में पाठक या प्रेक्षक की प्रवृत्ति कविगत या नटगत कौशल के आकर्षणवश ही होती है। यदि मैं करुणरसप्रधान उत्तररामचरित पढ़ता या देखता हूँ तो क्या मात्र इसलिये कि उसमें भवभूति की भाषा-शैली प्रौढ़ है या राम तथा सीता का अभिनय करने वाले नट बडे कुशल हैं?

इसका निष्कृष्टार्थ यह हुआ कि करुण-सदृश रसों में दुःखानुभूति होती है। फिर भी भावक इस अनुभूति को बार-बार भावित करना चाहता है। ऐसा न तो इस कारण से होता है कि आरंभ में थोड़ा दुःख भले हो, पर पर्यन्त में इससे सुख ही होगा ऐसा भावक मान लेता है (इष्टस्याधिक्यादनिष्टस्य च न्यूनत्वाच्चन्दनद्रवलेपनादाविव प्रवृत्तेरुपपत्तेः– रसगङ्गाधर, पृ. १०८); और न काव्यकला या अभिनय-कौशल के कारण ही ऐसा होता है।

भावक रससंश्लिष्ट दुःखानुभूति का वरण इसलिये करता है कि वह उसके व्यक्ति–रुचि को पूर्णता की ओर ले जाती है। वह राम के द्वंद्व की जटिलता और सीता की अनुभूतियों की संकुलता को समझना और पहचानना चाहता है; उसके माध्यम से वह अपने को और अपने समय को परिभाषित करता और समझता है। इस पूरी प्रक्रिया में यदि दुःख अनुविद्ध या संश्लिष्ट है, तो वह उसे भी भोगना चाहता है।

एक ही रस की भी दो अलग-अलग रचनाएँ एक सा आस्वाद नहीं देतीं। दशरूपककार तो रसभेद से आस्वादभेद मानते ही हैं। हर्ष की रत्नावली या राजशेखर की कर्पूरमंजरी भी शृंगाररस की कृतियाँ हैं और शाकुंतल भी। तीनों

में 'रसराज' शृंगार अंगी है। पर क्या कर्पूरमंजरी हमें वह अनुभव दे सकती है, जो शाकुंतल देता है? जबकि शृंगार का उत्कट और उद्दाम प्रवाह उसमें शाकुंतल से अधिक है। निश्चय ही शाकुंतल शृंगाररस से उभचूभ नाटिकाओं या सट्टकों की अपेक्षा श्रेष्ठ और महान् कृति है। और इसका कारण उसमें रस का संप्लव है। स्वप्नवासवदत्त, अभिज्ञान शाकुंतल, मृच्छकटिक, मुद्राराक्षस और उत्तररामचरित ये पाँच नाटक विश्व साहित्य के महान् क्लासिक इसलिये हैं कि रस की यह संप्लवात्मकता उनमें प्रारम्भ से लेकर अंतिम संवाद तक है। रस के इस संप्लव में परस्पर विरोधी भाव आ मिलते हैं, अनेक संचारी भाव संमिश्र होते हैं। या अनेक विरुद्ध रस सहचरित हो जाते हैं। आचार्यों ने इन स्थितियों पर रसध्वनि के अंतर्गत भावसंधि, भावशबलता आदि कहा है और विरुद्धरसों के संमिश्रण में विरोध-परिहार की पद्धति भी निर्दिष्ट की है। एक ही वाक्य में परस्पर विरोधी रस आ मिलते हैं और विरोधपरिहार संभव है। आनन्दवर्धन और मम्मट दोनों इसके लिये निम्नलिखित उदाहरण देते हैं, जो युद्धभूमि में मरते हुए और स्वर्ग पहुँचते वीरों का वर्णन है —

भूरेणुदिग्धान्नवपारिजातमालारजोवासितबाहुमध्याः
गाढं शिवाभिः परिरम्यमाणान् सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः,
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः पक्षैः खमानाभुपवाज्यमानान्
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः
विमान–पर्यङ्कतले निषण्णाः कौतूहलाविष्टतया तदानीम्
निर्दिश्यमानान् ललनाङ्गुलीभिर्वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन् ।

(नवपारिजातमाला से सुगंधित भुजमध्य
है उनका अब, और विराजे हैं वे ऊपर
धूल में लोटते देखते हैं अपने देह
वे वीर, अप्सराओं के आलिंगन में बाँध
देखते हैं सियारिनों के चाटे वे देह
चंदन के जल से सिंचित कल्पलतादुकूल
जिन्हें पंखे झलते जाते शीतल, वे लोग
देख रहे मँडराते नरभक्षी गिद्धों के
पंखों की हवा खाते अपने वे मृत देह
विमान के पर्यंक पर, सुख से विराजमान
कौतूहल में भर कर दिखा रहे हँसहँस कर

सुन्दरियों के द्वारा अँगुलियों से सूचित
ऊपर ऊपर उठते; दृष्टि डालते नीचे
देख रहे हैं धरती पर; गिरे अपने देह।)

आनन्दवर्धन तथा मम्मट का कथन है कि यहाँ रसान्तरान्तरित (अन्य रस का व्यवधान) होने से शृंगार और बीभत्स का विरोध निवृत्त हो जाता है। अभिनवगुप्त कहते हैं अंगी रस तो यहाँ वीर ही है; रति और जुगुप्सा ये दोनों स्थायी भाव उसके प्रति व्यभिचारीभूत हो गये हैं। अस्तु। प्रकृत में यह उदाहरण इसलिये प्रस्तुत किया गया है कि विरोधी रस भी मिल कर काव्य में संप्लव का निर्माण करते हैं और अच्छी कविता में ऐसे संप्लव की स्थितियाँ देखी जाती हैं। युद्धभूमि का वर्णन करते हुए कालिदास के सामने भी संप्लव की यह पीठिका रही होगी, तभी वे इसे मृत्यु की मदिराशाला बना कर शोणित के रूप में शराब की नहरें बहती देखते हैं (रघुवंश, ७.४९)। अप्सरा से सट कर बैठे वीर द्वारा विमान से अपने ही देह के कवंध को छटपटाते देखने का दृश्य यहाँ भी है (वही; ७.५१)।

पुनः उदाहरण के लिये हमारे समय के नवोदित संस्कृत कवि केशवचन्द्र दास की कविता का एक अंग लें —

शिशिर–सिक्त–ग्रासस्य कपाले
त्वमवतरसि
कस्मिन्नेकशवस्य सम्माने
बुद्बुदस्य उपमाने...अभिमाने...
कालो दोलायते
वैराग्यस्य हलाहले...कोलाहले
विषयस्य आग्नेयहिल्लोले
आन्दोलनकाले...विकले
अन्धभिक्षुमनुसरत्खजकुक्कुरस्य
उल्ललितलाले......
तन्द्रालुबालकस्य जृम्भालुकपोले.
(शिशिरसिक्त घास के माथे पर
तुम उतरती हो
किसी शव के सम्मान पर
बुद्बुद के उपमान पर...अभिमान पर
डोलता है काल

वैराग्य के हुलाहल पर...कोलाहल पर
विषय के अग्निगर्भ हिल्लोल पर
आन्दोलन के विकल क्षण पर
अंधे भिखारी के पीछे चलते
लँगडे कुत्ते की
टपकती लार पर
तुम उतरती हो
उनींदे बच्चे के
जमुहाई लेते गाल पर.)

"तुम उतरती हो" इस वाक्य की पुनरावृत्ति या तो शृंगार का बोध कराती है या भाव का (प्रेयसी के लिये होने पर शृंगार का और इष्टदेवता के लिये होने पर देवादिविषयक रति भाव)। इसके बीच में बुद्बुद का उपमान शांत रस का उद्बोधक है। काल के विवर्तन और वैराग्य के हुलाहल का उल्लेख भी शांत का ही पोष कर सकता है, विषय का अग्निगर्भ हिल्लोल और आन्दोलन के विकल-क्षण चपलता, आवेग, औत्सुक्य आदि संचारी भावों को व्यक्त करते हैं, जो शृंगार के हो सकते हैं। इसके अनंतर लँगडे कुत्ते की लार जुगुप्सा को व्यक्त कर बीभत्स रस का विभाव बनाती है। जमुहाई और तंद्रा भी बीभत्स के ही उद्दीपक हो सकते हैं। कुल मिलाकर यहाँ शृंगार, शांत और बीभत्स रस संप्लुत हुए हैं। शृंगार और बीभत्स को परस्पर शत्रु कहा गया है। (सङ्गीतदामोदर पृ. १०) क्या इनके विरोध का परिहार यहाँ शांत रस की उपस्थिति से माना जा सकता है?

नाट्य में ही नहीं काव्य में भी शांत रस का अस्तित्व आचार्य परंपरा में सुदीर्घकाल तक द्वन्द्व और विवाद का विषय रहा है। अष्टरस और नवरस की दोनों परंपराएँ नाट्यशास्त्र से प्रक्रांत हुईं। अभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा संरंभपूर्वक शांत को महारस सिद्ध कर देने पर भी नाट्य की तो बात दूर रही; काव्य में शांत का निषेध करने वाले आचार्य थे। आनंदवर्धन ने इस विवाद का समाधान यह कह कर करना चाहा कि शांतरस भले ही सर्वजनानुभवगोचर न हो पर वह यदि कुछ अलोकसामान्य महानुभावों का चित्तवृत्तिविशेष बन सकता है, तो उसे मान लेना चाहिये (ध्वन्या. तृतीय उ., पृ. ४३३)। इस शांत का स्थायी भाव क्या है—इस पर भी ऐकमत्य नहीं रहा है। आचार्य अभिनवगुप्त बताते हैं कि कुछ आचार्य इसका स्थायी शम मानते हैं, कुछ उत्साह, कुछ जुगुप्सा और कुछ ने तो यह कह डाला है कि शांत के स्थायी भाव सभी है। अभिनव तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद को इसकी स्थायी मानते हैं। (अभि. भा. भा. १; पृ. २६८) या तत्त्वज्ञान

अथवा आत्मा को ही। इस पर यह प्रश्न उठाया जाता रहा है कि निर्वेद जो विषय–वैराग्य–जन्य मनःस्थिति है, क्या रसास्वाद करा सकती है? विषयः व्यावृत्तकौतूहल मुनि मनोहर रूप की रचना नहीं कर सकता, तो उसका आनन्द भी वह क्या लेगा?

शान्त रस के विरोधियों ने यह कहा ही था कि न तो तपोऽध्ययनादि विभाव हो सकते हैं, न काम आदि के अभाव बनते हैं। वे प्रयोग में समवेत नहीं हो सकते, न (स्थायी भाव के) गमक बन सकते हैं। चेष्टा से विराम में प्रयोग–योग्यता कहाँ हो सकती है? इसके उत्तर में अभिनव का कहना था कि यदि काव्य में चतुर्वर्गफल प्राप्ति फल माना जाता है, तो मोक्ष का बहिष्कार इसके क्षेत्र से कैसे हो सकता है? यदि कामपुरुषार्थोचित चित्तवृत्ति शृंगारत्व को प्राप्त हो सकती है, तो मोक्षपुरुषार्थोचित चित्तवृत्ति रसता को प्राप्त क्यों न होगी? सम्यग्ज्ञानरूप या तत्त्वज्ञानरूप इस चित्तवृत्ति को ही शांत का स्थायी भाव माना जा सकता है, जो दारिद्र्यादिलौकिकदुःखजनित निर्वेद से भिन्न है। यह चित्तवृत्ति मोहभंग से भी उदित होती है, जिसका उदाहरण अभिनव ने यह दिया है–

वृथा दुग्धो नड्वांस्तनभरनता गोरिति परं
परिष्वक्तः षण्ढो युवतिरिति लावण्यरहितः।
कृता वैडूर्याशा विकचकिरणे काचशकले
मया मूढेन त्वां कृपणमगुणज्ञं प्रणमता॥

(अभि. भा. भा. १; पृ. ३३४)

(बडी दुधारू गाय मान कर
एक साँड़ को बस व्यर्थ दुहा
कोई नवयौवना समझकर
बाहों में हिजड़ा बाँध लिया
चमकीला पाकर काच–शकल
आस लगायी मैंने मणि की
मूर्ख मैं कर बैठा नमन जो
कृपण और अगुणज्ञ आपको।)

कहना कठिन है कि यह जो अष्ट रसों की जमात में नवाँ रस – शांत आ बैठा, वह क्या बौद्ध काव्यधारा के प्रभावों से संभव हुआ होगा? अश्वघोष का

कोई प्रभाव हमारे काव्य शास्त्राचार्यों पर नहीं दिखता। अभिनवगुप्त शांत रस की स्थापना करते हुए राजा हर्ष की कृति नागानन्द का स्मरण अवश्य करते हैं। पर हमने शांतरस का स्मरण नये कवि की रचना की चर्चा में किया है, तो संभव है उस समय कोई तो एक काव्य या नाटक की प्रबल धारा प्रवहमान हुई होगी, जिसने शांत रस की परिकल्पना के लिये आचार्यों को प्रेरित किया होगा। भर्तृहरि तो निश्चित रूप से इसी काव्यधारा में उपजे हैं। उनके शृंगारशतक का भी अंतःस्वर वैराग्य या निर्वेद का ही है। यह ऐसी कविता है जो सारी प्रचलित अवधारणाओं, प्रतिमानों को उलट-पलट कर रख देती है।

स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम्।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्धि जघनम्
अहो निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरुकृतम्॥

(मांस की दो गाँठें ही तो हैं स्तन
उनको कनककलश कहता है कवि
कफ से जो भरा रहता है सदैव मुख
उसे चन्द्रमा का उपमान देता है कवि
मूत्र बिंदुओं से भीग जाते हैं जो जघन
उनको करि-वरकर-समान कह देता है कवि
अहो; इस निंदनीय रूप को
क्यों इतना सम्मान
देता रहता है कवि।

भर्तृहरि की यह कविता पूरी रस और रसास्वाद की परंपरा के विरुद्ध खडी हो गयी है। स्त्रियों की भरपूर निंदा भर्तृहरि की कविता में हुई है; वह भी तो स्त्री को काव्य नाटक में केवल रति का आलंबन बनाने के विरुद्ध टिप्पणी ही है। निश्चय ही यह कविता कोई समग्र जीवनदृष्टि नहीं देती, बल्कि कोई दृष्टि ही उसमें नहीं है; वह प्रतिक्रिया-जन्य कविता है। वह यह नहीं बताती कि स्त्री के स्तन यदि मांस की गाँठे हैं; तो कनक कलश तो उनकी तुलना में तुच्छा, तितुच्छ जड़ वस्तु है। फिर भी यह कविता काव्यास्वाद और सौंदर्यबोध की सारी दृष्टि को उलट कर तो रख ही देती है।

"यत्नादपि कः पश्यति
शिखिगामाहारनिर्गमस्थानम्, ।
यदि जलदनिनदमुदिता –
स्त एव मूढा नृत्येयुः ॥

मयूरों का आहार जिस स्थान से बाहर आता है, उसे प्रयासपूर्वक भी भला कोई देख सकता था; यदि मेघगर्जन में मुदित अपनी पूँछ उठाकर ये मूर्ख नाच–नाच कर (उस स्थान को दिखाते न फिरते ।)

मयूर का नृत्य देखने में सुन्दर लगता है, पर उसका एक पक्ष यह भी है। भर्तृहरि की कविता समस्त सौंदर्य और काव्यार्थ की आस्वाद्यमानता का दूसरा चेहरा सामने रखती हुई, रस प्रस्थान के आगे चुनौती बन कर खडी हो जाती है । यह उस प्रस्थान के आचार्यों का काम था कि वे यह चुनौती स्वीकार करें और अपने प्रस्थान का पुनर्व्यवस्थापन करें । शांतरस के विचार में अभिनव गुप्त यही काम कर रहे हैं।

अभिनव से पहले आचार्य आनंदवर्धन कह चुके थे कि महाभारत में अंगी (प्रधान) रस शांत है । विकट युद्धों, जघन्य हत्याओं, असीम करुणा और दारुण हाहाकार का कोलाहल जिस कृति में लगातार गूंजता रहा हो, उसमें शांत रस को सर्वव्यापी सर्वातिशायी घोषित करना शांत रस के एक बडे फलक को सामने रखता है; जो सारे निकट द्वंद्व, संशय, कुंठा और त्रास को अपने भीतर समेट कर हुआ है ।

आधुनिक कविता भी परंपरागत रसविचार के सम्मुख कुछ इस तरह की चुनौती है । डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा रसानुभूति के स्थान पर "सत्यानुभूति" शब्द का प्रयोग इस दृष्टि से करना उचित समझते हैं । किन्तु रसानुभूति सत्य के अनुभव से अविभाज्य है; अतः सत्यानुभूति उसमें अंतर्भावित है । कविता का भावक या नाटक का सामाजिक अपने तटस्थ चैतन्य में कविता या नाटक में निरूपित सत्य को आत्मसात् करता ही है । कविता में सत्य की अभिव्यक्ति के स्थान पर मिथ्यालोक रचा गया है तो ऐसी कविता शुक्तिरजतन्याय से क्षणिक चमत्कार उत्पन्न करती है, उसमें रसानुभूति का आभास होता है । कविता अंतःकरण के धर्मभूत भावों के आस्वादमात्र में विश्रांत न होकर, उसके साथ सत्य का प्रत्यय देकर चित्त को संस्कारित भी करती है; तभी रसानुभूति की पूर्णता है । आधुनिक कवि रघुवीर सहाय की कविता "रामदास" का उदाहरण लें –

चौडी सड़क; गली पतली थी
दिन का समय, घनी बदली थी
रामदास उस दिन उदास था
अंतसमय आ गया पास था
उसे बता यहि दिया गया था
उसकी हत्या होगी।

यह कविता का पहला छंद है। उदाहरण के लिये इसे इसलिये रखा गया है कि रसविचार में हमारी परंपरा जो कारण सामग्री मानती आयी है, वह यहाँ आसानी से देखी जा सकती है। दिल्ली या किसी भी महानगर की चौडी सड़क और उस सड़क से लगी पहली गली – ये दोनों उद्दीपन विभाव हैं, जो रचना में व्यंजित विषाद को उद्दीप्त करते हैं। केवल राजमार्ग ही नहीं, राजमार्ग से लगी कई पतली गलियों का भी अस्तित्व है, जिनके भीतर कहाँ क्या हो रहा है– कहना इतना सरल नहीं है – इस व्यंजन के व्दारा औत्सुक्य भी यहाँ व्यक्त होता है। दिन का समय और उसमें घनी बदली की छाया होना यह फिर उद्दीपन विभाव ही है। रामदास जो इस देश का कोई नागरिक है, आलंबन है, उसका अंतकाल सन्निकट है और वह इस बात को जानता है। यह आलंबन, दैन्य; जड़ता, विषाद आदि कई संचार भावों को व्यक्त करता है। रामदास का चुपचाप सिर झुकाये आसान्न मृत्यु का साक्षात्कार करने के लिये किसी पतली सी गली में धीरे–धीरे बढ़ना – यह अनुभाव यहाँ अनुमित होता है। ये विभाव; अनुभाव और संचारी शोक स्थायी भाव को व्यक्त कर करुण रस का अनुभव कराते हैं।

ऊपरी तौर पर इस पूरी कविता का बंध एक खंडकाव्य के जैसा भी लगता है; और किसी न किसी रूप में एक निश्चित कथानक का आभास भी हमें यहाँ होता है नियत समय पर रामदास का हत्यारा उसका वध करने पहुँचता है, क्योंकि उसने तो पहले ही बता दिया था कि अमुक समय पर रामदास की हत्या की जायगी। लोग चुपचाप रामदास का वध होते देखते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि पूर्व घोषित कार्य–क्रमानुसार रामदास की जो हत्या होती है, वह तो होगी और रामदास का तदनुसार यथोचित रीति से वध हो जाता है, हत्यारा शांतभाव से चला जाता है।

कविता का अंत रामदास के वध में हुआ है, जो एक निर्दोष नागरिक है। अत: यहाँ काव्यशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार करुणरस अंगी है। पर क्या निर्दोष व्यक्ति की हत्या से उत्पन्न शोक का अनुभव या उसमें सीमित करुणरस का आस्वाद देने में ही इस कविता की प्रयोजनीयता है? कविता जिस निर्मम भंगिमा में लिखी गयी है उससे स्पष्ट है कि रामदास की दुखांतिका पर सहृदय जन अश्रुपात करके –

'यात्रा त्वेषा यद् विमुच्येह बाष्पं
प्राप्तानृण्या याति बुद्धिः प्रसादम् ।
(यही रिवाज है कि
दो आँसू टपकाए
और कर्ज चुकाकर अपना
बुद्धि हुई निर्मल)

के न्याय से उसके शोक का आस्वाद लें – यह कविता का अभीष्ट नहीं है। इसकी अपेक्षा कविता उस बढ़ती हुई अमानवीयता का बोध देती है; जिसमें एक आदमी पर दारुण अत्याचार अतिशय सामान्य घटना बनकर रह जाती है। वह ऐसी असाधारण स्थिति का उद्घाटन करते हुए, जिसमें एक भयावह और असाधारण घटना यों घटती है जैसे कुछ हुआ ही न हो – हमें क्षणभर स्तब्ध कर फिर सोचने को प्रेरित करती है।

यदि कविता का पाठक यहाँ व्यंजित हमारे देश-काल की एक सच्चाई पर ठहर कर विचार करता रह जाता है, तो प्रश्न यह उठता है, कि जिस उभय-देशकालत्याग को प्राचीनों ने साधारणीकरण की शर्त माना है वह कैसे पूरी होगी? दूसरा प्रश्न यह उठता है कि यदि रामदास की दुःखान्तिका से जनित करुणरस का आस्वाद यहाँ सर्वथा अभीष्ट नहीं है, तो 'जैसा रामदास के साथ हुआ, वैसा कभी भी किसी के साथ हो सकता है'–इस वस्तु की व्यंजना यहाँ मान कर इसे बजाय रस-ध्वनि के वस्तुध्वनि का उदाहरण मान लिया जाय। तब यहाँ रस का प्रामुख्य नहीं होगा, यह कविता ध्वनिभेदों में विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल) के अंतर्गत स्वतः सम्भवी में व्यंजक वस्तु से व्यङ्ग्य वस्तु का उदाहरण कहलायेगी। पर केवल उक्त वस्तु की व्यंजना में ही यहाँ काव्यार्थ विश्रांत हो जाता है–ऐसा नहीं लगता। तब वस्तु और रस का साङ्कर्य यहाँ माना जा सकता है।

कविता यहाँ किसी सहृदय या संवेदनशील व्यक्ति में जिस मनःस्थिति को जन्म देती है, वह भी साङ्कर्य की है। विचार और अनुभव का 'सम्प्लव' यहाँ बनता है और आस्वाद तथा ताटस्थ्य दोनों की प्रमाता के भीतर सहावस्थिति संभव हो जाती है।

इस सहावस्थिति में रामदास एक व्यक्तिविशेष नहीं है, उसके साथ घटा वह देशविशेष-कालविशेष में घटित नहीं हुआ है। अतः उभय देशकाल का परित्याग तो यहाँ हुआ है।

इसका निर्गलितार्थ यह हुआ कि इस कविता में रसास्वाद नहीं है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि केवल प्रमाता को सोचने के लिये सामग्री देना मात्र यहाँ काव्यार्थ होता, तो विभावादि सामग्री को कवि प्रस्तुत न करता, सीधे-सीधे इतना ही कह देता कि आज के युग में असामान्य स्थितियाँ सामान्य हो गयी हैं। कवि ने विभावादि सामग्री का उपयोग भी किया है, तज्जन्य स्थायीभाव का अनुभव भी दिया है, केवल इस अनुभव में तन्ममीभवन की स्थिति उसे और उसके पाठक को इष्ट नहीं है। यदि कवि का इष्ट युगसत्य का सम्यग्ज्ञान अनुभूत कराना है और भावक भी सम्यग्ज्ञान को ही यहाँ गृहीत करता है, तब यो यहाँ पर्यन्त में शांतरस मानना चाहिये, जिसका स्थायीभाव अभिनव गुप्त की दृष्टि से सम्यग्ज्ञान है।

भर्तृहरि के ऊपर उद्धृत दो पद्यों में क्रमशः कृपण व अकृतज्ञ स्वामी के प्रति असूया और स्त्रीशरीर के प्रति जुगुप्सा-दो संचारी भाव हैं, पर पर्यन्त में निर्वेद रहने से शांत रस ही रहेगा।

आधुनिक साहित्य में व्यंग्य के नाम से लिखी जाने वाली रचनाओं में इसी प्रकार असूया या जुगुप्सा संचारी के रूप में व्यक्त होते हैं। पर पर्यन्त में यदि कोई दृष्टि या सम्यग्ज्ञान का अनुभव मिलता है तो वहाँ शांत रस माना जाना चाहिये। यदि रचना तनाव से गुजर कर विचलन की स्थिति में छोड़ती है, तो ध्वनिवादियों की दृष्टि से वहाँ भाव या भावाभास ध्वनि होगी।

यह कविता आस्वाद में संविद्विश्रांति का निषेध करती है। आचार्यों की दृष्टि में वह संविद्विश्रांति आस्वाद प्रक्रिया में परमावस्था है। लोल्लट कहते हैं कि प्रेक्षक आस्वादप्रक्रिया में नट आदि में राम आदि की तद्रूपता का अनुसंधान करता है। शंकुक इसे अनुमिति कहते हैं और भट्टनायक भावकत्व। अभिनव कहते हैं कि इस भावकत्व में 'सम्बन्धविशेष स्वीकारपरिहारनियमानध्यवसाय' हो जाता है, जिससे प्रमाता का व्यक्तित्व अपरिमित हो जाता है। इसके पश्चात् ही रस की 'व्यक्ति' या भोगीकरण की स्थिति आती है। इसका स्वरूप विश्वनाथ के अनुसार 'सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय' किंवा पंडितराज के अनुसार 'रत्यादिविशिष्टभग्नावरण चैतन्य' या 'भग्नावरणचिद्विशिष्टरत्यादि' इसका स्वरूप है।

आधुनिक कविता हमें सत्त्वोद्रेकजन्य अखण्डप्रकाशानन्दमय संविद् में विश्रांति तक नहीं ले जाती। यह उसकी अक्षमता नहीं है। वह जानबूझ कर ही हमें वहाँ रोके रखना चाहती है, जिसे पुराने आचार्य 'सम्बन्धविशेषस्वीकार–परिहारनियमानध्यवसाय' की स्थिति कहते हैं और आधुनिक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'रसप्रतीति की मध्यमावस्था' कहते हैं। इस अवस्था में भी आनन्द या

से हमारी दृष्टि से रसप्रक्रिया की स्वारस्यभूत स्थिति को मध्यमावस्था कहा है। अन्यथा यह अपूर्ण और अविकसित स्थिति नहीं है।

विभावादिजन्य काव्यार्थ या रस को अभिनवादि समस्त आचार्यों ने साक्षात्कारकल्प कहा है। साक्षात्कार में द्रष्टा और दृश्य का विवेक रहता है। पुरुष प्रकृति को प्रेक्षकवत् देखता है, दोनों का पार्थक्य रहता है। पुरुष के समक्ष उसके अपने मन, बुद्धि और अहंकार नाटक रच देते है।

प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्

तथा –

प्रकृति पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवद्वस्थितः स्वच्छः

– सांख्यकारिका ४२.६५.

उसी प्रकार नाट्य आदि के प्रेक्षण में भी प्रेक्षक पुरुष के सम्मुख विभावादिव्यापार होते हैं। वे व्यापार रंगमंच पर होते हैं और उनसे प्रेक्षक के अंतःकरण में भावों को उद्बुद्ध करते हैं। प्रेक्षक पुरुष इस व्यापार का द्रष्टा रहता है और तत्संपर्क से आस्वाद का अनुभव करता है।

रस प्रक्रिया में यह आस्वाद अपने आप में साध्य नहीं है। यह साधन है और साध्य प्रेक्षक पुरुष को अपने सहज स्वरूप की उपलब्धि तथा तदीयचिच्छायापत्ति से अंतःकरणधर्मों का अधिकाधिक परिष्कार है, जिसकी सिद्धि रसप्रतीति का पूर्वप्रतिपादित स्वरूप मानने पर ही सम्यक् हो सकती है। पुरुष के सहज स्वरूप की उपलब्धि साक्षीभाव में है। मध्वाचार्य के द्वैतदर्शन में इसीलिये साक्षी को सप्तम इंद्रिय कह कर उसका चैतन्य, विषय तथा अंतःकरण के धर्मों से पृथक् अस्तित्व माना है। यह साक्षी द्रष्टा और दृश्य के बीच पार्थक्य स्थापित करता है। रस भावक के द्वारा काव्यविश्व के साक्षात्कार के समय साक्षी इंद्रिय के प्रमाण से साक्ष्य की स्थिति कही जा सकती है।

राधावल्लभ त्रिपाठी

संस्कृत विभाग
सागर विश्वविद्यालय
सागर – ४७३००१
(म. प्र.)

'भगवान्' तथा 'ईश्वर' पदों का विश्लेषण

ईश्वर के स्वरूप, अस्तित्व तथा गुणों की चर्चा दर्शन तथा उसकी शाखा–धर्मदर्शन की प्रमुख समस्या रही है। दर्शनिकों में इस प्रसंग में काफी मतभेद दृष्टिगोचर होते हैं। ईश्वरवादी दार्शनिक जहां श्रुतियों, धर्मशास्त्रों, सिद्ध पुरुषों की अनुभूति आदि श्रद्धामूलक तर्क तथा सृष्टि रचियता–पालक–संहार-कर्ता, न्यायकारी प्रशासक, निष्पक्ष स्रष्टा, सर्वज्ञ–सर्वशक्तिमान्–सर्वद्रष्टा; करुणावरुणालय आदि तर्कमूलक युक्तियां प्रतिपादित करते नहीं अघाते वहीं अनीश्वरवादी इन सभी तर्कों–युक्तियों की धज्जियां उड़ाने में कटिबद्ध हैं।

'भगवान्' तथा 'ईश्वर' पदों की समुचित व्युपत्ति, व्याख्या तथा विश्लेषण किये बिना इन पदों के स्वारस्य का अवगम करना दुष्कर है। अतः इन पदों की शास्त्रीय व्याख्या करना आवश्यक है। 'भगवान्' शब्द दो पदों 'भग' तथा 'वान्' द्वारा निष्पन्न होता है। इन पदों की विवेचना द्वारा 'ईश्वर' पद भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है।

ऐश्वर्यञ्च समग्रञ्च वीर्यञ्च यशसः श्रियः।
ज्ञान विरागतैश्वर्यं यन्नाम भग इति उत्तम ॥
उत्पत्ति प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥

– विष्णुपुराण ६।५।७४; ७८

अर्थात् 'जिसमें अणिमा आदि सम्पूर्ण ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य आदि छः गुणों का समाहार हो उसे भगवान् कहते हैं'। 'जो समस्त प्राणियों

के उत्पत्ति-प्रलय, आवागमन एवं विद्या-अविद्या को जानता है उसका नाम भगवान् है। 'ईशनशील: ईश्वर:' इस व्युत्पत्ति के आधार पर जो अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों का स्वामी हो उसे ईश्वर कहा जाता है।

'भग' शब्द के उत्तर में 'मतुप्' प्रत्यय लगाने पर 'भगवत्' शब्द निष्पन्न होता है। व्याकरण की दृष्टि से 'भगवत्' शब्द की प्रथमा विभक्ति के एक वचन में भगवान् होता है। आध्यात्मिक विवेचना के अंतर्गत 'भग' शब्द दो वर्णों 'भ' और 'ग' के मिलने से बनता है। 'भ' का अर्थ है ज्योति या ज्योतिर्मय, तथा 'ग' का तात्पर्य (उक्त) छः गुणों का समाहार।

'भासयते लोकान्' अर्थात् जो अपनी ज्योति से. प्राण-स्पन्दन से, अपनी गरिमा से एवं वैदूष्य की समुज्वल द्युति से समस्त लोकों को उद्भासित, प्रकाशित करते हैं, उन्हीं के लिए 'भ' का प्रयोग होता है। तंत्र में 'भ' वर्ण-विशेष गुणवाचक बीज मंत्र माना गया है। सभी प्राणी उसी शक्ति-पुंज, प्रकाश-निर्झर से प्रकाश पाते हैं। पृथ्वी अपना प्रकाश सूर्य से ग्रहण करती है, सूर्य नक्षत्र-मण्डल से उद्भासित होता है और नक्षत्र-मण्डल उनसे यानी परम पुरुष से द्युतिमान् होते हैं। श्रुति और स्मृति में इसीलिए उद्घोष किया गया है:

'ज्योतिषां ज्योतिः' मुण्डक. २।२।९);

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भाति कुतोऽयमाग्निः
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥"

— वही २।२।१० श्वेताश्वतर. ६।१०;
गीता १५।६

'यदादित्य गतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥'
'ज्योतिषामपि तज्जयोतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥'

— गीता १५।१२; १३।१७

अर्थात् 'वह ज्योतियों का ज्योति है'। 'वहां न सूर्य प्रकाशित होता है न चांद और तारे तथा न बिजलियां ही चमकती हैं तो अग्नि कहां से चमक सकती है? ये सब उसी परमात्मा की ज्योति से प्रकाशित होते हैं।' 'हे अर्जुन जो तेज सूर्य में स्थित होता हुआ सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा में स्थित है उसको तू मेरा ही जान। वह परमात्मा ज्योतियों का परम ज्योति एवं अविद्या से अत्यन्त परे है। वही बोध-स्वरूप, जानने योग्य तथा तत्त्वज्ञान से उपलब्ध होने वाला सब के हृदय में स्थित है।' इस प्रकार उसकी

ज्योति से ही सभी ज्योतिमान् ज्योतिर्मय हैं। मनुष्य में जो वैदुष्य है, पाण्डित्य है, ज्ञान का प्रखर प्रकाश है, कहां से आता है? सब उन्हीं से आता है। मानव मात्र सुन कर, समझ कर, पढ़ कर जो भी शास्त्रीय या वैज्ञानिक ज्ञान पुस्तकों से, शिक्षकों से, गुरुओं से सीखता है वह सभी ज्ञानोपलब्धि उसकी व्यक्तिगत निर्मिति नहीं है। चैतन्य ही नहीं समस्त जड़ जगत् भी उसी परम पुरुष परमात्मा से उत्सरित है। सभी उस विराट् पुरुष के स्पन्दन का ही अवरोह है। छोटी से छोटी तथा विराट् से विराट् वस्तु का अपना कुछ भी नहीं है, सभी उन्हीं से प्राप्त होता है। जड़ वस्तु उसी से विस्तार पाती है। समस्त जीव उन्हीं से आहार पा कर पोषित होते हैं। उनके द्वारा दी गयी वायु में श्वास-प्रश्वास लेते हैं। इसीलिए 'भ' शब्द के वे सार्थक 'प्रतिभू' हैं।

'ग' 'इत्यागच्छत्यजस्रं गच्छति यस्मिन् आगच्छति यस्मात्' अर्थात् 'गच्छति यस्मिन्' जीव अन्ततः जिसमें चला जाता है, विलीन हो जाता है तथा 'आगच्छति यस्मात्' समस्त चराचर विश्व, जीव आदि जिससे उद्भूत होते हैं वही 'भग' परमात्मा है।

'भग' पद की व्याख्या के उपरान्त अब 'वान्' अर्थात् छः गुणों से विशिष्ट विभूतिमय पुरुषोत्तम की विवेचना अधिक सुकर होगी।

'भगवान्' शब्द की व्याख्या में आये हुए प्रथम पद ऐश्वर्य की संक्षिप्त विवेचना इस प्रकार की जा सकती है। ईश्वर उसे ही कहा जा सकता है जिसमें अणिमा, लघिमा, गरिमा (महिमा), प्राप्ति, ईशित्व, वशित्व, प्राकाम्य एवं अन्तर्यामित्व ये आठ ऐश्वर्य पाये जाते हैं।

१) **अणिमा** – अणिमा का अर्थ है बहुत छोटा हो जाना। परम पुरुष परमेश्वर है अत्यन्त विराट्, विशाल किन्तु वह हर व्यक्ति के अन्तस्थल में, मन के हर कोण में, हृदय तथा हृदयवृत्ति की प्रत्येक संवेदना में उसी प्रकार अनुप्रविष्ट है जिस प्रकार लवण घुले लोटे के जल की हर छोटी सी बूंद में लवणीय आस्वाद का रसास्वादन होता है। इसी प्रकार ईश्वर कण कण में व्याप्त है। मन में सोची गई प्रत्येक बात की जानकारी उसको रहती है। इसीलिए उसको सर्वज्ञाता या सर्वज्ञ कहा जाता है। भक्त सर्वदा उसी का विचार अपने मन में संजोये रहते हैं, उसी की भावना में लीन रहने का अधिक से अधिक प्रयास करते हैं। उक्ति भी प्रसिद्ध है:

'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' अर्थात् जैसी जिसकी भावना होती है उसी प्रकार की उसे सिद्धि मिलती है। जो-जो व्यक्ति चोरी अथवा किसी कुत्सित विचार को अपनी भावना में, विचारों में अधिककाल तक धारण करते रहते हैं वे आगे जा कर उसी प्रकार की प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होते दिखाई

पड़ते हैं। उदार-चेता सन्त पुरुष पर-कल्याण की दृष्टि से हृदय की रंध्र-रंध्र में उदात्त विचारों, भावनाओं को संजोने का आग्रह करते हैं।

लघिमा -- लघिमा का अर्थ है हलका होना। हल्का होने पर ही ऊर्ध्वगमन संभव है। जीव अपने बंधन और मलों का क्षरण करने के उपरान्त ऊर्ध्व-गमन का पात्र बन ईश्वर साक्षात्कार करता है। अतः ईश्वर को लघिमा की पराकाष्ठा कहा गया है।

३) महिमा (गरिमा) -- महिमा का अर्थ है बृहत् होना, बड़ा होना या गुरु (भारी) होना। परमेश्वर को परम-व्यापक माना गया है। उपनिषदों में उसे 'भूमा' कहा गया है। उत्तर-दक्षिण, पूर्व पश्चिम; ऊर्ध्व-अधर, ईशान-वायव्य; अग्नि-नैऋत्य आदि दशों दिशाओं में वही व्याप्त है। फिर भी उसका अस्तित्व बचा रहता है।

४) प्राप्ति – उसे समस्त वस्तुएं इच्छा करते ही प्राप्त हो जाती हैं। इसीलिये शास्त्रों में उसकी इच्छा, संकल्प और कृति को नित्य कहा जाता है। किन्तु हमारी इच्छाओं की भांति उसमें किसी प्रकार की कोई कमी या न्यूनता प्रतिलक्षित नहीं होती। वह पूर्ण काम है। मानव जो चाहता है वह उसे नहीं मिलता, किन्तु उसे वही प्राप्त होता है जो ईश्वर प्रदान करता है। जिस वस्तु को वे मनुष्य के लिए प्रयोजनशील समझते हैं वही उसको नियोजित करते हैं।

५) ईशित्व – ईशित्व का अर्थ है शासन करना। परमेश्वर कठोर शासन–कर्ता कहा जाता है। भले व्यक्तियों को वे उनके कल्याणकारी कार्यों के लिए पुरस्कृत करते हैं तथा दुष्ट–दुराचारियों को सन्मार्ग पर लाने के लिए कठोर दण्ड व भीषण यातना भी देते हैं। इसीलिए उन्हें सच्चा न्यायकारी कहा जाता है। उनका न्याय सर्वदा सही और निष्पक्ष होता है।

६) वशित्व – सबको वश में रखने की क्षमता का नाम वशित्व है। वह संयम की प्रतिमूर्ति है : अश्व पर यदि लगाम व्दारा नियन्त्रण नहीं किया जाता तो वह इधर–उधर भटक कर भीति और विपदा ढो सकता है। इसी प्रकार मानव मन भी चंचल है। इसे नियन्त्रण में लाने के लिए ध्यान और एकाग्रता की लगाम लगाना आवश्यक है। परमेश्वर संयम शक्ति व्दारा सभी को उद्धत और उद्दण्ड होने से अवरुद्ध करते हैं।

७) प्राकाम्य – जैसा चाहा उसी रूप में रूपांतरित करना प्राकाम्य है। वह जैसा चाहता है वैसी ही सृष्टि बनती जाती है। बाइबल का सृष्टि–विवेचन इसी ईश्वर – शक्ति का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है। वह राजा है। वह राजा से रंक और रंक से राजा बना सकता है। तिल को ताड़ रूप में परिणत करने की क्षमता उसी में है। संकल्प–सिद्ध ईश्वर ही में प्राकाम्य शक्ति रहती है।

८) अन्तर्यामित्व–घट–घट में वास करने के कारण ही उसे अन्तर्यामी कहा जाता है। यह बात अणिमा गुण द्वारा सिद्ध नहीं होती। उसमें तो उसका सूक्ष्म–भूत होना ही परिलक्षित होता है। वह मन में घटित होनेवाली प्रक्रियाओं का ही ज्ञाता नहीं है, वरन् शरीर के अंग–प्रत्यंग में प्रविष्ट हो कर सब कुछ पहचान लेता है। किसको क्या कष्ट हैं, किसको कहां पीड़ा–कसक हो रही है, अन्तःस्थल में कौन सा वेदनाशूल व्यथा वेध रहा है, क्लेश कहां घनीभूत हो कर पुंजीभूत हो रहें. इन सबका ज्ञान उसे हस्तामलकवत् होता है। तभी तो वह उनकी पीड़ा का निवारण करने के लिए भांति–भांति के कल्याणकारी आयोजनों का उपक्रम करता है। सर्वतोमुखी भाव से परहित में रत हो जाना उसका स्वभाव है। तभी तो वह अन्तःद्रष्टा, अन्तर्यामी कहा जाता है।

वीर्य – वीर्य का अर्थ है अपरिमित शक्ति, प्रताप या पराक्रम–क्षमता। जो शासन करना जानता हो तथा आदेश दे कर अपना योजमानुसार कार्य कराना जानता हो। सात्त्विक क्रोध का प्रदर्शन करने में कुशल कलाकार हो। जैन दर्शन जो ईश्वर की सृष्टि–रचना–पालन–संहार शक्ति से सहमत नहीं है वह भी सिद्ध पुरुष और तीर्थंकर में अनन्त वीर्य अवश्य मानता है।

यशसः –किसी के सद्‌व्यवहार की प्रशंसा करने में जो शब्दावली प्रयुक्त की जाती है उसे यश कहा जाता है। स्वयं परमेश्वर मानव रूप में या अन्य स्वरूप में अवतरित होकर दूसरों की भलाई में जो कार्य करते हैं उनसे उपकृत होनेवाले भक्तगण उनका यशोगान करते हैं। भगवान् कृष्ण को सोलह विद्या और चौसठ कला पूर्ण परम पुरुषोत्तम–अवतार कहा गया है, जिन्होंने अपनी बाल क्रीडाओं से ले कर बड़ा होने तक अपना समस्त जीवन कल्याणकारी कार्यों में ही लगाया है। यशोगाथा में भक्तिरस में परिप्लावित मीरा, सूर और रसखान की काव्यांजली इसके ज्वलन्त प्रतीक के रूप में आज भी विद्यमान है।

इतना होने पर भी अनेक लोग आज भी विद्यमान ऐसे हैं, श्रीकृष्णकाल में भी थे और संभवतः आनेवाले दिनों भी रहेंगे जो उनकी यशोगाथा गाने की अपेक्षा उन्हें अपने निन्दा–शरों से विह्वल बनाते हैं। यश–अपयश दोनों साथ ही चलते हैं। अतः ईश्वर के निर्मल चरित्र–गान गाने वालों के साथ ही साथ उनके बारे में घृणा उगलने वालों की कमी नहीं रहती।

श्री – 'श्र' शब्द 'श' और 'र' वर्णों से मिल कर बना है। तंत्र में दोनों रजोगुण और अग्नि के बीज मंत्र के रूप में जाने जाते हैं। रजोगुण चंचलता, क्रियाशीलता का तथा अग्नि प्रकाश तथा ऊष्मा शक्ति का परिचायक है। रजोगुणी वृत्ति ले कर जब क्रियाशीलता की भावना से मानव कर्म–यज्ञ की वेदी में आहुति देता है तब उसे सहायता पहुंचाती है 'र' बीजात्मक अग्नि शक्ति। आशय यह कि जब मनुष्य शक्ति और पौरुष से कर्मयज्ञ में महान् कार्य

सम्पादन हेतु कूद पड़ता है तब उसमें मणि–काञ्चन योग का समन्वय हो जाता है और हर क्षेत्र में सफलता उसका पादचुम्बन करती है। बीज–मन्त्रों 'स' और 'र' का संयोग हो जाने पर अदम्य साहस, अकूत शक्ति का संसरण होने लगता है। 'श्र' शब्द स्त्रीलिंगवाची है। 'श्र' शब्द में 'स्त्रियाम् ङीप्' प्रत्यय से 'श्री' शब्द निष्पन्न होता है अर्थात्, जिसमें आकर्षणी शक्ति है। रजोगुणी दीप्त आत्मा के साथ आत्मिक अग्नि तत्त्व 'र' का सम्मिलन होने पर आकर्षण और शक्ति के स्त्रोत ठाहें मारने लगते हैं। परमेश्वर को इसी कारण 'श्री–युक्त', 'श्री–वान्' या 'श्री–सम्पन्न' अथवा 'श्री–स्वामी' कहा जाता है।

ज्ञान – हमने 'भग' शब्द की व्याख्या के प्रसंग में ज्ञान और वैदूष्य की चर्चा भी ऊपर की है। ज्ञान दो प्रकार का है जिसे प्राचीन वाङ्मय में पराविद्या और अपराविद्या में विभाजित किया गया है। 'भारतवर्ष के उत्तर में हिमालय पर्वत है', 'आक्सीजन और हाइड्रोजन को निश्चित मात्रा में मिलाने पर पानी बनता है', 'स्वर्ग लोक में अप्सराएं नृत्य व्दारा आमोद–प्रमोद करती हैं', आदि वाक्यों से जागतिक तथा परलोक पदार्थों का ज्ञान होता है वह शास्त्रीय या वैज्ञानिक ज्ञान है जो अपराविद्या है। छान्दोग्य–उपनिषद् के सप्तम प्रपाठक में महर्षि सनत् कुमार देवर्षि नारद को चौसठ प्रकार की ज्ञान–विज्ञान सम्बन्धी विद्या और कलाओं में पारंगत हो जाने के उपरान्त भी 'आत्मवित्' न होने तथा केवल 'मंत्रवित्' होने के कारण पराविद्या अर्थात् आत्मसाक्षात्कार का दिव्य उपदेश देते हैं। कठ–उपनिषद् में भी बालक नचिकेता इसी आत्मविद्या का अवगम करने का आग्रह यमराज से करता है। यह पराज्ञान जिस क्षण जीव को हो जाता है उसी क्षण उसका जीवभाव भूमा हो कर ब्रह्म हो जाता है। उसको जान लेने पर सभी ज्ञान या अपराविद्या हस्तामलकवत् जान ली जाती है। कहा भी गया है।

आत्मज्ञानं विदुर्ज्ञानं ज्ञानान्यन्यानि यानि तु।
तानि ज्ञानावभासानि सारस्यनैव बोधनात् ॥
आत्मज्ञानमिदं देवीपरंमोक्षैक साधनम्।
सुकृतेर्मानवी भूत्वा ज्ञानी चेन्मोक्षमाप्नुयात् ॥

शिवपुराण अध्याय ८

अर्थात्, आत्मज्ञान ही वास्तव में पराविद्या या सच्चाज्ञान है। अन्य सभी ज्ञान उसी के अवभास हैं। इसीलिए अपराविद्याओं द्वारा उस अक्षर–तत्त्व आत्मा या परमब्रह्म का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है। भगवती, पार्वती, शिव से पूछती हैं : मानव आत्मसाक्षात्कार या मोक्षावस्था को प्राप्त करने के लिए कब योग्यता अर्जित करता है? भगवान् शिव कहते हैं : आत्मा का ज्ञान ज्यों ही हो

जाता है त्योंहि मनुष्य को मोक्ष मिल जाता है। अनेक जन्म-जन्मान्तरों की अनवरत साधना, कठोर तपस्या, योग, उपासना आदि के मध्य असंख्य घात प्रतिघात सहता हुआ जीव जब मानव देह धारण करता है तभी आत्म–ज्ञान अर्जन में समर्थ होता है। गुरु को सावधान करते हुए मुण्डक उपनिषद् उद्घोष करता है –

येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् (१-२-१३)

अर्थात्, जिस विद्या के द्वारा उस अक्षर, सत्य परम पुरुष परमात्मा को जाना जाता है उस ब्रह्मविद्या का गुरु ठीक-ठीक उपदेश करें।

श्रीमद्भागवत में यही बात और भी स्पष्ट रूप से अंकित की गई है :

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्वं यज्ज्ञानं अव्दयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते ।। १।२।१।।

अर्थात्, उस अद्वितीय चैतन्य-तत्त्व को तत्त्वज्ञानी गण तत्त्व-ज्ञान अव्दय कहते हैं। वही ब्रह्म है। वही परमात्मा और वही भगवान् है।

वैराग्य – ' वि ' उपसर्गपूर्वक ' रञ्ज् ' धातु में ' घञ ' प्रत्यय करने पर वैराग्य शब्द निष्पन्न होता है। तात्पर्य यह, वासना-सुख की सौरभ, कामना क्रीडा को केशर, भोग सुविधा की रंग-विरंगी फुहारों से असम्पृक्त रहना ही वैराग्य है। इसमें अतीत में भोगी हुई सुखद स्मृतियों तथा भविष्य में भोगने की चाहत के स्वप्न और वर्तमान की लिप्सायें नहीं रहतीं। भगवान् बुद्ध के ये वचन सर्वदा स्मरणीय रहेंगे –

यस स पुरे च पच्छेच मज्जे च नेत्थि किंचनः।
अकिंचनं अनादानम् तमहं ब्रूमि ब्राह्मणः।।

अर्थात्, ' जो सामने किसी रंग की कल्पना में विभोर होकर नहीं रहता, वर्तमान में किसी रंग–विशेष के आकर्षण में प्रेरित-प्रेषित नहीं होता उन्हें मैं ब्राह्मण कहता हूँ। वस्तु सुख-सुविधाओं के अंबार लगाने वाले रंगों से जो किंचित् भी प्रभावित नहीं होते वैराग्य उन्हीं में है। सच्चा वैराग्य जिस क्षण उदित हो जाता है उस क्षण ही मानव संन्यास-धारण कर मोह-माया-समता से मुक्त हो जाता है। इसके लिए वन-अरण्य-कांतार का एकांत या हिमालय की ठण्डी गुफाओं में जाकर भस्म रमाने की आवश्यकता नहीं है। यहां रह कर भी रंग-सिक्त होने से परहेज किया जा सकता है। भगवान् शिव अपना सर्वस्व दान कर औढरदानी बन वैराग्य की साक्षात् मिसाल हैं। यही कारण है कि महर्षि पतंजलि ने अपने योग- सूत्र में उत्कृष्ट योगियों के लिए अभ्यास और वैराग्य इन दोनों साधनों को ही पर्याप्त बताया है। परमेश्वर स्वयं के पास कुछ भी न रख कर दोनों

हाथों से प्राणियों के सुख और कल्याण हेतु वस्तु-राशि मुक्त लुटा रहे हैं। भक्त कवि के रससिक्त विश्वासपूर्ण उद्गार सहज ही निष्ठा और आस्था जगाते हैं–

संत न मण्डली मांगते, सिंह न फिरे जमात।
हरी दोनों हाथ लुटा रहे, जगत् पसारे हाथ ॥

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जिसमें समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य सभी का सम्मिलन हो उसे भगवान् कहा जा सकता है। यहां यह आशंका की जा सकती है कि बड़े धनसम्पन्न व्यक्ति में ये सभी पाये जा सकते हैं जैसा कि आधुनिक युग में आचार्य रजनीश आदि ने अपने आपको भगवान् घोषित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। इन्हीं के साथ ही लगभग ८०-८५ व्यक्तियों ने अपने आपको इस भारतभूमि में भगवान् घोषित कर जनता को गुमराह करने और अपना स्वार्थ सिद्ध करने का उपक्रम किया है। पर ये तथाकथित भगवान् ईश्वर नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें अणिमा आदि अष्ट ऐश्वर्य अनन्त हैं; वे अनन्त शक्ति-सामर्थ्य से विभूषित हैं; भक्तगण उनके यशः गीत गाते हुए उनके अनन्त गुणों का अर्चन-भजन-कीर्तन करते हैं तथा नास्तिक लोग जिनके दोषों को भी अनन्त ही बताते हैं। धनात्मक और ऋणात्मक दोनों प्रकार की भक्ति प्रस्तुत करते हैं। मानव तथा सम्पूर्ण प्राणी जगत् या जड़ वस्तुओं का पूर्णरूपेण संचालन कर्ता और स्वामी निर्बल मानव कदापि नहीं हो सकता। अचेतन-जड़-सम्पदा स्वयं अपनी स्वामिनी नहीं हो सकती; यह तो परार्थ-हेतु ही निर्मित होती है। इसी प्रकार अज्ञान तिमिर से आच्छन्न व्यक्ति सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञानों, परा-अपरा विद्या का निष्णात् ज्ञाता कदापि नहीं हो सकता। पल-पल पर उसको अज्ञान छलता रहता है। इसी प्रकार भय-प्रलोभन लोभ और लालच से मानव सर्वदा मुक्त नहीं होता। उसकी लालसाएं दिन दूनी रात-चौगनी सुरसासी मुंह फाड़ती रहती हैं। पूर्णवीतराग-वीतकाम मानव जगत् के तथाकथित भगवान् नहीं बन सकते। अतः अनन्त ऐश्वर्य, वीर्य, यश,ज्ञान और वैराग्य का समाहार जिसमें होता है वही दिव्य, असीम, अलौकिक शक्तिसम्पन्न भगवान् ही ईश्वर कहला सकता है, अन्य कोई सीमित व्यक्ति नहीं।

ब्रजनारायण शर्मा

दर्शन विभाग
सागर विश्वविद्यालय
सागर–४७०००३
(म. प्र.)

जैन दर्शन में जीव द्रव्य की विशिष्टता

जीव द्रव्य प्रारंभ से ही दार्शनिकों के लिए एक महत्त्वपूर्ण चिंतनीय विषय रहा है। उनका उत्थान और विकास एक 'आत्म तत्त्व' या 'जीव तत्त्व' केन्द्र में ही रखकर हुआ है। इस विषय में उन्होंने परस्पर विरोधी मतों की प्रतिस्थापना भी की है। उदाहरणस्वरूप कुछ दार्शनिकों ने आत्मा को नित्य माना तो कुछ ने अनित्य, किसी ने इसे एक माना तो किसी ने अनेक। किसी ने देह को ही आत्मा मान लिया, किसी ने प्राण को, तो किसी ने इन्द्रिय को ही आत्मा मान लिया। उन सबका यह विचार एकांगी था जिस कारण इनमें इतना अधिक विरोधाभास था। परंतु जैन दार्शनिकों ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अपनाया और इस विरोधाभास को दूर करने का प्रयास किया। यही इसकी विशिष्टता है। उदाहरणस्वरूप उन्होंने आत्मा को नित्यानित्य, अनेकानेक आदि माना। इन दार्शनिक विश्लेषणों के अतिरिक्त भी उन्होंने जीव-तत्त्व की व्याख्या प्राण, पर्याप्ति, जन्म, शरीर, इन्द्रिय आदि के आधार पर भी की है।

जैन दर्शन में आत्मा या जीव का विवेचन तत्त्व-विचार के रूप में आरंभ होता है। जैन दर्शन में सात तत्त्व माने गए हैं, जिनमें प्रथम जीव है। शेष छह अजीव या जड़ हैं। इसे प्रथम इसलिए माना गया है क्योंकि यही एक ऐसा द्रव्य है जो सभी कर्मों का कर्ता और भोक्ता है।[1] जैन दर्शन में वर्णित सात तत्त्व हैं[2] — १. जीव, २. अजीव, ३. आस्रव, ४. बन्ध, ५. संवर, ६. निर्जरा और ७. मोक्ष।। संक्षेप में तत्त्व (द्रव्य) दो प्रकार के हैं — जीव और अजीव[3], क्योंकि सात तत्त्वों में जीव और अजीव ये दो ही प्रधान तत्त्व हैं। शेष तत्त्व जीव और

अजीव के ही पर्याय हैं।[४] जीव और अजीव को संबद्ध करने वाले आस्रव और बंध हैं तथा उन्हें पृथक् करने वाले संवर और निर्जरा हैं। मोक्ष जीव की शुद्धतम एवं स्वतंत्र अवस्था है। इस प्रकार जीव-तत्त्व या जीवद्रव्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि जीव पुद्गल से भिन्न है। यही तत्त्व है, इसके अतिरिक्त जो कुछ भी कहा जाता है वह सब इसीका विस्तार है।[५]

जैन दार्शनिकों ने जीव का लक्षण उपयोग या चेतना माना है। ' अर्थ-वैशिष्टय की दृष्टि से दोनों का अर्थ एक ही है। चैतन्य अर्थात् जिसमें देखने व जानने की शक्ति हो। अर्थात्, यह उपयोग जीव का आत्मभूत लक्षण है जो अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाया जाता है। यद्यपि यह जीव अनंत गुण-पर्यायों का पिण्ड रूप है फिर भी इन गुणों में उपयोग ही प्रथम है। वस्तु का स्वरूप जानने के लिए जीव का जो भाव प्रवृत्त होता है वही भाव उपयोग कहलाता है। उपयोग का अर्थ चेतना-शक्ति है। यह उपयोग मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है[७] - १. दर्शनोपयोग एवं २. ज्ञानोपयोग। दर्शन शब्द का अर्थ है किसी वस्तु का अवलोकन करना एवं ज्ञान शब्द का तात्पर्य है किसी वस्तु की विशेष जानकारी प्राप्त करना। दर्शनोपयोग से 'स्व' का निराकरण एवं संवेदन होता है जबकि ज्ञानोपयोग से 'स्व' और 'पर' दोनों का साकार बोध होता है। जिसमें ज्ञान दर्शन रूप चेतना का अभाव है वह अजीव है तथा जिसमें इसका सद्भाव है वह चेतन अर्थात् जीव है।

प्राणी तथा प्राणवान् को जीव कहा जाता है। जिसके पास प्राण हो, वह प्राणी है। प्राण के दो भेद हैं - द्रव्य-प्राण और भाव-प्राण। निश्चय नय से एकमात्र चेतना ही प्राण है परंतु व्यवहार नय से जीव के कम से कम चार प्राण होते हैं - इंद्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। इन्द्रिय के पाँच भेद हैं (घ्राण, चक्षु, श्रोत्रादि) तथा बल तीन हैं - कायबल, वचनबल और मनोबल। अगर इन्हें संयुक्त रूप में साथ मिलाया जाए तो सब मिल कर दस प्राण होते हैं। ये दसों द्रव्य प्राण हैं। चेतना भाव-प्राण है। संसारी प्राणी इन द्रव्य और भाव दोनों प्राणों से युक्त होते हैं। परंतु मुक्त या सिद्ध जीव में मात्र भाव-प्राण ही होता है। संसारी जीवों में कम-से-कम चार प्राण और अधिक से अधिक दस प्राण हो सकते हैं।[८] निश्चय नय एवं व्यावहारिक नय जैन परंपरा की अपनी विशेषता है। निश्चय नय द्वारा किसी भी वस्तु के तात्त्विक स्वरूप का अध्ययन किया जाता है, जब कि व्यवहार नय द्वारा वस्तु के विभिन्न पर्यायों का ज्ञान होता है। उदाहरण स्वरूप, सोने की विभिन्न वस्तुओं यथा अंगूठी, हार आदि को व्यवहार नय के द्वारा जाना जाता है। सभी प्रकार के सोने के आभूषणों को मात्र स्वर्ण

ही मानना निश्चय नय है। निश्चय नय द्वारा अनेकता को एकता में बदला जाता है, जबकि व्यवहार नय के द्वार एक वस्तु को विभिन्न रूपों बदल कर देखा जाता है।

जीवों में एक विशेष प्रकार की शक्ति होती है जिसे पर्याप्ति कहा जाता है। इसी शक्ति के फलस्वरूप जीव आहार आदि योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और उनके परिणमन के रूप उसके शरीर, इन्द्रियादि का निर्माण होता है। जैन ग्रंथों में कुल छह प्रकार की पर्याप्तियों का उल्लेख किया गया है – १. आहार २. शरीर, ३. इन्द्रिय, ४. श्वासोच्छ्वास, ५. भाषा और ६. मन। पर्याप्ति कें आधार पर जीव के दो भेद किए हैं, पर्याप्त एवं अपर्याप्त। जिन जीवों की पर्याप्तियाँ पूर्ण हो चुकी हैं उन्हें पर्याप्त और जिनकी अभी पूर्ण नहीं हुई है उन्हें अपर्याप्त जीव कहा जाता है। इसके साथ-साथ जीवों को लब्धि-पर्याप्त और करण-पर्याप्त भी कहा गया है। जो जीव जिस कर्म के उदय से प्रारब्ध स्वयोग्य पर्याप्ति अभी पूर्ण नहीं कर पाया है, लेकिन भविष्य में करेगा उसे लब्धि-पर्याप्त जीव कहते हैं। जिसने स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण कर ली है, वह जीव करण पर्याप्त है और उसकी पर्याप्ति करण-पर्याप्ति कहलाती है।[९] स्थावर, एकेन्द्रिय जीव को मात्र चार पर्याप्तियां होती हैं। उनमें भाषा और मन-पर्याप्ति का अभाव होता है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव को छह पर्याप्तियां होती हैं तथा असंज्ञि पंचेन्द्रिय को मात्र पाँच पर्याप्तियां ही होती हैं। क्यों कि असंज्ञि पंचेन्द्रिय में मन-पर्याप्ति का अभाव होता है।

जैन परंपरा में जन्म के आधार पर भी जीवों का वर्गीकरण किया गया है। जन्म लेना जीव का आवश्यक गुण है। जन्म लेने के पश्चात् ही जीव जीवन का प्रारंभ करता है। अतः जन्म को जीवन का प्रारंभ भी कहा गया है। जैनों के अनुसार जीवों का जन्म तीन प्रकार से होता। है[१०] – १. संमूर्च्छन २. गर्भज और ३. औपपातिक।

१. संमूर्च्छन – माता और पिता के रज तथा वीर्य के बिना ही योग्य पुद्गल परमाणुओं से जिन जीवों का शरीर निर्मित होता है या उत्पन्न होता है उन्हें संमूर्च्छन जीव कहा जाता है।[११] कीट-पतंगों को संमूर्च्छन जीव कहा जाता है। क्योंकि ये माता-पिता के रजवीर्य के बिना ही उत्पन्न होते हैं।

२. गर्भज – पुरुष-नारी के संयोग के फलस्वरूप उनके रजोवीर्य कणों के मिलने से जिन जीवों का जन्म होता है उन्हें गर्भज कहा जाता है।[१२] मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का जन्म इसी प्रकार से होता है। अतः ये सभी गर्भज जीव कहलाते हैं।

३. औपपातिक – संयोग एवं सहवास के बिना ही देव शय्या और नारक कुम्भी में शरीर की रचना हो जाने पर जो जन्म होता है वह औपपातिक जन्म कहलाता है। देव तथा नारकों का जन्म इसी प्रकार है।[१३]

गर्भ जन्म तीन प्रकार का होता है– (क) जरायुज, (ख) अंडज और (ग) पोतज। जन्म के समय प्राणी के शरीर से जाल, रुधिर और मांस की जो खोल चिपकी रहती है उसे जरायु अथवा जेर कहते हैं। इससे जो उत्पन्न होता है उसे जरायुज कहा जाता है। जैसे मनुष्य, गाय भैंस इत्यादि।[१४] जो अण्ड से उत्पन्न होता है उसे अंडज जीव कहते हैं। जैसे पक्षी, कोक, कोयल आदि। उत्पन्न होते समय जिस जीव पर किसी प्रकार का आवरण नहीं होता और जो योनि मार्ग से बाहर निकलते ही चलने फिरने लगता है, उसे पोतज कहा जाता है। सिंह, बाघ, मृग आदि प्राणी पोतज कहलाते हैं।[१५] देवों और नारकों का जन्म उपपात होता है। गर्भ और औपपातिक जन्म वालों से भिन्न जीवों का जन्म संमूर्च्छन होता है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का जन्म नियम से संमूर्च्छन होता है। शेष तिर्यंयों का गर्भ और संमूर्च्छन दोनों प्रकार से जन्म होता है। लब्धि अपर्याप्त मनुष्यों का भी जन्म संमूर्च्छन ही होता है।[१६] जैन परंपरा में चार प्रकार के जीवों का उल्लेख मिलता है[१७]– नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। नरक में निवास करने वाले जीवों को नारक कहा जाता है। राक्षस, दानव आदि नारकी जीव हैं। ऐकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञि पंचेन्द्रिय तक के जीव तिर्यंच हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय को मनुष्य कहा जाता है तथा तारे, ज्योतिष, नक्षत्र आदि को देव कहा जाता है।

संसार में जीव बिना शरीर के नहीं रह सकता है। सभी जीवों के लिए शरीर आधार का काम करता है। इसीके आश्रय से जीव अपने सम्पूर्ण कार्यों का सम्पादन करता है। व्रत तपादि जितने भी सद्गुण हैं उन सबका परिपालन शरीर के निमित्त से ही होता है। शरीर के आधार पर भी जीवों का वर्गीकरण किया गया है। जैन दर्शन में शरीर के पाँच भेद बताए गए हैं–[१८] औदारिक, २. वैक्रियक, ३ आहारक, ४. तैजस और ५. कार्मण।

१. औदारिक – स्थूल शरीर, जिसका छेदन-भेदन किया जा सके; जो दूसरे को रोके अथवा दूसरे द्वारा रोका जा सके उसे औदारिक शरीर कहते हैं। औदारिक 'उदार' शब्द से बना है और उदार का अर्थ होता है स्थूल द्रव्य और उस स्थूल द्रव्य से जो शरीर निर्मित होता है उसे औदारिक शरीर कहते हैं।[१९] औदारिक शरीरी जीव आहारवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है और उन्हें

रस, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा आदि स्थूल द्रव्यों में परिणत कर देता है।[२०] इसी कारण इन्हें स्थूल शरीर वाला जीव भी कहा जाता है। यह शरीर मनुष्यों और तिर्यंचों को होता है।

२. वैक्रियक– वैक्रियक शरीर वह है जो एक–अनेक, सूक्ष्म–स्थूल; हल्का–भारी आदि अनेक प्रकार का किया जा सकता है। वैक्रियक शरीरवाला जीव वैक्रियक शरीरी कहलाता है। जैनदर्शन में वैक्रिय का अर्थ है विभिन्न प्रकार की क्रिया करना। आचार्य पूज्यपाद अपनी प्रसिद्ध कृति सर्वार्थसिद्धि में लिखते हैं कि अणिमा–लघिमा–महिमा आदि आठ गुणों के कारण एक–अनेक–छोटा–बड़ा आदि नाना प्रकार का शरीर बनाना विक्रिया है। जिस शरीर के प्रयोजन से यह क्रिया की जाती है वह वैक्रियक शरीरी है।[२१]

३. आहारक– आहारक शरीर, आहारक लब्धिधर एवं चौदह पूर्वधर मुनि को होता है। सूक्ष्म तत्त्व का निर्णय करने, जिन भगवान् की वंदना, प्रसिद्ध और किसी अन्य लोक में स्थित जिनालय के दर्शन आदि हेतु पूर्वधर मुनि अपनी सिद्धि के बल पर इस शरीर का निर्माण करते हैं।[२२] इस प्रक्रिया में मुनि के शरीर से एक छोटा सा पुतला बाहर निकलता है जो उनकी शंकाओं के निवारण हेतु तीर्थंकरों, सिद्धों के पास जाता है और शंका का समाधान लेकर पुनः मुनि के शरीर में समा जाता है।

४. तैजस्– तैजस् शरीर वह है जिसमें तैजस् परमाणु हों। यह औदारिक आदि शरीर में तेज अर्थात् कांति उत्पन्न करने वाला है। आचार्य हरिभद्र सूरि का कहना है कि समस्त प्राणियों के आहार का पाचक जो उष्णतारूप तेज है, उसके विकार को तैजस् शरीर कहते हैं।[२३] तेज से तात्पर्य अग्नि से है और इसीलिए तैजस् शरीर को कांतिमान् माना गया है। यह अनादि काल से जीवों के साथ संयुक्त है।

५. कार्मण– यह शरीर आठ प्रकार के कर्मों का समूहरूप है। इसमें आठों प्रकार के कर्मों के परमाणुओं का संचय होता है। यह शरीर भी जीवों के साथ अनादि काल से संयुक्त है। कार्मण शरीर के बारे में ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह जीव के साथ संसार पर्यंत विद्यमान रहता है।[२४]

पाँच प्रकार के शरीर की इस चर्चा के बाद एक स्वाभाविक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि जीव के साथ संयुक्त रूप में एक समय कितने शरीर रहते हैं? जैसा कि पहले ही यह स्पष्ट किया जा चुका है कि तैजस् और कार्मण शरीर

जीव के साथ अनादि काल से साथ-साथ रहते आए हैं। ये कभी भी अलग नहीं होते हैं। अतः यह तो स्पष्ट है कि कम से कम दो शरीर एक साथ अवश्य रहते हैं। लेकिन अधिक से अधिक कितने शरीर एक साथ रह सकते हैं यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जैनाचार्यों ने इस पर अपने मत व्यक्त किये हैं और उनके अनुसार एक साथ एक संसारी जीव को कम से कम दो और अधिक से अधिक चार शरीर तक हो सकते हैं।[२५] जब दो होते हैं तब तैजस् और कार्मण क्योंकि ये दोनों यावत् संसार-भावी हैं। ऐसी स्थिति अंतराल गति में ही पाई जाती है क्योंकि उस समय अन्य कोई शरीर नहीं होता। जब तीन होते हैं तब तैजस, कार्मण और औदारिक या तैजस्, कार्मण और वैक्रियक। प्रथम शरीर मनुष्य व तिर्यंच को होता है जबकि द्वितीय प्रकार देव व नारकों का होता है। जब चार होते हैं तब तैजस्, कार्मण, औदारिक और वैक्रियक अथवा तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक। प्रथम विकल्प वैक्रिय-लब्धि के प्रयोग के समय कुछ ही मनुष्यों व तिर्यंचों में पाया जाता है। दूसरा विकल्प आहारक-लब्धि के प्रयोग के समय चतुर्दशपूर्वधारीमुनि में ही होता है। पाँच शरीर एक साथ किसी के भी नहीं होते है क्योंकि वैक्रिय-लब्धि और आहारक लब्धि का प्रयोग एक साथ संभव नहीं है।

जीव बाह्य संवेदनाओं की अनुभूति इन्द्रियों की सहायता से करता है। इन्द्रियों में ऐसी शक्ति होती है कि वह बाह्य अनुभूतियों को स्पष्ट रूप में प्रत्यक्ष करता है। यही कारण है कि कुछ लोगों ने इन्द्रियों को ही जीव मान लिया है। वस्तुतः यह सत्य नहीं जान पड़ता। क्योंकि इद्रियां भौतिक तत्त्वों से निर्मित हैं और यह भौतिक तत्त्व जड़ होता है। लेकिन जीव चेतन होता है। जैनोंने जीवों का वर्गीकरण इन्द्रियों की संख्या के आधार पर किया है। यह तो मान्य तथ्य है कि इन्द्रियों के कुल पाँच प्रकार हैं। ये पाँच इन्द्रियों है-स्पर्श (त्वचा); स्वाद (जिह्), घ्राण (नासिका), रूप (चक्षु) और ध्वनि (कर्ण)। इन्हें बाह्येन्द्रियाँ कहा जाता है। बाह्येन्द्रिय के अतिरिक्त कुछ जीवों में अंतरिन्द्रिय भी होती है। इसे मन कहा जाता है। इन्हीं इन्द्रियों के आधार पर जीवों के तीन वर्गीकरण किए गए हैं-१. एकेन्द्रिय, २. विकलेन्द्रिय और ३. पंचेन्द्रिय। एकेन्द्रिय को मात्र एक इन्द्रिय होती है। विकलेन्द्रिय जीव को दो से लेकर चार इन्द्रियाँ होती हैं तथा पंचेन्द्रिय जीवों को पाँच इन्द्रियाँ होती हैं।

१. एकेन्द्रिय[२६]- एकेन्द्रिय जीवों को एक इन्द्रिय स्पर्श की होती है। इसके दो भेद हैं-सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म-नाम-कर्म के उदय से जिन जीवों के शरीर चर्म-चक्षुओं से दृष्टिगोचर नहीं होते वे सूक्ष्म कहे जाते हैं। बादर नाम

कर्म के उदय से जिन जीवों के शरीर अनेकों के मिल जाने से दृष्टिगोचर होने लगते हैं, वे बादर कहलाते हैं। सूक्ष्म और बादर जीवों के एक इन्द्रिय स्पर्श की होती है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति एकेन्द्रिय जीव हैं। इन्हें स्थावर भी कहा जाता है क्योंकि ये सब स्वयं अपना स्थान परिवर्तन नहीं कर सकते हैं। तात्पर्य यह है कि इनमें चलने-फिरने की शक्ति नहीं होती है। इसके विपरीत विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस कहलाते हैं। ये सभी चल फिर सकते हैं और स्वयं अपना स्थान परिवर्तित कर सकते हैं।

२. विकलेन्द्रिय[१७]– द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव विकलेन्द्रिय कहलाते हैं। शंख, कृमि, आदि द्वीन्द्रिय जीव हैं। इन्हें दो इन्द्रियाँ स्पर्शन और रसन की होती हैं। पिपीलिका त्रीन्द्रिय जीव है। इसे स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु ये चार प्रकार की इन्द्रियाँ होती हैं और इसीलिए इसे चतुरिन्द्रिय जीव कहा जाता है।

३. पंचेन्द्रिय[१८]– मनुष्य, पशु एवं पक्षी आदि को पाँच इन्द्रियाँ होती हैं– स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं– संज्ञी या समनस्क तथा असंज्ञी या असमनस्क। जो पंचेन्द्रिय जीव मन से युक्त होता है उसे संज्ञी या समनस्क कहते है तथा जिसे मन नहीं होता है उसे असंज्ञी या असमनस्क पंचेन्द्रिय जीव कहा जाता है। मनुष्य संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव है जबकि पशु, पक्षी आदि असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव है।

इस प्रकार जैनदर्शन में जीव की विशेषताओं का उल्लेख मिलता है।

बी. एल. इन्स्टिटयूट ऑफ इण्डोलोजी
अलीपुर, दिल्ली–११००३६.
द्वारा–पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान
आई. टी. आई. पथ
वाराणसी–२२१००५.
(उ. प्र.)

रज्जनकुमार

टिप्पणियाँ

१. प्राग्देश्य स जीवोऽस्ति ततोऽजीवस्ततः क्रमात्
आस्रवाद्या यतस्तेषां जीवोधिष्ठानमुच्यते ।। पंचाध्यायी; २।२९

२. जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।। तत्त्वार्थसूत्र, १।४

३. प्रवचनसार, २।३५

४. जीवाजीवौ हि धर्मिणो तद्धर्मास्त्वास्रवाद्यय इति
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १।४।४८।५६

५. इष्टोपदेश, श्लोक ५०

६. जीवो उवओगलखणो । उत्तराध्ययनसूत्र, २८।१०
पंचास्तिकाय, १६, २७, १०९, तत्त्वार्थसूत्र, २।८

७. उवओगो दुवियप्पो दंसणं णाणं । द्रव्यसंग्रह, ४

८. कर्मोदय जनित द्रव्य भावरूपैश्चतुर्भिः प्राणैर्जीवति, जीविष्यति, जीवितः पूर्वा । पंचास्तिकाय / ता. वृ. २७/५७/१७.
प्रज्ञापना मलयगिरी टीका, पद ।, सू. टी. – १; प्रवचनसार,; २/५५ पृ. १८९ स्याद्वाद मंजरी, २९/३२९/१९.

९. पज्जत्तमपज्जत्ता. उत्तराध्ययनसूत्र, ३६/७० आहारपज्जत्तीए सरीर पज्जत्तीए इंद्रिय पज्जत्तीए, आणापाण पज्जत्तीए जीवेंगिदयवज्जो तियभंगो भासा – मणपज्जत्तीए जहा सण्णी । भगवइ, शतक ६, उ. ४; गाथा ६३ प्रवचनसारोद्धार, द्वार २३१ गाथा ३१ कर्मग्रंथ, I, गाथा ४४.

१०. सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म । तत्त्वार्थसूत्र; २/३१.

११. सं समन्तात् मूर्च्छनं जायमान जीवानुग्राहकाणां ।
शरीराकारपरिणमनयोग्य पुद्गलस्कंधानां समुच्छयणं सम्मूर्छनम् ।।
गोम्मटसार, जीवकांड / जीव प्रबोधिनी, ८३/२०४/१७

१२. जायमान जीवेन शुक्र–शोणितरूपपिंडस्य गरणं शरीरतयोपादानं गर्भः । ततो जाता ये गर्भजाः तेषां गर्भजानां जन्म उत्पत्तिर्येषा ते गर्भजन्यः ।
कार्तिकेयानुप्रेक्षा, शुभचंद्राचार्य, टी. १३०.

१३. उपपतनमुपपातो देव–नारकाणां जन्म । स्थानांग, अभय. वृ. १–२८ पृ. १९

१४. जरायौ जाता जरायुजाः । सर्वार्थसिद्धि, २/३३
... युलोपः गो – महिषी मनुष्यादयः सावरण जन्मानः ।
तत्त्वार्थवृत्ति, श्रुतसागर सूरि; २–१४

१५. अण्डज – जरायुजवर्जिताः संजातमात्रव्यक्तागोपेताः पोताः ।
गोम्मटसार, जीवकांड मंदप्रबोधिनी टीका, ८४
श्व–मार्जार–सिंह–व्याघ्र–चितकादयोऽनावरणजन्मानः ।
तत्त्वार्थवृत्ति, श्रुतसागर सूरि; २–१४

१६. गोम्मटसार, जीवकांड / मूल, ९०–९२, २१२

१७. तत्त्वार्थसूत्र, पं. सुखलाल संघवी, पृ. ६८

१८. जं तं सरीरणामकम्मं तं पंचविहं ओरालियसरीरणामं वेउव्वियसरीरणामं आहारसरीरणामं तेयासरीरणामं कम्मइसरीरणामं ।
षट्खंडागम, ३१

१९. उदारं बृहत् स्थूलद्रव्यमित्यर्थः; तन्निर्वृत्तमौदारिकम् ।
तत्त्वार्थभाष्य हरिभद्र, वृत्ति २–३८

२०. जस्स कम्मस्स उदएण आहारवग्गणाए पोग्गलखंधा जीवेणोगाहदेसट्ठिदा रस–रुहिर–मांस–मेदट्ठि–मज्ज–सुक्कसट्टावओरालियसरीररसरूवेण परिणमंति तस्स ओरालियसरीरमिदि सण्णा ।
धवला, पुस्तक ६; पृ. ६९ एवं.
मूलाचारवृत्ति, १२–१९३

२१. अष्ट गुणैश्वर्ययोगादेकानेकागुणमंदृच्छ शरीरविविधकरणं विक्रिया सा प्रयोजनमस्येति वैक्रियम् । सर्वार्थसिद्धि; २/३६/१९१/६

२२. चतुर्दशपूर्वविदा तथाविधकार्योत्पत्तौ विशिष्टलब्धिवशादाह्रियते निर्वर्त्यते इत्याहारकम् (अथवा आह्रियते गृह्यन्ते तीर्थंकरादिसमीपे सूक्ष्मा जीवावयवः पदार्था अनेन इत्याहारकम् ।
शतक प्रकरणवृत्ति, मलधारी हेमचंद्र; २–३, पृ. ५;
षडशीति वृत्ति, हरिभद्रीय व्याख्या, ३४

२३. इहोष्मभावलक्षणं तेज: सर्वप्राणिनामाहारपाचकम्, तस्य तेजसो विकारस्तैजसं तेज:समावस्थान्तरापत्ति: । तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, २–५०

२४. तत्त्वार्थसूत्र; २/४१

२५. युगपदेकस्यात्मन: । कस्यचिद् द्वे तेजसकार्मणे । अपरस्य त्रीणि औदारिकतैजसकार्मणानि वैक्रियकतैजसकार्मणानि वा । अन्यस्य चत्वारि औदारिकाहरतैजसकार्मणानि विभाग: क्रियते ।

सर्वार्थसिद्धि: २/४३/१९५/१

विशेष द्रष्टव्य तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक पं. सुखलाल संघवी, पृ. ७४

२६. आचारांग निर्युक्ति, १/१/२/७१, जीवाजीवाभिगम, १/८, प्रज्ञापना, १/१२,१३. उत्तराध्ययनसूत्र, ३६/७०, अणुओगदाराइ, ५ तिलोयपन्नत्ति, ५/२७८

२७. कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि । तत्त्वार्थसूत्र, २४

२८. संज्ञिन: समनस्का: । वही. २/२५

वल्लभ-सम्प्रदाय में ब्रम्ह-सम्बन्ध की अवधारणा

श्रीमद् वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत में ब्रह्म–सम्बन्ध एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रत्यय है। किन्तु यह केवल एक विचार ही नहीं वरन् एक प्रकार का संस्कार भी है अथवा दीक्षा भी है, जिसे सम्प्रदाय में प्रवेश करने वाले प्रत्येक शिष्य को पुष्टिमार्गी गुरु अर्थात् सम्प्रदाय के गुरु द्वारा ग्रहण करना आवश्यक होता है। वल्लभ–दर्शन में वस्तुतः यह इसी अर्थ में महत्त्वपूर्ण है। इस ब्रह्म–सम्बन्ध को समझने के लिये हमें शुद्धाद्वैत–दर्शन को समझना होगा। शुद्धाद्वैत का अर्थ ही है कि परम सत्ता अद्वैत–ब्रह्म माया की उपाधि से रहित 'शुद्ध' है।[1] जहां तक जीव और जगत् की स्थिति का प्रश्न है, उन्हें वल्लभ इसी शुद्ध ब्रह्म का वैसे ही परिणाम कहते हैं जैसे स्फुल्लिंग अग्नि का परिणाम है।[2] दोनों में अंतर इतना ही है कि जड़–जगत् में ब्रह्म का केवल सदंश ही रहता है, जब कि जीव में चिदंश भी रहता है। सच्चिदानंद ब्रह्म के आनंद का दोनों में अभाव रहता है।

इस तरह वल्लभ–दर्शन में जीव, ब्रह्म का अंश ही है। ब्रह्म का अंश होने के कारण जीव ब्रह्म के समान ही सत्य है। इस ब्रह्म और जीव में अभिन्नत्व है।[3] किन्तु शंकर के समान वल्लभ यह नहीं कहते कि जीव ब्रह्म ही है। उनके अनुसार जीव की शक्ति अपनी सत्ता अनुसार सीमित है, जबकि बह्म की शक्तियां असीम एवम् अनंत हैं। जीव में ब्रह्म का आनंदांश नहीं होता, इसलिये वह इस संसार में तरह–तरह के दुःख उठाता है।

प्रश्न उठता है कि तरह–तरह के दुःखों से जीव किस प्रकार मुक्त हो सकता है ? उत्तर में वल्लभ कहते हैं कि इसका एकमात्र उपाय ब्रह्म–सम्बन्ध है। वस्तुतः अंशी–जीव ब्रह्म से अपने वास्तविक संबंध को अज्ञानवश भूल जाता है। वह भूल जाता है कि वह सच्चिदानंद ब्रह्म का ही एक अंश है। श्रुतियां, 'अहं ब्रह्मास्मि', अयमात्मा ब्रम्ह', 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा इसी भूले हुये सम्बन्ध की याद दिलाती है।

पर जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध हो कैसे ? वल्लभ ज्ञानमार्ग को इस हेतु अनुपयुक्त बताते हैं। यद्यपि वे कहते हैं कि दुख की जड़ ब्रह्म से अपने सम्बन्ध को भूल जाना है, किन्तु इस सम्बन्ध का ज्ञान मात्र हो जाने से जीव मुक्त नहीं हो जाता। इस हेतु वे ईश-भक्ति को ही एकमात्र साधन कहते हैं। किन्तु उनकी भक्ति भी विशेष प्रकार की है। यह मर्यादामार्गी न होकर पुष्टिमार्गी है, जहां, भक्त अपने बल-बूते पर भक्ति नहीं प्राप्त कर सकता, उसे तो बस भगवद्-अनुग्रह पर ही निर्भर रहना पड़ता है।[४] उल्लेखनीय है कि पुष्टिमार्ग में कृष्ण साक्षात् पुरुषोत्तम हैं, अतः जीव उनके ही अनुग्रह की कामना करता है। कृष्णानुग्रहरूपाहि पुष्टिः[५] अर्थात् कृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है।

वल्लभ-दर्शन में कृष्ण का यह अनुग्रह वैसे तो अहेतुक[६] बताया गया है, पर जो भक्त अनुग्रह-प्राप्ति की आशा रखता हो उसके लिये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन ईश्वर की शरण में जाना है; 'पुष्टिमार्गे शरणमेव साधनम्'। इसके लिये भगवान् को सब कुछ समर्पित कर देना आवश्यक है।[७] गीता में अर्जुन को दी गई शिक्षा कि "तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो दान देता है तथा जो तप करता है वह सब मुझे अर्पण कर दे" हर एक पुष्टिमार्गी को ध्यान में रखना आवश्यक है। वल्लभाचार्य कहते हैं, इस समर्पण से जीव की सभी चिंताएं दूर हो जाती हैं। अनुग्रह-परायण भगवान् अंगीकृत जीवों को लौकिक गति नहीं प्रदान करेंगे[८]। इस समर्पण को वल्लभ-दर्शन में आत्म-निवेदन तथा शरणागति भी कहा गया है। आचार्य कहते हैं, आत्म-निवेदन होने के पश्चात् निवेदित वस्तु के साथ प्रभु का संबंध हो जाता है, तब फल की दृष्टि से उसका अन्यथा विनियोग हो जायेगा, ऐसी चिन्ता क्यों चाहिये ?[१०] जिस प्रकार गंगाजी में आने वाले समस्त दोष और गुण मिल कर गंगामय हो जाते हैं और गंगारूप से ही उनका निरूपण किया जाता है, ठीक उसी प्रकार सब पदार्थ आत्मनिवेदन हो जाने पर ब्रह्म-भाव को प्राप्त होते हैं।[११] वल्लभ कहते हैं कि दोषों की निवृत्ति के लिये मनुष्य के पास आत्मनिवेदन के अतिरिक्त और कोई उपाय है भी नहीं, अतः उसके लिये यही उचित है कि वह असमर्पित वस्तु का त्याग करें।[१२] और अपना कार्य भगवान् को समर्पित करते हुये ही करें।[१३]

वल्लभ-सम्प्रदाय में कृष्ण की शरण के अतिरिक्त गुरु की शरण भी महत्त्वपूर्ण मानी गई है क्योंकि गुरु ही जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध कराता है। वस्तुतः ब्रह्म-सम्बन्ध, जैसा हमने प्रारंभ में लिखा है, एक प्रकार की दीक्षा है, जो पुष्टिमार्ग में प्रवेश करने वाले प्रत्येक भक्त को पुष्टिमार्गी गुरु से ग्रहण करनी होती है। ये पुष्टिमार्गी गुरु श्री वल्लभाचार्य के वंशज होते हैं। ब्रह्म-सम्बन्ध कराने के पूर्व गुरु स्नानादि करने के पश्चात मंगल-मुहूर्त में अपने हाथ से शिष्य के गले में

तुलसी की कंठी 'श्री कृष्ण शरणम् मम' इस महामंत्र का तीन बार उच्चारण करवाते हुये डालते हैं। इसे कंठी–धारण कहते हैं। इसके पश्चात् गुरु शिष्य से चौरासी अक्षरों का एक गद्य–मंत्र उच्चारित करवाते हैं, जो इस प्रकार है: 'श्री कृष्ण शरणम् मम। सहस्त्र परिवत्सरमितकालजात कृष्णवियोजनिततापक्लेशानंद तिरोभावोऽहम् भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि तद्धर्मांश्च दारागार-पुत्रेहापराणि आत्मना सह समर्पयामि। दासोऽहम् कृष्ण तवास्मि।' मंत्र का अर्थ है "मैं कृष्ण की शरण में हूं। सहस्त्रों वर्षों से मेरा कृष्ण से वियोग हुआ है। वियोग–जन्य ताप और क्लेश से मेरा आनंद तिरोहित हो गया है। अत: मैं भगवान् श्रीकृष्ण को देह, इन्द्रिय, प्राण, अंतःकरण एवम् उनके धर्म, स्त्री, पुत्र चित्त और आत्मा, सब कुछ समर्पित करता हूं। हे कृष्ण मैं आपका दास हूं, मैं आपका ही हूं।" इस प्रकार की दीक्षा द्वारा भक्त भगवान् को आत्म–समर्पण करता है।

यहां उल्लेखनीय है कि स्वयम् वल्लभाचार्य ने अपने भक्तों को यह दीक्षा देना आरंभ किया था। उन्होंने लिखा है कि स्वयम् भगवान् कृष्ण ने उन्हें यह दीक्षा देने अर्थात् जीवों का ब्रह्म-सम्बन्ध कराने की आज्ञा दी थी। चौरासी वैष्णव की वार्ता में उल्लेख है कि जब आचार्यजी को चिन्ता हुई कि दोषरहित जीव का सम्बन्ध ब्रह्म से कैसे हो, तब ठाकुरजी ने प्रगट होकर कहा कि तुम जिन जीवों का ब्रह्म-सम्बन्ध करवाओगे, उन्हें मैं अंगीकार करूंगा और तब उनके सकल दोष निवृत्त हो जायेंगे।[४] सिद्धान्त रहस्य में आचार्य वल्लभ ने ब्रह्म-संबंध होने से जीव के निवृत्त होने वाले पांच प्रकार के दोषों—सहज, देशज, कालज संयोगज और स्पर्शज दोष—का उल्लेख किया है। सहज दोष वे हैं जो जीव के साथ ही उत्पन्न होते हैं। देशज दोष उन्हें कहते हैं जो देश के कारण उत्पन्न होते हैं। कालज दोष काल से उत्पन्न होने वाले, संयोगज दोष संयोगवश उत्पन्न होने वाले होते हैं तथा स्पर्शज दोष स्पर्श से उत्पन्न होते हैं। आचार्य जी यहां कहते हैं : अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथंचन' अर्थात् ब्रह्म-संबंध के बिना और किसी उपाय से समस्त दोषों की निवृत्ति संभव नहीं है।[५]

सिद्धांत-रहस्य में उल्लेख है कि स्वयम् भगवान् ने श्रावणमास के शुक्ल पक्ष की एकादशी को प्रगट होकर आचार्य जी से ब्रह्म-सम्बन्ध से होने वाले लाभ तथा ब्रह्म-सम्बन्ध के पश्चात् जीव का कैसा व्यवहार होना चाहिये, इसका वर्णन किया था।[६]

पुष्टिमार्ग में कंठीधारण करने तथा ब्रह्म-सम्बन्ध स्थापित होने के बाद प्रत्येक दीक्षित बालक अपना धर्म समझता है कि 'मैं कभी असत्य भाषण न करूं, किसी की निन्दा न करूं, किसी प्रकार का कायिक, मानसिक एवम् वाचिक दुष्कृत न करूं। अपना खान पान, रहन-सहन, जीविका-वृत्ति सबका सद्वृत्ति के साथ निर्वाह करूं और जो कुछ करूं, भगवान् को अर्पण कर दूं।'

वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित भक्त लिये ' श्रीकृष्ण शरणम् मम ' इस अष्टाक्षर मंत्र का बड़ा महत्त्व है। इसका वह नित्यप्रति जाप करता है। इसकी महिमा के विषय में कहा गया है कि

' य स्मरेत्तु सदा मंत्रम्, श्री कृष्ण शरणम् मम।
अष्टाक्षरं जपेन्नित्यं यमो दृष्ट्वा हि शंकते ॥'

अर्थात्, जो प्राणी सदैव ' श्री कृष्णम् शरणम् मम ' इस प्रकार स्मरण करता है, जो इस अष्टाक्षर मंत्र का नित्य प्रति जप कीर्तन करता है, उसको देख कर यम भी निश्चय ही शंकित होते हैं।

दर्शन विभाग शोभा निगम
शासकीय छत्तीसगढ़ महाविद्यालय
रायपुर-४९२००१
(म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, २६
२. अणुभाष्य, २-३-४३
तुलनीय, मुंडकोपनिषद्, २-१-१
बृहदारण्यक उपनिषद्, २-१-२०
३. शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, १५; १६
४. अणुभाष्य, २-३-४२; ४-४-९
५. तत्त्वदीप निबंध, भागवत प्रकरण
६. कृष्णानुग्रहरूपाहि पुष्टिः कालादिबाधिका। तत्त्वदीप निबंध विवेक-धैर्याश्रयनिरूपणम्, २
७. प्रमेयरत्नार्णव, ४-१९
८. भगवद् गीता, ६-२७
९. नवरत्नम्, १
१०. वही, ३
११. सिद्धांत-रहस्यम्, ८
१२. वही, ४
१३. वही, ५
१४. चौरासी वैष्णव की वार्ता, पृ. १
१५. सिद्धांत-रहस्यम् - २, ३, ४
१६. वही, १

बौद्ध-धर्म : मानवीय मूल्यों का धर्म

आंतरिक सद्वृत्तियों की अक्षय पूंजी ही मनुष्यता है जिसके कारण सृष्टिखंड का एक प्राणी-विशेष मनुष्य कहलाता है। चेतना, विवेक और ज्ञान से उद्भूत निःस्वार्थ-निर्व्याज सत्कर्मों का अशेष व कालजयी परिवृत्त ही वे मानवीय मूल्य हैं, जिसके कारण सन्दिग्ध जीवन अर्थवान् हो पाता है। अथवा समूह के जीवन को गरिमा दे पाता है।

बौद्ध धर्म का इतिहास इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि इस धर्म का विकास ही मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिए हुआ। इसका उत्थान किसी आकस्मिक घटना के कारण नहीं, अपितु उस विचारधारा के परिणामस्वरूप हुआ, जिसमें कर्मकाण्ड, हिंसा, युद्ध, यज्ञ और पुरोहितवाद के आडम्बर सन्निहित थे। यह विचारधारा समाज को एक बडे वर्ग को वेद व उपनिषद् के अध्ययन तथा यज्ञ आदि करके अपना लोक-परलोक सुधारने के अधिकार से भी वंचित करती थी। अर्थात्, अध्ययन, मनन एवं अपने संस्कारों के परिष्कार का अधिकार भी व्यक्ति को स्वयं नहीं था, क्योंकि वह जन्म से एक छोटे तबके में पैदा हुआ था। यह पराधीनता समाज के अन्य वर्ग पर भी अप्रत्यक्षः आरोपित थी। जन्म से मरण तक वह पुरोहितों का गुलाम था। समग्र समाज बौद्धिक संक्रमण की दौर से गुजर रहा था। कर्मकांड पूर्णतः ज्ञानकांड पर हावी हो चुका था। साधारण जन ज्ञान तक पहुंच पाना चाहता था लेकिन उपनिषदों की कैद में पड़ा ज्ञान उसकी सामर्थ्य-सीमा से बाहर था। वह धर्म के बिना जी नहीं सकता था। लेकिन धर्म का एकमात्र रास्ता यज्ञ और बाह्याडम्बर के पड़ाव से गुजरता था

और इस पड़ाव से वह मुक्ति चाहता था। उसे ऐसे धर्म की आवश्यकता महसूस हो रही थी जो सुगम व सुबोध हो, जिसमें पशुबलि की क्रूरता व व्यर्थ का आडम्बर नहीं हो, जो मनुष्य को अतिभोग से दूर रखे, उसे सद्धर्म की ओर प्रयाण करने की प्रेरणा दे, लेकिन तपस्या व यति–वृत्ति की कठोरता और नाना प्रकार के द्वन्द्व या ऊहापोह की विधियों में न उलझाये। व्यवहारिक धर्म की जन-आकांक्षा को भगवान् बुद्ध ने पहचाना और उसे एक सरल–सुगम, सुबोध, व्यवहारिक, बौद्धिकतायुक्त, व्यर्थ की उलझनों से परे और हृदय तथा मस्तिष्क को संतृप्त कर सकने वाला एक सार्थक धर्म प्रदान किया। इस धर्म–दर्शन की भाषा संस्कृत जैसी देवभाषा नहीं, अपितु जन–साधारण के बीच लोकप्रिय और बोल–चाल की भाषा पालि थी। तथागत ने उपदेशों को दार्शनिक रहस्यवाद की खाई से निकाल कर एक समतल उर्वर जमीन में बोया और साधारण जन को समझाया ......मनुष्य दुखी हैं। यह दुख अकारण नहीं है। इस दु:ख का निरोध संभव है और इस निरोध का मार्ग भी है। ये चार आर्यसत्य हैं। इनको मानना, इनके अनुसार चलना ही धर्म है। यही धर्ममार्ग है और मुक्तिमार्ग भी यही है।

पूर्व के धर्मों के विपरीत बौद्ध धर्म के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त अथवा निष्कर्ष जीवन की वास्तविक आधार--भित्ति पर अवस्थित थे। इनमें की गुत्थियों को सुलझाने का अपूर्व सामर्थ्य सन्निहित था। फलतः ये उपदेश ग्रन्थों तक ही निहित न रहकर जीवन के वास्तविक कार्यक्षेत्र में फलदायी होते थे। भ्रम या मिथ्या दृष्टि का इन सिद्धान्तों पर कोई दुष्प्रभाव संभव नहीं था, क्योंकि इनका स्वरूप पूर्णतः ठोस था। स्वव्याख्यायित ये सिद्धान्त चार विभिन्न श्रेणियों में विभक्त थे — १ – दुख, २ – दुख समुदय, ३ – दुख निरोध, तथा ४ – दुख – निरोध – गामिनी प्रतिपदा।

स्वयं में अन्तर्निहित है दुःख का हेतु

बौद्ध–चिन्तन के अन्तर्गत मुख्य रूप से दु:ख एवं दु:ख से निवृत्त को ही प्रधान स्थान दिया गया है। यही दुख आर्य सत्य है। इसके अनुसार जन्म दुख है, रोग दु:ख है, बुढ़ापा दु:ख है, मृत्यु दु:ख है, इसके अतिरिक्त मनस्ताप, अष्टम वेदना आदि दु:ख हैं। संक्षिप्ततः समस्त पंच स्कन्ध दु:ख हैं। पर इस दु:ख से निवृत्ति का मार्ग भी बड़ा ही सुस्पष्ट, सत्य एवं अविरोधात्मक रूप में व्यक्त किया गया है। बुद्ध के अनुसार अगर इस जगत् में दु:खओर दौर्मनस्य नहीं होते, और सारा वातावरण इच्छानुकूल होता तो हमें किसी भी धर्म को मानने की आवश्यकता हीं नहीं होती। मनुष्य भौतिकवादी सुखों का उपभोग करते हुए चार्वाक के आदर्शों का पालन करता। दु:ख संसार में विद्यमान है – यह सत्य है, इसे

सभी दार्शनिक, वैज्ञानिक, छोटे-बड़े तथा गरीब-अमीर मनुष्यों ने स्वीकार किया है।

पुन: जीवन की सबसे बड़ी समस्या दु:ख है; इससे बड़ा और कोई कष्ट नहीं। भगवान् बुद्ध ने इसे महाव्याधि की संज्ञा दी है। इस महाव्याधि के उमड़ते समुन्द्र में जन-समुदाय की हर इकाई अहर्निश विद्ध है। परन्तु दैहिक आवश्यकता की पूर्ति उसे ऐश्वर्याकांक्षा के अन्य दायरों में खींच ले जाती है। फलत: उसकी आवश्यकताओं का कहीं अन्त नहीं होता। अन्ततः उस मरणान्तक संग्राम का मूल कारण क्या है? वह है मानवीय जिजीविषा अथवा तृष्णा जिसे बुद्ध ने 'तण्हा' के नाम से विभूषित किया है। यही है मानवीयता पर अत्याचार का मूल स्रोत, धन वैभव के लिए तृष्णा, क्रोध, घृणा, द्रोह, शत्रुता, ईर्ष्या, पाखण्ड, प्रवंचना का मूल आधार तथा महान् व्यक्तित्वों और राष्ट्रों का विनाशक तत्त्व। यहीं से संसारव्यापी अशान्ति का सूत्रपात होता है, जो वर्तमान समय में सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है।

मानव-मात्र के सम्पूर्ण दु:खों का हेतु मानव में ही अन्तर्निहित है। बुद्ध के अनुसार यह मनुष्य के वश में है, और इसका विनाश कर वह आत्मिक शान्ति को प्राप्त कर सकता है। लेकिन अज्ञानता के कारण ही मानव इसे नहीं स्वीकारता। यदि सच्चाई के साथ वह अपने अन्तर को टटोले, तो पायेगा कि सारे दु:खों का मूल आधार 'तण्हा' है, जो उसके हृदय में वर्तमान है। भगवान् बुद्ध का जीवन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

चितशुद्धि है 'तण्हा' से मुक्ति का मार्ग

दु:ख के कारण का विनाश प्रार्थना, किसी दैवी सिद्धान्त में विश्वास या किसी बाहरी शक्ति के व्दारा संभव नहीं है। इसे सहानुभूति और आत्मसिद्धि के द्वारा ही विनष्ट किया जा सकता है। इसी चित्तशुद्धि के लिए भगवान् बुद्ध ने आठ सोपानों से युक्त मार्ग का प्रतिपादन किया, जिसे अष्टांगिक मार्ग के नाम से जाना जाता है। बुद्ध के अनुसार चित्तशुद्धि तक पहुंचना असम्भव नहीं, चाहे वह कठिन भले ही हो। उन्होंने कहा कि मानव में ऐसी क्षमता है कि यदि वह अपने को विशेष रूप से शिक्षित करें तो सर्वग्रासिनी 'तण्हा' से मुक्ति पा सकता है। इस दृष्टि से बौद्ध धर्म अन्य धर्मों से अधिक आशावादी, प्रतीत होता है। यह समस्त मानव के समक्ष एक आशापूर्ण और सुलभ भविष्य की कल्पना प्रस्तुत करता है, जो मृत्यु के पश्चात् नहीं बल्कि इसी धरती पर संभव है।

जीवन, सम्पत्ति, नैतिकता एवं धर्म के सम्बन्ध में विचार एवं धारणाएं व्यक्ति को अपने वातावरण से प्राप्त होती है। अत: वह उस वासना या इच्छा का शिकार हो जाता है जो उसने अपने पूर्वजों में देखी है। यदि वह अपने आपको

प्रचलित अंधविश्वासों से मुक्त कर ले तो वह जीवन और जगत् को अन्य दृष्टि से देखने लगेगा। तब वह प्रखर शक्ति का सामना करेगा। अतः जीवन के प्रति बौद्ध दृष्टि एक प्रकार की शिक्षा है जिसका अनुपालन जीवन के चरम उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। इस मार्ग के निम्नरूपेण वर्णित आठ आयाम हैं–

सम्यक् दृष्टि के माध्यम से बुद्ध यह बतलाने का प्रयास करते हैं कि सम्यक् दृष्टि के द्वारा ही मानव अपने कार्य-सम्पादन समुचित रीति से कर सकता है। यदि मिथ्या दृष्टि के कारण मानव लोभ, क्रोध, मोह और द्वेष में फंसता है तो अपने पथ से विलग होता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक मामलों में सम्यक् दृष्टि का अभाव इस संसार में सर्वदा वैमनस्य और कष्ट का कारण रहा है। यदि सम्यक् दृष्टि का आधार बना कर उसके अनुरूप व्यवहार किया जाय, तो आज के समाज में व्याप्त धार्मिक अंधविश्वास के नाम पर उठे विवादों से पूर्णतः छुटकारा मिल सकता है। इतिहास के पृष्ठ धार्मिक उत्पीड़न की घटनाओं से भरे पडे हैं। धार्मिक क्षेत्र की हिंसात्मक घटनाएं इन मिथ्या धारणाओं के परिणाम हैं, जो वस्तुतः सम्यक् दृष्टि के अभाव के कारण घटित हो रही हैं। बौद्ध धर्म यह शिक्षा देता है कि शस्त्र नहीं अपितु ज्ञान के द्वारा मिथ्या धारणाओं का निवारण परम श्रेयस्कर है। यही कारण है कि इस धर्म के अनुयायियों ने कभी धार्मिक अत्याचार नहीं किया। सम्राट् अशोक का उदाहरण ही इसका यथेष्ट साक्ष्य है, जिसने बौद्ध धर्म को स्वीकारते ही हिंसात्मक विजय के रास्ते का त्याग कर दिया।

पुनः बुद्ध सम्यक् संकल्प का निर्देश करते हुए यह कहना चाहते हैं कि सर्वदा अपने उद्देश्य को सम्मुख रख कर सत्यपथ पर अग्रसर होना चाहिए; तभी सफलता की प्राप्ति संम्भव है।

सम्यक् वाक् से बुद्ध का तात्पर्य है, सत्य भाषण करना, दूसरे के अपमान, कटु वचन और व्यर्थ प्रलाप से दूर रहना। वस्तुतः सामूहिक मिथ्यालाप ही वह कारण है, जिसने दो विश्व युद्धों को जन्म दिया है और अनेक राष्ट्रों में आन्तरिक कलह का वातावरण पैदा किया। आज भी हर राष्ट्र अपने निजी स्वार्थों की सम्पूर्ति के लिए दूसरे राष्ट्र के विरुद्ध दुष्प्रचार करते हैं। इस राजनैनिक चाल की आड़ में वे पूंजी संग्रहण हेतु शस्त्रास्त्रों की बिक्री और दूसरे राष्ट्रों के आर्थिक दोहन में संलग्न है। भारतीय परिप्रेक्ष्य पर ध्यान दें तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्हीं दशकों में जो धर्म के नाम पर हुआ विद्रोह भी इसी सामूहिक मिथ्यालाप और मिथ्या दृष्टि का परिणाम था। जो मिथ्यालाप करने वाले लोग हैं उन्हें युद्धजनित नरसंहार की कोई चिन्ता नहीं है, लेकिन पीड़ित होती है सम्पूर्ण मानवीयता। उपरोक्त वर्णित तथ्यों के आलोक में मौजूदा हालात में चतुर्दिश शान्ति के निमित्त सम्यक् वचन की नितान्त आवश्यकता प्रतीत होती है।

बुद्ध के अनुसार सम्यक् कर्मान्त का तात्पर्य है हिंसा, चोरी, ठगी, और मद्यपान से विलग रहना। हिंसा मानव के निम्नतम मानसिक स्तर का द्योतक, है, क्योंकि हिंसा के अनुगामी नर-संहार के द्वारा ही मानसिक सन्तोष प्राप्त करते हैं। यह वस्तुतः आदिमयुगीन बर्बरता का परिचायक है। बुद्ध के सम्यक् कर्मान्त का अनुसरण कर मनुष्य वास्तविक लाभ का कार्य कर सकता है। उदाहरण स्वरूप— गरीबों की सहायता, रोगियों की सेवा-शुश्रुषा तथा दयाक्षमा से युक्त अन्य परोपकार के कार्य।

सम्यक् आजीव के द्वारा बुद्ध जीवन के सद्व्यवहार का वास्तविक रूप निर्धारित कर संसार की अनेक बुराइयों का मूलोच्छेदन कर देते हैं। बुद्ध के द्वारा निर्दिष्ट पांच व्यवसायों को जीविकोपार्जन के सन्दर्भ में त्याग दिया जाय तो संसार अपने वर्तमान स्वरूप की अपेक्षा अधिक सुखकर तथा शान्तिदायक आवास का रूप ले सकता है। यहां द्रष्टव्य है कि अब्राहम लिंकन से सदियों पूर्व सम्यक् आजीव आदि के उपदेशों तथा उसके व्यावहारिक उपयोग के माध्यम से बुद्ध ने भारत में दास-प्रथा का मूलोच्छेदन किया था।

सम्यक् स्मृति और सम्यक् व्यायाम के माध्यम से बुद्ध यह निर्देश देना चाहते हैं कि मन ही मानव के प्रत्येक विचार का आश्रय स्थल है, इसकी शुद्धि से मानव के सम्पूर्ण क्रिया-कलापों की शुद्धि हो जाती है। अतः सतत जागरूक होकर ही मन में उचित विचारों को प्रश्रय देना चाहिए तथा अन्य लोगों के साथ व्यवहार में अलग और सचेत रहना चाहिए। इस प्रकार मन की शुद्धि, एकाग्रता तथा ध्यान के माध्यम से मानव उच्चतम मानसिक शक्तियों के विकास की चरम अवस्था निर्वाण पद तथा बोधि की प्राप्ति और उद्भव का महानतम साधन है।

स्वयं के लिए प्रकाश बनो

तथागत स्वविवेक के आधार पर सिद्धान्तों का अनुसरण अथवा परित्याग का सन्देश देते हैं। वे कहते हैं कि हरेक अपनी सद्बुद्धि से सत्य का अन्वेषण करे। मार्ग देना मेरा कार्य था और उस पर अग्रसरित होना उनका कार्य है। एक अन्य सन्देश में वे कहते हैं, 'मेरे उपदेश पर विश्वास रखो। बुद्धि से उन्हें समझने की कोशिश करो और हर एक आदेश को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करो। पवित्र से पवित्र जीवन बिताओ और नियमित रूप से ध्यान और समाधि करो'। यह धर्म का अत्यन्त व्यावहारिक रूप था, जिसमें सम्मिलित उपदेश मानव-मात्र की विचार-स्वतन्त्रता की आधार-शिला साबित हो सकते हैं और पारम्परिक अंधविश्वास से मानवता को मुक्त करने के लिए सचेष्ट प्रतीत होते हैं।

मनुष्य के धार्मिक इतिहास में यह एक नवीन मोड़ था। तथागत के सन्देश एक सुधारक के सन्देश थे, जिसके द्वारा शुभ संस्कार एवं शील-संसाधन के सतत

उपयोग द्वारा सम्पन्न होने वाले हृदय के अन्तस्थलीय परिवर्तन का प्रतिपादन किया गया था। और सबसे बडी बात यह थी इस धर्म में आत्मोन्नति की प्रक्रिया बाह्य शक्ति पर निर्भर नहीं थी, बल्कि इसका उद्भवस्थल व्यक्ति का आन्तरिक जगत् था —' स्वयं के लिए प्रकाश बनो, स्वयं के लिए शरण बनो, स्वयं से परे कोई शरण नहीं है।' जाहिर है कि इस सिद्धान्त में शास्त्र आदि द्वारा आरोपित तथ्यों को गौण बना दिया और व्यक्ति-विशेष की प्राधानता प्रतिपादित की। अर्थात् यह संदेश दिया कि सक्रियता का केन्द्र-बिंदु मनुष्य है। वही सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव आदि अष्टआयामी मार्ग के अनुसरण द्वारा इस सृष्टि खण्ड में मानव मूल्यों को सुरक्षित रख सकता है। उसके कर्म-फल का लेखा-जोखा करने वाला कोई रहस्यात्मक प्रभु नहीं है और न नैतिक प्रेरणा के लिए किसी दैवीय शक्ति की अपेक्षा है। बाह्यप्रभुता की शरण के लिए बिना स्वप्रकाश में वह मानव स्वतंत्रता और मानवाधिकार का संरक्षण कर सकता है।

अतीत से वर्तमान तक

संभवत: किसी धर्म या जीवन-मार्ग की प्रभावशीलता और उपयोगिता की परीक्षा उन परिवर्तनों से की जानी चाहिए जो उनके अनुयायियों के जीवन में तत्संदर्भित सिध्दान्तों के पालन से की जाती है। इस दृष्टि से विश्लेषण करें तो बौध्द धर्म अन्य धर्मों से अधिक प्रभावी साबित होता है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि भगवान् बुध्द ही भारत में सर्वप्रथम सुधारक थे, जिन्होंने समाजगत जाति-भेद की विषमता एवं अस्पृश्यता के विरुद्ध प्रबल अभियान शुरू किया। समाज के निम्नतम तबके को एक नया जीवन प्रदान किया और यह सन्देश दिया कि ब्राह्मणत्व की उपलब्धि कर्म से होती है, न कि जन्म से।

धर्म के प्रभाव और उस पर आये तथा-कथित संकटों के निवारणार्थ भक्तों ने सदियों से आजतक पता नहीं कितने मनुष्यों की हत्या की। लेकिन यह उल्लेखनीय तथ्य है कि बौद्धधर्म के नाम पर आजतक रक्तपात की कोई घटना अंकित नहीं हो पायी। हां, रक्तपात-निषेध में इसने अपूर्व सफलता पाई। सम्राट् अशोक जैसे विजयाकांक्षी शासक को इसने अहिंसा से आपूर्त कर संपूर्ण प्राणियों के प्रति दया एवं करुणा के महान् लक्ष्य की ओर अग्रसर करने में उल्लेखनीय सफलता पाई।

पुन: एकबार विश्लेषण की ओर लौटें। तथागत ने कहा था कि महाव्याधि तृष्णा ही हमारे सब दुःखों का मूल है। यही तृष्णा सभी मानव मूल्यों के विनाश में संलग्न है। यह केवल नाम का अकुशल मल नहीं, बल्कि यथार्थ में मानव-मूल्यों का सबसे बड़ा विध्वंसक आयुध है।

अब मौजूदा हालात में व्यक्ति से विश्वतक की स्थिति का आकलन करें, संदर्भित परिप्रेक्ष्य में तथागत के सन्देश की गहरी व व्यावहारिक जांच-पड़ताल करें तो पायेंगे कि मौजूदा समय में इसी तृष्णा की लपट में व्यक्ति, समाज और विश्व जल रहा है। तथागत का संदेश अब भी प्रासंगिक है। यही तृष्णा विश्व-व्यापी अशांति का मूल कारण है। व्यक्ति की जिजीविषा और भौतिक सुखों की एषणा, विश्रृंखलितता और नैतिकता-विहीन समाज की समस्या, तदनुरूप राष्ट्र और विश्व के स्तर पर युद्धोन्मत्त प्रवृत्तियां, आर्थिक दोहन और शोषण की व्यूह-आकूत वृत्तियां-सबका दमन व निराकरण बुद्ध के निर्देशों के आचरणानुगत पालन से संभव है। 'तण्हा' से मुक्ति का मार्ग उपलब्ध है। आज अष्टसोपानों से युक्त अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण अधिक अनिवार्य है क्योंकि अगर विकास का इतिहास मानव का इतिहास है तो इस इतिहास का अध्याय मूल्य-निर्माण का अध्याय है। मूल्यों का इतिहास हमारा है और यह इतिहास प्रलय-उपरान्त विनष्ट सृष्टि के पश्चात् जीवित बचे एक मात्र शिशु के लिए मां का ममत्व है, लोरी है, जो उसे पुन: एक नयी सृष्टि की संरचना में योगदान देने का सामर्थ्य दे सकता है।

कुसुम कुमारी

शैवास
क्वार्टर नं. ३
नया प्रखण्ड
चंदौती
गया-८२३००१
(बिहार)

'संख्या' का विचार : वाक्यपदीयम् के विशेष सन्दर्भ में

द्रव्य और गुण की तरह संख्या भी दार्शनिक चिन्तन का एक महत्त्वपूर्ण विषय है। बाल से लेकर वृद्ध तक सभी संख्या का व्यवहार करते हैं। बच्चों को एक, दो के क्रम में सौ, हजार, लाख आदि संख्याओं को सिखाया जाता है और जब वे इसे सीख लेते हैं तो संख्या का खोल खोलते रहते हैं। लोक व्यवहार में वस्तुओं, विचारों को गिनने, एक वस्तु या विचार को दूसरे से पृथक् करने के लिए संख्या का प्रयोग देखा जाता है, एवं संख्या की गणना भी की जाती है।

संख्या का आश्रय क्या है ? यह कब से व्यवहार में आयी ? इन प्रश्नों पर सामान्यतः हम मान कर चलते हैं कि एक, दो आदि संख्याएं नित्य प्रदत्त हैं और जिस रूप में ये परम्परया प्रयुक्त होती रही हैं उसी रूप में इनका व्यवहार यथार्थ या निश्चित होता है। उदाहरण के लिए परम्परया एक, दो तीन, चार के क्रम में ही संख्याएँ प्रयोग में आती हैं और इसी क्रम को सार्वभौम और निश्चित माना जाता है। यदि क्रम में कहीं अव्यवस्था या विपर्यास कर दें तो इसे गलत माना जाता है और विपर्यस्त क्रम को सभी अस्वीकार करते हैं। जिस रूप में संख्याएं प्रयुक्त होती हैं उसी रूप में वे सर्वभौम हैं। 'सार्वभौम' कहने का तात्पर्य यह है कि सभी इसी रूप को मान कर काम करते रहे हैं और आगे भी इसे ही मान कर काम हो सकता है; अन्यथा भ्रम होगा, व्यवहार से विरोध होगा। 'दो और दो चार होते हैं-' यह सत्य है, और दो 'और दो पाँच होते हैं-'- यह असत्य है-ऐसा निर्णय किस आधार पर किया जाता है ? हम इसका उत्तर इस रूप में देते हैं कि 'दो और दो मिल कर चार होते हैं' यह परम्परा-सिद्ध है और इसीलिए इसी को मान कर व्यवहार करना निश्चित तथा यथार्थ होता है; अन्यथा करना परम्परा और व्यवहार दोनों से विरुद्ध होन से असत्य होता है।

गणितज्ञ भी कहेंगे कि दो की दो इकाई और दूसरे दो की दो इकाई को जोड़ने पर चार ही होगा, और पाँच कहना गलत हो जाएगा। इस प्रकार गणितज्ञ भी प्रसिद्धि की बात का समर्थन करते हैं। चार के बाद पाँच संख्या कही जाती है। पाँच के बाद चार को क्यों नहीं कहा जाता ? इसके पीछे भी परम्परा-प्रसिद्धि युक्ति के रूप में दी जाती है।

यदि यह कहें कि क्या 'एक' संख्या एक द्रव्य है और दूसरी संख्या दूसरा द्रव्य है, तो प्रश्न उठता है कि वह (द्रव्य) कोई आन्तरिक चीज है अथवा बाह्य ? व्यवहार में द्रव्य के रूप में संख्या का प्रयोग नहीं होता। गणितादि में पदार्थ रूप से जो संख्या का प्रयोग दीखता है वहाँ भी द्रव्य के उपाधि रूप में या द्रव्य को कहने के लिए संख्या का प्रयोग होता है। इस रूप में संख्या द्रव्यों की संज्ञा होती है। इसी आधार पर वैशेषिकों ने संख्या को द्रव्य का गुण माना है। लोक व्यवहार में पदार्थों को गिनने के लिए संख्या का प्रयोग होता है। इसी आधार पर वैयाकरणों ने संख्या को द्रव्याश्रित माना है। यदि एक, दो आदि संख्याओं को द्रव्यगत मानें तो ये पदार्थ के अवयव रूप होंगे। किन्तु किसी अवयवो के अवयव रूप में संख्या नहीं देखी जाती है। हां, अवयवी एवं अवयव को गिनने के लिए ही संख्या का प्रयोग देखा जाता है। इसी अर्थ में वैयाकरणों ने संख्या को द्रव्याश्रित कहा है। मूर्त और अमूर्त दोनों के सन्दर्भ में संख्या का व्यवहार देखा जाता है। संख्या स्वयं ही अमूर्त जैसी चीज प्रतीत होती है। इस आधार पर यदि यह कहें कि संख्या मूर्तों एवं अमूर्तों की गणना एवं उनके भेदन की मानसिक संकल्पना है—तो इसका तात्पर्य यह नहीं होता कि संख्या कोरी कल्पना है और इसका आधार नहीं है। ऐसा मानने पर तो संख्या व्यवस्थित हो नहीं हो सकती है। अतः यह मानना अनुचित नहीं होगा कि मूर्तों एवं अमूर्तों की भेदक शक्ति के रूप में संख्या की जो संकल्पना व्यवहार में परम्परा से आयी है उसके अनुसार हम जो व्यवहार करते हैं वह कोरी संकल्पना या कोई कृत्रिम कल्पना रूप न होकर यथार्थ और निश्चित होती है। उदाहरण के लिए विषुवत् रेखा किसी काल में कल्पित रही होगी किन्तु जब एक बार विषुवत् रेखा मान ली गयी और उस रूप में लोक में व्यवहृत होने लगी तो विषुवत् रेखा के पूर्व में कौन देश है ? पश्चिम में कौन देश है ? अथवा जिस नाव से हम विषुवत् रेखा पार करने जा रहे हैं उसने विषुवत् रेखा को पार कर लिया है अथवा नहीं ? ये सारे व्यवहार काल्पनिक नहीं रह जाते, बल्कि यथार्थ हो जाते हैं, और इन प्रश्नों का उत्तर भी तथ्यात्मक हो जाता है। द्रव्य या जाति एक है, दो हैं, इस रूप में बोध कराने के हेतु के रूप में संख्या का व्यवहार-परम्परा नित्य है और इसका जिस रूप में व्यवहार होता आया है उसमें उच्छेद न होने से इसमें प्रवाह—नित्यता भी है।

प्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य ने तो संख्या (द्वयणुकादि) के परिमाण के उत्पादक दो परमाणुओं में वर्तमान द्वित्व आदि संख्या की उत्पत्ति के निमित्त–कारण की अपेक्षा बुद्धि के आधार के रूप में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध कर संख्या को ईश्वर द्वारा उत्पन्न मान लिया है। संख्या को चाहे ईश्वर निमित्त नित्य मानें या परम्परा नित्य मानें, दोनों में परम्परा–नित्यता का उच्छेद नहीं होता है।

इस परम्परा-नित्यता पर आधारित संख्या के रूप का लोकव्यवहार में प्रयोग होता है। इसी रूप का आश्रयण कर वैशेषिकों एवं वैयाकरणों ने संख्या की विवेचना की है। प्रस्तुत लेख का लक्ष्य सामान्य रूप से वैशेषिकों एवं वैयाकरणों के 'संख्या विवेचन'' तथा विशेष रूप से भर्तृहरि द्वारा दिए गए संख्या के लक्षण एवं कार्य को स्पष्ट करना है।

भाषा एवं व्याकरण दर्शन में शब्द प्रमाण है। यहाँ व्यवहार में शब्द से जो अर्थ होता है वही अर्थ है।[1] संख्या का जिस अर्थ में प्रयोग होता है वह भी शब्द से ही जानते हैं। 'एक' शब्द का अर्थ एक संख्या है और शब्द का द्रव्य–रूप या जाति–रूप जो अर्थ है उसे संख्यावान् कहते हैं। इन संख्यावानों (द्रव्य, जाति) को गिनने के लिए ही एक, दो आदि संख्याओं का प्रयोग होता है। संख्यावान् पदार्थों की संज्ञा (एक से लेकर परार्ध तक) संख्या है। इन संख्याओं का बोध कराने या संख्याओं को कहने के लिए एक, सौ, हजार आदि संज्ञाओं का प्रयोग किया जाता है। द्रव्य या जाति एक है, दो हैं, इत्यादि ऐसा बोध संख्या के कारण होता है। इसी आधार पर वैशेषिकों ने वस्तुओं को संख्यावान् कहा है और वस्तुओं को गिनने के लिए एक, दो आदि का प्रयोग होता है – ऐसा स्वीकार किया है। सभी भेद–व्यवहार संख्या के कारण होता है। वस्तुओं में भेद–अभेद होते रहते हैं; इसीलिए यह माना जाता है कि संख्या द्रव्याश्रित है।

वैशेषिकों के अनुसार संख्या द्रव्य में रहती है और वह गुण–रूप है। चतुर्विंशति गुण में इसकी भी गणना है। अतः संख्या गुण–रूप है। वैशेषिकों के अनुसार एक, दो, तीन, आदि के व्यवहार के हेतुभूत जो सामान्य गुण है उन्हें संख्या कहते हैं।[2] संख्या दो प्रकार की होती है – एक द्रव्य में रहनेवाली 'एकत्व' संख्या और दूसरी अनेक द्रव्यों में रहनेवाली द्वित्व, त्रित्व आदि संख्याएँ। तर्कभाषाकार के अनुसार 'एकत्व' संख्या भी दो प्रकार की है– एक परमाणु, आत्मा, आदि नित्य पदार्थों में रहनेवाली 'एकत्व' संख्या जो नित्य होती है तथा दूसरी घट, पट, आदि अनित्य पदार्थों में रहनेवाली 'एकत्व' संख्या जो अनित्य ही होती है।[3] तर्कसंग्रहकार के अनुसार[4] द्वित्व, आदि संख्या यद्यपि नित्य एवं अनित्य वस्तुओं में रहती है फिर भी अनित्य है। कारण वह अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होती है। एक संदर्भ से दूसरे का ज्ञान

अपेक्षाबुद्धि कहलाता है। यह विभेदक प्रत्यक्ष है जिसके द्वारा "यह एक है" ऐसा बोध होता है और द्वित्व आदि संख्याएँ उत्पन्न होती हैं। उसे तर्कसंग्रहकार ने अनेकैकत्वबुद्धि रूप में परिभाषित किया है। इसे "विनाशक-विनाश-प्रतियोगी बुद्धि" भी कहा गया है। अपेक्षा-बुद्धि के विनाश से द्वित्व आदि का भी विनाश माना जाता है। दूसरी वस्तुओं से तुलना करने की स्थिति में दो, तीन नहीं होते। संख्या का विचार उपमान से निगमित होता है। यदि दो, तीन आदि संख्याएँ नहीं हैं तो एक भी नहीं होगा; क्योंकि एक को भी अपेक्षाबुद्धि की आवश्यकता रहती है। किन्तु तर्कसंग्रहकार ने इसे नहीं माना है। तर्कसंग्रहकार के मत में इसे अपेक्षाबुद्धि की आवश्यकता नहीं होती है और यह सदैव अनित्य नहीं होती अपितु यह नित्यगतं नित्यं और अनित्यगतं अनित्यम् स्वरूप है।

'एकत्व' भी अनित्य है किन्तु तर्कदीपिकाकार ने इसे नहीं माना है। अपेक्षाबुद्धिजन्य के अर्थ में 'एक' भी अनित्य है क्योंकि यदि विश्व में केवल 'एक' हो और उस तरह की अन्य वस्तुएँ हमारी बुद्धि में न हो तो उसे 'एक' भी नहीं कह सकते। दूसरे के संदर्भ से ही 'एकत्व' का बोध होता है और उस दूसरे से एक-एक करके 'दो' उत्पन्न होता है। इस अर्थ में 'एकत्व' भी अपेक्षाबुद्धिजन्य है।

हेलाराज प्रश्न उठाते हैं कि यदि यह मानें कि सहायक के न रहने की अवस्था में पदार्थ को एक तथा ससहाय अवस्था में दो, तीन, आदि संख्याओं से व्यक्त करते हैं तो इसका तात्पर्य यह है कि संख्या अलग वस्तु नहीं है। द्रव्य ही एक है और जब उसका सहायक कोई नहीं होता है तो वह 'एक' सहायक होने की स्थिति में दो, तीन आदि हो जाता है। हेलाराज के अनुसार ऐसा मानना संगत नहीं है क्योंकि अनुभव में ऐसा नहीं होता। सहायक-रहित होना ही 'एकत्व' नहीं। क्योंकि सहायक रहित अवस्था में भी 'एकत्व' का बोध नहीं होता और सहायक रहने पर भी द्रव्य में "एक" संख्या का बोध होता है – सहायक के रहने पर वे तीन-चार आदि नहीं होते हैं। उदाहरण के लिए "सहैवदशभिः पुत्रैः भारं वहति गर्दभीः" अतः सहायक असहायक से होता है – ऐसा मानना ठीक नहीं है और एक, दो आदि संख्याओं को पृथक् पृथक् मानना पड़ेगा।[५]

पुनः प्रश्न उठता है कि संख्या द्रव्य से व्यतिरिक्त है या अव्यतिरिक्त? इस संबंध में दो मत हो सकते हैं – (१) यह द्रव्य से व्यतिरिक्त चीज है (२) यह द्रव्य की आत्मा है या द्रव्य ही है। अगर यह मानें कि संख्या द्रव्य में रहने वाली है, उससे भिन्न नहीं होती है, अतः यह द्रव्य से अव्यतिरिक्त है, तो गुण आदि के संबंध में 'एक शुक्लः' 'एकः नीलः' जैसा व्यवहार किस आधार पर किया जाता है? और यदि संख्या द्रव्य से पूर्णतया भिन्न है तो द्रव्य का ज्ञान संख्या-

विशिष्ट रूप या भिन्न रूप में होगा ही नहीं। वैयाकरण लोग द्रव्य की सत्ता में अधिक रुचि नहीं रखते। उनका संबंध ऐसे विचारों से होता है, जो शब्दों के स्वरूप की व्याख्या में सहायक हो सकें। भर्तृहरि के अनुसार संख्या द्रव्य से भिन्न हो या अभिन्न, व्यवहार में एक, दो आदि शब्दों से भेद किया जाता है। इस भेद का कोई हेतुत्व (हेतुभूत धर्म) होना चाहिए। इसी भेदक शक्ति की संज्ञा संख्या है।

'संचष्टे" इस विग्रह में सम्पूर्वक 'ख्या' धातु से 'संख्या' शब्द बनता है और "संख्यायते यत्" इस तरह कर्म में प्रत्यय करने पर संख्या का अर्थ संख्येय होता है। साथ ही "संख्यायते अनेन" इस प्रकार करण में प्रत्यय करने पर इसका अर्थ संख्यान भी होता है। इस प्रकार संख्या संख्येय एवं संख्यानपरक भी है। इसमें लोक-प्रसिद्धि के अनुसार एक से दस तक संख्याएँ संख्येयपरक होती हैं। इसी के सहारे एक है, दो हैं, तीन हैं, ऐसा वस्तुओं को कहा जाता है। इस प्रकार इसे जो ठीक से कहे, वही संख्या है। जो लोग यह मानते हैं कि 'संख्या द्रव्य में रहनेवाली है' उनके मतों के विरुद्ध हेलाराज द्वारा उठाया गया प्रश्न स्वाभाविक है। इसके उत्तर में हेलाराज का कहना है कि संख्या परिच्छेदक है और अर्थ (द्रव्य) परिच्छेद्य है। संख्या परिच्छेद्य में समवाय संबंध से रहने वाली हो या उससे अन्य में रह कर भेद का हेतु हो या गुण से अतिरिक्त किसी द्रव्य में हो (द्रव्य में गुण भी रहते हैं और संख्या भी)। इस प्रकार द्रव्य में गुण और संख्या का सामानाधिकरण्य है। यदि इसी में दोनों है तब तो संख्या समवाय संबंध से द्रव्य में ही स्थित है। अतः यदि संख्या द्रव्य में भेद करती है तो गुण में भी भेद की कल्पना (भेदबुद्धि) होती है। इसी तरह संख्या संख्या में भी भेद करती है। संख्या जब एक, दो, तीन आदि द्रव्यों से अतिरिक्त गुण, कर्म, आदि का विच्छेद करती है तो समानाधिकरण के कारण गुण-भेद-बुद्धि भी करती है। और स्पष्ट शब्दों में, द्रव्यगत संख्या 'रूप' आदि में भी देखी जाती है। गुण में भी "चतुर्विशति गुणाः" और कर्म में भी 'पंचकर्माणि", अभाव में भी 'चत्वारोऽभावः' का व्यवहार भाषीय प्रयोग में समानाधिकरण के कारण संभव हो जाता है। "दो बीस", "पाँच पचास" आदि प्रयोगों में संख्या के संख्या ही भेदक के रूप में व्यवहृत होती है, और 'सप्त पर्वत', त्रीणि "परिमाणवः" जैसे प्रयोगों में अल्प एवं महत् परिमाण के लिए भी संख्या का प्रयोग देखा जाता है। इसी आधार पर वैयाकरणों ने संख्या को सबों की भेदक शक्ति (संख्या सर्वस्य भेदिका) माना है।[७]

द्रव्यगत होते हुए भी संख्या गुणादि के भेदन में किस प्रकार सहायक होती है इसे भर्तृहरि ने एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट किया है।[८] देशविशेष के संबंध में द्रव्य के पहले रहने के कारण 'पर' और उसके बाद में रहने के कारण

' अपर ' शब्द का व्यवहार होता है। इसी तरह गुण; कर्म; जाति में भी पर-अपर का भेद समान रूप से सुना जाता है। इस तरह के प्रयोग भाषा में गौण माने जाते हैं। उदाहरण के लिए ' शुक्ल: पट:' इस वाक्य में भाषा पट को मुख्य एवं शुक्ल को गौण (पट में निहित गुण के रूप में) प्रस्तुत करती है। परंतु जब हम ' पटस्येदमेकं चित्रं रूपम् एकम् द्वे बहूनि '[९] यह वाक्य कहते हैं तो यहाँ शब्द की शक्ति के आधार पर संख्या का स्वतंत्र रूप में प्रतिपादन किया जाता है। यहां ' एक संख्या ' द्वारा एक गुण को भिन्न किया जाता है। किन्तु सामान्य मान्यता यही है कि संख्या से भिन्न करना या होना द्रव्य का धर्म है। इसे और स्पष्ट करते हुए हेलाराज लिखते हैं कि नाम धातु-गम्-प्रतिपादिक का भी धातु के रूप में प्रयोग होने लगता है। ' पुत्रं इव आचरति ' में पुत्र पुत्र नहीं किन्तु पुत्र जैसा हो गया है। कुछ स्थितियों में क्रिया भी द्रव्य जैसी होती है और द्रव्य की तरह उनका भी व्यवहार होने लगता है। गुण में भेद की बात जब आती है तो गुण और द्रव्य दोनों में व्यापार आ जाने से गुण में भी द्रव्य जैसा व्यवहार होता है।

वैशेषिकों का आश्रयण करके लोक में भी गुण, संख्या, लिंग आदि को बुद्धि से अलग-अलग करके उसमें भी द्रव्य की कल्पना कर ली जाती है। द्रव्य के धर्म द्वारा बुद्धि गुण आदि की व्याख्या करती है। उदाहरण के लिए ' चित्रं रूपं ' में-यदि कोई चित्र है तो अवयवी की दृष्टि से उसमें ' एकत्व ' की कल्पना होती है और यदि भिन्न भिन्न रूपों में उन रूपों की गणना की जाती है तो ' अनेक ' हो जाते हैं। अर्थात्, अवयवी के रूप में ' एकत्व ' एवं अवयव रूप में ' अनेकत्व ' की कल्पना की जाती है।[१०]

संख्या उपकारक के रूप में व्यवच्छेदन करती है।[११] उपकार का अर्थ है दूसरे से व्यवच्छेदन की क्रिया, और यह व्यवच्छेदन भी उपकार है। दूसरे के धर्म के साथ किसी द्रव्य का व्यवच्छेदन करते हैं तो ऐसे शब्द उन द्रव्यों में स्वतंत्र रूप से लक्षित होते हैं। परंतु संख्या द्रव्य के साथ गुण, कर्म का भी व्यवच्छेदक हो जाती है। वैशेषिकों के अनुसार जिस इन्द्रिय से जिस पदार्थ का ग्रहण होता है उसी इन्द्रिय से उस पदार्थ के अभाव का भी ग्रहण होता है। द्रव्यगत होने से गुण, संख्या, कर्म, अभाव आदि परस्पर सबंद्ध हैं। अत: जो द्रव्य का भेदक है वही इनका ही भेदक हो जाता है। जैसे – ज्ञान किसी चीज का ज्ञान होता है। ज्ञान स्वयं प्रकाशित नहीं है। यह उस वस्तु के साथ प्रकाशित होता है जिसे यह प्रकाशित करता है। घट के अर्थ के साथ घटज्ञान प्रकाशित होता है। उसी तरह द्रव्य भी गुण, संख्या आदि के साथ संस्पृष्ट होकर ही मिलता है, अकेले नहीं। इसीलिए द्रव्य की भेदक संख्या उस द्रव्य में रहने वाले अन्य गुणादि का भी भेदक हो जाती है।[१२]

प्रश्न उठता है कि संसर्गवादियों की यदि यह मान्यता सही है कि सभी संस्पृष्ट ही भाषित होते है तो 'इदं सामान्यं' (घट) के भिन्न-भिन्न होने पर भी 'घटत्व सामान्य' अर्थात् सामान्य, विशेष अलग-अलग क्यों भासित होते हैं? सभी द्रव्य रूपही भासित होना चाहिए। इसके उत्तर में हेलाराज कहते हैं कि सामान्य, विशेष, गुण आदि द्रव्य की उपाधियां हैं। भेदपूर्वक 'यह द्रव्य है, यह गुण है, यह सामान्य है', ऐसे कथनों में आगम का अनुसरण करके लोग ऐसी कल्पना कर लेते हैं। ऐसी कल्पना द्वारा द्रव्य-विभाग के व्यवहार का वर्णन किया जाता है। इसीलिए संसर्गी की कल्पना बुद्धि से कही जाती है। बुद्धि के द्वारा 'इस रूप में ये गुणादि रहते हैं' ऐसी कल्पना होती है। इसलिए एक का दूसरे में अध्यारोप दुर्लभ नहीं है। द्रव्य में गुणादि का संसर्ग रहता है इसीलिए दूसरे धर्म का सत्त्व; असत्त्व इसका प्रयोजन नहीं हो सकता है। दूसरा धर्म है या नहीं है, उसकी सत्ता है या असत्ता-यह सब कल्पना की बात है।[13] स्वतंत्र रूप से अन्य धर्म का आरोप करके उसमें भी संख्या, लिंग आदि का व्यवहार होता है। सामान्य आदि द्रव्य में रहनेवाले हैं, इसीलिए सामान्य में सामान्य, विशेष में विशेष; संख्या में संख्या, लिंग में लिंग का व्यवहार होता है-जैसे 'पुमान्, पुंस्त्वं, पुस्ता'।[14]

भाष्यकार की पंक्ति है, 'भावोऽपिभावेनयुज्यते' अर्थात् जैसे-गौत्व 'गो का सामान्य अर्थ है। गोत्व में 'त्व' लगाकर उसमें भी 'गोत्वत्व' बनता है। उसी तरह धर्म के आरोप के द्वारा द्रव्याश्रित होने पर भी गुण, कर्म आदि में भी संख्या का व्यवहार होता है। भाव में भी भाव रहता है क्योंकि द्रव्य सबका अधिकरण है।

द्रव्य भेद-अभेद से परे है किंतु संख्या के कारण द्रव्य में भेद, अभेद की बात आती है। यहां प्रश्न उठता है कि यदि द्रव्य भेदाभेद रहित है तो संख्या उसमें भेद-अभेद कैसे करती है? संसर्गवादियों के अनुसार पृथ्वी, जल आदि विभिन्न पदार्थ यथार्थ जीवन में मिश्रित माने जाते हैं किन्तु चूंकि पदार्थों की योजना में सबका अपना नियत स्थान होता है अतः भ्रम नहीं होता। सभी पदार्थों की योजना अलग-अलग है किन्तु संसृष्ट होने पर उनमें तद्तद् अर्थ का काम होने लगता है। इसी प्रकार सत्त्व, रजस्, तमस् ये गुण (सांख्यमतानुसार) सर्वत्र होते हैं किन्तु सभी अपने अपने कार्यविशेष का सम्पादन करते हैं। अर्थात्; संसर्ग होने पर उनमें तद्तद् अर्थ मालूम पड़ने लगता है। द्रव्य में भी गुण, कर्म; संख्या मिले होते हैं तो भी उनका कार्य अलग अलग होते रहता है। इसलिए संख्या का कार्य (भेदन) होते रहता है।[15]

प्रश्न उठता है कि संख्या कि योनि (मूल कारण) क्या है? दो या दो से अधिक संख्याएँ कैसे बनती हैं? "संख्यायतेऽनया संख्येति" व्युत्पत्ति से जिसके द्वारा

संख्यान अथवा गणना होती है वह संख्या है। जिसकी गणना होती है वह संख्येय होता है। गणना को संख्यान कहते हैं। प्राचीन आचार्यों ने ' वचन ' को संख्या कहा है। वचन और संख्या प्राचीन आचार्यों के पारिभाषिक शब्द हैं और एक-वचन, द्विवचन रूप में इनकी प्रसिद्धि है। द्वित्वादि संख्याओं का मूल कारण ' एक ' है, अभेद है, और सभी भेद अभेदपूर्वक होते हैं। ' एक ' अभेद है, द्वित्वादि भेदमूलक हैं। जब हम दो वस्तुओं को देखते हैं तो उनमें से हर एक में " एकत्व " को भी देखते हैं। इस प्रकार ' अयम् एकः ' इस अपेक्षाबुद्धि से ' द्वित्व ' बनता है। जब तक ' एक ' है तब तक भेद की बात नहीं उठती है। एक है, इसके बाद भेद की बात उठती है दूसरे पदार्थ के साथ होने पर दो, तीन आदि का व्यवहार होता है। दो, तीन, पांच, दस, सौ, हजार आदि संज्ञाओं की प्रसिद्धि के अनुसार विभेदक शक्ति (संख्या) के रूप में व्यवहार होता है। द्वित्वादि संख्या की उत्पत्ति के संबंध में भर्तृहरि ने मुख्यतः तीन प्रकार के मतों का उल्लेख किया है।

१) जब दो एकत्व " अयम् एकः ", अयम् एकः ", इस रूप में अलग अलग होते हैं तो द्वित्वादि की बात नहीं उठती है। परंतु अपेक्षाबुद्धि सहित जब ' दो एकत्व ' होते हैं तो ' द्वित्व ' की उत्पत्ति के निमित्त होते हैं। अर्थात्, ' दो एकत्व ' से उत्पन्न होकर ' व्दित्व ' की प्रतीति होती है। और इसी प्रकार अपेक्षा-बुद्धि-पूर्वक त्रित्वादि ' संख्याओं की उत्पत्ति होती है।[१६] इस अपेक्षाबुद्धि के द्वारा ही एक, दो, आदि संख्याओं की एक, दो आदि संज्ञाओं के क्रम में व्यवस्था होती है।

२) ' दो एकत्व ' का काम ' व्दित्व ' का बोध उत्पन्न कराना है। वे अपेक्षा-बुद्धि के बिना ही ' व्दित्व ' उत्पन्न करते हैं।[१७]

३) व्दित्व ' एकत्वों ' से भिन्न कोई चीज नहीं है। ' एकत्व ' के समुदाय को " व्दित्व " इस नए शब्द से कहा जाता है। जैसे वृक्षों से अतिरिक्त "वन" नहीं होता, बल्कि वृक्षों के समुदाय को ही " वन " कहा जाता है, उसी तरह ' एकत्व का समुदाय ' व्दित्व, त्रित्व, कहा जाता है। ' दो एकत्वों ' के समूह का नाम दो है और इसी प्रकार तीन, चार आदि के बारे में कहा जाता है। समूहवादियों में से कुछ की मान्यता है कि ' दो एकत्व ' निरपेक्ष रूप से एकत्व है परंतु परस्पर सापेक्ष होकर वे ही ' व्दित्व ' कहे जाते हैं। इस मत में द्वित्व ' एकत्व ' से अव्यतिरिक्त है। स्पष्ट है कि इस मत में " वन " की तरह 'व्दित्व' शब्द कहा जाता है। व्दित्व में व्दिवचन होता है क्योंकि उसमें दो एकत्व होते हैं। वे दो एकत्व व्दित्व के अवयव हैं और व्दित्व अवयवी। समुदाय के नाते व्दित्व एक इकाई है।[१८] इसकी व्याख्या करने के लिए पाणिनि ने "द्वयेकयोर-

व्दिवचनैकवचने "[२७] सूत्र का विधान किया है। व्दित्व में दो एकत्व हैं इसलिए 'व्दिवचन' हुआ। दो एकत्वों से जनित व्दित्व को उनसे व्यतिरिक्त मानना ही उचित है। अव्यतिरिक्त मानने पर व्दिवचन दो 'एकत्वों' में होगा। फलत: 'व्दयेकयो:' शब्द से 'तीन एकत्व' का ग्रहण होने लगेगा और तब बहुवचन हो जाएगा।

प्रश्न उठता है कि 'दो एकत्वों' का जो समुदाय बना है वह तो एक ही होता है तो व्दिवचन का प्रयोग क्यों होता है? 'व्दित्व' संख्या के नाते एक है तो उसमें व्दिचन या बहुवचन कैसे होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भर्तृहरि एवं हेलाराज के विचार निम्न प्रकार हैं – यद्यपि एक भी कोई संख्येय है किन्तु उसमें गुण दो हैं तो गुण के भेद से भेद होता है। आश्रय और आश्रयी में आश्रय के कारण भेद होता है। गुण आश्रय है। उसके कारण द्रव्य में भेद हो जाता है। "गुणात् प्रसाद: शुक्लतर:" में जैसे गुण के कारण 'प्रसाद' भी 'शुक्लतर' हुआ। शुक्ल और शुक्ल का भेद आश्रय (गुण) के कारण होता है। इस आधार पर दो में व्दिवचन, तीन में बहुवचन होना संगत है। आश्रय-भेद से ही द्रव्य में भेद हो जाता है। इसका एक उदाहरण यह वाक्य है कि "वह पटु हो गया है" इसमें "वह" द्रव्य है जिसमें 'पटुता' गुण (आश्रय) है। वे पूर्व साल पटु थे, इस साल "पटुतर" हो गए इस प्रकार 'पटुगुण' के कारण उस व्यक्ति (द्रव्य) में भी भेद व्यवहार हो जाता है।

प्रश्न उठता है कि यदि 'व्दित्व' एक नया एकत्व है तो एकत्व होने से व्दित्वादि संख्याओं के लिए व्दिवचन या बहुवचन का प्रयोग कैसे होगा? इसके उत्तर में हेलाराज का कहना है कि यद्यपि 'व्दित्व' एक नया एकत्व है, फिर भी जिन एकत्वों से 'व्दित्व' बनता है वे बुध्दि में रहते हैं और व्दित्व, बहुत्व आदि उन्हीं के आधार पर व्यवहृत होते हैं। अत: दो एकत्व से उत्पन्न 'व्दित्व' को उनसे व्यतिरिक्त मानना उचित है। [२८]

दो से लेकर दस तक की संख्याओं के बारे में यही नियम लागू होता है।

भर्तृहरि के अनुसार:दस तक की संख्याएं संख्येय परक होती हैं। "संख्येय का तात्पर्य, संख्या का द्रव्यपरक होने से है। उदाहरण के लिए "एक: घट:" में घट: (द्रव्य) ही "एक:" है। दोनों में, अर्थात् घट: और एक: में भेद नहीं है। इसीलिए दोनों में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। दोनों में अभेद होने से, संख्येया: के साथ एक ही विभक्ति आती है। इसी कारण "आदशत: संख्या संख्येय' कहा जाता है।

दस के बाद की संख्याएँ संख्येय एवं संख्यान परक दोनों होती हैं। "विंशति मनुष्या:" वाक्य में 'मनुष्य' संख्येय है और विंशति: संख्या। यह

विंशति " सीधे संख्येय " (मनुष्य) को बताती है। अतः संख्येपरक है। परंतु "मनुष्याणां विंशतिः" वाक्य में " विंशतिः " संख्येपरक नहीं है। यह संख्यानपरक (जिससे संख्या बताई जाती है) है। इस वाक्य में "मनुष्य" संख्येय है और यही प्रधान है, विशेष्य है, और इस विशेष्य का अर्थ उसका विशेषण होता है। इस प्रकार मनुष्य और विंशति में विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध होता है। मनुष्य और विंशति संख्याएं संख्यानपरक हैं और इसका अर्थ है " बीस संख्यासे संख्येय मनुष्य "।

लोक में " विंशति " आदि शब्द संख्या एवं संख्येय दोनों अर्थ में व्यवहृत होते हैं। जैसे बीस गायों के लिए " गवां विंशतिः " एवं ' विंशति गावः' दोनों का व्यवहार होता है। पहले वाक्य में " बीस " संख्या के लिए और दूसरे वाक्य में संख्येय (पशु-गाय) के लिए बीस का प्रयोग होता है।[२२]

अखण्ड रूप से रहने पर ही बीस का संख्येय अथवा संख्यानरपक अर्थ निकलेगा। दस-दस या पन्द्रह-पाँच रूप में अन्वय करके बीस को समझा जा सकता है, किन्तु बीस अवयव से बनी संख्या न होकर स्वतंत्र संख्या है।

एक विंशति शब्द एकवचन है। इसमें एक और विंशति के रूप में दो पृथक्-पृथक् संख्या मानना ठीक नहीं है। विंशति की तरह " एक विंशति " शब्द भी अनवयवार्थक है। अर्थात्, एक विंशति (इक्कीस संख्या) एक संख्या और बीस संख्या के योग से बनी है-ऐसा मानना यथार्थ नहीं है, वरन् समझने के लिए है। वाक्यपदीय के अनुसार एक विंशति का विवरण दस और ग्यारह अथवा नौ और बारह आदि के रूप में दिया जा सकता है। परंतु ये सभी विभाग कृत्रिम हैं। " एक विंशति " आदि संख्याओं में कोई अवयव नहीं है। मात्र स्पष्ट करने के लिए " एकश्च विंशतिश्च द्विगुसमाहारः" जैसे कथन " एक विंशति " के लिए कहे जाते हैं। एक विंशति जैसे संख्याओं को दो संख्याओं का योग मान लेने पर और उन्हें अवयव रहित न मानने पर व्याकरण-संबंधी कठिनाई उपस्थित होती है। दस आदि संख्याओं की तरह " एक विंशति " आदि को निरपेक्ष अखण्ड एवं एक-बुद्धिग्राह्य मान कर ही संख्या से विहित कार्य (भेदन) द्वारा सम्पन्न किया जाता है। उदाहरण के लिए " एक विंशम्शतम् ", 'एक विंशति तमम्', ' एकं विंशतिकृत्वा " आदि में क्रमशः ' ड '; ' तमट् ' और ' कृत्वसुच् ' प्रत्यय हुए हैं। यदि एक-विंशति आदि संख्याओं को समूह मानें तो उनमें ये प्रत्यय नहीं हो सकते; जैसे स्वाङ्ग समुदाय से स्वाङ्ग कार्य नहीं होता है।[२३] फलतः " कल्याण पाणिपादाः " में स्वाङ्ग नहीं मानने से [२४] " स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् "[२५] सूत्र से असंयोगोपधातङीप्' प्रत्यय नहीं होता है। उसी तरह समुदाय को संख्या मान कर काम नहीं होता है। इसीलिए ' एक विंशति'

संख्या को समुदाय न मान कर स्वतंत्र संख्या मानना उचित है। अतः विंशति, एक-विंशति, आदि को भी संख्या-समुदाय न मान कर स्वतंत्र संख्या मानना ही उचित है।

भर्तृहरि के अनुसार 'द्विदशा' शब्द दो बार अर्थ में संख्यावाची शब्द द्वि से 'सुच्' प्रत्यय करने पर बनता है, किन्तु उसमें 'सुच्' होने से भेद होता है। 'द्विदश' इस तरह समस्त होने पर बना 'द्विदशा' इस समस्त पद में द्विशब्द 'दस की आवृत्ति' इस अर्थ को बताने वाला होता है। 'द्विदशा' इस प्रयोग में द्वित्व का दसादि संख्याओं के साथ अन्वय नहीं होगा, क्योंकि संख्या संख्येय के अधीन होती है। इसलिए सामर्थ्य न रहने के कारण वहाँ 'संख्यया-व्ययासन्नादूराधिक संख्या संख्येये'[२६] सूत्र से बहुब्रीहि समास नहीं होगा-ऐसा संदेह होने पर भर्तृहरि ने महाभाष्य के अनुसार निर्णय किया है कि 'द्विदशा' में संख्या का 'दस के दो संघ के साथ' अन्वय होता है; अर्थात्, आवृत्ति के साथ अन्वय होता है। अतः उस रूप में संबंध होने के कारण 'द्विदशा' में समास हो जाता है। और ऐसी स्थिती में 'द्विदशा' में द्वि शब्द दस की दो बार आवृत्ति बताने वाला होता है।[२७]

प्रश्न उठता है कि द्विदशामें दस संख्या या संख्येय द्वित्व से परिच्छेद्य क्यों नहीं है। इसके उत्तर में हेलाराज का कहना है कि अभेद होने से 'दो दस' संभव नहीं है। यहां संख्या में भेद का अभाव एवं संख्या के आश्रय संख्येय में भी अभेद है; अतः द्वित्वादि परिच्छेदक नहीं होते। इसीलिए यह कहा जाता है कि 'द्विदशा' दस संख्या से परिच्छेद्य एक समूह का वर्ग है जिसे यह दो बार दस शब्द को बताता है। अर्थात्, दस के दो वर्ग एक साथ मिल कर या उस रूप की संख्येय की आवृत्ति करके (१० × २=२० गणना करके) माना जाता है। दस संख्येय है अर्थात्, घटादिपरक है और इसके द्वारा गणना की जाती है अतः वह संख्यान परक भी है। किन्तु वैयाकरणों का झुकाव 'द्विदशा' रूप में दस की दो बार आवृत्ति न मान कर द्विदशा को अव्युत्पन्न मानने की ओर है। इसके अनुसार क्रियाभ्यावृत्ति में संख्येय किसी क्रिया की आवृत्ति बतलाता है। संख्या या संख्येय की आवृत्ति को नहीं बतलाता है। अतः द्विदशा में आवृत्ति का दो के साथ अन्वय है न कि दो संख्या का दस संख्या के साथ। इसलिए 'द्वि' और 'दस' में परस्पर अपेक्षा न रहने पर समास कैसे हुआ-यह शंका निराधार है।[२८]

लिंगवचनविचारकार के अनुसार एक से लेकर सौ आदि शब्द संज्ञाएं हैं जिनसे संख्या को कहा जाता है। संख्या-वाचक शब्दों में एक से चार तक तीनों लिंगों में प्रयुक्त होते हैं। एक शब्द नित्य एकवचनान्त, द्विशब्द नित्य द्विवचनान्त और इसी प्रकार चतुःशब्द नित्य बहुवचनान्त होते हैं। दस से पूर्व की

संख्याएं संख्येयपरक होती हैं, जैसे–अष्टौब्राह्मणाः में 'ब्राह्मणाः' संख्येय है; उसी को बताने के लिए 'अष्ट' शब्द का व्यवहार होता हैं। अतः दोनों में विशेष्य–विशेषण भाव होता है। लिंगवचनविचारकार के अनुसार एक से अठारह तक के संख्यावाचक शब्द संख्या–विशिष्ट संख्येयपरक होते है। अर्थात्, उन संख्याओं में संख्या विशेषण के रूप में होती है। उन्नीस से अन्त तक की संख्याओं को तीन तरह से कहा जाता है –

१) कुछ संख्या शब्द संख्या एवं संख्येय दोनों का बोध कराते हैं, दोनों परक होते हैं। वहां वे नित्य एकवचन होते हैं। 'विंशति गावः' में 'विंशतिः' शब्द संख्याबोधक होता है। यह गौ का विशेषण भी कहा जाता है। संख्येय वस्तु के विशेषणपरक होते हैं।

२) शतादि कुछ शब्द संख्या के बोधक होते हैं, वे संख्येय का बोध नहीं कराते, केवल संख्या का बोध कराते हैं और वहां एकवचन होता है। 'घटानां विंशति' में एकवचन (विंशतिः) है। 'विंशतिः' संख्या को दो बीस का समूह बनाने पर द्विवचन भी होगा (घटानां विंशत्यौ) और इसी प्रकार तीन बीस का समूह बनाने पर बहुवचन भी होगा। जब संख्याएं केवल संख्या की बोधक होती हैं, संख्येय बोधक नहीं होती हैं तब संख्येय के साथ उनका विशेष्य–विशेषण भाव नहीं होता है। इसीलिए संख्येय वस्तु (घट) में षष्ठी विभक्ती का प्रयोग होता है। इसमें वचन नियत नहीं होते।

३) शत आदि संख्येय समूह को बताते हैं। इसमें षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है–जैसे–घटानां विंशतिः से 'घट्' के 'बीस का समूह' कहा जाता है। इसमें संख्यावाचक शब्द 'विंशतिः' में एक वचन होता है।

वाक्यपदीयकार ने एक से दस तक की संख्याओं को संख्येयपरक माना है, जबकि लिंगवचनकार ने अठारह तक की संख्याओं को संख्येयपरक माना है। वाक्यपदीयकार के अनुसार दस के बाद की संख्याएं संख्येय एवं संख्यान दोनों परक होती हैं।

वास्तव में लिंगवचनकार ने 'अष्टादश ब्राह्मणाः', 'अष्टादश पुराणाः' आदि प्रसिद्धियों को लेकर अठारह तक की संख्याओं को संख्येय माना है।

इससे वाक्यपदीयकार भी असहमत नहीं होंगे। परंतु ऐसे प्रयोग प्रसिद्धियां हैं। इनका कुछ नियामक नहीं है। कुछ प्रयोगों के आधार पर ही इन्हें संख्येय मान लिया जाता है।

भर्तृहरि की मान्यता है कि संख्याशब्द एक नाम है। संख्या को संख्या इसलिए कहते हैं क्योंकि संख्यान जाति के साथ उसका योग होता है। जैसे 'रूप' (जो सभी रूपों के लिए कहा जाता है) का योग होने से 'रूप' को

'रूप' कहते हैं। किन्तु वह लाल, पीला, सफेद, आदि को ही बताने वाला है। 'रूप' कोई 'विशेष रूप' या स्वयं कोई रूप नहीं होता है।[३०]

इस प्रकार संख्या शब्द जहां प्रयुक्त किया जाएगा वहां संख्या से संख्या-विशेष का बोध नहीं होता। 'रूप' सामान्य की तरह संख्या संख्या-विशेष का बोध नहीं कराती, अपितु विभिन्न संख्याओं की संज्ञाएं हैं इसलिए 'संख्याया अवयवे तयप्'[३१] इस पाणिनि के सूत्र से 'व्दयम् व्दितयम्' 'द्वौ अवयवौ यस्य' (अवयवों के लिए) की सिद्धि होती है वहीं पर 'बहवा अवयवा: अस्या संख्याया' (अर्थात् इस संख्या के अनेक अवयव हैं) इस विग्रह में तयप् की शंका उठा कर महाभाष्यकार ने बताया है कि 'अवयव' में जो संख्या है उससे प्रत्यय होता है किन्तु संख्या वैसी नहीं है। अत: उससे प्रत्यय नहीं होता। संख्या संज्ञा मात्र है, इसके अवयव नहीं हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि 'एक:' शब्द से 'एक' कहा गया है तो एक वचन क्यों आता है? इसके उत्तर में हेलाराज का कहना है कि 'एक' प्रकृति है उसमें 'एकत्व' को प्रकृति से बताया जाता है। अर्थात्, एकत्व निमित्त रूप रहने पर ही 'एक' को 'एक' शब्द से कहा जाता है। पुन: प्रश्न उठता है कि 'एक' से 'एक' को ही बताया जाता है और एक + सु = एक: प्रत्यय से भी 'एक' को ही कहा जाता है तो सुविभक्ति (प्रत्यय) लगाने की आवश्यकता क्या है?

इसके उत्तर में भर्तृहरि का कहना है कि 'एक:' में एक प्रकृति-निमित्त है। यह विभक्ति से नहीं बतायी जाती है। बल्कि 'एक:' में रहने वाले 'एकत्व' को बताने के लिए विभक्ति लगायी जाती है। सुविभक्ति से एक में रहने वाले 'एकत्व' को कहा जाता है। विभक्ति लगाने से स्पष्ट हो जाता है कि 'यह एक ही' है। इसके समर्थन में भर्तृहरि कहते हैं कि संख्यावाचक में संख्येय की प्रधानता होती है, इसलिए संख्येय के द्वारा प्रत्यय के अर्थ के साथ साथ संबंध होगा। अत: प्रत्यय के अर्थ की भी आवश्यकता है। भाष्यकार के अनुसार 'संख्यानाम् इयम् परप्रधाना"[३२] अर्थात्, संख्या परप्रधान होती है। पर-प्रधान का तात्पर्य संख्या का संख्येय रूप होना है। संख्येय एकत्व, द्वित्व आदि है और उसे एक, दो (वस्तु) घटादि के साथ कहा जाता है। अन्वयव्यतिरेक से अर्थ-निश्चय होता है। यह इस शब्द का अर्थ है, इस शब्द के रहने पर यह अर्थ होता है, उसके अभाव में यह अर्थ नहीं होता है। 'प्रकृति निमित्त' और 'विभक्ति' से भी संख्या का संख्यान एवं संख्यापरक दोनों अर्थ रहता है। यदि एक ही अर्थ होता तो अन्वयव्यतिरेक की बात नहीं उठती। दोनों होते हैं इसलिए अन्वय-व्यतिरेक पूर्वक 'एक' अर्थ का निश्चय होता ह। प्रकृति-प्रत्यय दोनों का अर्थ न होने पर अन्वयव्यतिरेक का निश्चय नहीं होगा।[३३]

'एकत्व' संख्यान परक है। विभक्ति के अर्थ से उसका संबंध होता है। इसलिए भी प्रकृति का अर्थ प्रकृति से निकल जाने पर भी उस अर्थ को बताने के लिए प्रत्यय की आवश्यकता होती है क्योंकि संख्येय प्रधान होते ही प्रत्यय से बताए गए एकत्व के साथ संख्या (संख्या के द्वारा जो संख्येय बताया जाता है)का अन्वय होगा। इसलिए भाष्यकार ने "न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवलः प्रत्ययः"[३४] ऐसा सिद्धांत स्थिर किया है।

'आदसतः संख्यासंख्येय' अर्थात् एक से दस तक की संख्याएँ संख्येयपरक हैं। यदि इन्हें संख्येयपरक मानें तो "द्वयेकयोर्द्विवचने एकवचने"[३५] सूत्र में द्विशब्द से दो संख्येय बताए जाने चाहिए। जैसे द्वौ (घटों) में दो संख्येय हैं (और 'एक' शब्द से एक संख्येय बताया जाएगा)। अतः तीन होने पर बहुवचन होना चाहिए। किन्तु उनके अनुसार "द्वयेकयोः" सूत्र में दो और एक संख्याएँ संख्येयपरक ही नहीं संख्यापरक भी हैं। संख्यान को मान कर 'दो' एक से अतिरिक्त एक संख्या है। 'एक' है और उससे अतिरिक्त दो, तीन, चार आदि हैं–ऐसा मानने पर संख्या संख्यानपरक है। अतः शास्त्र के निर्देशानुसार संख्यानपरक मान कर द्विवचन होता है। यदि 'एक' आदि संख्येयपरक है–इस प्रसिद्धि को लेकर चलें तो तो 'दो' और 'एक' तीन होंगे। अतः बहुवचन होगा। 'दश घटाः', 'पंचपुरुषाः' आदि संख्येयपरक ही होते हैं। सूत्र में संख्या का कथन संख्या एवं संख्येय दोनों परक हुआ है। यही कारण है कि कहीं संख्यान-परक अर्थ लिया जाता है और कहीं संख्येपरक। किन्तु सूत्र में द्विवचन निर्देश से संख्यानपरक ही समझा जाता है। अन्य स्थानों पर संख्येयपरक होने पर बहुवचन भी हो जाता है।

संख्या क्या है ? किसका अर्थ है ? इस प्रश्नों के उत्तर में वैयाकरणों ने प्रकृति एवं प्रत्यय रूप में पदों के अपोद्धार(विश्लेषण)करने पर अलग-अलग अर्थ निर्धारित किये हैं। इस तरह तिङन्तपदों में धातु प्रकृति है और तिङ्प्रत्यय है।[३६] धातु का सामान्य अर्थ व्यापार एवं उस व्यापार का फल है, और तिङ् के कहीं कर्ता, कहीं कर्म एवं संख्या तथा काल ये चार अर्थ होते हैं। जैसे 'भवति' में 'भू' का सामान्य रूप से अर्थ 'होने का व्यापार है' और 'उसकी सत्ता का होना' फल है। वर्तमान काल में होने वाले लट्लकार के अर्थ में यहाँ 'ति' का अर्थ वर्तमान काल है एवं एक-वचन होने के कारण उसका एकवचन (संख्या) अर्थ है। इस प्रकार संख्या भी तिङ् का अर्थ है। स्पष्ट है कि तिङ् के अर्थ के रूप में संख्या के संबंध में विचार किया जाता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि – संख्यावाची शब्दों – एक, दो, दस, सौ, हजार आदि की प्रसिद्ध संज्ञा संख्या है। पाणिनि ने व्याकरण में इसके अति-

रिक्त " बहुगणपतुडति संख्या " [३७] सूत्र से बहुगणवतुडति तद्धित के प्रत्ययों से बने शब्दों की संज्ञा संख्या की है। इसके अनुसार " गण " शब्द में संख्या मान कर व्यवहार होता है। " कति " प्रत्ययान्त लगाकर " कतिछात्राः सन्ति " में " कति " से संख्या मानकर काम होता है।

यहाँ यह उल्लेख करना महत्त्वपूर्ण है कि पाणिनि ने संज्ञाओं का व्यवहार दो तरह से किया है। (१) कृत्रिम संज्ञा; (२) अकृत्रिम संज्ञा। जो संज्ञा सूत्र से की जाती है जैसे, " बहुगुणवतुडति " आदि वह कृत्रिम है। ये संख्यावाची अर्थ में प्रसिद्ध नहीं है और उपरोक्त सूत्र से इनकी संज्ञा की जाती है। पुनः एक दो, तीन, दस, सौ, हजार आदि को जो संख्या कहा जाता है, वह उनके संज्ञारूप से है। इसे पहले से संख्या संज्ञा से बोला जाता रहा रहा है। इसीलिए ये अकृत्रिम संख्याएँ हैं।

निष्कर्षतः संख्या मूर्त, अमूर्त, भाव, अभाव, सभी पदार्थों की भेदक शक्ति है। ' रूप ' सामान्य की तरह संख्या सामान्य है और एक, दो, सौ, हजार, लाख; आदि विशेष रूपों में इसके द्वारा भेदक व्यवहार होता है। इस प्रकार संख्याएँ अनन्त हैं। संख्याएँ परस्पर सापेक्ष होकर नहीं अपितु स्वतन्त्र रूप से भेदन कार्य करती हैं। इसीलिए ' एक ' संख्या से ' दूसरी ' संख्या स्वतन्त्र मानी जाती है। यद्यपि बालकों को " दो इकाइयों का योग दो होता है " यह कर ही समझाया है किन्तु दो संख्या ' दो इकाइयों ' से भिन्न एक स्वतन्त्र संख्या के रूप में प्रयुक्त होती है। इस प्रकार एक, दो आदि संख्याओं को एक दूसरे से स्वतन्त्र माना जाता है। एक, दो, आदि शब्द एक, दो, आदि संख्याओं की प्रसिद्ध संज्ञाएँ हैं संख्याओं को भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न भिन्न रूप से बोलते और लिखते हैं। किन्तु जो बोलते या लिखते हैं उनके द्वारा संख्या को बताया जाता है। उदाहरण के लिए " एक " संख्या है। इसके लिए संस्कृत में एकः हिन्दी में एक- (अंक में - १) अंग्रेजी में वन् (अंक में - 1) आदि संकेत-प्रयोग होते हैं। इन सभी शब्दों का अर्थ " एक " ही होता है। इस प्रकार संख्या स्फोट-रूप शब्द है और इसकी अवगति इन संकेतों के द्वारा कराने की प्रसिद्धि रही है। इसी कारण इन संकेतों को भी संख्या कहा जाता है।

देवेन्द्रनाथ तिवारी

दर्शन विभाग
ल. ना. मिथिला विश्वविद्यालय
दरभंगा
(बिहार)

टिप्पणियाँ

१) शब्द प्रमाणका वयम् यच्छद्वाह तदस्माकं प्रमाणं। देखें महाभाष्य ।; १–१२–१५
२) वै. सू. प्रशस्तपादभाष्य – संख्याप्रकरणम्
३) तर्कभाषा – केशव मिश्र – गुण प्रकरणम्
४) तर्क संग्रह – गुण प्रकरण
५) न च पदार्थ एवासहाय एकत्वम् ससहायश्च यथायोगं व्दित्यादिति सहाय विरहतद्योगयोर्धर्मान्तरत्वाभावान्न कश्चिदन्यो द्रव्यात् संख्या लक्षणो गुण इति व्यतिरिक्त संख्याभावइति वाच्यम्। वाक्यपदीय भाग – ३, संख्या समुद्देश ९ पर प्रकाश व्याख्या
६) संख्या समुद्देश २.
७) संख्या समुद्देश ३. पर प्रकाश व्याख्या
८) परत्वे चापरत्वे च भेदे तुल्या श्रुतिर्यथा।
संख्याशब्दभिधेयत्वं भेद हेतोस्तथागुणे। सं. स. ४
९) सं. स. पर प्रकाशव्याख्या
१०) सं. स. ६ पर अम्बाकर्त्री, पृ. ६३३
११) सं. सं. ७
१२) यथैवाविषयं ज्ञानं न किंचिदवभासते ॥
तथा भावोऽप्यसंसृष्टो न कश्चिदुपलभ्यते ॥ सं. सं. ८
१३) बुद्धया स्थितेषु तेष्वेवमध्यारोपो न दुर्लभः।
परधर्मस्य न ह्यत्रसदसत्वं प्रयोजकम् ॥ सं. सं १०.
१४) सं. स. ११ पर प्रकाशव्याख्या
१५) सं. स. १२
१६) सं. स. १६
१७) सं. स. १७
१८) सं. स. १८
१९) पाणिनि सूत्र १/४/२२
२०) आश्रयाश्रयीभेदोहि तदाश्रया निबंधनः। संख्या समुद्देश १८
२१) सं. स. १७ प्रकाश व्याख्या
२२) सं. स. १९ पर प्रकाश एवं अम्बाकर्त्री
२३) सं. स. २१
२३) सं. स. २१ पर प्रकाश व्याख्या

२५) पाणिनि सूत्र ४/ १/ ५४
२६) पाणिनि सूत्र २/ २/ २५
२७) सं. स. २२
२८) सं. स. २३ प्रकाश व्याख्या
२९) लिंगवचनविचार – दीनबन्धु झा, वचन प्रकरण – मिथिला रिसर्च इन्स्टीट्यूट, दरभंगा
३०) संख्या नाम न संख्यास्ति संज्ञैवेति यथोच्यते
रूपं न रूपमप्येवं संज्ञा साहि सितादिषु ।। संख्या समुद्देश २५
३१) पाणिनि सूत्र ५/२/४३
३२) स्वरूपाणां एकशेष एकविभक्तो: । पाणिनि १/२/६४ पर महाभाष्य
३३) अन्वयव्यतिरेकौ न यदि स्यादवचनान्तरम् ।
स्यातामसति तस्मिंश्च प्रकृत्यर्थौ न कल्प्यते । सं. स. ३०.
३४) "परश्च" पाणिनि सूत्र ३/ १/ २ पर महाभाष्य
३५) पाणिनि सूत्र १/ ४/ २२
३६) तिप्तसृझि...पाणिनि सूत्र ३/ ४/ ७८
३७) पाणिनि सूत्र २/ २/ ३१.

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (२०)
विषयता (vi)

पिछले लेख में विषयता के संसर्गता नामक भेद का विवेचन किया गया था। इस लेख में विषयता के ही एक भेद विधेयता का विवेचन अभीष्ट है। विशेषण दो प्रकार का होता है – (१) साध्य और (२) सिद्ध। सिध्द विशेषण वह होता है जो पूर्व से अवगत होता है तथा विशेष्य को अन्य वस्तुओं से अलग करने के लिये प्रयुक्त होता है। साध्य विशेषण पूर्व–ज्ञात नहीं रहता है। उसका विधान किया जाता है। साध्य का ही दूसरा नाम विधेय है। उदाहरण के लिये – "दयादाक्षिण्यादि गुणों से युक्त भगवान् राम सब के पूज्य हैं"। यहाँ विशेष्य राम का दया, दाक्षिण्यादि गुणों से युक्त होना पूर्वज्ञात है। अतः उक्त विशेषण सिध्द–विशेषण है, जो विशेष्य राम को इतर व्यक्तियों से भिन्न सिध्द करने के लिये प्रयुक्त किया गया है। परन्तु राम का 'पूज्यत्व' पूर्व में सिध्द नहीं है। उसका यहाँ विधान किया है। अतः वह विधेय है। विधेय में विधेयता नामक विषयता रहती है।

विधेय का विधान कहीं 'विशेष्यतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन' अर्थात् किसी एक विशेष्य में, तो कहीं 'विशेष्यतावच्छेदकावच्छेदेन' अर्थात् विशेष्य-मात्र में होता है। विशेष्यतावच्छेदक के समान याने एक अधिकरण में जो विधान होता है उसको विशेष्यतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन विधान कहते हैं। – 'ब्राह्मण विद्वान् होता है' इसका अर्थ यह नहीं होता है कि सभी ब्राह्मण विद्वान् होते हैं; अपितु ऐसा होता है कि जहाँ जहाँ ब्राह्मणत्व है (याने जो ब्राह्मण हैं) उनमें से कोई विद्वान् होता है। जहाँ जहाँ विशेष्यतावच्छेदक होता है वहाँ सर्वत्र जब किसी चीज का विधान होता है तब वह विधान विशेष्यतावच्छेदकावच्छेदेन

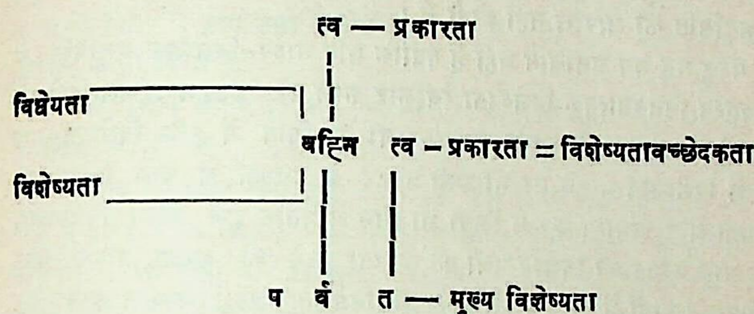
विधान होता है। जैसे – 'मनुष्य मरणशील है' यह विधान किसी एक मनुष्य की मरणशीलता को व्यक्त नहीं करता है, अपितु यहाँ सभी मनुष्यों की मरणशीलता का विधान किया जाता है, क्योंकि मनुष्य–व्याप्य सभी मनुष्यों में मरण शीलता विहित होती है।

सामान्य रूप से प्रकारता–विशेष को ही विधेयता माना जाता है।[1] आम तौर पर प्रकारता और विधेयता में कोई भेद परिलक्षित नहीं होता है। 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमान में साध्य के रूप में गृहीत अग्नि विधेय माना जाता है, जो पर्वत में होने वाली विशेष्यता से निरूपित प्रकारता का आश्रय होता है। अतः विधेयता को प्रकारता का ही एक भेद इस रूप में कुछ नैयायिक स्वीकार करते हैं। जगदीश तर्कालंकार के अनुसार विषयतावच्छेदकता से भिन्न प्रकारता या प्रकारता का ही एक प्रभेद विधेयता है।

जबकि अन्य नैयायिकों का कथन है कि विधेयता प्रकारता का प्रभेद नहीं है।[2] 'पर्वते वह्निः' यह अनुमिति पर्वत प्रकार तथा वह्नि–विशेष वाली होने पर भी विधेयता अग्नि में ही है। यहाँ विधेयता प्रकारता–रूप न हो कर विशेष्यता–रूप होती है। अतः विधेयता भी विषयता का एक स्वतन्त्र प्रभेद है।

इस पर गदाधर[3] का कथन है कि प्रकारता के समान विधेयता भी विषयता का भेद है। प्रकारता ही विधेयता नहीं है। विधेयता को प्रकारता–रूप मानने पर धर्मितावच्छेदकतारूप प्रकारता को भी विधेयता के रूप मे स्वीकार करना पड़ेगा। 'पर्वतो वह्निमान्' यहा पर्वतत्व में रहने वाली विशेष्यतावच्छेदकता भी प्रकारता–रूप होती है। परन्तु पर्वतत्व को प्रकार के रूप में स्वीकार करने पर भी उसे विधेय के रूप में नहीं स्वीकार किया जाता। पर्वतत्व सिद्ध होने से साध्य नहीं है। अतः वह विधेय भी नहीं है। परन्तु विधेयता को प्रकारता माननेवालों का कहना है कि विशेष्यतावच्छेदकता से भिन्न मुख्य विशेष्यता से निरूपित प्रकारता ही विधेयता कहलाती है।[4] 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति में जो पर्वतत्व में प्रकारता (धर्मितावच्छेदकता) प्रतीत होती है वह धर्मितावच्छेकता से भिन्न नहीं है। अतः वह विधेयता–रूप प्रकारता नहीं है। यद्यपि उक्त ज्ञान में पर्वतत्व (धर्मितावच्छेदक) तथा वह्नि के अतिरिक्त वह्नित्व में भी एक प्रकारता है। परन्तु वह प्रकारता मुख्य विशेष्यता अर्थात् पर्वत में होनेवाली विशेष्यता से निरूपित नहीं है। अतः उक्त प्रकारता विधेयता–रूप प्रकारता नहीं है। वह्नि में रहनेवाली प्रकारता चूंकि पर्वत में रहनेवाली मुख्य विशेष्यता से निरूपित भी है तथा धर्मितावच्छेदकता से भिन्न भी है अतः वह विधेयता–रूप प्रकारता है।

'पर्वतो वह्निमान्' इस प्रतीति को हम इस प्रकार से विश्लेषित कर सकते हैं।



अब यहाँ यह आपत्ति उपस्थित होती है कि यदि विशेष्यतावच्छेदकता से भिन्न तथा मुख्य विशेष्यता से निरूपित प्रकारता को विधेयता मानें तो जहाँ विशेष्यतावच्छेदकता–भेद की उपस्थिति के बिना ही 'पर्वत अग्निमान् है' इस अनुमिति के बाद 'पर्वत में अग्नि का अनुमान कर रहा हूँ' इस प्रकार का अनुव्यवसाय (साक्षात्कार) उत्पन्न होते से उक्त प्रकारता को विधेयता के रूप में स्वीकार करना सम्भव नहीं है। इसका समाधान यह है कि उक्त साक्षात्कार अग्नि–प्रकार अनुमिति–विषयक ही होता है, अग्नि–विधेयक अनुमिति–विषयक नहीं होता है। जब विशेष्यतावच्छेदकता के भिन्नत्वादि ज्ञात होते हैं तभी उक्त साक्षात्कार अग्नि–बिधेयक अनुमिति को विषय करता है।

परन्तु यदि उक्त प्रकारता को विधेयता के रूप में स्वीकार करें तो 'पृथ्वि में जलभेद है' या 'ह्रद में धूमाभाव है' इस प्रकार की साध्य को विशेष्य के रूप में प्रदर्शित करनेवाली अनुमितियाँ साध्य–विधेयक नहीं होंगी। क्योंकि उक्त अनुमित्यात्मक प्रतीतियों में साध्य जलभेद या धूमाभाव प्रकार के रूप में गृहीत नहीं होते हैं। अतः वे विधेय नहीं होंगे। परन्तु उनका विधान होने से वे ही विधेय हैं। इस प्रकार की अनुमितियों में विशेष्यता को ही विधेयता के रूप में स्वीकार करना चाहिये। यदि ऐसा मानें तो उसी प्रकार की अनुमिति की विशेष्यता उसी के समान प्रकार वाली और समान विशेष्य वाली पृथ्वि–साध्यक अनुमिति में भी होने से वह अनुमिति भी इतर–भेद–विधेयक अनुमिति हो जायगी। 'इतरभेदः पृथिव्यां' इस अनुमिति में पृथ्वी साध्य के रूप में प्रतीत होने पर इतर–भेद के विशेष्य के रूप में होने पर उक्त अनुमिति इतर–भेद–विधेयक होनी चाहिये। तथापि उक्त अनुमिति इतर–भेद–विधेयक नहीं है क्योंकि यहाँ इतर–भेद विधेय के रूप में प्रतिभासित नहीं होता।

संभवतः यह माना जाय कि पृथ्वी–पक्ष वाली अनुमिति और पृथ्वी साध्य वाली अनुमिति में भासित होने वाली विशेष्यताएँ भिन्न भिन्न हैं और साध्य

विशेष्य वाली अनुमिति की विशेष्यता को विधेयता के रूप में स्वीकार करने पर उक्त अनुमिति की आपत्ति नहीं होती है।

परंतु यह मत समीचीन नहीं है क्योंकि यदि साध्य–विशेष्यक अनुमिति में एक स्वतन्त्र विधेयतात्मक विशेष्यता स्वीकार करने पर 'इतरभेदः (जलादिभेदः) पृथिव्यां' इस प्रकार की पृथ्वी–साध्य–वाली अनुमिति में एक विधेयता–रूप साध्य में विशेष्यता मानने पर भी उसी प्रकार के प्रत्यक्ष में अन्य प्रकार की विशेष्यता और सामान्य रूप से किसी भी ज्ञान में प्रतीत होने वाली विशेष्यता, अर्थात् तीन प्रकार की विशेष्यताओं की कल्पना करने की अपेक्षा प्रत्यक्ष और अनुमिति इन दोनों में ही एक ही प्रकार की विधेयता–रूप विशेष्यता मानने पर भी तीन विशेष्यताओं की कल्पना करना आवश्यक नहीं है यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि 'प्रत्यक्ष' (पर्वत पर अग्नि है) में विधेयता–रूप एक विशेष्यता तथा दूसरी उससे भिन्न विशेष्यता मानने में कोई युक्ति नहीं है।

यह भी कहा जा सकता है कि जहाँ साध्य प्रकार (विशेषण) के रूप में प्रतीत होता है उस अनुमिति में प्रकारता ही विधेयता है[१], तथा साध्य जहाँ विशेष्य के रूप में प्रतीत होता है वहाँ ही विशेष्यता अतिरिक्त विधेयक के रूप में प्रतीत होती है, अनन्त साध्य–विशेष्य वाली अनुमितियों में अतिरिक्त विधेयता की कल्पना करने की अपेक्षा विशेष्यता–निरूपित प्रकारताओं की ही विधेयता के रूप में कल्पना करने में लाघव है। परन्तु यह विचार भी सुसंगत नहीं है, क्योंकि प्रकारता को ही विधेयता के रूप में स्वीकार करने पर 'पर्वतो वह्निमान, पर्वतो निर्धूमस्यात्' (पर्वत अग्निमान् है, पर्वत निर्धूम है) इस प्रकार के समूह विषयक आपत्ति रूप ज्ञान में अग्नि विधेय हो जायगा। लेकिन ऐसा नहीं है क्योंकि ऐसी स्थिति में उस आपत्ति के बाद 'पर्वत में धूम के अभाव के प्रसक्ति की आपत्ति दे रहा हूँ, अग्नि की नहीं' इस प्रकार की अग्नि को विधेय के रूप में ग्रहण न करने वाली आपत्ति की प्रसक्ति नहीं हो सकेगी, जो कि अनुभवसिद्ध है।

इसी के कारण जो लोग यह मानते हैं कि साध्य–विशेष वाली अनुमिति ही अप्रामाणिक है, तथा व्यतिरेक परामर्श स्थल में भी 'विशेष्ये विशेषणम्' इस प्रक्रिया से साध्य प्रकार (विशेषण) वाली ही अनुमिति होती है, विशिष्ट–बुद्धि–मात्र में विशेषण–ज्ञान की कारणता का सिद्धान्त अप्रामाणिक है, इसलिये साध्य में रहने वाली विशेषणता (प्रकारता) ही विधेयता है – उनका यह मत भी समीचीन नहीं है।

जगदीश[१] ने यह मत व्यक्त किया है कि जिसकी व्याप्यवत्ता–ज्ञान से अनुमिति उत्पन्न होती है वही अनुमिति में विधेय होता है और उसी में विधेयता नामक विषयता रहती है। उदाहरण के लिये — "पर्वत अग्निमान् है" यह

अनुमिति 'अग्निव्याप्यधूमवान् पर्वत' इस परामर्श से उत्पन्न होती है। अतः यहाँ अग्नि ही विधेय है तथा उसी में विधेयता-रूप विषयता है। इसी का उल्लेख गदाधर ने भी किया है।

'दण्डिमान् दण्डिसंयोगात्' इस स्थल में दीधितिकार ने परम्परा सम्बन्ध से दण्डत्व को ही साध्यतावच्छेदक अर्थात् अनुमिति-विधेयतावच्छेदक माना है। इसके आशय को स्पष्ट करते हुए जगदीश ने कहा है कि उक्त स्थल में व्याप्ति-ज्ञान से दण्डि में दण्डत्व प्रकार के रूप में भासित हो कर 'दण्डत्ववद्वान्' ऐसी अनुमिति उत्पन्न होती है, 'दण्डिमान्' इस प्रकार दण्ड को प्रकार के रूप में व्यक्त करने वाली अनुमिति नहीं होती है, क्योंकि वहाँ दण्ड व्यापकता (साध्यता) के अवच्छेदक के रूप में ज्ञात नहीं होता है। अतः दण्ड से युक्त दण्डि विधेय वाली अनुमिति नहीं होती है।[७]

परन्तु इस मत को गदाधर[८] ने तथा आगे चल कर जगदीश[९] ने भी स्वीकार नहीं किया है। गदाधर का कथन है कि यदि प्रकारता से भिन्न अतिरिक्त विधेयता न मानें तो तत् (अग्नि) व्याप्तवत्ताज्ञान से जन्य उस परामर्श के बाद उत्पन्न तत् प्रकार वाली अनुमिति ही माननी पडेगी। कार्यकारणभाव के प्रसंग में तद्विधेयता का निवेश संभव नहीं है। अन्यथा आत्माश्रय दोष होगा। तद्व्याप्य-वत्ता-ज्ञान से उत्पन्न होने वाली तद्विधेयक अनुमिति के लिये तद् (विधेय) व्याप्यवत्ता-ज्ञान कारण है ऐसा कहने पर तद् की विधेय के रूप में अनुमिति होने के बिना तद् को विधेय के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकेगा।

दूसरी बात इसमें यह है कि शाब्द-बोध को सविधेयक के रूप में अनुमिति के समान नहीं स्वीकार किया जा सकेगा। क्योंकि शाब्द-बोध तद्व्याप्यवत्ताज्ञान से जन्य नहीं होता है। शाब्दबोध में प्रकारता को ही विधेयता के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। अन्यथा 'पर्वते अग्निः' इस वाक्य से उत्पन्न होने वाले शाब्द-बोध को भी अग्नि-विधेयक शाब्द-बोध के रूप में अस्वीकार करना पडेगा। उक्त शाब्द-बोध में पर्वत प्रकार तथा अग्नि विशेष्य है। वहाँ वह्नि में रहने वाली जो पर्वत की आधेयता है उसे विधेय मानेंगे और पर्वत में अग्नि को विधेय मानेंगे ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि शाब्दबोध में चरम (अन्तिम) निर्दिष्ट पदार्थ ही विधेय होता है। यहाँ अन्तिम निर्दिष्ट अग्नि होने से अग्नि ही विधेय है। पर्वत की आधेयता विधेय नहीं है क्योंकि वह प्रथम निर्दिष्ट है।[१०] यही कारण है कि "न्यक्कारोह्ययमेव मे पदस्य" यहाँ विधेय के रूप में तात्पर्य का विषय 'न्यक्कार' प्रथम निर्दिष्ट होने से उसका शाब्दबोध में विधेय के रूप में ग्रहण नहीं होता। अतः आलंकारिक इसे 'विधेयाविमर्श' रूप काव्य-दोष के उदाहरण के रूप में उल्लिखित करते हैं।

परन्तु यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि शाब्दबोध में अन्तिम निर्दिष्ट पदार्थ को विधेय मानें तो कालिदास के 'वपुर्विरूपाक्ष'[11] इस पद में आँख (अक्ष) का वैरूप्य विधेय नहीं होगा। क्योंकि वह प्रथम निर्दिष्ट है। यदि वैरूप्य-विशिष्ट अक्ष को ही विधेय के रूप में स्वीकार करें तो उसी काव्य के 'अलक्ष्यजन्मता' यहाँ पर भी अलक्ष्य-जन्मता' को ही विधेय के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में 'अलक्ष्यजन्मता' विधेय न होने से उसे अविमृष्ट विधेयांश दोष के उदाहरण के रूप में जो साहित्यिक प्रस्तुत करते हैं वह गलत होगा। इसके विषय में गदाधर का कथन है कि समास से भिन्न स्थल में चरम (अन्तिम) निर्दिष्ट पदार्थ विधेय होता है। समास स्थल में प्रथम निर्दिष्ट भी विधेय हो सकता है। 'वपुर्विरूपाक्ष' यहां समास होने से 'वैरूप्य' चरम-निर्दिष्ट होने पर भी विधेय है।

उक्त प्रकारता को ही विधेयता-रूप मानने पर कालिदास 'द्वितीय-मौर्वीमिव।[12] यहां विधेय के रूप में तात्पर्य–विषय समासान्तर्गत पूर्व पद मानने पर जो विधेयाऽविमर्श दोष होता है उसका निवारण 'मौर्वीद्वितीयमिव' इस असमस्त पद का प्रतिपादन कर के आलंकारिकों के द्वारा किया जाता है उसके साथ विरोध होगा।

विधेयता के समान उद्देश्यता भी प्रकारता और विशेष्यता आदि से भिन्न एक स्वतंत्र विषयता है। पर्वतो वह्निमान्' यहाँ पर्वत में अग्नि में होने वाली विधेयता से निरूपित उद्देश्यता होती है, जो पर्वत में रहने वाली विशेष्यता से भिन्न है। यदि विशेष्यता को ही उद्देश्यता मानेंगे तो 'पर्वते अग्निः' इस वाक्य से होने वाला शाब्दबोध और अग्नि विशेष्य वाली अनुमिति प्रामाणिक होने से वहाँ पर्वत में उद्देश्यता नहीं होगी। क्योंकि उक्त अनुमिति में पर्वत विशेष्य नहीं है, अग्नि विशेष्य है; परंतु पर्वत उद्देश्य है। अतः उद्देश्यता को विशेष्यता से भिन्न मानना आवश्यक है।

विधेयता-निरूपकत्व को ही उद्देश्यत्व-रूप मानने पर प्रश्न होता है कि क्यों नहीं उद्देश्यता-निरूपकत्व को ही विधेयत्व मानें? और क्यों नहीं विधेयता-निरूपकत्व को उद्देश्यत्व या उद्देश्यता-निरूपकत्व को विधेयत्व मानें? इसमें कोई विनिगमक युक्ति न होने से दोनों को ही स्वतंत्र पदार्थ मानना उचित है।

इस पर गदाधर[14] का अपना मत यह है कि विधेयता और उद्देश्यता भले ही स्वतंत्र पदार्थ हों, परंतु उन्हें विषयताभेद के रूप में स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। 'पर्वत अग्निमान्' है इस अनुमिति में पर्वत तथा अग्नि में विषयता रूप विशेष्यता और प्रकारता स्वीकार करना तो आवश्यक है। क्योंकि प्रकारता और विशेष्यता–रूप विषयताओं को न मानने पर अनुमिति में बाध–

ज्ञान की प्रतिबध्दता का निर्वचन करना संभव नहीं होगा। अतः प्रतिबद्ध्य-प्रतिबंधक-भाव के नियामक के रूप में उनका अस्तित्व विषयता के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। परंतु विधेयता और उद्देश्यता को विषयता के रूप में स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

अग्रिम लेख में विषयता के अवशिष्ट कुछ भेदों का विवेचन करने के पश्चात् विषयिता के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत किया जायगा।

दर्शन विभाग बलिराम शुक्ल
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे – ४११००७

टिप्पणियाँ

१. गदाधर; प्रकारताविशेषस्यैव विधेयत्वात्। गादाधर्यां, सत्पप्रतिपक्ष-प्रकरणे.
२. जगदीश तर्कालंकार; विधेयत्वं तु न प्रकारतानियतम्। पक्षताप्रकरणे
३ गदाधर; प्रकारतादिवत् विधेयत्वमपि विषयान्तरं नतूक्तप्रकारत्वमेव तत्। विषयतावादे
४ अथ विशेष्यतावच्छेदकताभिन्न मुख्यविशेष्यतानिरूपित प्रकारतैव विधेयता। वही
५. यत्तु साध्यविशेषणकानुमितौ क्लृप्तनिरुक्तप्रकारतैव विधेयता। वही
६. जगदीश; यद्व्याप्यवत्ताज्ञानजन्यत्वमनुमितौ तदंशे एव विधेयत्वाख्य-विषयतास्वीकारात्। पक्षताप्रकरणे
७. जगदीश; तथाचोक्तव्याप्तिज्ञानात् दण्ड्यंशे दण्डत्वप्रकारिका दण्डत्व-वत्वनित्येवानुमितिर्न तु दण्डिमान् इति दण्डप्रकारिकाऽपि, तस्य व्यापक-तावच्छेदकत्वेनाग्रहात् कारणबाधेन तदवच्छिन्न विधेयताकानुमित्य-संभवात्। सिद्धान्तलक्षणे
८. गदाधर; यतोऽतिरिक्त विधेयतानभ्युपगमे तद्व्याप्यवत्तानज्ञानस्य स्वान्तरोत्पन्न तत्प्रकारकानुमितित्वादिकमेव जन्यतावच्छेदकं वाच्यम्। विषयतावादे
९. जगदीश; किन्तु पर्वते वह्निः, पर्वतो वह्निमान् इत्याद्यनुमितौ पर्वते वह्निं अनुमिनोमि नतु वह्नौ पर्वतमित्याद्यनुभवसाक्षिको विषयता-विशेषः। पक्षताप्रकरणे

१०. गदाधर; शाब्दबोधे चरमनिर्दिष्टस्यैव विधेयत्वात् । विषयतावादे

११. वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि ! मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥
कालिदास; कुमारसम्भवे ५.७२

१२. स्रस्तां नितम्बादवलम्बमाना
पुनः पुनः केसरपुष्पकाञ्चीम् ।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण
द्वितीय मौर्विमिव कार्मुकस्य ॥ वही, ३.५५

१३. गदाधर; विधेयतावत् तन्निरूपितोद्देश्यतापि प्रकारतादिवत् भिन्नविषयताविशेष एव । विषयतावादे

१४. इदन्त्ववधेयम् – अस्तु विधेयत्वमुद्देश्यत्वञ्चातिरिक्तं तयोर्विषयतात्वे मानाभावः । वही

परामर्श (हिन्दी) खण्ड १२ के योगदाता

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

२१५. प्रोफेसर विष्णुकान्त शास्त्री
२८०, चित्तरञ्जन एवेन्यू
कलकत्ता – ७००००६

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जाएगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।



पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक मॉडर्न प्रिन्टिंग प्रेस, पुणे ४११००५ में छपवाकर प्रकाशित किया।

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883/79

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड १३, अंक १

दिसम्बर, १९९१ / कार्तिक-मार्गशीर्ष, २०४८

संपादक

सुरेन्द्र बारलिंगे | राजेन्द्र प्रसाद
आनन्दप्रकाश दीक्षित | मो.प्र.मराठे

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

परामर्श (हिन्दी)

* पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक पत्रिका नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

* संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे * राजेन्द्र प्रसाद * आनन्दप्रकाश दीक्षित * मो.प्र.मराठे

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल * रमाकान्त सिनारी * विजयकुमार भारद्वाज * शारदा जैन संगमलाल पांडे * आर्.बालसुब्रमणियन् * अशोक रा.केळकर * के.जे.शहा नारायणशास्त्री द्राविड़ * के. सच्चिदानंद मूर्ति * जी.सी.नायक * ग.ना.जोशी मोहनलाल मेहता * जे.फाईस * सुमन गुप्ता * रा.स्व.भटनागर

कार्यकारी संपादक : चन्द्रकान्त बांदिवडेकर * सु.ए.भेलके * मीना अ. केळकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्राचार के लिए संपर्क करें, संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७(महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या डिमांड ड्राफ्ट के द्वारा इस पते पर भेजा जाए :
संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने के भीतर कार्यालय में मिल जाए, तो अंक बचे होने पर पुन: भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१) संस्थाओं के लिए	रु.५०/-
(२) व्यक्तियों के लिए	रु.४०/-
(३) एक प्रति	रु.१२/-

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु.१५००/-
व्यक्तियों के लिए रु.४००/-

* राशि मनिऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट के माध्यम से ही भेजें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

समकालीन भारत में दार्शनिक लेखन और भारत का तत्त्व

मनुष्य के सभी अन्वेषण किसी सत्य को लक्षित करते हैं और इस सत्य का निरपेक्ष होना ही अभीष्ट होता है, किन्तु विज्ञान का सत्य, काव्य का सत्य, आचरण का सत्य और दर्शन का सत्य ये या तो एक ही सत्य के विभिन्न पक्ष हैं या फिर मूलतः ही परस्पर भिन्न सत्य हैं। इन्हें जो भी कहा जाय इससे ये अन्वेषण और इनके सत्य आंशिक ही सिध्द होते हैं। किन्तु अपनी इस आंशिकता में भी इनका दावा सार्वभौमिकता का ही होता है; ये व्यक्ति-संकुचित या संस्कृति-संकुचित रूप में नहीं देखे जाते। इस प्रकार गुरुत्वाकर्षण या जगत् - आत्मा - ब्रह्म की अद्वयता ये व्यक्तिगत या संस्कृतिगत दृष्टियों के संकुचित या सापेक्ष सत्यों के रूप में नहीं देखे जाते, बल्कि सार्वभौम, व्यक्ति और संस्कृति की सीमाओं से निरपेक्ष सत्यों के रूप में ही देखे जाते है। किन्तु दूसरी ओर जिस सीमा तक कोई व्यक्ति अपनी दृष्टि में विशिष्ट और विविक्त होता है उसी सीमा तक वह विकसित माना जाता है। यही बात संस्कृतियों के सम्बन्ध में भी इतनी ही सही है, किन्तु वैयक्तिक या सांस्कृतिक दृष्टियों का यह वैशिष्ट्य उनके द्वारा देखे गए सत्य की सार्वभौमिकता में बाधक नहीं होता। बल्कि जितना ही कोई व्यक्ति विकसित और इस प्रकार विशिष्ट होता है उतना ही उसके द्वारा देखा गया सत्य सार्वभौम होता है। यही बात संस्कृतियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है । उदाहरणतः बुद्ध या कबीर जैसे व्यक्ति विशिष्ट या असाधारण कहे जाते हैं क्योंकि वे ऐसे सत्य के द्रष्टा समझे जाते हैं जो महत् और सार्वभौम है, जबकि संकुचित दृष्टियुक्त व्यक्ति साधारण कहे जाते हैं । यह बात संस्कृतियों के सम्बन्ध में भी उतनी ही लागू होती है । इस का कारण यह है कि वैयक्तिक या सांस्कृतिक वैशिष्ट्य चेतना के विकास और उसकी

जागृतता से प्रतिफलित होता है और यह जागृतता चेतना के सत्य के अवगमन की पर्यायवाची होती है । तब इस वैशिष्ट्य का क्या अर्थ है, यदि इसका एक अनिवार्य अर्थ अन्यों से भिन्नता नहीं है तो ? इसका अर्थ वास्तव में अन्यों से भिन्नता नहीं होकर अपने में प्रतिष्ठितता और अपनी दृष्टि में स्पष्टता होता है । अन्यों से पृथक्ता या असाधारणता केवल उसका दूसरों द्वारा लक्षित गुण होता है जो गुण भी वास्तव में उस व्यक्ति या संस्कृति की अन्यों से उत्कृष्टता के रूप का होता है। साधारण व्यक्ति की साधारणता अन्य बातों के अतिरिक्त इस बात में भी होती है कि उसकी अपनी कोई दृष्टि नहीं होती, अथवा वह बहुत धुँधली और अस्पष्ट होती है, और परिणामस्वरूप वह या तो अन्यों की दृष्टियों का तात्कालिक रूप से अनुसरण करता है अथवा बिना किसी दृष्टि के ही कार्य करता है । इसी प्रकार संस्कृतियाँ अल्प विकसित होने अथवा समृद्ध अर्थ-गर्भित विचार से रहित होने पर, अथवा समाज में जीवन की क्षीणता होने पर दूसरी संस्कृतियों के सम्मुख अपना अस्तित्व खो देती है और उनमें मिल जाती हैं । निश्चय ही संस्कृतियों की विशिष्टता बने रहने के दूसरे भी कारण होते हैं, किन्तु यहाँ उनकी चर्चा अप्रासंगिक होगी ।

इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति वर्तमान विश्व की चार संस्कृतियों में से एक कही जा सकती है जो न केवल अत्यन्त समृद्ध और नितांत विशिष्ट है बल्कि जिसका इतिहास सुदीर्घ है। किसी संस्कृति का यह वैशिष्ट्य उस मूल्य या आदर्श से निश्चित होता है जिसके अनुसार वह संस्कृति मनुष्य के जीवन की सार्थकता निश्चित करती है । दूसरे शब्दों में, उस संस्कृति में परमार्थ, परम तत्त्व और परम अन्वेष्य किसे माना जाता है उसके अनुसार उसका स्वरूप, स्वभाव और वैशिष्ट्य बनता है । ये प्रश्न जब स्वभावत: आत्म-चेतन रूप में विचारित और विवेचित होते हैं तब उस संस्कृति में दर्शन का जन्म होता है, अन्यथा ये किसी संस्कृति के संपूर्ण चरित्र को ही विशेषित करते हैं । इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति आध्यात्मिकता, मोक्ष, सत्य की अनुभूतिगम्यता, और योग-साधना से परिलक्षित होती है और ये ही मुख्यत: इसके दार्शनिक विचार के विषय रहे हैं ।

इस पर कहा जा सकता है कि कुछ भारतीय दर्शन-संप्रदाय प्रकृति या जगत् को भी सत्य मानते हैं और आध्यात्मिक साधना उनका वैशिष्ट्य नहीं है, बल्कि वे बहुत सीमा तक लोकवादी-संसारवादी ही कहे जा सकते हैं; जैसे मीमांसा न्याय और वैशेषिक दर्शन। तो इसका उत्तर यह होगा कि इस दृष्टि से वास्तव में मीमांसा को ही एक सीमा तक पृथक् किया जा सकता है, क्योंकि न्याय-वैशेषिक भी अपना अन्वेष्य मोक्ष को ही कहते हैं। किन्तु इससे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि न्याय और वैशेषिक में भी जीवन का साध्य लौकिक सुख या बुद्धिप्रकाश नहीं स्वीकार किया गया है, बल्कि मोक्ष ही स्वीकार किया गया है और बौद्धिक युक्ति-विमर्श को केवल उसके साधन के

रूप में ही देखा गया है।

भारतीय जीवन-दृष्टि का मूल उपनिषदों को कहा जा सकता है। निश्चय ही बौद्ध और जैन दृष्टियां उपनिषद्-मूलक नहीं हैं किन्तु एक आधारभूत अर्थ में ये दृष्टियां उपनिषदों के अनुरूप और ग्रीक या चीनी दृष्टियों से आधारभूत रूप में भिन्न हैं। औपनिषद् तथा बौद्ध और जैन दृष्टियां सत्य को चेतना के तादात्म्यभाव के रूप में गम्य देखती हैं और विषयात्मक या विकल्पात्मक ज्ञान को असदात्मक मानती हैं। यहाँ सांख्य दर्शन-संप्रदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय है जो विषय को सत् मान कर भी ज्ञान की दृष्टि से उसे अवांछनीय और असत् ही मानता है; ज्ञान उसके अनुसार विषय को आत्मा से भिन्न और परिणामत: अप्रेयात्मक देखने में है।

यहाँ कहा जा सकता है कि न्याय-वैशेषिक और मीमांसा दर्शन-संप्रदाय ज्ञान को विषयात्मक रूप में ही देखते हैं, इनके अतिरिक्त वेदांत के ही द्वैतवादी और प्रत्यभिज्ञावादी (काश्मीर शैव) संप्रदाय हैं जो शांकर वेदांत, सांख्य और जैन तथा बौद्ध मतों से बहुत भिन्न हैं। सांख्य में भी दो मत हैं, जिनमें एक ईश्वरवादी है और दूसरा निरीश्वरवादी। इन सबसे अलग सिद्ध और जोगिया संप्रदाय हैं जो विशेष रूप से दार्शनिक युक्ति-विमर्श को कोई महत्त्व नहीं देते, केवल अनुभूति और तादात्म्यभाव को ही महत्त्व देते हैं, किन्तु जिनकी दार्शनिक युक्ति-विमर्श में यह तटस्थता स्वयं दार्शनिक मान्यतापरक कही जा सकती है। इस प्रकार भारत में कोई एक दार्शनिक परंपरा अथवा विभिन्न परंपराओं में एक आधारभूत अनुरूपता जैसी कोई बात नहीं है। इसी प्रकार यूरोप में भी दार्शनिक मतवादों की विभिन्नता कम नहीं रही है और प्लोटाइनस में आध्यात्मिक रहस्यवाद की तथा मध्ययुगीन दर्शन में धार्मिक चिन्तन की ऐसी पराकाष्ठा रही है कि इस काल के दार्शनिक चिन्तन को आधुनिक यूरोप अपनी दार्शनिक परंपरा में ही सम्मिलित नहीं करता रहा है और इस युग को अंधकार युग मानता रहा है। किन्तु यहां कहा जा सकता है कि आधुनिक यूरोपीय दार्शनिक परंपरा प्लोटाइनस और उसके उत्तरवर्ती दार्शनिक चिन्तन की परंपरा को इसलिए अंधकार युग मानती है क्योंकि यह परंपरा ग्रीक और आधुनिक यूरोपीय दार्शनिक परंपरा के मूल बोध से असंबद्ध है। हेगल ने सुकरात को "अवधारणा को सत् से मुक्त कराने वाला"कहा हैऔर अवधारणा की इस मुक्ति को ही यूरोपीय दर्शन का वैशिष्टय कहा है। हेगल के अनुसार अवधारणा की सत् से यह मुक्ति पौर्वात्यों को उपलब्ध नहीं थी, परिणामत: पौर्वात्य दर्शन धर्म से कभी पृथक् नहीं हो पाया। यही कारण है कि पश्चिम में चिंतन के शुद्ध आकार को उसकी अंतर्वस्तु से स्वतंत्र करके देखा गया। इसके विपरीत भारतीय तार्किक चिन्तन सदैव वस्तुमूलक ही रहा, इसमें शुद्ध आकारिक तर्क का कभी विकास नहीं हुआ। इसी प्रकार, हुस्सर्ल के अुनसार ग्रीस ने दर्शन को केवल आत्म-बोध की अभीप्सा (लव ऑफ विज़्डम) के रूप में ही नहीं देखा बल्कि प्रथम विज्ञान,

आधार विज्ञान, (फर्स्ट साइंस) के रूप में भी देखा। यही दृष्टि उसके अनुसार पाश्चात्य संस्कृति और दर्शन का वैशिष्ट्य है।[1] निश्चय ही भारत में दर्शन को कभी वस्तु-जगत् का शुद्ध तर्क-युक्ति-परक विश्लेषण नहीं माना गया और न मात्र तर्क-युक्ति को ज्ञान का पर्याय माना गया, बल्कि यहां दर्शन को आत्म-बोध की अभीप्सा के रूप में ही देखा गया। किन्तु बहुत से दर्शन-संप्रदायों ने युक्ति-तर्कात्मक विमर्श मेंभी कोई कमी नहीं रखी और प्रतिद्वन्द्वी दार्शनिकों से तार्किक चुनौती मिलने पर कभी साक्षात्कार या श्रुति-प्रमाण का आश्रय नहीं लिया। श्रुति-प्रमाण का आश्रय वास्तव में वहीं तक लिया जहां तक प्रतिपक्षी उसे स्वीकार करने को तैयार था।

प्रोफेसर जे. एन्.मोहन्ती ने ग्रीक और भारतीय दर्शन में इस प्रकार भेद किया है: "ग्रीक फिलोसोफिया प्रज्ञा की कामना है, ऐसी कामना जिसमें प्रज्ञा का अनन्त अन्वेषण चलता है। इसके विपरीत भारतीय दर्शन पूर्वत: दृष्ट सत्य के व्यवस्थित परिशीलन को, उसकी व्याख्या और विवेचन को लक्षित करता है। यह सत्य का अन्वेषण नहीं करता बल्कि उसका विशदीकरण, उसकी बुद्विसंगतता का प्रदर्शन, अवधारणात्मक निर्धारण और स्पष्टीकरण करता है। ग्रीक फिलोसोफिया में जिज्ञासाभिभूत व्यक्ति-चिन्तक की भूमिका निर्णायक रहती है, इसके विपरीत दर्शन में वैयक्तिक चिन्तक की भूमिका, वह चाहे कितना ही महत् क्यों नहीं हो, गौण रहती है। वह किसी संप्रदाय की स्थापना नहीं करता बल्कि उसकी व्याख्या-परंपरा को ही आगे ले जाता है। दर्शन सत्य का प्रत्यक्ष है, अथवा उसके प्रत्यक्ष की संभावना है जो कि किसी भी व्यक्ति-चिन्तक अथवा व्याख्याकार से पहले से देखा गया होता है।"[2]

किन्तु यह बात शायद इस प्रकार और पूर्णरूप से दोनों दर्शन-प्रणालियों के सम्बध में सही नहीं है, सर्वप्रथम "ग्रीक दर्शन प्रज्ञा का अन्वेषी है वह पूर्वसिद्व सत्य को लक्षित नहीं करता" यह सही नहीं है। सत्य उसके लिए भी पूर्वत: और प्रज्ञा से स्वतंत्रत: ही सिद्व है, अन्यथा प्रज्ञा और अप्रज्ञा में अन्तर ही कैसे होगा? वास्तव में प्लेटो जिस प्रकार प्रत्ययों को दिव्य-लोकवासी सत्ताएं देखता है और ऐन्द्रिय लोक को उनकी असम्यक् अनुकृति के रूप में देखता है उससे यह स्पष्ट है कि उसके लिए भी सत्य उसी प्रकार स्वतंत्र और ज्ञान उसी प्रकार वस्तुतंत्र है जिस प्रकार प्राचीन भारतीय दार्शनिकों के लिए है। जहां तक सत्य के पूर्वत: साक्षात्कृत होने का प्रश्न है, यह भी मुख्यत: वेदांती दार्शनिकों के लिए ही सही है, अन्यों के लिए नहीं। निश्चय ही बौद्ध भी बुद्ध को ही द्रष्टा मानते हैं और स्वयं को उस दृष्टि का व्याख्याकार ही मानते हैं, किन्तु बौद्धों में साक्षात्कार की योग्यता सबमें स्वीकृत है। इसके अतिरिक्त बौद्ध दार्शनिक बुद्धवचनों को कभी प्रमाण रूप में उध्दृत नहीं करते थे न उनके भाष्य और व्याख्याएं ही लिखते थे। इसी प्रकार सांख्यकारिकाकार ने भी सत्य को अपने से पूर्वदृष्ट रूप में नहीं प्रतिपादित किया है न भर्तृहरि ने किसी पूर्व-दृष्ट सत्य की व्याख्या का दावा किया है। यही बात

प्रत्यभिज्ञ दार्शनिकों के लिए भी कही जा सकती है। इस प्रकार भारतीय दार्शनिक पूर्व-दृष्ट सत्य की व्याख्या मात्र को अपना कार्य मानते थे यह कहना सही नहीं है। ऐसा कहने पर यह विरोध भी होगा कि भारतीय दार्शनिक अपने कार्य को 'दर्शन' नहीं मान कर 'दर्शन' की बौद्धिक व्याख्या मानते थे। ग्रीस दर्शन से भारतीय दर्शन का आधारभूत भेद संभवतः यह कहा जा सकता है कि अधिकांश भारतीय दर्शन सत्य को बुद्धिगम्य नहीं मान कर अतिक्रामी साक्षात्कारगम्य मानते थे। दूसरा भेद यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन परतत्त्वों-विषयक विमर्श को ही दर्शन का कार्य मानते थे, मनुष्य और जगत्-विषयक स्थितियों को नहीं। मनुष्य का सामाजिक पक्ष धर्मशास्त्र का विषय माना जाता था और प्राकृतिक जगत्-विषयक विभिन्न पक्ष विभिन्न विज्ञानों के विषय माने जाते थे। किन्तु प्रकृति के मूल स्वरूप के विषय में सांख्य की त्रैगुण्य की अवधारणा प्रायः स्वीकृत थी, सांख्य की विशिष्टता उसे सत् स्वीकार करने और पुरुष से उसके सम्बध के निरूपण में थी।

इनमें प्रथम भेद अधिक मौलिक कहा जा सकता है किन्तु तब भी यह नहीं कहा जा सकता कि इनके अपवाद दोनों संस्कृतियों में नहीं मिलते हैं। उदाहरणतः प्लोटाइनस का 'एक' स्पिनोजा का चिदचिद्-विशिष्ट परतत्त्व, कांट का संकल्पात्मक आत्मतत्त्व और अगम्य वस्तु-तत्त्व, और नीत्शे तथा हाईडेगर के सत्तत्व बुद्धि से अतीत ही हैं। दूसरी ओर भारतीय दर्शनों में न्याय, प्रत्यभिज्ञा या काश्मीर शैव संप्रदायों तथा शब्द-ब्रह्मवाद में तत्त्व को उस प्रकार अबुद्धिगम्य नहीं कहा जा सकता। किन्तु तब भी दो महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं जो भारतीय और यूरोपीय दर्शनों में कहे जा सकते हैं: प्रथम यह कि यूरोपीय दर्शन के समान भारतीय दर्शन में वस्तु से पृथक् शुद्ध आकार को और इस प्रकार प्रागनुभविक को स्वीकार नहीं किया गया, अथवा कहें, नहीं देखा गया। दूसरी ओर पश्चिम में ऐसे शुद्ध अद्वय तत्त्व को नहीं देखा गया जो सब भेदों को या तो उपसंहृत करता है अथवा जिसके होते सब भेद मिथ्या हैं। अथवा कहें, पाश्चात्य दर्शन ने प्रागनुभविक और आनुभविक के बीच एक मौलिक भेद किया जो भारतीय दर्शन में नहीं देखा गया और दूसरी ओर भारतीय दर्शन ने परमार्थ और व्यवहार में मौलिक अंतर किया जो पश्चिम में नहीं देखा गया, किन्तु तब भी भारत में पर-तत्त्व की अबाधितता की अवधारणा शुद्ध आकारिक नहीं होने पर भी आनुभविक की आगन्तुकता को देखती है और इसी प्रकार विकल्प और वस्तु का भेद प्रागनुभविक और आनुभविक से नितांत भिन्न नहीं है। दूसरी ओर कांट में ट्रासेंडेंट तथा ट्रासेंडेंटल का भेद परमार्थ और व्यवहार के भेद से नितांत भिन्न नहीं है, यद्यपि यह सही है कि उसमें परमार्थ- विषयक अवधारणा की वह सूक्ष्मता और आत्यंतिकता नहीं है जो मोक्ष और निर्वाण की कल्पना में, अथवा ब्रह्म, शुद्ध विज्ञान और शून्य की कल्पना में उपलब्ध होती है। ये अंतर इन दो परंपराओं में एक आधारभूत अंतर की ओर संकेत करते

हैं और वह अंतर यह है कि प्रागनुभविक और आनुभविक का भेद जहां अवधारणा और अनुभव के बीच है और उसका लक्ष्य तर्क है, परमार्थ और व्यवहार का सत्य विषयक है और उसका लक्ष्य जीवन और उसका साध्य है। वास्तव में विकल्प और निर्विकल्पक के भेद का संम्बध भी इसी व्यवहार-परमार्थ के भेद से ही है, मात्र तर्क से नहीं। इसका अर्थ यह नहीं है कि भारतीय दर्शन में शुद्ध तार्किक प्रश्नों पर विचार नहीं हुआ है, ऐसा विचार भी बहुत हुआ है। नागार्जुन ने अवधारणाओं के शुद्ध तार्किक विश्लेषण द्वारा ही उनकी शून्यता प्रदर्शित की है और इसी प्रकार वसुबन्धु ने शुद्ध तार्किक युक्तियों से ही विज्ञानवाद की स्थापना की है। इसी प्रकार श्री हर्ष ने वेदांत-सिद्धान्त को शुद्ध तार्किक आधार देने के लिए *खंडनखंडखाद्य* की रचना की, व्यासतीर्थ ने *न्यायामृत* तथा मधुसूदन सरस्वती ने *अद्वैतसिद्धि* की रचना की। बौद्धों का भाषादर्शन, विशेषत: अपोहवाद, इसी प्रकार एक तार्किक-अन्तर्दृष्टिमूलक सिद्धान्त है। इस प्रकार भारतीय दर्शन को सामान्य रूप से धार्मिक दर्शन नहीं कहा जा सकता जिस प्रकार मध्ययुगीन यूरोपीय दर्शन को कहा जा सकता है। वास्तव में भारत का धार्मिक चिन्तन भी अन्य संस्कृतियों के धार्मिक चिन्तनों से इस दृष्टि से मौलिक रूप से भिन्न है कि इसके कुछ संप्रदायों में ईश्वर को भी स्वीकार नहीं किया है और जिनमें किया गया है उनमें से कुछ की ईश्वर की कल्पना उस प्रकार व्यक्तिपरक नहीं है जिस प्रकार अन्य धर्मों में है। बौद्ध और जैन तो ईश्वर को अस्वीकार ही करते हैं,उपनिषद्, वेदान्त, सांख्य और निर्गुण भक्ति-संप्रदाय भी वैयक्तिक ईश्वर को स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार भारतीय दर्शन वास्तव में उतना धर्मपरक नहीं है जितना भारतीय धर्म दर्शनपरक है।

इस प्रकार भारतीय दर्शन-परंपरा को किसी एक सूत्र में परिभाषित नहीं किया जा सकता, केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यह मुख्यत: आध्यात्मिक-तत्त्वमीमांसात्मक है। इस परंपरा का एक बहुत निर्बल पक्ष भी है कि इसमें मनुष्य के सामाजिक-राजनीतिक-ऐतिहासिक पक्षों को दार्शनिक चिन्तन का विषय नहीं बनाया गया, नैतिक पक्ष की भी सामान्यत: उपेक्षा की गई जबकि *गीता* को नैतिक दर्शन का उत्कृष्टतम काव्य कहा जा सकता है। इसी प्रकार *महाभारत* में भी नैतिकता पर दार्शनिक चिन्तन का अत्यन्त उत्कृष्ट स्तर उपलब्ध होता है। किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि जबकि *गीता* पर अनेक दार्शनिकों ने टीकाएं और भाष्य लिखे हैं, किसी ने नैतिकता विषयक प्रश्नों पर विचार नहीं किया है। इसी प्रकार काव्य और कलाओं पर भी अभिनवगुप्त को छोड़ कर, किसी दार्शनिक ने विचार नहीं किया,यद्यपि यह सही है कि काव्य पर काव्यशास्त्रियों ने जो विचार किया उसमें दार्शनिक चिंतन के भी तत्त्व मिलते हैं।

दर्शन की यह परंपरा कुछ शताब्दियों पूर्व प्राय: जड़ा गई थी। भारत में अंग्रेजी

शासन की स्थापना के साथ युरोपीय संस्कृती के संपर्क से एक चुनौती के रूप में इस देश में एक वैचारिक जागरण हुआ और बहुत से विचारकों ने युग की चुनौतियों और मनः स्थितियों के अनुसार अपनी परंपरा के साथ पुनः सजीव संपर्क स्थापित किया। राजा राममोहनराय, स्वामी विवेकानंद,स्वामी दयानंद, श्री अरविन्द, बाल गंग़ाधर तिलक, महात्मा गांधी आदि कितने ही नाम इस प्रसंग में लिये जा सकते हैं। किन्तु कुछ ऐसे नाम भी हैं जो इस बात को दर्शाते हैं कि भावना और धार्मिक जीवन के स्तर पर इस सांस्कृतिक परंपरा की अंतर्धारा अजस्र रूप से प्रवाहित हो रही थी जो इसकी दार्शनिक परंपरा के लिए उपजीव्य बनी। इसके उदाहरणों के रूप में श्री रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि तथा अन्य अनेक संतों,तपस्वियों और धर्म-प्रवर्तकों के नाम लिये जा सकते हैं। द्रष्टव्य है कि स्वामी विवेकानंद के जनक परमहंस थे और स्वामी दयांनद के स्वामी व्रजानन्द। इसी प्रकार श्री अरविन्द भी उपनिषद् और योग की परंपरा से अन्तःसंम्बध्द थे, उनका आधार केवल वैचारिक नहीं था। इस प्रकार जबकि देश में वैचारिक उद्वेलन बाहरी चुनौती के फलस्वरूप हुआ इसका उपजीव्य एक मूल और जीवित परंपरा ही थी। यह केवल एक संयोग की बात ही नहीं है कि स्वामी दयांनद, तिलक, श्री अरविन्द और महात्मा गांधी चारों ने *श्रीमद्भगवद्गीता* की व्याख्याएं लिखी। यह इस बात का ही द्योतक है कि इस संस्कृति की धार्मिक-आध्यात्मिक परंपरा जीवित थी और वह नये युग और नयी चुनौतियों के अनुसार नयी दृष्टि का आधार बन सकती थी। द्रष्टव्य है कि परंपरा का यह उज्जीवन उससे सर्वथा भिन्न प्रकार का है जैसा विश्वविद्यालयों के अध्यापकों के लेखन में पहले जर्मन प्रत्ययवाद के प्रकाश में वेदांत की व्याख्या के रूप में और इधर पाश्चात्य आकारिक तर्क के प्रकाश में नव्य-न्याय की व्याख्या के रूप में दृष्टिगत होता है। यह लेखन जीवित परंपरा की प्रेरणा का फल नहीं होकर उसके अतीत के अध्ययन के प्रयत्न का परिणाम कहा जा सकता है, किन्तु वह भी दूसरी परंपरा के प्रकाश में आधुनिक भारतीय दर्शन के इतिहास-लेखकों में किसी ने भी इस आधारभूत भेद को प्रायः नहीं देखा।

१९५० के बाद देश की दार्शनिक परिस्थिति में एक और आधारभूत मोड़ आया। स्वतंत्रता के बाद देश से दर्शन के बहुत से अध्यापक और विद्यार्थी इंग्लंड और अमरीका के विश्वविद्यालयों में अध्ययन के लिए भेजे गए। ये लोग भारतीय दर्शन की परंपरा से इतिहास के रूप में भी परिचित नहीं थे। इसलिए इन्होंने अपनी पिछली पीढ़ी के अनुरूप पाश्चात्य दर्शन के प्रकाश में भारतीय दर्शन की व्याख्या भी नहीं की, इन्होंने सीधे तत्कालीन पाश्चात्य दार्शनिकों के ही विचारों को दुहराना आरंभ किया और दावा किया कि आज का यही एक प्रासंगिक दर्शन है और इसका भारत के नागरिकों द्वारा लेखन होने पर यही भारतीय दर्शन हो जाता है। अपने कथन के पक्ष में इनकी यह युक्ति है कि दर्शन के प्रश्न सार्वभौम होते हैं, देश-काल से सीमित नहीं होते। किन्तु

ये लोग यह नहीं देखते कि उनकी यह बात मान लेने पर उनके समकालीन आंग्ल-अमरीकी दर्शन-प्रणाली के अनुसरण और उसके प्रश्नों को ही दर्शन के एकमात्र प्रश्न मानने का कोई औचित्य नहीं रहता, उन्हें सभी देशों और कालों की दर्शन-प्रणालियों का समान रूप से अध्ययन करना चाहिए और तब किसी युक्ति के आधार पर ही इनके बीच चयन करना चाहिए । किन्तु वे ऐसा करते हैं यह देखने में नहीं आता। देखने में केवल यह आता है कि दर्शन के जो अध्यापक अध्ययन के लिए आंग्ल-अमरीकी विश्वविद्यालयों में गए वे उन देशों की दर्शन-प्रणाली का अनुसरण करते हैं और तब भी अपने मौलिक चिन्तक होने और सार्वभौम सत्यों के द्रष्टा होने का दावा करते हैं। यदि ये लोग मौलिक चिन्तक होने का दावा छोड़ कर अपने को उसी प्रकार पश्चिमी विद्याविद् की भूमिका में देखते, जिस प्रकार मैक्स मूलर, डाउसन या श्चर्बात्सकी को भारत-विद्याविद् की भूमिका में देखते थे तब ये शायद अधिक उपयोगी कार्य कर पाते और भारतीय दार्शनिक चिन्तन की समकालीन परंपरा को इस प्रकार व्यामिश्रित और पथभ्रष्ट नहीं करते।

इसका यह अभिप्राय भी नहीं है कि हम आज अपने प्राचीन दार्शनिक वाङ्मय का ही अध्ययन और चिन्तन करें और अपने को वहीं तक सीमित रखें । मौलिक विचारक के लिए परंपरा का अर्थ सत्यान्वेषण में पूर्वजों द्वारा तय कर लिये गए मार्ग पर उनसे आगे बढ़ना होता है। किन्तु यह कार्य उसके लिए कोई भी परंपरा नहीं कर सकती,केवल वही परंपरा कर सकती है जो उसकी जातीय स्मृति और मानसिक परिवेश बनाती है। यदि कोई व्यक्ति एक संस्कृति में उत्पन्न होकर दूसरी में पलता, शिक्षित होता और रहता है तो यह दूसरी संस्कृति ही उसकी परंपरा और परिवेश होती है। वही उसका सांस्कृतिक व्यक्तित्व बनाती और उसके चिन्तन को उर्वर बनाती है। किन्तु जैसा कि हमने कहा, अपनी सांस्कृतिक परंपरा से सम्बन्धित होने का अर्थ उससे अपनी दृष्टि को बांधना या सीमित करना नहीं है। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के दो पक्ष कहे जा सकते हैं, एक उसका निजी-विशिष्ट और दूसरा जातीय या सांस्कृतिक। अब,प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह सहज है कि वह अपने व्यक्तित्व के इन दोनों पक्षों में प्रतिष्ठित हो। किन्तु अधिकांश व्यक्ति ऐसे नहीं होते वे अपनी प्रामाणिकता, अपने अनुभव और अपनी आत्मा में नहीं खोजते, बल्कि अन्यों के समर्थन में अथवा अन्यों के अनुकरण में खोजते हैं। ऐसे व्यक्ति अप्रामाणिक कहे जाते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रामाणिक व्यक्ति अन्यों से सीखता या ग्रहण नहीं करता है। वास्तव में सही अर्थों में वही अन्यों से सीख और ग्रहण कर सकता है। क्योंकि मनुष्य के संदर्भ में सीखने और ग्रहण करने का अर्थ स्वयं विचार कर सकने और स्वयं देख तथा परख सकने की योग्यता अर्जित करना होता है।

इस पर कहा जा सकता है कि इसका अर्थ होगा कि किसी भारतीय को

पश्चिम-विद्याविद् और किसी पाश्चात्य को भारत-विद्याविद् भी नहीं होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है। विद्या-विद् होना किसी परंपरा को विषय रूप में देखना है। वास्तव में जब हम अपनी परंपरा के भी किसी पक्ष के विद्वान् होते हैं तब अपनी पंरपरा भी हमारे लिए विषय-रूप ही होती है। अंतर केवल यह होता है कि वह हमारी विषयिता भी होती है। किन्तु एक स्रष्टा चिन्तक अथवा स्रष्टा कलाकार के लिए परंपरा की विषयिता ही अपेक्षित होती है और वह विषयिता केवल वही परंपरा दे सकती है जो चिंतक का जातीय अतीत और परिवेश होती है। यह बात ऐसे दार्शनिक चिंतक के लिए भी सही है जिसकी दर्शनिक परंपरा पर्याप्त समृद्ध नहीं है।

किन्तु भारतीय दार्शनिक परंपरा न केवल पर्याप्त समृद्ध है बल्कि दार्शनिक दृष्टि से तीन समृद्धतम परंपराओं में से एक भी कही जा सकती है। भारतीय परंपरा के अतिरिक्त केवल ग्रीक और पाशचात्य परंपराएं ही तुलनीय रूप से समृद्ध कही जा सकती हैं। ऐसे में यदि कोई दर्शन का लेखक इस परंपरा की उपेक्षा कर पाश्चात्य परंपरा में प्रतिष्ठित होता है तो उसे भारतीय दार्शनिक नहीं कह सकते।

यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि यदि दर्शन की भारतीय परंपरा ही भ्रांत अथवा अयुक्त परंपरा प्रतीत होती है, अथवा उसे वही विदेशी, अर्थात् अपने बोध और स्वभाव के विपरीत प्रतीत होती है तो क्या किया जाय? तब इसमें क्या औचित्य है कि वह इस परंपरा का अपने को अंग बनाए? इसका एक उत्तर होगा कि यह कोई आवश्यक नहीं है, किन्तु तब वह 'भारतीय दार्शनिक' नहीं कहा जा सकता। किन्तु इसका एक दूसरा और अधिक गंभीर पक्ष यह है कि ऐसा व्यक्ति उचित रूप से अपनी परंपरा का भीतरी आलोचक होगा। परंपरा का भीतरी आलोचक होना भी परंपरा का अंग होना ही है। ऐसे भीतरी आलोचक सभी परंपराओं में समय-समय पर होते हैं और वास्तव में वे परंपरा के अनुयायियों की तुलना में उसे अधिक समृद्ध बनाते हैं, क्योंकि ये आलोचक परंपरा के आत्मचेतन होने के द्योतक होते हैं। भारत में ऐसे अनेक आलोचक हुए हैं और इस परंपरा ने उन्हें उतना ही सम्मान दिया है जितना इसके अनुयायियों को दिया है। महात्मा बुद्ध और महावीर तो इसके प्रमुख प्रमाण हैं ही, अन्य भी अनेक प्रमाण हैं: उदाहरणतः, चार्वाक,अजित केश कंबली, मक्खलि घोषाल, मत्स्येन्द्र नाथ और गोरखनाथ आदि। निश्चय ही बुद्ध और मत्स्येंद्रनाथ आदि दार्शनिक नहीं थे किन्तु ये उस सत्य के द्रष्टा समझे जाते थे जिस सत्य और दृष्टि को बौद्धिक पदावली में व्याकृत करने को भारतीय परंपरा अपना कार्य मानती थी। जो भी हो, यहां प्रासंगिक बात यह है कि परंपरा के भीतरी आलोचक परंपरा के उतने ही अंग होते हैं, जितने मूल परंपरा के प्रस्थापक होते हैं। इन तत्त्वज्ञों के समान ही इनके दार्शनिक अनुयायी थे जो परंपरा के आलोचक थे और परंपरा के मूल प्रस्थापकों के साथ संयुक्त रूप से परंपरा के निर्माता बने।

इस प्रकार किसी संस्कृति में भीतरी आलोचना उसके स्वास्थ्य का लक्षण और उसकी कारक ही होती है और उसका ही अंग समझी जाती है- ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार ऊहापोह किसी निष्कर्ष का अंग होता है। किन्तु किसी दूर देश की संस्कृति में चल रहे दार्शनिक विचार-विमर्श से अपने को सम्बद्ध करने, उसके विचारकों को अपना आदर्श मानने और वहां चल रहे विचार-विमर्श में अपने को साक्षीदार समझने के कारण ये लेखक अपनी परंपरा के तो अंग नहीं ही रहते, ये उस दूसरी परंपरा के अंग भी नहीं बन पाते और इस दूसरी परंपरा के विचारक इन्हें प्राय: ही अपना साझीदार और अपनी परंपरा में योगदान करने वाला नहीं मानते। और न वास्तव में वे ऐसा होने योग्य होते ही हैं, क्योंकि परंपरा की आत्मा में हम लोरी के साथ ही प्रतिष्ठित होते हैं। अथवा कम-से-कम सुदीर्घ काल तक उस परंपरा में रहना, उसके साहित्य, लोक-जीवन और हाव-भाव के साथ तादात्म्य सम्बन्ध में प्रतिष्ठित होना अपेक्षित होता है। यही कारण है कि आंग्ल-अमरीकी दर्शन-प्रणाली में लिखने वाले अनेक भारतीय दर्शनाध्यापकों में से किसी एक को भी वहां के किसी लेखक ने कभी एक बार भी अपने लेखों में उध्दृत नहीं किया, जबकि यहां के ये लेखक उन पर ऐसे लिखते हैं जैसे वे मंत्र-द्रष्टा हों। जर्मनी में अवश्य डॉ. जे. एन्. मोहन्ती को थोड़ी स्वीकृति मिली है, किन्तु वे इन लेखकों से भिन्न भारतीय परंपरा से भी उतनी ही निकटता से परिचित हैं और परिणामत: वे वहां के फिनॉमिनालॉजी दर्शन-संप्रदाय में एक भारतीय विचारक के रूप में योगदान कर सकते हैं। तब भी द्रष्टव्य है कि उनको भी वहां कोई द्वितीय श्रेणी के विचारकों में भी रखता हो ऐसा कुछ नहीं है, न वास्तव में वे हैं ही, वे केवल हुसर्ल के असंख्यक व्याख्याकारों में एक गिने जाते हैं, जबकि आंग्ल-अमरीकी परंपरा में लिखने वालों की गणना उतनी भी नहीं होती।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आधुनिक भारतीय दार्शनिकों को पाश्चात्य दार्शनिक परंपरा के बजाय प्राचीन भारतीय परंपरा की व्याख्या करनी चाहिए। स्वतंत्रता के पहले हमारे लेखक मुख्यत: यही करते थे - सिवाय अग्रेंजी साम्राज्य के आरंभिक वर्षों के जब भारत में अभी विश्चविद्यालयों की स्थापना नहीं हुई थी और दर्शन का अध्यापक और दार्शनिक और दार्शनिक चिन्तक होने को अभी पर्यायवाची नहीं माना जाने लगा था। विश्वविद्यालयों की स्थापना के बाद दर्शन के अध्यापक ही दार्शनिक माने जाने लगे। दर्शन के अध्यापक का कार्य दूसरों के विचारों को प्रस्तुत करना है और यही ये लोग करते थे। तब भारतीय विश्वविद्यालयों में जर्मन प्रत्ययवाद का अध्यापन होता था इसलिए कांट, हेगल और ब्रैड्ले ही हमारे आदर्श दार्शनिक थे और उन दिनों देश के सम्मान का विशेष ध्यान होने से प्राचीन भारतीय दर्शन को भी इनसे तुलनीय दिखाने का प्रयत्न होता था। इस प्रकार प्राचीन भारतीय दर्शन की भी व्याख्या होती थी। के. सी. भट्टाचार्य, राधाकृष्णन्, पी.टी. राजू आदि का लेखन इसी प्रकार

का था , यद्यपि इनमें से कुछ में मौलिक चिंतन और परंपरा को आगे बढ़ाने की योग्यता भी दिखाई देती है। इस प्रकार इन दार्शनिकों का लेखन मात्र व्याख्यात्मक नहीं होकर कुछ नवीनता लिए हुए भी था। किन्तु तब भी इसमें नयी युग-परिस्थितियों की चुनौती के सामने नये विचार का वैसा सर्जन नहीं था, जो इनके पहले के विशवविद्यालयों से बाहर के चिंतकों- स्वामी दयानंद और श्री अरविंद आदि[3] में दृष्टिगत होता है। स्वामी दयानंद और श्री अरविंद आदि विचारक अतीतोन्मुखी नहीं थे, बल्कि अतीत से सजीव रूप में जुड़े हुए भविष्योन्मुखी विचारक थे। अतीत परंपरा से सजीव रूप में जुड़े होने का अर्थ है परंपरा का लेखक की विषयिता होना, विचारक और अनुभविता के रूप में उसके व्यक्तित्व का अंग होना । वह परंपरा को अतीत घटना और विषय के रूप में नहीं देखता, बल्कि उसके भीतर अवस्थित होता और उसमें सांस लेता है। वह परंपरा भारत में अंग्रेजी सरकार द्वारा विश्वविद्यालयों की स्थापना के बाद अवरुद्ध हो गई और अतीत हो गई। उसका पुनरुज्जीवन केवल तभी हो सकता है, यदि दार्शनिक चिंतन को दर्शनाध्यापन से और पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त कराया जाय और तब एक भारतीय के रूप में दार्शनिक प्रश्नों को देखा-परखा जाय। उदाहरणतः, यदि कोई भारतीय दार्शनिक नैतिकता पर लिखता है तो उसकी दृष्टि के निर्माण में उन तत्त्वों का समावेश नहीं होना अस्वाभाविक होगा जो *गीता*, बुद्ध, महावीर, कालीदास, भक्त कवियों की वाणी और *रामचरित मानस* में अनुस्यूत है। किन्तु साथ ही उसकी दृष्टि वर्तमान युग-परिस्थिति के प्रति भी खुली होना आवश्यक होगा। तभी वह एक ऐसा विचार दे सकता है जो प्रामाणिक और सांप्रतिक, सार्वकालिक और सार्वदैशिक हो। इसी प्रकार ऐसे प्रश्नों पर विचार करते हुए भी जिन पर हमारी प्राचीन दार्शनिक परंपरा में विचार नहीं किया गया है, उदाहरणतः समाज का स्वरूप, सामाजिक न्याय आदि , एक भारतीय की दृष्टि के निर्माण में वे तत्त्व अन्तर्भूत होना स्वाभाविक होगा जो इन विषयों पर भारतीय संस्कृति में व्याप्त हैं और इसके महाकाव्यों, लोक कथाओं, अर्थशास्त्रों और स्मृतियों में स्फुटित हुए हैं। तब इस दृष्टि से उसे उस परिस्थिति को देखना होगा जो आज के मनुष्य के सम्मुख वैयक्तिक, सामुदायिक, राजनैतिक और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और दावों के रूप में प्रस्तुत है।

यहाँ इसके उदाहरण के रूप में श्री अरविंद की *मानव-चक्र* तथा *मानव-एकता का आदर्श* पुस्तकों को देखा जा सकता है जिनमें ऐसे प्रश्नों पर उत्कृष्टतम स्तर का चिंतन उपलब्ध होता है जिन पर हमारी परंपरा में दार्शनिकों ने विचार नहीं किया, किन्तु जो विचार केवल उसी व्यक्ति का हो सकता है जिसकी दृष्टि भारतीय दार्शनिक परंपरा में अभिसंस्कृत हो और साथ ही जिसके सम्मुख समकालीन मानव-परिस्थिति, अपनी वैचारिक और भावात्मक समग्रता में प्रस्तुत हो। यही बात महात्मा गांधी के लिए भी कही जा सकती है, केवल इस अन्तर के साथ कि उनका चिन्तन दार्शनिक

नहीं था। किन्तु उन्होंने राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर नितान्त मौलिक विचार दिये और उनकी मौलिकता केवल इस बात में थी कि वे वैयक्तिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से पूर्णतः प्रामाणिक थे, अपने सांस्कृतिक और निजी अनुभव से पूत दृष्टि से देखे गए सत्य के साथ। सही कहा जाय तो उनकी दृष्टि भारतीय संस्कृति की शाश्वतिक दृष्टि थी और इसी कारण वे काल- विशेष के प्रश्नों के मूल में कालातीत सत्य के साक्षात्कारी थे, उन्हें व्यवहार का वास्तव परमार्थ द्रष्टा भी कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। और यह इसी कारण संभव हो सका, क्योंकि सांस्कृतिक और वैयक्तिक रूप से पूर्णतः प्रामाणिक थे।

इस प्रकार भारतीय दार्शनिक उसी को कहा जा सकता है जो दार्शनिक हो और जिसकी दृष्टि भारत के तत्त्व में प्रतिष्ठित हो। दूसरे शब्दों में, कोई भारत का नागरिक होने मात्र से भारतीय दार्शनिक नहीं हो जाता, और वह भी भारतीय दार्शनिक नहीं कहा जा सकता जो प्राचीन भारतीय दर्शन का व्याख्याकार मात्र है, क्योंकि वह भारतीय होने पर भी दार्शनिक नहीं होगा। किन्तु पाश्चात्य दर्शन के व्याख्याकार भारतीय नागरिक दार्शनिक लेखकों के रूप में अभारतीय भी हैं और अदार्शनिक भी। किन्तु ये लोग दार्शनिक होने का दावा अवश्य करते हैं, यद्यपि वास्तव में वे हैं मात्र व्याख्याकार ही। उन्हें दार्शनिक होने का भ्रम इस कारण है क्योंकि वे किसी दार्शनिक पर लिखने के बजाय दार्शनिक प्रश्नों पर लिखते हैं। किन्तु यदि थोड़ा गहराई से देखा जाय तो इन प्रश्नों पर उनका वह चिन्तन अपना नहीं होता,दूसरे शब्दों में वह प्रामाणिक नहीं होता,वह सम्बद्ध प्रश्न पर विभिन्न पाश्चात्य लेखकों के लेखों के अध्ययन का सारांशरूपेण प्रस्तुतीकरण होता है। इस 'प्रस्तुतीकरण' पद के साथ हम 'केवल' विशेषण नहीं लगा रहे हैं, क्योंकि इस प्रकार के प्रस्तुतीकरण में लेखक की ओर से कुछ जोड़-घटाव अनिवार्यतः हो जाता है । इस जोड़-घटाव से तो वास्तव में अनुवाद भी नहीं बच सकता, फिर सारांश प्रस्तुत करने वाली की तो बात ही क्या है। किन्तु इस 'मौलिकता' से ये लोग दार्शनिक नहीं कहे जा सकते, टीकाकार ही कहे जा सकते हैं।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि हमने भारतीय दार्शनिकों के लिए भारतीयता के तत्त्व की अनुसरणीयता की बात ही कही है, उसकी अन्य संस्कृतियों से उत्कृष्टता निकृष्टता की बात नहीं कर केवल इसके तत्त्व की कुछ विशेषताओं का उल्लेख ही किया है। अन्यथा पाश्चात्य दार्शनिकों तथा अन्य पाश्चात्य चिन्तकों में उस संस्कृति की विज्ञानात्मकता-युक्त्यात्मकता का गर्व और भारतीय चिन्तकों में भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता का गर्व मिलता है। इसी प्रकार चीनियों में अपनी संस्कृति की समाजात्मकता-लोक-नीत्यात्मकता का गर्व है। वास्तव में अपने-अपने वैशिष्ट्य में सभी संस्कृतियां गर्व-योग्य हैं, किन्तु इस वैशिष्ट्य ही के कारण उन दृष्टियों से वंचित हैं जो अन्य संस्कृतियों में विकसित हुईं। किन्तु जहां तक दर्शन का सम्बन्ध है, इसमें भारतीय

और यूरोपीय दोनों ही प्रयोग समान रूप से उत्कृष्ट हैं। किन्तु इसमें भारतीय दृष्टि की यह उत्कृष्टता कही जा सकती है कि यह अपनी अतिक्रांतता में यूरोपीय दृष्टि का साधन के रूप में आकलन कर सकती है, और वास्तव में इसमें यह इस रूप में आकलित है भी। अंतर केवल यह हैं कि इसका लक्ष्य अतिक्रांतता है, वह नहीं जो यूरोपीय दर्शन में लक्ष्य है। उदाहरणत: नागार्जुन केवल युक्ति का उपयोग करते हैं बल्कि अपना कार्य उसी तक सीमित रखते हैं, किन्तु उनका लक्ष्य युक्ति नहीं है, न इसे वे आधार 'विज्ञान' मानते हैं। इसी प्रकार सांख्य और वेदान्त दोनों बुद्धि को ही 'ज्ञान' का परमोच्च शिखर मानते हैं, यह ज्ञान उनके लिए 'विज्ञान' का समकक्ष भी कहा जा सकता है, क्योंकि इसी में विवेक संभव है, किन्तु यह पारमिता प्रज्ञा नहीं है, जो अंतिम लक्ष्य है और जिसके पर्यवसान में ही इसकी सफलता है। लक्ष्य बुद्ध्यतिक्रामी कैवल्य या अद्वय ब्रह्म अथवा शून्यता होने पर फिर साधन भी युक्त्यात्मक बुद्धि नहीं रह जाती बल्कि योगात्मक बुद्धि-योग अथवा पारतिमा प्रज्ञा साधन हो जाती है।

तब भी आज के भारतीय दार्शनिक के लिए युरोपीय विकल्प का मार्ग भी खुला है, उसी प्रकार जिस प्रकार बुद्ध और मक्खलि घोषाल ने दूसरे मार्गों का अवलंबन किया। किन्तु इस मार्गान्तर का अवलंबन वह भारतीय परंपरा के परिसर के बीच करके ही भारतीय रह सकता है और दर्शन में कोई योगदान कर सकता है।

पी/५१, मधुबन पश्चिम भगवती राव
टोंक रोड
जयपुर - ३०२०१५
(राजस्थान)

टिप्पणियाँ

१. *दि क्राइसिस ऑफ यूरोपियन साइंस एंड ट्रासेंडेंटल फिनॉमिनालोजी*, अंग्रेजी अनुवाद-डेविड कार, नार्थ वेस्टर्न युनिवर्सिटी प्रेस, १९७० पृ० १५.

२. "इंडियन फिलोसोफी बिट्वीन ट्रेडीशन एंड मॉडर्निटी" एस्. एस्. रामाराव पप्पू तथा आर्. पूलिगंदला द्वारा संपादित *इंडियन फिलोसोफी: पास्ट एंड फ्यूचर*, मोतीलाल बनारसीदास में संकलित, पृ० सं० २३४.

३. यहाँ स्वामी दयानन्द और श्री अरविन्द का साथ उल्लख करने से हमारा अभिप्राय स्वामी दयानन्द को श्री अरविन्द के स्तर का दार्शनिक चिन्तक कहना नहीं है। स्वामीजी दार्शनिक थे ही नहीं; वे मुख्यत: समाजसुधारक थे। और उन्होंने अपनी विचार-व्यवस्था में न्यायदर्शन को लगभग ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया था। इसके विपरीत श्री अरविन्द उच्चतम कोटि के मौलिक दार्शनिक थे।

ए. जे. एयर के सत्य के प्रत्यय की व्याख्या

सत्य का प्रत्यय ज्ञान-मीमांसा में एक महत्त्वपूर्ण प्रत्यय है। यह प्रत्यय महत्त्वपूर्ण होते हुए भी कुछ दार्शनिकों ने इसे महत्त्वहीन समझा है। उनका कहना है कि सत्य और असत्य पदों का प्रयोग निरर्थक है क्योंकि किसी अभिकथन की स्वीकृति या अस्वीकृति में इसकी कोई आवश्यक भूमिका नहीं है। प्रो. एफ्. पी. रामसे उन दार्शनिकों में से हैं जिन्होंने सत्य के प्रत्यय को अनावश्यक समझा है। एयर की भी यही मान्यता है कि सत्य के बारे में उलझने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वाक्यों या अभिकथनों में इसके प्रयोग की इतनी आवश्यकता नहीं है जैसा कि कुछ दार्शनिकों ने बताया है। वह सत्य का अर्थ केवल स्वीकृति के अर्थ में लेते हैं अथवा पुष्टीकरण के अर्थ में लेते हैं। किसी प्रतिज्ञप्ति को सत्य कहना उसकी पुष्टि करना है और असत्य कहना उसके विपरीत बात की पुष्टि करना है।

एयर कहते हैं कि जिन दार्शनिकों ने सत्य के प्रत्यय को अधिक महत्त्वपूर्ण समझा है और उसका विवेचन किया है, उनके सामने यह प्रश्न नहीं था कि सत्य क्या है? वे सत्य की परिभाषा ढूंढने में नहीं लगे हुए थे बल्कि समस्या वास्तव में यह है कि किसी प्रतिज्ञप्ति की प्रामाणिकता की कसौटी क्या है?[1] अगर यह प्रश्न समझा जाए कि हम सत्य से क्या समझते हैं तो इससे कोई वास्तविक समस्या उपस्थित नहीं होती है। लेकिन यदि यह प्रश्न किया जाए कि वह क्या है जो अभिकथन को सत्य बनाता है तो इस प्रश्न के संदिग्ध होने के कारण इसका भिन्न-भिन्न अर्थ लगाया जा सकता है। कुछ दार्शनिक इसका तात्पर्य कारणों की जांच करने से ले सकते हैं। कुछ दार्शनिक ऐसे हो सकते हैं जो किसी प्रश्न को अभिकथन और किसी बाह्य तथ्य के सम्बन्ध के बारे में जांच करने के बारे में समझ सकते हैं।

इस प्रकार यह प्रश्न है कि अभिकथन को क्या सत्य बनाता है, संदिग्ध है।

एयर के अनुसार उपरोक्त तीनों अर्थ उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि "सत्य" के दार्शनिक विवेचन में इनका कोई महत्त्व नहीं है। वह सत्य की परिभाषा का प्रश्न महत्त्वपूर्ण न मान कर विभिन्न प्रकार की प्रतिज्ञप्तियों की प्रामाणिकता की कसौटी के प्रश्न को महत्त्वपूर्ण समझते हैं। इस सम्बन्ध में वह विश्लेष्णात्मक पद्धति पर अधिक जोर देते हैं। उनके अनुसार "सत्य क्या है?" नामक प्रश्न का तात्पर्य यही है कि "प सत्य है" नामक वाक्य का क्या विश्लेषण है? यह स्पष्ट है कि इस प्रश्न से कोई वास्तविक समस्या उत्पन्न नहीं होती है क्योंकि एयर के अनुसार यह कहना कि "प" सत्य है का आशय यही है कि "प" की पुष्टि की जाती है। जो दार्शनिक किसी वस्तु की उसे सत्य समझ कर खोज प्रारंभ करते हैं उनका प्रयत्न ही व्यर्थ हो जाता है।सत्य की समस्या केवल यही है कि प्रतिज्ञप्ति को सत्य या असत्य कौन बनाता है? दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यह "प्रतिज्ञप्तियों की प्रामाणिकता की बात करने का एक तरीका है।"[2]

परंपरागत सत्य की अवधारणा को " वास्तविक गुण " अथवा " वास्तविक सम्बन्ध " के रूप में समझा गया है। दार्शनिकों का कहना है कि "सत्य" अभिकथन में कहे गये विषय के बारे में कुछ गुणों को बताना है या यह संबंघ अभिकथन के किसी बाह्य तथ्य के साथ समझा जाता है। लेकिन एयर के अनुसार यह बात गलत है। वह कहते हैं कि जिन वाक्यों में 'सत्य' शब्द किसी गुण या सम्बन्ध के लिए प्रयुक्त किया जाता है वह वास्तव में उनके लिये प्रयुक्त नहीं होता है। यदि उस वाक्य का विश्लेषण किया जाए तो उससे विदित होगा कि सत्य की यह अवधारणा गलत है। सार्थक प्रश्न यह है कि किसी प्रतिज्ञप्ति को सत्य या असत्य क्या बनाता है? इस प्रश्न को इस प्रकार भी अभिव्यक्त किया जा सकता है कि प्रतिज्ञप्तियों की प्रामाणिकता कैसे तय की जा सकती है? यदि प्रश्न को ऐसा समझा जाए तो परंपरागत सत्य की अवधारणा अर्थहीन हो जाती है। जब हम कहते हैं कि प्रतिज्ञप्तियाँ प्रमाणित कैसे होती हैं तो इसमें यह देखना है कि क्या सभी प्रतिज्ञप्तियों की प्रामाणिकता की कसौटि एक ही है? एयर के अनुसार ऐसा नहीं है । वह प्रामाणिकता की दृष्टि से प्रतिज्ञप्तियों अथवा कथनों को दो भागों में विभाजित करते हैं। -

१ प्रागनुभविक कथन २ आनुभविक कथन

इन दोनों की प्रामाणिकता सिद्ध करने की अलग अलग विधियाँ हैं।

प्रागनुभविक कथनों की प्रामाणिकता :

प्रागनुभविक कथनों के अन्तर्गत आकारिक तर्कशास्त्र और गणितीय कथन आते हैं। इनकी सत्यता के सम्बन्ध में अनुभववादियों को कठिनाई का सामना करना पड़ता है। वैज्ञानिक सामान्यीकरण भ्रमात्मक हो सकते हैं, लेकिन गणित एवं तार्किक सत्यों की अनिवार्यता और निश्चितता स्पष्ट रहती है। मिल उन दार्शनिकों से हैं जिनका

यह मानना है कि तर्कशास्त्र और गणित के सत्यों में अनिवार्यता और निश्चितता का अभाव है। मिल के अनुसार ये प्रतिज्ञप्तियाँ अत्यधिक उदाहरणों के आधार पर किये गये आगमनात्मक सामान्यीकरण हैं। इस कारण इनका सिद्धांत में खंडन किया जा सकता है। अत: ये निश्चित नहीं हो सकते हैं। गणित एवं तर्कशास्त्र के सत्यों को सार्वभौमिक सत्य बनाने में अनुभव से अच्छी युक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं लेकिन फिर भी इस प्रकार की सत्यता का कोई निश्चित आश्वासन नहीं दिया जा सकता। गणित एवं तर्कशास्त्र की सत्यता आनुभविक प्राक्कल्पनाओं की तरह है जो उनकी तरह अतीत में सदैव सत्य रही है। लेकिन आनुभविक प्राक्कल्पनाएँ जिस प्रकार सिद्धांत में भ्रामक होती हैं उसी प्रकार ये भी सिद्धांत में भ्रामक हो सकती हैं।

मिल द्वारा गणित एवं तर्कशास्त्र के संबंध में अनुभववादियों की समस्या का जो समाधान दिया गया है वह एयर को मान्य नहीं है। उनके अनुसार ऐसी प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता अनुभव से स्वतंत्र होने का तात्पर्य यह नहीं है कि हम उनको जन्म से ही जानते हैं। उनका अनुभव से स्वतंत्र होने का प्रश्न ज्ञान-मीमांसीय है। मिल का गणितीय एवं तार्किक प्राक्कल्पनाओं को आनुभविक प्राक्कल्पना के समान मानना गलत है। उनकी सत्यता को अनुभव से स्वतंत्र कहने का तात्पर्य यह है कि उनकी वैधता आनुभविक प्रामाणिकता पर निर्भर नहीं करती । उनको आगमनात्मक प्रक्रिया के द्वारा जाना जा सकता है। लेकिन जब उनको एक बार जान लेते हैं तब हम देखते हैं कि वे अनिवार्य रूप से सत्य हो जाते हैं। अर्थात् प्रत्येक कल्पनीय उदाहरण में वे सत्य होती हैं लेकिन इसके विपरीत वे प्रतिज्ञप्तियाँ जो आनुभविक सामान्यीकरण के आधार पर प्राप्त होती हैं, उनमें अनिवार्य सत्यता नहीं होती है।[3]

एयर इन दोनों प्रतिज्ञप्तियों के भेद को स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति की वैधता या सत्यता उनमें प्रयुक्त किये गये पदों की परिभाषा पर निर्भर करती है। संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति की वैधता आनुभविक तथ्यों द्वारा तय की जाती है। एयर विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक में भेद कर कांट द्वारा दिए गए विवरण में संशोधन करते हैं। कांट के विरुद्ध मुख्य आरोप यह है कि उन्होंने इस संबंध में केवल तार्किक मापदंड न अपना कर इसके साथ मनोवैज्ञानिक मापदंड को भी जोड़ दिया हे और दोनों को समान मान लिया है, जब कि दोनों एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। एयर इन दोनों प्रतिज्ञप्तियों के भेद को तार्किक बताते हुए इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं- "किसी प्रतिज्ञप्ति को विश्लेषणात्मक तब कहेंगे जब उसकी प्रामाणिकता उसमें प्रयुक्त प्रतीकों की परिभाषा पर पूर्णतया आश्रित होती है, तथा संश्लेषणात्मक तब कहेंगे जब उसकी प्रामाणिकता आनुभविक तथ्यों द्वारा निर्धारित होती है।"[4] विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति पूर्णतया तथ्यहीन होती है। इस कारण उनका किसी अनुभव द्वारा खंडन नहीं किया जा सकता है। उनसे किसी भी वस्तुस्थिति का किसी

प्रकार का ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। उन्हें तथ्यहीन कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि ये तत्त्वमीमांसीय कथनों की तरह निरर्थक होते हैं। उनके आधार पर पदों के परंपरागत प्रयोग के नियमों की जानकारी दी जाती है। इस प्रकार एक अर्थ में इस प्रतिज्ञप्ति से नये ज्ञान की प्राप्ति होती है। ये भाषा संबंधी इन प्रयोगों की ओर ध्यान आकर्षित करती है जिनके प्रति हम अनभिज्ञ होते हैं। उनके अनुसार शुद्ध गणित की प्रतिज्ञप्तियाँ विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों की शर्तों को पूरा करती हैं। अत: ये विश्लेषणात्मक हैं।[5]

एयर के अनुसार विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति का उदाहरण है "7+5 = 12" और संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति का उदाहरण है "सभी वस्तुओं में विस्तार होता है" तथा यह अनुभवाश्रित होती हैं। गणितीय प्रतिज्ञप्तियों में ज्यामितीय प्रतिज्ञप्ति को अधिक सरलता से संश्लेषणात्मक स्वीकार करने की संभावना है, क्योंकि ज्यामितीय स्वयं-सिद्धियां केवल परिभाषा मात्र हैं। यह एक आनुभविक प्रश्न है कि क्या किसी ज्यामिती का वास्तविक जगत् में प्रयोग किया जा सकता है या नहीं? ऐसी स्थिति में किसी ज्यामिती की सत्यता के संबंध में कहना निरर्थक है। वस्तुत: यह पूर्णरूप से तार्किक प्रणाली है। अत: ये प्रतिज्ञप्तियां पूर्णरूप से विश्लेषणात्मक हैं।

व्यक्ति के द्वारा प्रयुक्त किए गए शब्दों की निश्चितता विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति के द्वारा व्यक्त की जाती है। इस तरह तर्कशास्त्र और गणित की प्रतिज्ञप्तियां विश्लेषणात्मक होती हैं। अत: प्रागनुभविक सत्यता के आधार पर उनकी व्याख्या की जा सकती है। लेकिन यहां अनुभववादियों की यह मान्यता है कि वस्तु-जगत् का प्रागनुभविक ज्ञान नहीं हो सकता है। वे प्रतिज्ञप्तियां अनुभव से स्वतंत्र होते हुवे भी वैध कही जाती हैं। इसका कारण यह है कि उनमें तथ्यात्मकता का अभाव होता है। किसी प्रतिज्ञप्ति की प्रागनुभविक सत्यता का यह अर्थ है कि वह पुनरुक्ति मात्र है। ये पुनरुक्तियां स्वयं में तथ्यरहित होती हैं लेकिन ये ज्ञान की आनुभविक खोज में मार्ग-प्रदर्शन कर सकती हैं।

बुद्धिवादियों के अनुसार बौद्धिक चिंतन ही ज्ञान का एक मात्र साधन है तथा बुद्धि के द्वारा ही जगत् सम्बन्धी किसी अनिवार्य सत्य का ज्ञान प्राप्त होता है। लेकिन एयर इस बात से सहमत नहीं हैं क्योंकि वह कहते हैं कि वे वस्तुएं जिन्हें कभी देखा ही नहीं है उन्हें बौद्धिक चिंतन द्वारा कैसे उनके स्वरूप को प्रमाणित कर सकते हैं? सामान्यतया अनुभववादियों के प्रति यह आक्षेप किया जाता है कि उसके आधार पर जो अनिवार्य सत्य संबंधी ज्ञान होता है, उसकी व्याख्या करना असंभव हो जाता है। इसका कारण यह है कि कोई भी सामान्य प्रतिज्ञप्ति, जिसकी प्रामाणिकता अनुभवाश्रित होती है, वह तार्किक दृष्टि से कभी भी निश्चित नहीं हो सकती है।

एयर इस तथ्य से सहमत हैं, लेकिन इसे वह अनुभववादियों के प्रति कोई आक्षेप

नहीं मानते हैं। वह तर्कशास्त्र और गणित की सत्यता को आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता के समान नहीं मानते हैं क्योंकि उनका मानना है कि दोनों का समान तार्किक स्वरूप नहीं है तथा ये दोनों एक ही पद्धति से प्रमाणित नहीं की जातीं। अत: तार्किक एवं गणितीय प्रतिज्ञप्तियों का अनिवार्य रूप से सत्य होने का यही रहस्य है कि ये विश्लेषणात्मक या पुनरुक्त्यात्मक होते हैं। एयर की शब्दावली में "प्रागनुभविक", "विश्लेषणात्मक", "पुनरुक्त्यात्मक ", "शाब्दिक", "भाषात्मक", " परिभाषात्मक सत्य" आदि पर्यायवाची शब्द प्रतीत होते हैं। अनिवार्य रूप से सत्य तार्किक एवं गणितीय प्रतिज्ञप्तियों के स्वरूप का निर्धारण इन विशेषणों द्वारा किया जा सकता है।

इस पर सी. डी. ब्रॉड ने आपत्ति उठायी है कि एयर के वर्णन के अनुसार प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्ति आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों का एक उपवर्ग बन जाती है।[6] एयर के विवरण से प्रतीत होता है कि प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्ति प्रतीकों के प्रयोग के बारे में जानकारी देती है। इस प्रकार प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियों को तथ्य सूचक मानना एयर की मूलभूत मान्यता के विरुद्ध है। एयर अपने मत का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि यद्यपि प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की प्रामाणिकता शाब्दिक प्रयोग सम्बन्धी तथ्यों पर आश्रित होती है, लेकिन वह यह मानते हैं कि प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की उपयोगिता एक और इस आनुभविक तथ्य पर आधारित होती है कि कुछ प्रतीकों का प्रयोग उसी ढंग से होता है जैसे इनका प्रयोग किया जाता है और दूसरी ओर इस आनुभविक तथ्य पर आधारित होती है कि प्रतीकों का हमारे अनुभव में सफलतापूर्वक प्रयोग किया जाता है।[7]

एयर ने अपने निबंध "Truth by Convention "[8] में इस बात को अस्वीकार किया है कि अनवार्य प्रतिज्ञप्ति सामान्य अर्थ में प्रतिज्ञप्ति भी है। जिन्हें प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्ति कहा जाता है वे शब्दों के वास्तविक प्रयोग सम्बन्धी विवरण न देकर केवल निर्देश देती है कि शब्द का किस प्रकार प्रयोग करना चाहिये । ये तो केवल नियमों की स्थापना करती है, जिनका पालन या उल्लंघन किया जा सकता है।[9]

एयर *Language, Truth and Logic* की नई भूमिका में इस मत को त्याग देते हैं कि प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्ति स्वयं भाषा सम्बन्धी नियम है, लेकिन वह इस बात पर जोर देते हैं कि ये अनिवार्य इस कारण हैं कि उपयुक्त भाषा संबंधी नियम पहले से ही स्वीकार कर लिये जाते हैं।[10] उनके द्वारा प्रस्तुत की गयी व्याख्या अनिवार्य सत्य संबंधी समस्या को भाषा-विशेष के सन्दर्भ से पृथक् रूप से समझने में असफल होती है। आलाचकों का मानना है कि विश्लेष्णात्मक और संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों के मध्य एक स्पष्ट रेखा बनाना संभव नहीं हो पाया है।[11]

आनुभविक कथन

संश्लेषणात्मक कथन आनुभविक कथन के अन्तगर्त आते हैं। आनुभविक

कथन दो प्रकार के होते हैं -

१. वे कथन जिनकी प्रामाणिकता अपरोक्ष रूप से जानी जाती है।
२. वे कथन जिनकी प्रामाणिकता परोक्ष रूप से जानी जाती है।

जैसा कि बताया जा चुका है, वे कथन जिनकी प्रामाणिकता अपरोक्ष रूप से जानी जाती है उन्हें "मूल कथन " कहते हैं, जो " निरीक्षणात्मक कथन" की श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।[12] इन कथनों में हमारे तात्कालिक अनुभव का वर्णन होता है। इनको पूर्णतया निश्चित माना जाता है क्योंकि इनका तथ्यों से प्रत्यक्ष संबंध होता है। लेकिन इन कथनों के अलावा दूसरे वे संश्लेषणात्मक कथन होते हैं जिनकी प्रामाणिकता परोक्ष रूप से जानी जाती है। एयर के अनुसार कोई भी संश्लेष्णात्मक प्रतिज्ञप्ति शुद्ध रूप से मूल प्रतिज्ञप्ति नहीं होती है। अत: वह पूर्णतया निश्चित नहीं हो सकती है। वास्तविक रूप से देखा जाए तो उनके अनुसार सारी आनुभविक प्रतिज्ञप्तियां प्राक्कल्पनाएँ होती हैं, जिनकी पुष्टी या निराकरण हमारे वास्तविक ऐन्द्रिक अनुभव में हो सकता है तथा अन्य ऐन्द्रिक अनुभव द्वारा भी की जा सकती है।[13] इस प्रकार एयर के अनुसार कोई भी अंतिम प्रतिज्ञप्ति नहीं है।

आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की प्रामाणिकता की कसौटी के बारे में एयर का कहना है कि "आनुभविक प्राक्कल्पनाओं की वैधता की जांच में हम यह देखते हैं कि जिस कार्य को पूर्ण करने के लिए उसे बनाया गया है, वह क्रिया वास्तव में पूर्ण करता है या नहीं ।[14]

आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की प्रामाणिकता के संबंध में दो समस्याएं उत्पन्न होती हैं। १. वह क्या है जो आनुभविक प्रतिज्ञप्ति को सत्य बनाता है? २. जो सत्य बनाता है उससे आनुभविक प्रतिज्ञप्ति का क्या संबंध है?

ये दोनों समस्याएं क्रमश: तथ्य और आनुभविक अभिकथनों के संबंध के बारे में है। कुछ दार्शनिक निषेधात्मक तथ्यों को स्वीकार नहीं करते हैं, लेकिन एयर के अनुसार ऐसा सोचना केवल एक पक्षपाती दृष्टिकोण है।

एयर के अनुसार जिन कथनों की प्रामाणिकता परोक्ष रूप से की जाती है उनकी प्रामाणिकता उसी आधार पर नहीं की जा सकती है जिस आधार पर प्रागनुभविक कथनों की जाती है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जो संबंध सत्य कथनों का तथ्यों से होता है उसका क्या स्वरूप है? दार्शनिकों ने इस संबंध में भिन्न-भिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं। ये तीन सिद्धांत हैं- (1) अनुकूलता-वादी सिद्धांत (2) सामंजस्यवादी सिद्धांत (3) अर्थक्रियावादी सिद्धांत।

एयर इन तीन सिद्धांतों में से किसी भी सिद्धांत को पूर्णतया संतोषजनक नहीं

मानते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एयर के अनुसार सत्य की समस्या कोई सैद्धान्तिक समस्या नहीं है। यह केवल एक व्यावहारिक समस्या है। इस संबंध में वह एफ्. पी.रामसे के मत से सहमत हैं जिनके अनुसार "सत्य की समस्या वास्तव में कोई पृथक् समस्या नहीं है, बल्कि वह केवल एक भाषायी गड़बड़ (Linguistic Muddle) है।"[15] इस मत के अनुसार सत्य का प्रत्यय अनावश्यक समझा गया है। इस प्रकार की अवधारणा में एक मूलभूत मान्यता यह है कि तार्किक समानता (Logical Equivalence) और अर्थ में समानता (Equivalence in Meaning) में कोई भिन्नता नहीं है। दोनों एक ही हैं। इस प्रकार की मान्यता उस तर्कशास्त्री के लिए स्वाभाविक होती है जिसकी रुचि प्रतिज्ञप्तियों के अर्थ में न होकर उनके सत्यता-मूल्यों में होती है; जो अर्थ के प्रमाणीकरण के सिद्वांत को मानता है उसके लिये भी इस प्रकार की मान्यता स्वाभाविक है।

सत्य के प्रत्यय का महत्त्व ऐसे वाक्यों में अधिक प्रतीत होता है जिनमें सत्य को विशेषता के रूप में अभिव्यक्त न करके केवल उसकी ओर संकेत किया जाता है। एयर भी इस बात को स्वीकार करते हैं।[16]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्य के प्रत्यय के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। ज्ञान की अवधारणा में जिस वस्तु या कथन का हमको ज्ञान होता है वह सत्य होना चाहिये। इस दृष्टि से ज्ञान की पूर्ण व्याख्या में सत्य की व्याख्या निहित है। इसलिए "सत्य" की व्याख्या ज्ञान-मीमांसा में वांछनीय है।[17] परन्तु एयर का कहना है कि सत्य के सिद्वांत का प्रयोजन केवल उस कसौटी का वर्णन करना है जिससे विभिन्न प्रकार की प्रतिज्ञप्तियों की प्रामाणिकता निश्चित की जाती है। उसके अनुसार सत्य की समस्या केवल यही है कि प्रतिज्ञप्तियों को सत्य या असत्य कौन बनाता है? उनकी प्रामाणिकता की कसौटी क्या है? अर्थात् , उनकी प्रामाणिकता कैसे तय की जाती है? अगर सत्य के प्रत्यय को इस दृष्टि से समझा जाए तो सत्य की समस्या विभिन्न प्रतिज्ञप्तियों या कथनों की प्रामाणिकता की समस्या है।

चौधरी भवन
१५, भट्ट जी की बाड़ी
उदयपुर - ३१३००१
(राजस्थान)

निर्मला जैन

टिप्पणियाँ

1. A. J. Ayer : *The Concept of Person & Other Essays*, MacMillan & Co. Ltd., London, 1965, p. 167.
2. A. J. Ayer : *Language, Truth & Logic*, Victor Gollancz, Ltd., London, 1936, p. 90.
3. *Ibid*, p. 75.
4. *Ibid*, p. 78
5. *Ibid*, p. 82
6. C. D. Broad : " Are There Synthetic A Priori Truths? " *Proceedings of the Aristotelian Society, 1936.*
7. A. J. Ayer : *Language, Truth & Logic*, pp. 16–17.
8. *ANALYSIS*, 1936, p. 20.
9. *Ibid.*
10. A. J. Ayer : *Language, Truth & Logic*, p. 17.
11. W. V. Quine : " Two Dogmas of Empiricism" in his book *From a Logical Point of View* (Harper Paper back, 1963)
12. A. J. Ayer : *The Concept of Person & other Essays*, p. 171.
13. A. J. Ayer : *Language, Truth & Logic*, p. 94.
14. *Ibid*, p. 99.
15. F. P. Ramsay : "Facts & Propositions ", *Proceedings of the Aristotelian Society Supple.* Vol. VII (1927) reprinted (in part) in Truth edited by George Pitcher, Prentice Hall Inc. England Cliff, New Jersey, 1964, p. 16.
16. A. J. Ayer : *The Concept of Person & other Essays*, p. 165.
17. निर्मला जैन : *ए. जे. एयर की ज्ञान-मीमांसा*, पीएच्. डी. की डिग्री के लिए सुखाड़िया विश्वविद्यालय को प्रस्तुत शोध-प्रबंध, उदयपुर, 1985, पृ. 111 - 112 (अप्रकाशित)

दंड के सिध्दान्त

नीति शास्त्र एवं दंड - नीतिशास्त्र का कार्य मूलभूत नैतिक नियमों की खोज करना, तदनुरूप मानव आचरण के आदर्श को निरूपित करना एवं इसके आलोक में मानव के कर्मों का, उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ, आदि रूप में, नैतिक मूल्यांकन करना है। अब नैतिक नियमों के प्रति हमारी नैतिक प्रतिबध्दता दंड एवं पुरस्कार की भावना पर निर्भर नहीं करती, बल्कि उसकी आदर्श-निरूपण-क्षमता (Normative Character) पर निर्भर करती है। हम नैतिक कार्य इसलिए करते हैं चूंकि हमें वैसा करना चाहिए। पर समाज में नैतिक व्यवस्था की स्थापना के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं होता, बल्कि उन नियमों को कड़ाई के साथ लागू करने की जरूरत होती है। इसके लिए नियमों का पालन करने वाले के लिए पुरस्कार एवं उल्लघंन करने वालों के लिए दंड का विधान आवश्यक होता है। कोई भी नियम प्रभावकारी नहीं माना जायगा यदि उसका उल्लंघन उल्लंघनकर्त्ता के लिए नुकसानदेह न हो एवं समाज के अन्य लोग इस उल्लंघन को चुपचाप बर्दाश्त कर लें। इस प्रकार नियम दमन या दबाव की अपेक्षा रखता है, और यह दबाव दंड के विधान की।

दंड एवं अपराध की रोक-थाम - अब किसी को अपराध करने से शारीरिक शक्ति के प्रयोग के द्वारा रोका जा सकता है, या फिर अपराध करने की इच्छा रखने वालों को नजरबंद करके (Through detention) कम से कम नजरबंदी के दौरान अपराध करने से रोका जा सकता है। पर यह उपाय समाज में सभी व्यक्तियों को अपराध करने से रोकने के लिए कभी कारगर नहीं हो सकता जबतक मनोवैज्ञानिक रूप से, दंड के विधान के द्वारा लोगों में अपराध करने की इच्छा से दूर भागने के लिए भय नहीं पैदा किया जाय। इस प्रकार दंड (punishment) वस्तुतः अपराध की रोक-थाम

(Prevention of Crime) से भिन्न है, चूंकि दंड एक प्रकार की यातना देता है जो अपराधी के मन में अपराध के प्रति मनोवैज्ञानिक भय पैदा करके उसे अपराध करने से रोकता है, जबकि Prevention of Crime के लिए न तो दंड आवश्यक है न ही मनोवैज्ञानिक भय की उत्पत्ति।

दंड की नैतिकता की समस्या - (Problem of Morality or justification of punishment) हमने ऊपर देखा कि नैतिकता अपने नैतिक नियमों के समाज में आरोपण के लिए दंड पर आधारित है, पर दंड को अपने आप में नैतिक नहीं कहा जा सकता, चूंकि इसमें दूसरे की इच्छा के प्रतिकूल उस पर शारीरिक यातना या आर्थिक नुकसान लादा जाता है। अत: प्रश्न उठता है कि ऐसे कार्य का नैतिक औचित्य क्या है? हार्ट कहते हैं कि दंड के नैतिक औचित्य की समस्या के तीन प्रमुख रूप हैं-

(१) दंड देने का नैतिक औचित्य क्या है, एवं हमें किसी को दंड देने का क्या अधिकार है?

(२) किसे दंड देना उचित है? तथा

(३) किस प्रकार का एवं कितना दंड देना नैतिक रूप से उचित माना जा सकता है?

निवर्तनवादी सिध्दान्त (Deterrence Theory) - प्रथम प्रश्न के जवाब में निवर्तनवादी सिध्दान्त कहता है कि दंड का नैतिक- सामाजिक औचित्य यह है कि वह लोगों के मन में दंड का भय उत्पन्न करके उन्हें अपराध करने से निवर्तित (Deter) करता है। अपराधी को सजा देने का अधिकार हमें (यानी समाज को) इसलिए है चूंकि आत्म-रक्षा हमारा मौलिक अधिकार एवं धर्म है।

निवर्तनवादी सिध्दान्त का प्रारंभ हमें प्लोटो के Laws में मिलता है जिसमें वे कहते हैं कि दंड पूर्वकृत कर्म का प्रायश्चित नहीं है, क्योंकि जो हो चुका उसे बदला नहीं जा सकता। इसका औचित्य यह है कि दंड पाने वाला अपराधी एवं उसे दंडित देखने वाले लोग उस अपराध को दुबारा करने का साहस न करें। निवर्तनवादी सिध्दान्त का दृष्टिकोन उपयोगितावादी है और इसके अनुसार दंड की सार्थकता मात्र भविष्य में अपराध की पुनरावृत्ति को रोकने में निहित है। यह सिद्धान्त उद्देश्यमूलक (Teleological) है और यह मात्र आगे देखता है, पीछे नहीं ।

निवर्तनवादी सिद्धान्त वास्तविक दंड (Actual imposition of punishment) की तुलना में दंड द्वारा उत्पन्न भय (Threat of punishment) को ही महत्त्व देता है और इसलिए यह तबतक दंड को कड़ा से कड़ा बनाते जाने की सिफारिश करता है जबतक इसके भय से अपराध समाप्त न हो जाय। इस प्रकार अपराध की भयानकता (gravity) एवं दंड की कठोरता में कोई संबंध यहां देखने को नहीं मिलता।

व्यक्तिगत एवं सामान्य निवर्तन - (Particular and General Deterrence) -

निवर्तनवादी सिध्दान्त का अभिप्राय सिर्फ अपराधी-विशेष को ही दंड द्वारा

दंड के सिध्दान्त

नीति शास्त्र एवं दंड - नीतिशास्त्र का कार्य मूलभूत नैतिक नियमों की खोज करना, तदनुरूप मानव आचरण के आदर्श को निरूपित करना एवं इसके आलोक में मानव के कर्मों का, उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ, आदि रूप में, नैतिक मूल्यांकन करना है। अब नैतिक नियमों के प्रति हमारी नैतिक प्रतिबध्दता दंड एवं पुरस्कार की भावना पर निर्भर नहीं करती, बल्कि उसकी आदर्श-निरूपण-क्षमता (Normative Character) पर निर्भर करती है। हम नैतिक कार्य इसलिए करते हैं चूंकि हमें वैसा करना चाहिए। पर समाज में नैतिक व्यवस्था की स्थापना के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं होता, बल्कि उन नियमों को कड़ाई के साथ लागू करने की जरूरत होती है। इसके लिए नियमों का पालन करने वाले के लिए पुरस्कार एवं उल्लघंन करने वालों के लिए दंड का विधान आवश्यक होता है। कोई भी नियम प्रभावकारी नहीं माना जायगा यदि उसका उल्लंघन उल्लंघनकर्त्ता के लिए नुकसानदेह न हो एवं समाज के अन्य लोग इस उल्लंघन को चुपचाप बर्दाश्त कर लें। इस प्रकार नियम दमन या दबाव की अपेक्षा रखता है, और यह दबाव दंड के विधान की।

दंड एवं अपराध की रोक-थाम - अब किसी को अपराध करने से शारीरिक शक्ति के प्रयोग के द्‌वारा रोका जा सकता है, या फिर अपराध करने की इच्छा रखने वालों को नजरबंद करके (Through detention) कम से कम नजरबंदी के दौरान अपराध करने से रोका जा सकता है। पर यह उपाय समाज में सभी व्यक्तियों को अपराध करने से रोकने के लिए कभी कारगर नहीं हो सकता जबतक मनोवैज्ञानिक रूप से, दंड के विधान के द्‌वारा लोगों में अपराध करने की इच्छा से दूर भागने के लिए भय नहीं पैदा किया जाय। इस प्रकार दंड (punishment) वस्तुत: अपराध की रोक-थाम

(Prevention of Crime) से भिन्न है, चूंकि दंड एक प्रकार की यातना देता है जो अपराधी के मन में अपराध के प्रति मनोवैज्ञानिक भय पैदा करके उसे अपराध करने से रोकता है, जबकि Prevention of Crime के लिए न तो दंड आवश्यक है न ही मनोवैज्ञानिक भय की उत्पत्ति।

दंड की नैतिकता की समस्या - (Problem of Morality or justification of punishment) हमने ऊपर देखा कि नैतिकता अपने नैतिक नियमों के समाज में आरोपण के लिए दंड पर आधारित है, पर दंड को अपने आप में नैतिक नहीं कहा जा सकता, चूंकि इसमें दूसरे की इच्छा के प्रतिकूल उस पर शारीरिक यातना या आर्थिक नुकसान लादा जाता है। अत: प्रश्न उठता है कि ऐसे कार्य का नैतिक औचित्य क्या है? हार्ट कहते हैं कि दंड के नैतिक औचित्य की समस्या के तीन प्रमुख रूप हैं-

(१) दंड देने का नैतिक औचित्य क्या है, एवं हमें किसी को दंड देने का क्या अधिकार है?

(२) किसे दंड देना उचित है? तथा

(३) किस प्रकार का एवं कितना दंड देना नैतिक रूप से उचित माना जा सकता है?

निवर्तनवादी सिध्दान्त (Deterrence Theory) - प्रथम प्रश्न के जवाब में निवर्तनवादी सिध्दान्त कहता है कि दंड का नैतिक- सामाजिक औचित्य यह है कि वह लोगों के मन में दंड का भय उत्पन्न करके उन्हें अपराध करने से निवर्तित (Deter) करता है। अपराधी को सजा देने का अधिकार हमें (यानी समाज को) इसलिए है चूंकि आत्म-रक्षा हमारा मौलिक अधिकार एवं धर्म है।

निवर्तनवादी सिध्दान्त का प्रारंभ हमें प्लोटो के Laws में मिलता है जिसमें वे कहते हैं कि दंड पूर्वकृत कर्म का प्रायश्चित नहीं है, क्योंकि जो हो चुका उसे बदला नहीं जा सकता। इसका औचित्य यह है कि दंड पाने वाला अपराधी एवं उसे दंडित देखने वाले लोग उस अपराध को दुबारा करने का साहस न करें। निवर्तनवादी सिध्दान्त का दृष्टिकोन उपयोगितावादी है और इसके अनुसार दंड की सार्थकता मात्र भविष्य में अपराध की पुनरावृत्ति को रोकने में निहित है। यह सिद्धान्त उद्देश्यमूलक (Teleological) है और यह मात्र आगे देखता है, पीछे नहीं ।

निवर्तनवादी सिद्धान्त वास्तविक दंड (Actual imposition of punishment) की तुलना में दंड द्वारा उत्पन्न भय (Threat of punishment) को ही महत्त्व देता है और इसलिए यह तबतक दंड को कड़ा से कड़ा बनाते जाने की सिफारिश करता है जबतक इसके भय से अपराध समाप्त न हो जाय। इस प्रकार अपराध की भयानकता (gravity) एवं दंड की कठोरता में कोई संबंध यहां देखने को नहीं मिलता।

व्यक्तिगत एवं सामान्य निवर्तन - (Particular and General Deterrence) -

निवर्तनवादी सिध्दान्त का अभिप्राय सिर्फ अपराधी-विशेष को ही दंड द्वारा

आगे अपराध करने से निरुत्साहित करना (यानी व्यक्तिगत निवर्तन) नहीं है। बल्कि समाज के अन्य सभी सदस्यों, जिन्हें हम संभावित अपराधी (Potential Criminals) कह सकते हैं उनको अपराध करने की स्थिति में कठिन दंड मिलने का भय दिखा कर अपराध करने से निरुत्साहित करना(यानी General Deterrence) है।

साधन-साध्य विचार - निवर्तनवादी सिध्दान्त की आलोचना में कांट आदि प्रतिकारवादियों (Retributionists) का कहना है कि यह सिध्दान्त अपराधी को समाज के साधन के रूप में देखता है। चूंकि समाज में अपराध की रोकथाम के लिए अपराधी को कठिन से कठिन सजा देने की सिफारिश करता है और किसी को भी सिर्फ साधन के रूप में इस्तेमाल करना अनैतिक है।

जबाब में निवर्तनवादियों का कहना है कि अपराधी को साधन के रूप में इस्तेमाल करना एक दु:खद एवं अनिवार्य व्यावहारिक मजबूरी है। क्योंकि समाज के निर्दोष लोगों का अपराधी के लोभ या विकृत मनोवृत्ति की तृप्ति का साधन बनाने से यह कहीं अधिक उचित है कि अपराधी को निर्दोष समाज की रक्षा का साधन बनाया जाये। दूसरे, यहाँ अपराधी को साधन के रूप में जरूर प्रयोग किया जाता है, पर सिर्फ साधन के रूप में नहीं , चूंकि अपराधी महज अपराधी ही नहीं होता वह भी अन्य समयों में सामान्य नागरिक के रूप में होता है, तथा अच्छा नागरिक होने की संभावना रखता है, और इस रूप में सुरक्षा की उतनी ही आवश्यकता वह भी रखता है।

दंड की मात्रा- दूसरा प्रश्न यह है कि दंड की उचित मात्रा क्या हो? शुध्द निवर्तनवाद मानेगा कि दंड को तबतक कठोर से कठोरतम करते जाना चाहिए जबतक उसके भय से लोग अपराध करना बंद न कर दें। अपराध करने का लाभ (Temptation) जितना ही अधिक हो या फिर न पकड़े जाने की संभावना जितनी ही अधिक हो दंड को (यानी दंड के दहशत को) उतना ही सख्त होना चाहिए।

पर अनुभव बतलाता है कि सख्त से सख्त दंड प्रक्रिया के बावजूद अपराध समाप्त नहीं होते, बहुधा बढ़ते भी हैं। यह निवर्तनवादी सिध्दान्त की अक्षमता को सिध्द करता है। अपराध को मिटाने के लिए उसके कारणों को दूर करना आवश्यक है। इसके जबाब में निर्वतनवादी कहेंगे कि अपराध के कारणों को दूर करने से हमारा कोई विरोध नहीं है, पर जबतक ऐसा नहीं होता दंड के द्वारा अपराध के रोक थाम के उपाय को छोड़ कर कोई समाज चल नहीं सकता। फिर अपराधों का होना निवर्तनवादी की अक्षमता को भी सिद्ध नहीं करता चूंकि दंड प्रक्रिया के अभाव में और अधिक लोग अपराध कर सकते थे या अपराधी और अधिक अपराध करता।

फिर प्रतिकारवादी (Retributivists) दार्शनिक कहते हैं कि निवर्तनवाद

मामूली अपराध को रोकने के लिए भी कठोर दंड का विधान करता है जो अपराधी के प्रति घोर अनैतिकता है और ऐसी अनैतिकता पर आधारित सिध्दान्त का कोई नैतिक औचित्य नहीं हो सकता।

बेंथम आदि उपयोगितावादी इन कठिनाइयों को महसूस करते हैं और निवर्तनवादी सिध्दान्त को अधिक संगत बनाते हैं। वे Hedonistic Calculus में अनुसंधान करते हैं और कहते हैं कि दंड की मात्रा को अपराधी के अपराध से मिलने वाले सुख या लाभ (Profit of offence) अथवा समाज को अपराध से होनेवाली हानि के अनुपात में होना चाहिए ताकि अपराध और दंड के बीच (balance of Pleasure) अपराधी के पक्ष में न हो। उदाहरणार्थ, यदि गैराज में गाड़ी लगाने का शुल्क 2 रुपये हो तो सड़क पर गाड़ी लगाने का दंड यदि १ रुपया रखा जाय तो अपराधी अपराध करने में ही लाभ अनुभव करेगा। अत: यह दंड कम होगा। इसके विपरीत 10 रुपये का जुर्माना अत्यधिक होगा। इस प्रकार बेंथम न अधिक न कम दंड देने के सिध्दान्त के प्रतिपादक हैं। वे कहते हैं कि अधिक दंड अपराधी के प्रति क्रूरता है और कम दंड समाज के प्रति।

पर न तो सुखों एवं दंड का इस प्रकार का माप हमेशा संभव है और न ही समान दंड (Equal punishment) के सिध्दान्त सें अपराध का निवर्तन ही संभव है, चूंकि न पकड़े जाने की स्थिति में अपराधी हमेशा अपने को लाभ की स्थिति में महसूस करेगा, यहां तक कि दंड को कड़ा से कड़ा बना कर भी अपराध को पूरी तरह रोका नहीं जा सकता, मात्र कम किया जा सकता है। अत: बेंथम का सिध्दान्त निवर्तनवाद के उद्‌देश्यों से ही संगत नहीं है।

दंड किसे दिया जाय:- कांट आदि दार्शनिक कहते हैं कि यदि निवर्तनवाद का उद्‌देश्य अपराध की रोक थाम मात्र हो तो सिर्फ अपराधी को ही दंड़ क्यों दिया जाय? यह काम बहुधा निरपराध को भी दंड़ देकर हो सकता है। जैसे, यदि माता पिता के अपराध की सजा बच्चे को दी जाय तो माता-पिता अपराध करने से अधिक घबड़ायेंगे। इस प्रकार निवर्तनवाद निरपराध को सजा देने के दोष से दूषित हो जाता है। जॉन रॉल्स आदि निवर्तनवादियों का जवाब है कि दंड़ द्‌वारा counter–balance कर, अपराध की प्रवृत्ति को रोकने (revert करने) का सिध्दान्त है। निरपराध को सजा देने से इस उद्‌देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। दूसरे, निरपराध को सजा देने से समाज में एक भारी असुरक्षा की भावना का उदय होगा, जिसमें कि कब कौन किसके अपराध की सजा पायेगा यह कहना मुश्किल हो जायगा। अपराधी को भी और अधिक अपराध का लाभ मिल सकता है और निरपराध और अधिक अलाभ की स्थिति में चला जायगा। इससे अपराध न करने की प्रवृत्ति ही समाप्त हो जायगी।

पर यदि कानून में यह पहले से ही सुव्याख्यायित (Well defined) हो कि

किसके कितने अपराध की सजा किस किस को किस परिमाण में भुगतनी होगी तो असुरक्षा से संबंधित उपरोक्त कठिनाई को हल किया जा सकता है। जैसे, यह पहले ही बतला दिया जा सकता है कि बच्चे के अपराध की सजा माँ बाप को या गांव के किसी व्यक्ति के अपराध की सजा ग्रामवासियों को सामूहिक रूप से अमुक मात्रा में दी जायेगी।

समीक्षाः- इस प्रकार दंड का निवर्तनवादी सिध्दान्त न तो इस सवाल का युक्ति-पूर्ण जवाब दे सकता है कि दंड की उचित मात्रा क्या हो, न ही इस सवाल का जवाब दे पाता है कि सिर्फ अपराधी को ही क्यों सजा दी जाय। सिर्फ प्रथम प्रश्न, कि दंड का नैतिक औचित्य क्या है, या हमें दंड़ देने का क्या अधिकार है? का जबाब यह दे पाता है।

फिर यदि निवर्तन को दंड के एकमात्र नैतिक औचित्य के रूप में स्वीकार किया जाय तो इस व्याख्या को नैतिक दृष्टि से अधिक स्वस्थ नहीं माना जा सकता है। क्योंकि यदि कोई व्यक्ति मात्र दंड़ के भय से अपराधिक कर्मों को करने से दूर रहे तो उसमें नैतिक चरित्र के विकास का होना नहीं माना जायगा । दूसरे, शुद्ध भय स्थायी नैतिक व्यवस्था की स्थापना नहीं कर सकता है जब तक समाज में न्याय के प्रति अनुराग एवं अपराध के प्रति घृणा के भाव का विकास न हो।

पर यदि हम यह कहें कि दंड का भय मनुष्य को अपराधरहित जीवन जीने को मजबूर करता है, और क्रमशः यह आदत व्यक्ति में नैतिक जीवन की शिक्षा (अथवा नैतिक चरित्र) का विकास करता है तो शायद यह दंड की उपयोगिता के प्रति अधिक स्वस्थ दृष्टिकोण (approach) होगा। इस प्रकार हम दंड के सुधार-वादी सिध्दांत पर पहुँचते हैं।

दंड का सुधार वादी सिध्दान्त (Reformative theory of punishment)

दंड का सुधार वादी सिध्दान्त उपरोक्त तीन प्रश्नों -

(१) दंड देने का नैतिक औचित्य क्या है, तथा दंड देने का अधिकार किसे है?

(२) कितना दंड देना नैतिक रूप से उचित है?

(३) किसे दंड़ देना उचित है? - का जवाब निम्न रूप से देता है।

(१) प्रथम प्रश्न के उत्तर में दंड का सुधार-वादी सिध्दान्त मानता है कि दंड का औचित्य न तो महज अपराध को रोकने में निहित है और न ही यह स्वयं साध्य (End-in - itself) है, बल्कि इसका औचित्य अपराधी को नैतिक रूप से शिक्षित करने में अथवा उसके चारित्रिक सुधार में निहित है।

सुधारवादी सिध्दान्त मानता है कि अपराध अपराधी में नैतिक शिक्षा के अभाव या मनोवैज्ञानिक सामाजिक कु-अभियोजन का परिचायक है। अतः अपराधी को हमें

दुश्मनी या घृणा की नजर से नहीं बल्कि सहानुभूतिपूर्वक एक रोगी के रूप में देखना चाहिए। हर अपराधी एक रोगी की भांति सुधार की संभावना रखता है। और उसे सुधारना समाज का धर्म होता है, चूंकि उसकी अपराध-वृत्ति वस्तुत: लालन-पालन, शिक्षा एवं सामाजिक संबंधों का परिणाम होता है। सही नैतिक वातावरण में रख कर उसके इस अपराध-वृत्ति को सुधारा भी जा सकता है। सुधारवादी सिध्दान्त के तीन रूप हो जाते हैं,

(१) दंड के विना सुधार (Reforming Without Punishment)
(२) दंड के दौरान सुधार (Reforming During Punishment)
(३) दंड के द्वारा सुधार (Reforming Through Punishment)

(१) पहला सिध्दान्त अपराधी को महज एक मनोरोगी के रूप में देखती है। अंत: उसे दंड देना अनुचित मानता है। उचित मनोवैज्ञानिक चिकित्सा एवं सही नैतिक शिक्षा के द्वारा अपराधी के सुधार पर यह सिध्दान्त बल देता है।

पर चूंकि यह सिद्धांत दंड की उपादेयता को स्वीकार नहीं करता, अत: इसें हम दंड के सिद्धांत के रूप में नहीं देख सकते। इस प्रकार दंड के सुधारवादी सिद्धान्त के रूप में इसके औचित्य पर हम यहाँ विचार नहीं कर सकते।

(२) दूसरा सिध्दान्त दंड की भूमिका को स्वीकार करता है, पर दंड स्वयं दंड के रूप में अपराधी में सुधार नहीं लाता पर चूंकि अपराधी को अन्य विधियों के द्वारा भी सुधारने के लिए उसे जेल में रखना आवश्यक है अत: साधन के रूप में दंड की भूमिका को यह सिध्दान्त स्वीकार करता है। दूसरे,कोई भी अपराधी स्वेच्छा से जेल में रहना एवं इस तरह की ट्रेनिंग लेने के लिए तैयार नहीं होगा, अत: उस पर जबरन इस प्रकार का कष्ट (दंड) लादना अपरिहार्य होता है। इस प्रकार यह सिध्दान्त मानता है कि दंड स्वयं मूल्य नहीं है, बल्कि इसका मूल्य इस बात में निहित है कि यह सुधार की अन्य प्रक्रियाओं को संभव बनाता है।

अब प्रश्न है कि वे कौन सी सुधार-वादी प्रक्रियाएँ हैं जिसका सहारा यह सिध्दान्त लेता है। साधारणत: वे निम्नलिखित हैं:-
जेल में नैतिक शिक्षा देना, एक उचित नैतिक महौल का विकास, सामान्य शिक्षा द्वारा अपराधी में सूझबूझ का विकास (चूंकि अपराध का एक महत्त्वपूर्ण कारण सूझबूझ का अभाव एवं मेधा की कमी है)तथा सामाजिक चेतना का विकास, व्यावसायिक शिक्षा देना (ताकि अपराधी में श्रम के द्वारा अपनी आजीविका कमाने की आदत पड़े), आदि। पर जेल में दंड द्वारा अपराधी- सुधार की प्रक्रिया के निम्न महत्त्वपूर्ण दोष हैं:-
(१) चूंकि जेल में सभी अपराधी आ कर इकट्ठा होते हैं अत: वहां एक अपराधी समाज एवं अपराधी महौल उत्पन्न हो जाता है।
(२) एक बार भी जेल चले जाने के बाद जेल जाने की भयावहकता समाप्त हो जाती

है। अत: वह पुन: जेल जाने से नहीं डरता।

(३) व्यक्ति जेल में स्वभावत: अपने को एक अलग अपराधी समाज का सदस्य समझने लगता है जो उसकी सुधार की प्रक्रिया में बाधक होता है।

(४) दंड पाने और जेल जाने से व्यक्ति की आत्म-गरिमा की भावना कुंठित होती है जो आत्म-गरिमा मनुष्य की नैतिकता के लिए अनिवार्य है।

(५) प्रत्येक व्यक्ति एक खास समय के लिए जेल जाता है और उसके बाद उसे रिहा करना पड़ता है, चाहे उसकी नैतिक शिक्षा पूरी हुई हो अथवा नहीं।

उपरोक्त कठिनाईयों को कुछ हद तक दूर करने के लिए निम्न सुधारात्मक कदम उठाये जा सकते हैं-

दंड के कु-प्रभावों को दूर करने के लिए जेल में पुरस्कार की भी समानान्तर व्यवस्था की जाय, ताकि उसमें आत्म-सम्मान की भावना का विकास हो। ज्यों- ज्यों व्यक्ति चारित्रिक उत्थान एवं बेहतर क्रिया-कलापों का प्रदर्शन करे, उसे क्रमश: उच्चतर श्रेणी में प्रोन्नत किया जाय। श्रेणी के अनुसार बेहतर सुविधा, सम्मान, आजादी, जिम्मेदारी एवं पोशाक आदि की व्यवस्था हो। इस प्रकार व्यक्ति में नैतिक जीवन की प्रेरणा जागेगी एवं उसमें आत्म-सम्मान की भावना का भी उदय होगा।

पर यदि दंड के उपरोक्त कु-प्रभाव होते हैं और दंड अपने आप में सुधारात्मक नहीं होता तो क्या इसकी साधनता अपरिहार्य है? क्यों नहीं दंड के बदले मात्र पुरस्कार के द्वारा ही अपराधी का सुधार किया जाय? इस प्रश्न का जबाव इस बात पर निर्भर करता है कि क्या दंड अपने आप में सुधारात्मक है? तथा (2) क्या शुध्द पुरस्कार द्वारा सुधार संभव है?

दंड द्वारा सुधार - इस सिध्दान्त के अनुसार दंड स्वयं (बिना अन्य प्रक्रियाओं के भी) अपराधी के सुधार में भावात्मक भूमिका निभाता है।

(१) सर्वप्रथम यह अपराधी में दंड का भास उत्पन्न कर उसे अपराध-रहित जीवन जीने को प्रेरित करता है।

पर यहां यह प्रश्न उठता है कि दंड के भय एवं पुरस्कार के लोभ से किये गये कार्य को नैत्तिक नहीं करेंगे और न ही ऐसे सुधार को चारित्रिक सुधार। क्यों कि ऐसा व्यक्ति यदि दंड का भय समाप्त हो जाय तो पुन: अपराध करेगा। इसके जबाब में सुधारवादियों का तर्क है कि शुरु में हालांकि व्यक्ति दंड के भय से सही कार्य करता है पर धीरे-धीरे यह उसकी आदत बन जाती है जो चरित्र- निर्माण में प्रतिफलित होती है। हर बच्चा पहले दंड के भय से पढ़ाई शुरु करता है पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि वह स्वेच्छा से कभी नहीं पढ़ेगा।

(२) पर फिर यह निवर्तवादी सिध्दान्त से किस प्रकार भिन्न है?

सुधार-वादी कहते हैं कि निवर्तनवादी सिध्दान्त का संबंध मात्र दंड का भय

उत्पन्न कर अपराध को रोकने से है। पर अपराधी केवल दंड से नहीं सुधरता बल्कि दंड के रूप में जो सामाजिक भर्त्सना का भान उसे होता है वह उसके नैतिक सुधार में सहायक होता है। यदि ऐसे कार्य के लिए किसी को दंड दिया जाय जिसे व्यक्ति उचित मानता है तो दंड का वांछित सुधारात्मक प्रभाव नहीं होगा।

पर क्या दंड के बिना सिर्फ सामाजिक भर्त्सना के द्वारा सुधार नहीं हो सकती? सुधारवादी कहते हैं कि साधारणत: दो प्रकार के अपराध होते हैं: (क) साधारण अथवा क्षम्य और (ख) निकृष्ट या जघन्य, यानी अक्षम्य अथवा दंडनीय। दंड के द्वारा समाज अपराधी में अपराध की निकृष्टता का बोध कराता है।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि यदि दंड के बिना सिर्फ पुरस्कार से अपराधी को सुधारने की चेष्टा की जाय (जैसा की ऊपर प्रश्न उठाया गया) तो इसका अर्थ होगा अपराध को सामाजिक स्वीकृति देना एवं अपराधी को पुन: अपराध करने के लिए प्रेरित करना।

(२) **दंड की मात्रा** :- चूंकि दंड का उद्देश्य अपराधी को अपराध की निकृष्टता (Gravity) का बोध कराना है अत: उसे सदा अपराध की निकृष्टता (Gravity) के अनुरूप होना चाहिए।

जहां अधिक कम दंड सुधार लाने में अक्षम होता है वहीं बहुत अधिक दंड अपराधी में हताशा, कुंठा, क्रोध आदि भावना का उदय कर सकता है, जो उसके सुधार को असंभव बना देगा। अनुचित दंड हमेशा न्याय प्रणाली के प्रति घृणा एवं विद्रोह उत्पन्न करता है।

पर वह न्यायित दंड को मापने या स्थिर करने का सिद्धान्त या प्रणाली क्या हो उसका समुचित जबाब हमें इस सिद्धान्त में नहीं मिल पाता है। इसके लिए हमें प्रतिकारवादी सिद्धान्त की ओर देखना होगा।

(३) **दंड किसे दिया जाय** :- आलोचक यह प्रश्न उठाते हैं कि यदि दंड द्वारा चारित्रिक सुधार संभव है तो इसे सिर्फ अपराधी तक ही सीमित रखा जाय, क्यों न लोगों को भी इससे सुधारा जाय।

इसके जबाब में सुधार-वादी कहते हैं कि दंड दो प्रकार से सुधार लाता है : (१) अपराधी को अपराध से निवर्तित करके और (२) उसमें दंड द्वारा सामाजिक भर्त्सना का बोध जगाकर। अब ये दोनों प्रक्रियाएँ मात्र अपराधी पर ही लागू हो सकती हैं। निरपराध को दंड देने का अर्थ होगा उसे उसके द्वारा किये गये सही कार्य से रोकना या उसके प्रति सामाजिक अस्वीकृति व्यक्त करना, जो सुधार के विपरीत दिशा में यानी अपराध करने की दिशा में शिक्षा देना होगा। इस प्रकार दंड के द्वारा सिर्फ अपराधी को ही सुधारा जा सकता है।

समीक्षा - उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि सुधारवादी सिद्धान्त दंड के औचित्य

के प्रश्न का शुद्ध निवर्तनवादी सिद्धान्त से बेहतर जबाब पेश करता है। पर हालांकि यह निवर्तनवादी सिद्धान्त को एक उत्कृष्ट एवं परिशोधित अर्थ एवं आधार प्रदान करता है फिर भी चूंकि यहां निवर्तन के माध्यम से ही नैतिक शिक्षण संभव होता है, अतः निवर्तनवाद को मौलिक एवं आधारभूत सिद्धान्त के रूप में रखे बिना यह सिद्धान्त अपना काम नहीं चला सकता।

दूसरे, हालांकि सुधारवादी सिद्धान्त यह मानता है कि दंड द्वारा अपराधी का चारित्रिक सुधार तभी संभव है जब (१) अपराधी को ही दंड दिया जाय। एवं (२) अपराध के अनुरूप उचित एवं न्याय- संगत मात्रा में ही दंड दिया जाय फिर भी अपराधी की परिभाषा, उसके अपराध की भयंकरता की मात्रा आदि का निर्धारण आदि जैसी समस्याएँ हैं जिनके समाधान को शुद्ध निवर्तनवादी या सुधारवादी सिद्धान्त में नहीं ढूंढा जा सकता। प्रतिकारवादी सिद्धान्त इन समस्याओं का एक बेहतर समाधान प्रस्तुत करता है।

दंड का प्रतिकारवादी सिद्धान्त (Retributive Theory)

अब हम उपरोक्त तीनों प्रश्नों कि :-

१. दंड देने का नैतिक औचित्य क्या है तथा यह अधिकार किसे है?

२. कितना दंड देना नैतिक रूप से उचित है? और

३. किसे दंड देना उचित है? - के आलोक में प्रतिकारवादी सिद्धान्त को समझने की चेष्टा करेंगे।

निवर्तनवादी सिद्धान्त वह सिद्धान्त है जो मानता है कि दंड का औचित्य यह है कि यह अपराधी एवं समाज के मन में अपराध करने के प्रति भय उत्पन्न करके समाज में अपराध की पुनरावृत्ति को रोकता है। सुधारवादी सिद्धान्त के अनुसार दंड का औचित्य दंड द्वारा अपराधी को नैतिक चारित्रिक रूप से शिक्षित करने में निहित है, जबकि दंड का प्रतिकारवादी सिद्धान्त इन उपयोगितावादी मान्यताओं को नहीं मानता। इसके अनुसार अपराध एवं दंड में एक आंतरिक संबंध है। हर अपराधी दंड के ही लायक है और अपराधी को दंडित करना हर समाज का नैतिक कर्तव्य है। अपराधी समाज के प्रति समान प्रकार के समान परिमाण में कठोर व्यवहार का ऋणि है जिसे उसे चुकाना है :-

प्रतिकारवादी के भी दो रूप हो जाते हैं :- कठोर वाद (Maximalism) जिसके समर्थक कांट हैं। यह मानता है कि हर अपराधी को समाज द्वारा अनुकूल दंड अवश्य मिलना चाहिए, चाहे इसका जो भी परिणाम हो।

उदारवाद - (minimalism)–यह एक विन्रम रुख अख्तियार करता है और मानता है कि सिर्फ अपराधी को ही सजा मिलनी चाहिए।साथ ही साथ यह उपयोगिता-वादी आधारों पर (यदि दंड का उद्देश्य पूरा न होता हो) जज को अपराधी की सजा घटाने या माफ करने का भी अधिकार देता है।

फिर दंड की मात्रा को लेकर भी प्रतिकारवादियों में मतभेद है। कठोरता वादी इस बात पर जोर देतें है कि दंड की मात्रा अपराध की मात्रा के बिलकुल बराबर होनी चाहिए। कुछ अन्य प्रतिकारवादी मानते हैं कि दंड को विभिन्न अपराधों की मात्रा (Gravity)के समानुपातिक होना चाहिये, पर दंड का अपराध के बिल्कुल बराबर होना न तो आवश्यक है न हमेशा संभव ही।

फिर इस संबंध में भी प्रतिकारवदियों में मतभेद है कि अपराध की मात्रा (Gravity) का माप अपराधी के अभिप्राय के आधार पर हो या अपराध द्वारा समाज को हुए नुकसान के आधार पर ? जैसे, (Attempted Murder) हत्या के प्रयास को Actual Murder (वास्तविक हत्या) की तुलना में कम सजा दी जाती है।

कांट का प्रतिकारवाद :-

दंड का औचित्य - कांट के दर्शन में दंड के औचित्य का सिद्धान्त उनके व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं इसकी सीमाओं के सिद्धान्त से निकलता है। कांट के अनुसार एक नैतिक प्राणी के रूप में हर व्यक्ति को अपने जीवन के विभिन्न आयामों, कार्यों आदि में स्वतंत्रता की उपलब्धि करने का अधिकार है। लेकिन इस अधिकार के साथ-साथ उसका यह कर्तव्य भी बनता है कि वह दूसरों की स्वतंत्रता का भी समानरूप से आदर करे। हर व्यक्ति को अपनी स्वतंत्रता की उपलब्धि का अधिकार वहीं तक है जहां तक कि दूसरों की भी समान स्वतंत्रता की उपलब्धि में वह बाधक न बने। इस प्रकार एक सामान्य कानून की आवश्यक्ता बनती है जो हर व्यक्ति की समान स्वतंत्रता के सहास्तित्व की गारंटी करें। इस प्रकार ये कानून एक ओर तो उचित यानी सामान्य रूप से उपलब्ध की जाने वाली स्वतंत्रता की उपलब्धि में सहायक है और दूसरी ओर अनुचित यानी ऐसी स्वतंत्रता जो दूसरों की स्वतंत्रता में बाधक बने उसका दमन करती हैं। इस प्रकार ये कानून स्वतंत्रता के अवदमन का दमन करता है। यह स्वतंत्रता के लिए स्वतंत्रता का सीमांकन है।

हमारी स्वतंत्रता दूसरों की स्वतंत्रता की खातिर सीमित हो जाती है, जबकि दूसरों की स्वतंत्रता मेरी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए सीमित की जाती है। अतः हर व्यक्ति को दूसरों से कानून को पालन कराने का हक है। साथ ही साथ कानून का पालन

करना उसका धर्म भी। इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति कानून का उल्लंघन करता है तो वह दूसरे की स्वतंत्रता के अधिकार का गलत उपयोग करता है। इस प्रकार उस पर एक ऋण चढ जाता है जिसे उसे दंड के नुकसान के द्वारा उतारना है।

इसी तरह समाज का भी यह फर्ज बन जाता है कि वह अपराधी को सजा दे। चूंकि यदि अपराधी को समाज सजा नहीं देती है तो इसका अर्थ होगा
(१) अपराधी को दूसरे के अधिकारों से लाभ उठाने की अनुमति देना।
(२) साथ ही साथ उन लोगों के प्रति घोर अन्याय करना जो अपने अधिकारों की सीमा में रह कर आत्म-नियंत्रण का पालन करते हैं।

दंड देने का अधिकार किसे है : - उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कानून द्वारा अधिकारों का उपयोग सिर्फ एक Civil Society में ही संभव है। अत: किसी भी व्यक्ति को (जिसके अधिकारों का हनन हुआ है) किसी भी अपराधी को दंड देने का अधिकार नहीं है। क्योंकि ऐसी स्थिति में हर व्यक्ति अपनी शिकायतों का जज स्वयं हो जायेगी और इससे पारस्परिक संघर्ष की उत्पत्ति होगी। सिर्फ एक समाज द्वारा मान्यता प्राप्त अदालत को ही अपराधी के अपराध का मूल्यांकन करके तदनुरूप दंड देने का अधिकार प्राप्त है। साथ ही साथ अदालत सिर्फ ऐसे व्यक्ति को ही सजा दे सकती है जिस पर अपराध का जुर्म प्रमाणित हो जाय और अपराध के लिए वही सीधे तौर पर (Directly) जिम्मेदार हो।

दंड की मात्रा :- दंड की मात्रा में कांट आदि अतिवादियों का विचार है कि दंड को अपराध के बिल्कुल बराबर होना चाहिए। यानी अपराध के द्वारा अपराधी ने समाज को जिस प्रकार का और जितना नुकसान पहुंचाया होगा उसी प्रकार का और उतना ही नुकसान उसे दंड के रूप में भुगतना होगा। तभी उसका सामाजिक ऋण उतर सकता है। पर इस सिद्धान्त में कई कठिनाईयाँ हैं : जैसे, Attempt to Murder (हिंसा का प्रयास) जैसे अपराध में अपराधी द्वारा किया गया वास्तविक नुकसान कोई खास नहीं होता पर इस आधार पर उसे छोड़ नहीं दिया जा सकता न ही बहुत मामूली सजा दी जा सकती है, क्योंकि उसका अपराध जघन्य होता है। दूसरे, बलात्कार आदि जैसे अपराधों के लिए कोई समान प्रकार का एवं समान मात्रा में दंड ढूंढ पाना असंभव है।

अत: उदारवादियों का मत है कि व्यक्ति को नैतिक रूप से उचित (morally fit) दंड मिलना चाहिए चूंकि बराबर एवं एक ही प्रकार के दंड की बात असंभव है।

फिर दंड की मात्रा को विभिन्न अपराधों की पारस्परिक gravity के समानुपातिक होना चाहिए ताकि बड़े अपराध के लिए अधिक दंड एवं छोटे अपराध के लिए कम दंड का विधान दिया जा सके।

दंड किसे दिया जाय :- कांट आदि अतिवादियों का मत है कि हर अपराधी (छोटे या बड़े) को दंड अनिवार्यतः मिलना चाहिए। पर उदारवादी इस बात पर अधिक जोर नहीं देते। उनका जोर सिर्फ इस बात पर है कि सिर्फ सिद्ध अपराधी को ही दंड मिलना चाहिए और किसी भी हालत में कोई निर्दोष दंडित न हो। निर्दोष को दंड मिलना समाज द्वारा किया गया अपराध है।

पर प्रतिकारवाद की सबसे बड़ी समस्या यह है कि ऐसे संभावित अपराधी (Potent Criminals), जो कभी भी अपराध कर सकते हैं, को क्या Detention Act के अंतर्गत जेल में रखा जा सकता है? प्रतिकारवादी मानता है कि कोई भी व्यक्ति अपराध करने की संभावना रखता है और इसलिए इस आधार पर उसे दंडित नहीं किया जा सकता। पर क्या किसी आतंकवादी, पागल आदि को तबतक हम यूं ही छोड़े रहें जबतक वह किसी को भारी नुकसान न पहुंचा दे। कोई भी समाज उपयोगितावादी आधार पर detention act आदि के बिना काम नहीं चला सकता, न ही ऐसे लोगों को उन्मुक्त घूमने देना समाज के प्रति न्याय हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपरोक्त तीनों प्रश्नों का सयुक्तिक जबाब निवर्तनवाद एवं सुधारवाद जैसे उपयोगितावादी सिध्दान्तों को छोड कर सिर्फ प्रतिवाद के द्वारा दे पाना भी सभी परिस्थितियों में संभव नहीं है। एक समन्वित दृष्टिकोण को अपनाना आवश्यक है पर समन्वित दृष्टिकोण को अपनाने का अर्थ यह भी नहीं है कि दंड के औचित्य संबंधी प्रथम प्रश्न का जबाब उपयोगितावादी ढंगसे दिया जाय, चूंकि यह Potent criminal या habitual criminal को दंडित करने की भी व्याख्या कर सकता है एवं शेष दो प्रश्नों का जबाब प्रतिकारवादी सिध्दान्त से दिया जाय।

वस्तुतः हर प्रश्न से संबंधित व्याख्या पेश करने में उपयोगितावादी एवं प्रतिकारवादी दोनों ही प्रकार के सिद्धान्तों की अपनी अपनी विशेषताएँ एवं सीमाएँ हैं। अतः एक समन्वित एवं संतुलित (balanced) दृष्टिकोन को अपनाना आवश्यक है। उदाहरणस्वरूप दंड के औचित्य के संबंध में प्रतिकारवादी सिद्धान्त भी एक उत्कृष्ट व्याख्या पेश करता है और मात्र निवर्तन या समाज को सबक सिखलाने के उद्देश्य से निरपराध को दंड देना एक सामाजिक अपराध है। पर यदि समाज की सुरक्षा अथवा समाज के व्यापक हितों को मद्देनज़र रखते हुए किसी व्यक्ति को घेरे में लेना अथवा दंडित करना अपरिहार्य हो जाय तो मात्र प्रतिकारवादी मूल्यों के आधार पर उसे मुक्त

कर देना भी अनुचित होगा।

इसी प्रकार दंड की मात्रा के संबंध में प्रतिकारवादियों का यह सिद्धान्त उचित है कि दंड को अपराध के बराबर रखने की चेष्टा करते हुए दंड को अपराधों की पारस्परिक gravity के अनुपात में निर्धारित करना चाहिए ताकि किसी भी अवस्था में न्यूनतर अपराध के लिए अधिक बड़े अपराध की तुलना में ज्यादा सजा न हो जाय। पर अपराध की मात्रा एवं संज्ञेयता को तय करने में समाज हमेशा उपयोगितावादी दृष्टिकोण को भी ध्यान में रखेगा।

इस प्रकार उपयोगितावादी आधार से ऊपर उठकर शुद्ध बुद्धि पर आधारित सामान्य दंड संहिता की खोज असंभव है। उपयोगितावादी एवं प्रतिकारवादी दोनों ही दृष्टिकोणों को यथोचित रूप में साथ-साथ लेकर चलना आवश्यक है। दोनों के बीच की दीवार अत्यन्त ही पतली है।

राजेश कुमार सिंह

ग्राम+पो0-खैरा
वाया-रजौन=८१३१०७
जिला-भागलपुर
(बिहार)

इस्लाम-दर्शन में देश तथा काल का विचार

इस्लाम दर्शन के आरम्भिक युग में दूरी के स्वरूप तथा प्रवाह के अर्थ इत्यादि समस्याओं पर विचार प्रकट किए गए। उस समय इन्हें बौद्धिक समस्याओं के रूप में नहीं बल्कि ऐसी जीवन्त अवधारणाओं के रूप में लिया गया, जिससे इस्लामी समाज प्रभावित होता था। यद्यपि आधुनिक युग में दर्शन के क्षेत्र में सर्वांगीण विकास के साथ साथ देश तथा काल के विचारों में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए, देश तथा काल के विचारों का इस्लाम दर्शन के आरंभ में जिस प्रकार उदय हुआ और जन-मानस को उसने जिस ढंग से प्रभावित किया वह अन्य प्रकार के अकादमीय शोध का विषय है। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य इस्लामी दर्शन के इसी आरम्भिक पहलू का विवेचन करना है। इस्लामी दर्शन के आरंभिक तथा मध्ययुगीन युग में इब्ने सीना (दे. १०७३), गजाली (दे. ११५०) तथा इब्ने रूश्द ऐसे विचारक हैं जिन्होंने वैचारिक क्षेत्र में प्रमुख अवधारणाओं का प्रतिनिधित्व किया। अत: इस लेख में मुख्यत: इन्हीं विचारकों के विचार-प्रवाह की समीक्षा करने का प्रयास किया जाएगा।

इब्ने सीना सम्भवत: प्रथम विचारक थे जिन्होंने अरस्तू की शिक्षाओं के प्रभाव में इस्लाम के जगत् संबंधी विचारों को उक्त माध्यमों तथा इसके आधार-वाक्यों के तंत्र के रूप में प्रस्तुत किया। चूंकि इस्लामी दृष्टिकोण से स्रष्टा तथा सृष्टि के मध्य कोई माध्यम नहीं हो सकता अत: गजाली की पुस्तक *दार्शनिकों का खण्डन* बुनियादी तौर पर इस्लाम की मौलिक अनुभूतियों की रक्षा के लिए लिखी गयी। उनका उद्देश्य उन चिन्तकों के विचारों का खंडन करना था जो माध्यमों के अस्तित्व को वास्तविक मान कर इस्लाम के केन्द्रीय दृष्टिकोण को परिवर्तित करना चाहते थे। मगर गजाली अपने खंडन में इतना आगे बढ़ गये कि उनके दर्शन में विश्व की व्यवस्था तथा नियम

की समाप्ति हो गयी और किसी भी प्रकार के सार्वभौम नियम की क्रियाशीलता असंभव बन गयी। इस्लाम के दार्शनिक निकाय में इस प्रकार के विचारों की भी कोई गुंजाईश नहीं थी।

ऐसा विचार जिसमें प्रत्येक प्रकार की बौद्धिकता का निषेध हो, जिसमें सम्पूर्ण विश्व और उसके घटनाक्रम को हर प्रकार के नियम-व्यवस्था से स्वतन्त्र समझा गया हो और जिसमें समस्त अभिव्यक्ति एक रिक्त इच्छा का परिणाम समझ लिया गया हो, इस्लामी तत्त्व-मीमांसा की दृष्टि से ग्राह्य नहीं है । गजाली के तर्कों का निष्कर्ष यह है कि विश्व घटनाओं की ऐसी समष्टि है जो नियम-विहीन कभी यहां, कभी वहां, यदा-कदा प्रकट होते तथा लुप्त होते रहती हैं ।

अब स्थिति यह थी कि इब्ने सीना के यहां व्यवस्था तथा नियम तो संसार के अस्तित्व की आधार शिला है, मगर इसकी खोज उन्होंने साधन-व्यवस्था के अन्तर्गत की। परिणाम स्वरूप उनके दर्शन में अस्तित्व का पूर्णतम सिद्धान्त (ईश्वर) एक ऐसी पूर्णता तथा सार्वभौमिकता था जो इस घटना-पूर्ण संसार से साक्षात् संबंध नहीं रखता, बीच में साधन के रूप में माध्यमों का होना आवश्यक है। अत: प्रथम सिद्धान्त से प्रथम कार्य उत्पन्न हुआ और उससे द्वितीय कार्य उत्पन्न हुए, यहां तक कि परिवर्तन-पूर्ण संसार उत्पन्न हुआ। इस प्रकार ईश्वर अपनी सृष्टि से बहुत दूर है, जबकि गजाली के यहां हर व्यक्ति तथा हर घटना ईश्वरीय क्रियाशीलता का बीत रहा क्षण है। ईश्वरीय क्रियाशीलता के लिए किसी प्रकार के सीमा अथवा नियम के बंधन के बारे में वे सोच नहीं सकते थे। इस प्रकार हम इब्ने सीना तथा गजाली को एक दूसरे के विरोधी दृष्टिकोण अपनाते हुए देखते हैं, कि एक के यहां नियम-व्यवस्था है परन्तु वह दृष्टि नहीं जो इस्लाम की आधार भूत विशेषता है, दूसरे ने इस्लामी अनुभूतियों की रक्षा तो की मगर इस प्रकार कि हर व्यवस्था समाप्त हो गयी। परिणाम स्वरूप मुस्लिम चिन्तन पर बड़ा संकट आ गया। परन्तु इसी संकट के गर्भ से देश तथा काल की अवधारणा का उदय हुआ।

चिन्तकों तथा परम्परावादियों के मध्य जो विवाद बिन्दु था उसे अपनी पुस्तक *दार्शनिकों का खन्डन* की समस्या नं. १३ में गजाली ने प्रस्तुत किया है। परन्तु उनके अनुसार दोनों प्रकार के दार्शनिक इस एक बात पर सहमत हैं कि ईश्वर एक ऐसे सामान्य ज्ञान से विभूषित है जो काल से परे है तथा जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य के निर्धारण से परिवर्तित नहीं होता। इसका सीधा अर्थ है कि ईश्वर विशेषों को सामान्य ज्ञान के माध्यम से जानता है। इस दृष्टिकोण पर आपत्ति करते हुए गजाली प्रश्न करते हैं कि यदि सामयिक घटनाओं और वस्तुओं का ईश्वरीय ज्ञान, काल एवं परिवर्तन से प्रभावित नहीं है तो क्या ईश्वर को वास्तव में उस वस्तु का ज्ञान है? यदि ईश्वर का ज्ञान देश तथा काल से परे पूर्णत्व पर आधारित है तो सूर्य अथवा चन्द्र-ग्रहण के समय

यह नहीं कहा जा सकता है कि ईश्वर अब इस घटना को जान रहा है, न ही ग्रहण इस्लाम-दर्शन में देश तथा काल का विचार समाप्ति होने के बाद यह कहा जा सकता है कि वह जान रहा है कि अब क्या हो गया है। हर वह घटना जो काल संबंधों द्वारा वर्णित होती है उसके ज्ञान में नहीं आ सकती, क्योंकि ऐसा ज्ञान ज्ञाता की परिवर्तनशीलता को ही सिद्ध करेगा।

कहा जा सकता है कि इब्ने सीना का उद्देश्य महान् था। वे चाहते थे कि ईश्वरीय अस्तित्व अपने सार के कारण अर्थात् परिवर्तन से परे होने और निर्धारण से उसके अस्तित्व के परे होने के कारण उसके ज्ञान के स्वरूप को यहां वहां अब और जब के निर्वचन से भिन्न वर्णित हो। किन्तु जो समाधान लेकर वे आये उससे ईश्वरीय ज्ञान पर एक नवीन बंधन लागू हो गया कि उसका ज्ञान केवल सामान्यों तक सीमित होकर रह गया; अतः विशेष घटनाओं का स्वरूपतः ज्ञान उसे नहीं हो पाता है।

अतः गजाली ने ईश्वरीय ज्ञान के संबध में इब्ने सीना के विचार का खंडन किया कि ईश्वर विशेषों को विशेष ज्ञान के द्वारा ज्ञात करता है। गजाली ने यह विचार भी प्रस्तुत किया कि सान्त घटनाओं तथा वस्तुओं के ज्ञान से ईश्वरीय सार में कोई परिवर्तन नहीं आता। परन्तु गजाली का यह सामधान इस दार्शनिक कठिनाई से वंचित नहीं रह सकता कि चूंकि दैशिक तथा कालिक अस्तित्वों का ज्ञान ज्ञाता से दैशिक या कालिक संबंध की अपेक्षा रखता है। अतः प्रत्यक्ष का विषय तथा प्रत्यक्षकर्ता में कालिक तथा दैशिक संबंधों का होना अनिवार्य है। यदि ईश्वर का ज्ञान विशेष है तो ईश्वर को विशेषों के आधार पर यहां वहां अब या जब होना चाहिए। ऐसा लगता है कि इब्ने सीना तथा गजाली दोनों अपने दर्शन की कठिनाइयों को अनुभव नहीं कर सके। अतः प्रथम सिद्धांत (ईश्वर) का अनुभूत विशेषों तथा व्यक्तियों से क्या संबंध है यह प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहा। इब्ने रूश्द ने अपनी पुस्तक *खण्डन खंड* में इन दोनों चिन्तकों के विचारों की उर्पयुक्त कठिनाई को स्पष्ट किया और अपना वह समाधान प्रस्तुत किया जिससे संख्यात्मक देश काल का विचार इस्लामी दर्शन का एक अंग बन गया।

इब्ने रूश्द गजाली के इस निष्कर्ष से सहमत हैं कि विशेष ज्ञान का सामान्य ज्ञान में विघटन संभव नहीं है। अतः इब्ने रूश्द ने गजाली की भांति इस आधार पर इब्ने सीना की आलोचना की कि सामान्य ज्ञानके माध्यम से विशेषों का ज्ञान संभव है। परन्तु इब्ने रूश्द गजाली पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि उनके निष्कर्ष पूर्वाग्रह पर आधारित हैं। उनका कहना है कि ठोस वस्तुओं के बारे में ईश्वरीय ज्ञान तथा मानव अनुभूतियों में समानता ढूंढना और तुलना करना संगत नहीं है। जो इस ज्ञान के इस प्रकार के उदाहरण पर विचार करता है वह ईश्वर को शाश्वत मनुष्य तथा मनुष्य को नश्वर ईश्वर बना देता है।

इब्ने रूश्द ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि ईश्वरीय ज्ञान सामान्यों के

संयोग की भांति का नहीं है, क्योंकि सामान्य ज्ञान का स्रोत भी मानव बुद्धि है। इसके अतिरिक्त वह विशेष ज्ञान की भांति भी नहीं है, क्योंकि विशेष ज्ञान भी मात्र मानव अनुभूति है। इब्ने रूश्द का कहना है कि हम इसलिए ईश्वरीय ज्ञान को न तो विशेष मानते हैं न सामान्य क्योंकि ऐसा ज्ञान जिसमें विशेषत्व तथा सामान्यत्व के विचार हों वह मानव बुद्धि का ही परिणाम होगा। परन्तु परम बुद्धि सम्पूर्ण सक्रियता तथा कारणता है। अत: उसके ज्ञान तथा मानव ज्ञान में कोई तुलना नहीं।

विशेषों का निर्धारण यह है कि यह विशेष काल व विशेष देश में प्रस्तुत होते हैं जब कि सामान्यों का निर्धारण यह है कि सामान्य काल तथा सामान्य देश द्वारा प्रस्तुत होते हैं। सामान्य काल विशेष काल का एक प्रकार है जबकि विशेष काल सामान्य काल का विशेषत्व। इसी प्रकार सामान्य देश विशेष देश का प्रकार है और विशेष देश सामान्य देश की विशेषता है। दूसरे शब्दों में, सामान्यत्व तथा विशेषत्व की परिधि की घटना पूर्ण काल है और यह काल है जो अपने अंशों में व्याप्त है।

इस से एक बात स्पष्ट है कि इन इस्लामी दार्शनिकों ने काल की समस्या को ज्ञान के स्वरूप के अन्तर्गत रखा। अर्थात्, ज्ञान कें तात्त्विक स्वरूप की समस्या के अन्तर्गत रखा। उपस्थिति एक ऐसी तात्त्विक शर्त है जो ज्ञाता और ज्ञेय के मध्य ज्ञानात्मक संबंध के लिए अपरिहार्य तथा अनिवार्य है। बिना इस शर्त को पूरा किये, किसी ज्ञान का अस्तित्व नहीं। उपस्थिति के दो पक्ष होते हैं-देश तथा काल।

चूंकि ईश्वर को समस्त वस्तुओं तथा पदार्थों का साक्षात् ज्ञान है। अत: उपस्थिति की शर्त के अनुसार ईश्वरीय काल तथा ईश्वरीय देश का भी अवश्य अस्तित्व होना चाहिए जो भौतिक काल तथा देश से अपने स्वरूप में बिल्कुल भिन्न हो। इस तर्क से अनेक देश तथा अनेक काल का विचार मिलता है जो हमदानो का दृष्टिकोण है। मानव ज्ञान की यह विशेषता है कि यह अंशों के सामान्यीकरण से समष्टि तक पहुंचता है अथवा समष्टि के विशेषीकरण से अंशों तक पहुंचता है। चूंकि ईश्वरीय ज्ञान सामान्यीकरण तथा विशेषीकरण से परे है अत: प्रथम सिद्धान्त अथवा ईश्वर को सब का साक्षात् ज्ञान होता है। इस विचार से ईश्वरीय काल तथा ईश्वरीय देश के स्वरूप के बारें मे कुछ न कुछ विचार आवश्यक प्राप्त होता है।

ईश्वर को समस्त वस्तुओं तथा पदार्थों का, बिना विशेषत्व तथा सामान्यत्व के, साक्षात् ज्ञान है। यह इस बात का परिचायक है कि ईश्वर समस्त वस्तुओं तथा पदार्थों से निकटता रखता है। निकटता की खोज का सिद्धांत इस ईश्वरीय देश तथा ईश्वरीय काल की विशेषता है। हमदानो के विचार से ईश्वरीय देश समस्त पदार्थों पर तथा ईश्वरीय काल समस्त क्षणों पर व्याप्त है। ईश्वरीय काल का कोई ऐसा क्षण नहीं है जो अभी तक न बीता हो। अतएव इसमें काल के समस्त परिवर्तन हैं, इसमें उपस्थित होने से हर घटना ईश्वरीय ज्ञान के साक्षात् सम्पर्क में है। ईश्वरीय देश

का भी स्वरूप इसी प्रकार का है। विश्व का कोई कण ऐसा नहीं है जो इस देश में दूसरे की तुलना में ईश्वरीय निकटता से दूर हो, सब को समान निकटता प्राप्त है। अत: दांया-बांया, नीचे ऊपर जैसे संबोधन ईश्वरीय देश पर लागू नहीं होते। उसी प्रकार अब और जब की भिन्नताएं भी ईश्वरीय काल पर लागू नहीं होती। यही कारण है कि ईश्वरीय ज्ञान के संबंध में विभाजन तथा अनेकता असंगत हो जाती है। वह इकाई ज्ञान है जिसके समक्ष सब प्रस्तुत है और मानव ज्ञान से इसकी तुलना नहीं की जा सकती।

इब्ने सीना के दर्शन में यद्यपि किसी उच्चस्तरीय देश का विचार नहीं मिलता परन्तु एक उच्च स्तरीय काल की अवधारणा अवश्य मिलती है जिसे शाश्वतता की संज्ञा दी जाती है। उनका विचार था कि काल का न तो कोई आरंभिक बिन्दु है और न कोई अंतिम सीमा। गजाली ने इस विचार का खण्डन किया परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि इस्लामी सांस्कृतिक विचारधारा में विश्व की गति तथा काल की शाश्वतता के खण्डन में गजाली के विचारों को महत्त्व नहीं दिया गया। राज़ी तथा इब्ने रूश्द इत्यादि दार्शनिकों ने भी इब्ने सीना के विचारों से सहमति व्यक्त की कि काल अनादि तथा अनंत है, परन्तु वे भिन्न कारणों से ऐसा मानते थे।

गजाली के अनुसार काल को अनादि मानने से दो वस्तुएं अनादि हो जाती हैं- ईश्वर तथा काल। अत: उन्होंने काल की अनादि विचारधारा का खण्डन करना आवश्यक समझा। इब्ने रूश्द का कहना है कि जब गजाली यह यिद्ध करते हैं कि काल का कोई न कोई आरम्भ होता है तो वह घटनापूर्ण संसार की तार्किक स्थिति तथा अस्तित्व के विभिन्न प्रकारों के भेद को नहीं देख पाते और मिथ्या तर्कों में पड़ जाते हैं। गजाली का कहना है कि जिस प्रकार किसी अनन्त क्रम का क्रियाशील अस्तित्व नहीं, अनन्त काल का भी सक्रिय अस्तित्व नहीं होता, इसलिए देश की सीमाएं होती हैं, अत: देश से बाहर न तो रिक्तता है और न परिवर्तन। काल भी देश की भांति है। यह अनंत नहीं हो सकता। संसार का आरम्भ है और उसकी सृष्टि हुई है। अतएव काल से पहले कोई संसार न था।

गजाली कहते हैं कि काल के आरम्भ से पूर्व एक और आदि सीमा, फिर उस सीमा से पहले एक और भूत कालिक सीमा का स्रोत मानव कल्पना की दरिद्रता को सिद्ध करता है। मानव बुद्धि किसी वस्तु के आरम्भ को उस समय तक प्रस्तुत नहीं कर सकती जब तक उस आरम्भ से पहले एक और आरम्भिक सीमा की कल्पना नहीं कर लेती। इसलिए आरम्भिक सीमा से भी पहले एक और आरम्भिक सीमा को वह वास्तविक समझ लेता है। इस कल्पना की उत्पत्ति यह अवधारणा है कि देश की सीमा से परे एक और सीमा है जो रिक्तता है। गजाली का कहना है कि देश से परे अवधारणा में कल्पित रिक्तता अथवा शून्य अथवा पूर्व-विस्तार-शून्यता का निषेध

सम्भव है। जिस प्रकार देश में विस्तार शरीर के अनकूल होता है उसी प्रकार काल की निरन्तरता गति की अनकूलता में होती है। अत: जिस प्रकार शरीर का सशर्त, ससीम विस्तार देश की पूर्व-शून्यता विस्तार के औचित्य का निषेध करता है, उसी प्रकार गति के आरम्भ और अन्त में पूर्णता का होना काल के पूर्णशून्यता तक निरन्तरता के विचार का विरोधी है। गजाली यह कह कर अपने तर्क को पूरा करते हैं कि आरम्भ तथा अन्त, ऊपर तथा नीचे में कोई अन्तर नहीं है। यदि आप कहते हैं कि ऐसा अस्तित्व है जिसमें आरम्भ होने के पहले कुछ न कुछ हो अचिंत्य हो तो हमारा उत्तर यह होगा कि एक सीमित शरीर जिसके आगे और कुछ न हो वह भी अचिंत्य है। यदि आप कहें कि इस शरीर के आगे स्वयं उसकी सीमाएं हैं जिससे वह सीमित है तो हम कहेंगे कि बिल्कुल इसी प्रकार उस वस्तु की प्रारम्भिक सीमाएं उसके अस्तित्व का आरम्भ है जिससे वह वस्तु अतीत में सीमित है। अपने इस तर्क के बारे में गजाली का कहना है कि इस तर्क से यह स्पष्ट है कि काल सान्त है जो एक ओर आरम्भिक सीमा से तथा दूसरी ओर आत्यन्तिक सीमा से सीमित है।

गजाली के तर्कों को परखने के लिए प्रश्न किया जा सकता है कि क्या ईश्वर के लिए यह सम्भव था कि संसार को वह कुछ समय पहले उत्पन्न कर देता? गजाली के विचार को यदि ध्यान पूर्वक देखा जाए तो यह प्रश्न ही असंगत है, क्यों कि संसार की किसी घटना से इसका सम्बंध नहीं है। उनके विचार में काल का आरम्भ हुआ है और उसका अस्तित्व सान्त है। अतएव इसके आरम्भ से पूर्व कोई और काल न था। गजाली का यह विचार दो आधार-वाक्यों पर आधारित है :

(क) काल गति है अथवा परिमाण गति है, तथा
(ख) कारणात्मक श्रृंखला होने के कारण प्रत्येक गति का एक आदि काल है।

गजाली के इस तर्क का दोष यह है कि वे समान सत्ता को स्थायित्व तथा परिवर्तन के एक ही धरातल पर विघटित कर देते हैं और वह सत्ता ऐसी है कि उसकी आरम्भिक श्रृंखला में प्रथम कारण है अतएव वह आदि सीमा है। इस प्रथम कारण से संयोजन तथा नियोजन का एक ऐसा क्रम आरम्भ होता है जो रूपान्तरण तथा उत्पत्ति के विभिन्न चरणों और स्थितियों से होते हुए एक अन्तिम सीमा तक पहुंचता है और वही काल है। अतएव यदि विश्व की सारी श्रृंखलाओं को देखा जाए तो प्रथम कारण पहली कड़ी बन जाता है जिससे कारणात्मक श्रृंखला आरम्भ होकर अन्तिम कार्य पर समाप्त हो जाती है। अत: इन दो सीमाओं के मध्य अर्थात् प्रथम कारण तथा अंतिम कार्य के मध्य काल अवधि है, जिसके अन्तर्गत कारण-कार्य की निरन्तरता पायी जाती

है, अर्थात् श्रृंखला की प्रत्येक वस्तु अपने पूर्ववर्ती का कार्य तथा अनुवर्ती का कारण होती है। केवल प्रथम कारण और अंतिम कार्य इससे वंचित रहते हैं क्योंकि प्रथम कारण केवल कारण है क्योंकि इससे पहले कुछ नहीं और अंतिम सदस्य केवल कार्य है, वह किसी का कारण नहीं। इस प्रकार गजाली का यह प्रयास कि विश्व को सान्त तथा आरम्भ से सीमित सिद्ध किया जाए इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि स्वयं ईश्वर इस काल श्रृंखला का एक अन्त (चाहे आरम्भिक ही सही) बन जाता है। और इस विश्व की घटनाओं के क्रम का सदस्य होकर रह जाता है। दूसरे शब्दों में, गजाली के चिन्तन का अनिवार्य निष्कर्ष यह है कि ईश्वर स्वयं काल-गणना का प्रथम क्षण है और परिवर्तन और संयोजन का एक प्रकार भाग है तथा अतीत का मात्र एक बिन्दु हैं।

गजाली द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त विचार से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि वे यह गुत्थी न सुलझा सके कि शाश्वत अस्तित्व से किस प्रकार सांसारिक वस्तुओं का क्रम आरम्भ होता है। इब्ने रूश्द ने इस कठिनाई को दूर करने के लिए देश तथा काल की अनेकता और विभाजन का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। हम कह सकते हैं कि हर प्रकार के काल में उसके अपने प्रकार की कारणता विद्यमान रहती है जो दूसरे प्रकार के काल की कारणता से भिन्न होती है। इब्ने रूश्द ने यह भी स्पष्ट किया कि सांसारिक घटनाओं के पूर्व भी सांसारिक घटनाएं होती हैं और उसके पश्चात् भी; और यह कि इस सांसारिक क्रम में जो कारणता विद्यमान रहती है वह विशेष कारणता होती है, जबकि ईश्वरीय स्तर पर जो कारणता विद्यमान रहती है वह सारीय कारणता होती है।

इब्ने रूश्द ने इस बिन्दु को भी स्पष्ट किया कि विशेष घटनाओं के क्षेत्र में एक से दूसरी वस्तु का क्रम अनन्त घटनाओं तक असम्भाव्य नहीं है। उसके तर्कों को संक्षेप में हम इस प्रकार रख सकते हैं: उनके अनुसार कुछ विचारक काल के अनन्त अस्तित्व को एक घटना के रूप में स्वीकार करते हैं। इसकी विशेषता यह है कि पूर्ववर्ती इसमें लीन हो जाता है, अनुवर्ती इस पूर्ववर्ती से घटित होता है और इस प्रक्रिया को आप अनन्त क्रम के रूप में जान सकते हैं। इस पूरी प्रक्रिया और इसके क्षणों का एक विशिष्ट स्तर है जो किसी अन्य सिद्धान्त से नहीं टकराता है। उत्पत्ति और विनाश का सिद्धान्त निरन्तर परिवर्तन के क्रम को उत्पन्न करता है और इस क्रम का केन्द्र शरीर होता है जो सीमित होता है। अनादि से अनंत तक ऐसा हो सकता है और यही घटनाओं की कारणता का संसार है। इसका अपना स्तर है जहां प्रत्येक गति अपनी पूर्ववर्ती गति से उत्पन्न होती है और अपनी अनुवर्ती गति का कारण बन जाती है। इस प्रकार की गतियों की समष्टि यह घटनाओं का संसार है। यदि काल गति है अथवा गति माप है तो विशेष काल के लिए आवश्यक नहीं है कि ऐसी सीमा हो जिससे पहले कोई और सीमा न हो या एक सीमा हो जिसके बाद कोई और सीमा न हो। परन्तु प्रथम सिद्धान्त

(ईश्वर) या उसकी क्रियाशीलता घटनाओं की इस समष्टि का सदस्य नहीं है, इस पूरी श्रृंखला में किसी की कड़ी नहीं है; वह इनसे उच्च है।

इब्ने रूश्द के दर्शन की विशेषता यह है कि उन्होंने कारणात्मक श्रृंखला की स्वरूपगत विशिष्टताओं को स्पष्ट किया जिसके कारण काल-संसार अनन्त होते हुए भी ईश्वरीय काल के तुल्य नहीं हो सकता। अतएव ईश्वरीय काल अथवा शाश्वत काल तथा अस्तित्ववादी काल अर्थात् सांसारिक काल की कोटियां एक दूसरे से भिन्न होती हैं। ईश्वरीय काल में सारीय कारणता होती है तथा अस्तित्ववादी काल में विशेष कारणता। इस प्रकार इब्ने रूश्द गजाली तथा इब्ने सीना इन दोनों की त्रुटियों को दूर करने का प्रयास करते हैं। उनका समाधान यह है कि ईश्वरीय कारणता अर्थात् प्रथम गति की क्रियाशीलता अपने स्वरूप में सारीय कारणता होती है और विश्व क्रम का इस प्रकार अंग नहीं होती जिस प्रकार किसी घटना का अंग उसका आरम्भ अथवा अन्त होता है। उन्होंने यह बिन्दु स्पष्ट किया कि ईश्वर की सारीय क्रियाशीलता की विशेषता यह है कि "वह प्रत्येक गतिशील वस्तु के साथ होता है, जब वह गति में होती है .... क्योंकि वह कर्ता जो मानव अस्तित्व की पहली तथा अंतिम शर्त है, प्रथम कर्ता है "।

प्रथम कर्ता का इस प्रकार होना प्रत्येक प्रकार के अस्तित्व की भी शर्त है। प्रथमकर्ता संसार तथा उसकी गति से इस प्रकार संबंधित नहीं है जैसे प्रथम अंक तमाम अंकों से संबंधित है। ईश्वर का संसार से सम्बन्ध दूसरे ही प्रकार का है, वह न केवल सांसारिक श्रृंखला के आरम्भ से सम्बन्ध रखता है बल्कि वह उस क्रम के प्रत्येक सदस्य यहां तक कि श्रृंखला की सारीय कारणता है। इस स्पष्टीकरण से पता चलता है कि ईश्वरीय शाश्वतता का सांसारिक वस्तुओं से सम्बन्ध किस प्रकार का है। ईश्वरीय शाश्वतता सांसारिक काल के अन्तर्गत सांसारिक वस्तुओं के अस्तित्व को सार रूप से निर्धारित करती है। इब्ने रूश्द ने अस्तित्व के बारे में कहा कि इसके दो प्रकार हैं : प्रथम, वह जिस का स्वरूप गति है और जिसे काल से पृथक् नहीं किया जा सकता। द्वितीय, वह अस्तित्व जो गति में नहीं है और जो शाश्वत और जिसका काल की सीमाओं में वर्णन नहीं किया जा सकता। अतएव इनमें पहले की कारणता न तो काल की प्राचीनता पर आधारित है न कारण कार्य की ऐसी प्राथमिकता पर आधारित है जो गतिशील वस्तुओं में पायी जाती है। इस्लाम के अन्य दार्शनिकों ने यही भूल की कि उन्होंने सांसारिक वस्तुओं के परिवर्तन के कालिक अस्तित्व की कारणता को किसी गतिशील वस्तु की कारणता के उदाहरण के आधार पर स्पष्ट किया, जब दोनों में भिन्नता पायी जाती है।

जहां तक गजाली के यहां दैशिक विस्तार तथा कालिक क्षण की तुलना का सम्बन्ध है, इब्ने रूश्द को कहना पड़ा कि यह मात्र वितंडावाद है। एक ऐसे दैशिक विस्तार

का विचार जो एक विस्तार का आरम्भ हो और जो दूसरे विस्तार के आरम्भ में निहित हो, उस अस्तित्व अर्थात् विस्तार के स्वरूप तथा परिभाषा के विपरीत है। विस्तार आयामों से सीमित होता है। इसके विपरीत काल के आरम्भ से पूर्व और काल के अन्त के पश्चात् का जो विचार है वह स्वयं इन सीमाओं में चिन्तन करना है, जो काल की प्रकृति के अनुरूप है।

काल में किसी ऐसी आदि सीमा का चिन्तन नहीं किया जा सकता जो किसी दूसरे काल की अंतिम सीमा न हो। अत: क्षण की परिभाषा भी यही है कि वह अतीत का अंत और भविष्य का आरम्भ होता है और यह वर्तमान होता है जो अतीत तथा भविष्य के मध्य अवस्थित होता है। किसी ऐसे वर्तमान का विचार जिसके पूर्व कोई अतीत न हो मिथ्या है। इसके विपरीत ऐसे बिन्दु का विचार किया जा सकता है जिससे किसी रेखा का आरम्भ होता है बिना इस तथ्य के कि वह किसी अन्य रेखा का अन्त भी है। अत: क्षण का अस्तित्व बिना अतीत का व भविष्य के नहीं हो सकता। उसकी सार-विशेषता यह है कि वह अतीत के बाद और भविष्य के पूर्व विद्यमान हो। इसके अतिरिक्त यह अपने आप से भविष्य के आरम्भ में विद्यमान नहीं हो सकता,जब तक कि अतीत का अस्तित्व न हो और वह इस अतीत की अंतिम सीमा न हो।

इब्ने रूश्द ने गजाली की इस भूल को भी सुधारा कि बिन्दु तथा क्षण का स्वरूप समान होता है। उनके अनुसार दोनों में केवल यही समानता है कि दोनों कभी साथ अस्तित्ववान् नहीं होते। अत: दो बिन्दु कभी इकट्ठा नहीं रह सकते और न दो क्षण एक ही समय विद्यमान रहते हैं । अन्तर केवल यही है कि बिन्दु अपने अस्तित्व से स्वयं को सिद्ध करता है, उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए किसी अन्य बिन्दु की आवश्यकता नहीं होती, जबकि प्रत्येक क्षण अन्य क्षणों के पश्चात् और आने वाले क्षणों से पूर्व पाया जाता है। इस प्रकार अपने अस्तित्व में वह ऐसा होता है कि उसे अपने बीतने की अपेक्षा होती है, और यह अपेक्षा उसके अस्तित्व का अंग होती है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति, जो ऐसे क्षण को सत्य मानता है जो ऐसा वर्तमान हो जिसके बाद भविष्य न हो तो वह काल तथा क्षण दोनों का निषेध करता है।

अब इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है कि विश्व के पूर्व क्या था? इब्ने रूश्द के विचार से विश्व की सृष्टि के पूर्व अभाव था। अभाव का अर्थ वस्तु- विहीनता नहीं, बल्कि उन कारणों तथा शर्तों का योग है जो विश्व सृष्टि की प्रक्रिया में नष्ट हो गए। अत: एक समय था कि विश्व नहीं था, उसके बाद यह समय है कि विश्व है फिर एक समय आएगा कि विश्व नहीं होगा। अत: काल था, काल है और काल रहेगा और विश्व इसमें अभाव से भाव, भाव से अभाव के परिवर्तन में है। इब्ने रूश्द का कहना है कि इस कालिक परिवर्तन की कोई आदि सीमा नहीं है, परन्तु इसकी काल-विहीन शाश्वतता का विचार करना बिल्कुल ही मिथ्या है। शाश्वतता अस्तित्व

की दृष्टि से एक बिल्कुल ही भिन्न बात है । सांसारिक काल में इसका कोई उदाहरण नहीं मिलता है ।

एस.शाहिद अहमद

दर्शन विभाग
ओरिएन्टल कॉलेज
पटना सिटी - ८०००0८
पटना (बिहार)

मानस में दाम्पत्य प्रणय

मानस को दाम्पत्य का विश्वकोश कह दें तो कोई अत्युक्ति न होगी। उसमें जहाँ एक ओर श्रद्धा-विश्वास-समन्वित सम्पूर्ण समर्पणमय दाम्पत्य के प्रणय चित्र हैं, समवयस्क युगलों का हृदयहारी अनुराग है, वहाँ दूसरी ओर बेमेल दम्पती में परस्पर स्वार्थों का टकराव और उनके जीवन के करुण मार्मिक अंत की हृदयारंजक झाँकी भी है। सद्गृहिणी की पति को प्रेरणा और निर्भीक अंतरंग साचिव्य का प्राणदायी अमृत भी उसमें भरा है। आत्म कल्याण अथवा विश्वकल्याण के पथ पर पति के चरण चिन्हों का छाया की भाँति अनुसरण करने वाली पत्नी ने भारतीय संस्कृति द्वारा दिए गए अपने 'अर्धांगिनी' नाम को *मानस* में पूर्णत: सार्थक कर दिखाया है। चार प्रकार के दम्पतियों को *मानस* में लिया गया है - १.देव दम्पती २.मानव दम्पती ३.ऋषि दम्पती और ४. आर्येतर दम्पती। अब क्रमश: इनके दाम्पत्य प्रणय के संक्षिप्त भावचित्र प्रस्तुत किए जाते हैं :-

सर्व प्रथम देव-दम्पती सती-शिव का मनोहर और प्रेरक प्रणय चित्र मानस-पटल पर अंकित किया गया है। मानसकार ने बालकांड के मंगलाचरण में ही - "भवानी-शंकरौ वन्दे श्रद्धा-विश्वास रूपिणौ । याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धा: स्वान्तस्थमीश्वरम्" कहकर उनकी दाम्पत्य महिमा का यशोगान किया है। भवानी श्रद्धा हैं तो शंकर विश्वास। एक नारी हैं तो दूसरे नर। श्रद्धा में निश्शंक-निरपेक्ष समर्पण है तो विश्वास में संरक्षणमय ग्रहण। एक में नारी सुलभ कोमलता और सरलता है तो दूसरे में पौरुष की कठोरता और जीवन के नानाविध घात-प्रतिघातों को झेलने की दृढता। "भवानी" का अर्थ भव अर्थात् भगवान् शंकर की पत्नी या विश्व की नियामिका शक्ति है। उसका स्वरूप है

श्रद्धा और आधार है विश्वास। भवानी-शंकर अर्थात् श्रद्धा और विश्वास या कल्याण अभिन्न हैं। जहाँ भवानी है वहाँ भव हैं। श्रद्धा और विश्वास का सम्यक् ग्रहण हमें सिद्ध बना देता है। ये व्यक्तित्व के भवन की आधार शिलाएँ ही नहीं , ये वे नेत्र भी हैं जिनसे हम अपने हृदयस्थ परमात्मा को देख सकते हैं। जिसके पास श्रद्धा का सम्बल नहीं, श्रद्धा के प्रेरक संतों का साथ नहीं, उन्हें सत्स्वरूप प्रभु से प्रेम कैसे हो सकता है? और बिना राम के प्रेम के संसार से छुटकारा पाना संभव नहीं -

जे श्रध्दा सम्बल रहित,नहीं संतन कर साथ ।

तिन कहे मानस अंगम अति जिनहिं न प्रिय रघुनाथ।। बालकाण्ड,३८ दोहा, *रामचरितमानस*। श्रद्धा में जबतक वितर्क बुद्धि का समावेश नहीं होता, तब तक वह विश्वास से अभिन्न रहती है, जीवन में सरसता बनी रहती है और विपत्तियों का स्वयमेव परिहार होता रहता है। किन्तु ज्योंही श्रद्धा में वितर्क बुद्धि का समावेश हुआ, वह विश्वास से दूर जा पड़ती है, जीवन विरस हो जाता है और व्यक्ति को नानाविध विपत्तियाँ घेर लेती हैं। इसी को सती-शिव के प्रतीकात्मक कथानक के माध्यम से कवि ने अभिव्यक्ति दी है। अगस्त्य के आश्रम से लौटते समय भगवान् शंकर सीताहरण पर शोकाभिभूत होकर आँसू बहाते हुए राम की नरलीला देखकर भाव-विव्हल हो उठे। उन्हें दूर से ही"जय सच्चिदानंद जग पावन"कहकर प्रणाम किया, उन शंकर ने जो कामारि हैं, जिनके तीसरे नेत्र की ज्वाला से सम्पूर्ण सांसारिक वासनाओं और भोग-लालसाओं का अधिष्ठान कामदेव भस्म हो जाता है। सती को वितर्क बुद्धि ने घेर लिया, श्रद्धा विखंडित हो गई-"नारी के विरह में शोकाभिभूत एक सामान्य कामार्त नर भी, जो अज्ञ है, जो यह भी नहीं जानता कि उसकी अपहृता पत्नी कहाँ है और न ही उसमें उसे अपहरणकर्ता से छुडाने की शक्ति है; सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् भगवान् शंकर प्रणाम करें " यही तो उनके संदेह का कारण था। प्रेम की स्थिरता के लिए विश्वास चाहिए, निरपेक्ष संशयरहित समर्पणभाव चाहिए। भगवान् शंकर ने सती को बहुतेरा समझाया किन्तु उनके मन में बात कुछ जमी नहीं। उन्होंने परीक्षा ली उस सर्वेश्वर की और भगवान् शिव से परीक्षा लेने के ढंग को छिपा लिया। वे विश्वास से दूर जा पडीं, शिव के हृदय में उनके प्रति प्रेमभाव विखंडित हो गया क्योंकि संदेह, कपट और दुराव-छिपाव विश्वासमूलक प्रेम के सबसे बडे शत्रु हैं। जहाँ श्रद्धा-विश्वास-समन्वित निश्चल प्रेम है वहाँ पानी भी दूध के साथ मिलकर उसी के भाव बिक जाता है। पवित्र प्रेम में महत्त्वहीन वस्तु भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है, किन्तु कपट या दुराव-छिपाव से घनीभूत या प्रगाढ प्रेम भी उसी तरह विरसता में बदल जाता है जैसे खटाई के पड़ते ही दूध फट जाता है-

जलु पय सरिस बिकाइ, देखहु प्रीति की रीति भलि ।
बिलग होइ रसु जाइ, कपट खटाई परत पुनि।। बाल०,५७(ख), *रा०मानस*।

भगवान् शंकर के दाम्पत्य प्रणय की सरिता में एक पत्नीत्व की विमल स्फीत अविरल धारा बही है। अपने पति भगवान् शंकर के अपमान से विक्षुब्ध सतीजी ने क्षार-क्षार कर दिया उस देह को जो अपमानित करने वाले पिता दक्ष के शुक्र से संभूत अत: अपावन भी। मन और हृदय का संबंध तो देह से और पारिवारिक संस्कारों से होता है। वे थीं दक्षकी पुत्री - चतुर की बेटी। श्रद्धा और विश्वास को संदिग्ध दृष्टि से देखने वाले, वितर्क बुद्धि का आश्रय लेकर उन्हें महत्त्वहीन समझने वाले पिता की कन्या। इसीलिए तो राम के प्रसंग में उनकी शंका को भगवान् शंकर भी दूर नहीं कर पाए क्यों कि मानव की प्रकृति अपरिवर्तनीय होती है। प्रकृति पर वंश-परम्परा और व्यक्तिगत साधना का प्रभाव पडता है। वंश परम्परा के संस्कार से मुक्ति जन्मांतर द्वारा होती है, योगियों के कुल में जन्म लेकर होती है और जन्मान्तर के संस्कारों को तप: साधना द्वारा पवित्र किया जाता है, तभी प्रकृति भी बदलती है। इसलिए उन्होंने पुनर्जन्म लिया पवित्रता, त्याग, तप और गुरुता के प्रतीक अचंचल, स्थिर (जड़) बुद्धिवाले नगाधिराज हिमालय के यहाँ; और कठोर तप:साधना की। इधर सतीजी के आत्मदाह के बाद ग्रीष्मकालीन महानद के प्रवाह की तरह शिव का पत्नी प्रणाय स्वल्पजलवाला अत: क्षीण (धीमा) तो हो गया किन्तु सूखा नहीं । उसका प्रवाह भी दूसरी तरफ मुड़ा नहीं। न तो एकाकी शिव ने सती के शाश्वत वियोग पर अपने जीवन की सरसता को खोया और न दूसरा विवाह ही किया। उन्होंने जब अच्छी तरह जान लिया कि पार्वती अन्य कोई नहीं, उनकी पूर्वजन्म की प्रियतमा सतीजी ही हैं, जिन्होंने हिमालय के घर जन्म लेकर दीर्घकालीन तप-द्वारा अपने मन और बुद्धि को स्थिर कर लिया है, उन्हें श्रद्धा-विश्वास की भावभूमि बना लिया है तब कहीं उन्होंने उनसे विवाह किया। उन्होंने समष्टि का कल्याण करनेवाले कार्तिकेय जैसे तेजस्वी वीर पुत्रकी उत्पत्ति के लिए ही दाम्पत्य को स्वीकार किया था, भोग के लिए नहीं।

२. **मानव दम्पती :** मानव दम्पती में कैकेयी-दशरथ और सीता-राम को गोस्वामीजी ने लिया है। पहले लीजिए कैकेयी-दशरथ के दाम्पत्य प्रणय को। यद्यपि महाराज दशरथ की तीन रानियाँ थीं परंतु *रामचरित मानस* में कैकेयी-दशरथ के दाम्पत्य का ही विशद चित्रण है। अत: अन्य दो रानियों को यहाँ छोड दिया गया है।

महाराज दशरथ ने यद्यपि संतान के लिए ही अनेक विवाह किए थे तथापि उनके रूपलोभ और भोगलालसा को नकारा नहीं जा सकता। स्त्री के मातृत्व में ही उनका मन नहीं रमा, उसका कामिनीत्व उन्हें कहीं अधिक आकर्षक लगा। गोस्वामीजी ने स्पष्ट कहा है -

सुरपति बसह बाहँ बल जाकें । नरपति सकल रहहिं रुख ताकें ।।
सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई । देखहु काम प्रताप बडाई ।।
सूंल कुलिस अति अँगवनि हारे । ते रतिनाथ सुमन सर मारे ।। अयोध्या०,

चौ० २५, *रा.मानस* ।।

सुदीर्घ गृहस्थ जीवन सानंद पूर्ण कर लेने पर भी वानप्रस्थी न होना तथा वृद्धावस्था के सूचक श्वेत केशों का ख्याल न करके कैकेयी के प्रति उनका काम-परवशता भरा प्रणय निवेदन उनके वासनाओं से चिपके रहने का ही तो परिचायक है। फलतः उन्होंने राम को खो दिया। क्योंकि जहाँ काम है, उद्दाम विषयैषणाएँ हैं, कामिनी और कांचन के प्रति अटल अनुराग है वहाँ राम भला कैसे रह सकते हैं? वहाँ भगवत्कृपा और कल्याण की कल्पना निराधार है -

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम ।
तुलसी कबहुँ कि रहि सकहिं, रवि रजनी इक ठाम ।।

उन्होंने - "जानेसि मोर सुभाउ बरोरू । मन तव आनन चंद्र चकोरू" चौ.२६,अयो. का., *रा.मानस* ।।
तथा - "भामिनि राम सपथ सत मोही" ।।वही।। कहकर रामसे कहीं अधिक अपने कामिनी-अनुराग को ही तो स्पष्टतः प्रकट किया है।

आयु का विचार किए विना एक के बाद दूसरा विवाह करते जाने पर एक बेमेल जोडा तैयार होता है जिसमें पति वृद्ध और पत्नी युवती होती है। आयु की असमानता के कारण दोनों के बीच कुछ गुंथियाँ बन जाना स्वाभाविक ही है। वृद्ध पति स्वभावतः अपनी युवती पत्नी से सशंकित और भयभीत रहता है। प्रेम हृदय की वस्तु है। दोनों के हृदय आयु की असमानता और अन्य मनोवैज्ञानिक कारणों से मिल ही नहीं पाते तब उनके बीच प्रेम की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। स्वार्थों की खींचतान ही उनमें होती रहती है। वृद्ध पति के सभी मनचीते युवती पत्नी की भौहें के जरा टेढ़ी होते ही मटिया मेट हो जाते हैं। गोस्वामीजी ने कोपभवन के प्रसंग में दशरथ और कैकेयी की स्थितियों का बड़ा ही सटीक, मनोवैज्ञानिक और मार्मिक चित्रण किया है -

जाइ दीख रघुबंस मनि, नर पति निपट कुसाजु ।
सहिमि परउ लखि सिंहनिहिं, मनहुँ वृद्ध गजराजु।।३९,अयो., *रा.मानस*।।

एक ओर यौवन के मद से मतवाली कैकेयी है और दूसरी ओर वृद्धावस्था के कारण असहाय पति दशरथ। एक सबल है तो दूसरा निर्बल। एक काल है तो दूसरा काल का ग्रास। एक आक्रामक सिंहनी है तो दूसरा आक्रान्त वृद्ध हाथी, जिसमें आत्मरक्षा के लिए संघर्ष करने अथवा भागकर बचने का सामर्थ्य नहीं । एक अधिक वर्षा के (मदाधिक्य के) कारण उफनती किनारे के वृक्षों को उखाड़कर बहा ले जानेवाली क्षिप्रगामिनी नदी है तो दूसरा कगार पर का पुराना वृक्ष -

अहं कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी । मानहुँ रोष-तरंगिनि बाढ़ी ।।
दोउ वर कूल कठिन हठ धारा । भँवर कूवरी बचन प्रचारा ।।

ढाहत भूपरूप तरु भूला । चली विपति बारिधि अनुकूला ।। चौ.३४,*अयो.*, *मानस*

यदि राम-निर्वासन के दैवी कारणों को भुलाकर दशरथजी को एक बहुपत्नीवान् सामान्य गृहस्थ मान लिया जाय तो ज्ञात होगा कि कैकेयी का दशरथ के प्रति लगाव पति भक्ति के कारण नहीं, अपितु उनके राजकीय ऐश्वर्य के कारण था। जब वह राजकीय ऐश्वर्य उनके हाथों से छिनने लगा, उनकी सपत्नी कौसल्या के पुत्र राम राज्य के उत्तराधिकारी घोषित किए जाने लगे और उनका औरस पुत्र इस सौभाग्य से वंचित होने लगा तो उनका सौतिया डाह जाग पड़ा और उन्होंने अपने प्रति दशरथ की आसक्ति का लाभ उठाकर और उनके प्राणों का ही दाँव लगाकर उसे पाने की चेष्टा की। बहु पत्नीत्व के दोषों का यथार्थ चित्र ही कवि ने यहाँ खींचा है जो मनुष्य को बड़े से बड़े सौभाग्य से वंचित करके उसके मार्मिक अंत का कारण बनता है। बहुपत्नीवान् पति के प्रति पत्नियों का प्रेम औपचारिक ही होता है। वस्तुतः वह प्रेम के स्थान पर उनकी ईर्ष्या और आक्रोश का ही केन्द्र-बिन्दु बन जाता है। यही दशरथजी के साथ भी हुआ।

समाज से बहुपत्नीत्व के इस दोष को मिटाने के लिए ही प्रभु ने मनुज राम के रूप में दशरथजी के यहाँ जन्म लिया और एक पत्नीव्रत धारण किया। पति-पत्नी के परस्पर अनन्य प्रेम का मनोहर आदर्श और उदाहरण प्रस्तुत किया। कैकेयी ने जहाँ स्वार्थों की सिद्धि में अपने पति के प्राणों की ही बाजी लगा दी थी, वहाँ सीता ने अपने समस्त सुख स्वार्थों को पति प्रेम पर उत्सर्ग कर दिया। राम ने भी उन्हें रावण से छुड़ाने के लिए क्या नहीं किया? पहला पक्ष विनाशात्मक है तो दूसरा रचनात्मक। पहले की आधार शिला स्वार्थ है तो दूसरे की त्याग। एक में प्रेम साकांक्ष अतः कलुषित है तो दूसरे में वह अनाकांक्ष और पवित्र है। पहले में सकाम ग्रहण (छीना-झपटी) का भाव प्रबल है तो दूसरे में अकाम समर्पण का। एक सौभाग्य को दुर्भाग्य में बदलनेवाला है तो दूसरा दुर्भाग्य को भी सौभाग्य बना देने वाला है। पहले का अवसान मृत्यु है तो दूसरे का परिणाम जीवन।

अनुराग कभी भी आरोपित नहीं होता, वह तो मानव हृदय का सहज धर्म है। अनुराग में पारस्पारिकता अनिवार्य है । हम जिससे जितना अनुराग चाहते हैं हमें भी बदले में उससे उतना ही अनुराग करना होगा। घृणा,विद्वेष,तिरस्कार या उपेक्षा के बदले अनुराग की आशा आकाशमहल की भाँति निराधार है। सामाजिक मान्यताएँ या धार्मिक सिद्धांत मात्र हमारे हृदय को उद्वेलित नहीं कर सकते। वे ऐसा तभी कर सकते हैं जब उनमें हमारे हृदय की वृत्तियों को रमाने की क्षमता हो। “जहँ लगि नाथ, नेह अरु नाते, पिय बिनु तियहिं तरनिहुँ ते ताते”, “प्रिय वियोग सम दुख जग नाहीं”, तथा “जिय बिन देह नदी बिनु वारी। तैसेइ नाथ पुरुष बिनु नारी”।

(अयो.,चौ.६४,*रा०मानस*।।) की उसी पतिप्राणा पत्नी की उद्घोषणा हमारे हृदय को आवर्तित कर सकती है जिसका पति अनन्य अनुरागी हो,शुचि स्नेही स्वामी हो। विश्व के अनंत ऐश्वर्य को,सम्पूर्ण सुख-साधनों को ऐसे पति के साहचर्य पर करोड़ों बार न्योछावर किया जा सकता है -

"मुस किसलय साथरी सुहाई। प्रभु सँग मंजु मनोज तुराई।।
कंद मूल फल अमिय आहारू । अवध सौध सत सरस पहारू ।।

।।अयो.काण्ड,चौ.६५,*रा.मानस*।।

सीता राम से निवेदन करने लगीं, "स्वामिन्, मुझे भी साथ ले चलिए । निश्चिन्त रहिए, मेरे कारण आपको कोई कष्ट नहीं होगा। आपके साहचर्य में मुझे भी कष्ट कहाँ? मैं आपके कोमल चरणों को देख-देख कर चलूँगी तो मुझे थकावट कैसे होगी? आप जब पैदल चलने के कारण थक जाएँगे तो आपके चरणों को धोकर पेड़ की छाया में बैठ कर प्रसन्नता पूर्वक दवा करूँगी -

मोहि मग चलत न होइहि हाटी । छिन छिन चरन सरोज निहारी।।
सबहिं भाँति पिय सेवा करिहौं । मारग जनित सकल स्रम हरिहौं।।
पाय पखारि बैठि तरु छाहीं । करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं।।
श्रम कन सहित स्याम तनु देखे । कहुँ दुख समय प्रान पति पेखे।।

अयो०काण्ड,चौ.६७,*रा.मानस*।।

राम ने इसके पूर्व सीताजी को वन के अपार कष्टों से बचाने के लिए उन्हें बहुतेरा समझाया। उनका प्रत्येक शब्द सीता के प्रति उनके अंतर के अनुराग से आर्द्र होकर निकला था। उनका प्रयास औपचारिकता मात्र न था। वे नहीं चाहते थे कि उनकी प्राणदयिता उनके पीछे-पीछे वन के अपार असह्य कष्टों को झेलती फिरे। सीताहरण पर उनका यही अनन्य अनुराग साकार हो उठा। वे विक्षिप्त और उन्मत्त से होकर चेतन और अचेतन सभी मानवेतर प्राणियों से रो-रोकर पूछने लगे उन्हीं प्राणवल्लभा सीता का पता, जिन्होंने उनके अभिन्न साहचर्य के लिए सभी राजकीय सुख-भोगों को त्याग कर वन के दु:सह कष्टों का सहर्ष वारण किया था।

३.ऋषि दम्पती - प्रेम और श्रेय सभी की प्राप्ति में भारतीय आर्यकुल की अर्धांगिनी ने पति को पूरा-पूरा सहयोग दिया है । उसके अर्द्धांगत्व में, उसके पत्नीत्व में, यदि वह अनन्य है तो सर्वत्र ही भोगेच्छा और वासना के पंक के ऊपर उसके त्याग और संयम का सुंदर सुरभित कमल ही खिला है। पत्नी पति की वासनाओं की पूर्ति करने वाली, उन्हें मर्यादित और संयत करने वाली, उसके सुख-दु:ख की सहचरी, उसकी सुसंस्कृत संतान की जन्मदात्री और प्रेम की प्राप्ति में सहायिका मात्र नहीं है, वह उसके मुक्तिमार्ग का संबल भी है क्यों कि वह श्रद्धास्वरूपिणी जो है। जो इस श्रद्धा के सम्बल से युक्त हैं वे ही विश्व-कल्याण का पथ भी प्रशस्त कर सकते हैं और मुक्त भी हो

सकते हैं। अगस्त्य-लोपामुद्रा,अत्रि-अनुसूया आदि "वानप्रस्थी ऋषिदम्पती" दाम्पत्य के इसी चरम परिपाक के जाज्वल्यमान् निदर्शन हैं।

४.आर्येतर दम्पती - आर्येतर दम्पतियो में तारा-बाली और रावण-मंदोदरी को परिगणित किया जा सकता है। तारा और मंदोदरी की सक्रिय राजनीति, उनकी राजनीतिक दूरदर्शिता, उनका निर्भीक अंतरंग साचिव्य और पति को असन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लाने की चेष्टाएँ (भले ही वे अपने पतियों के अहंकार के कारण उसमें सफल नहीं हो पाई) उन्हें सहज ही पत्नीत्व के सर्वोच्च सिंहासन पर बैठा देते हैं।

इस तरह *मानस* में दाम्पत्य की प्रत्येक स्थिति के प्रत्येक प्रकार के सर्वांगपूर्ण और सुंदर चित्रों के अंकन में महामना गोस्वामीजी को सराहनीय सफलता मिली है। आर्य जाति की सामाजिक संरचना में यह रामायणीय दाम्पत्य सदैव आदर्श रहा है । शिव-पार्वती का दाम्पत्य जहाँ भोग के स्थानपर त्याग और संयम की प्रतिष्ठा करता है, वहाँ दशरथ-कैकेयी का दाम्पत्य हमें वासनाधिन्य और बहुपत्नीत्व के दुष्परिणामों के प्रति सचेत भी करता है तथा राम का एक पत्नीत्व हमें जंगल में भी मंगल और विपन्नता में भी सम्पन्नता के प्रति आस्थावान् बनाता है।

डॉ.राजेन्द्रप्रसाद वार्ड
(महाराज बाग) भैरवगंज
सिवनी (म.प्र.) पिन - ४८०६६१.

दादूराम शर्मा

भाषा का प्रतीक-दर्शन

भाषा की संरचना में शब्द-प्रतीकों का अपना विशिष्ट स्थान है और इसी स्थान के कारण प्रतीकों की अर्थवत्ता का स्वरूप भी स्पष्ट होता है। भाषा-दर्शन का क्षेत्र इतना व्यापक और बहुआयामी है कि उसकी बहुआयामिकता की आधारशिला ये शब्द-प्रतीक ही हैं जो भाषिक प्रस्थापनाओं में एक तार्किक सम्बंध के द्वारा किसी "अर्थ" की प्रतीति या व्यंजना करते हैं। इसी संदर्भ में मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि भाषा के "शब्द" ही 'प्रतीक' का कार्य करते हैं जब वे किसी 'अर्थ' की व्यंजना करते हैं, और इस प्रकार ये 'शब्द' किसी अवधारणा या प्रत्यय के वाचक हो जाते हैं। उस स्थिति में ये शब्द-प्रतीक क्रमश: किसी अवधारणा या विचार में केंद्रीकृत हो ' स्थिर ' हो जाते हैं। प्रतीक का यह स्थिरीकरण एक क्रियात्मक प्रक्रम है, क्योंकि प्रयोग संदर्भ के अनुसार ये प्रतीक अपना अर्थ निश्चित करते हैं। यहां पर स्थिरीकरण कोई निष्क्रिय प्रक्रम नहीं हैं, क्योंकि कोई भी शब्द-प्रतीक संदर्भ के अनुसार अपने अर्थ को उस विशेष संदर्भ में स्थिर करता है। अत: प्रतीक का अर्थ- निश्चय एक गत्यात्मक रूप है जो संदर्भाश्रित है। यह भी एक सत्य है कि अनेक प्रतीकों का अर्थ निश्चित भी होता है और इतना रूढ हो जाता है कि 'हम' उस प्रतीक को अन्य सदर्भों में देखना ही नहीं चाहते हैं। प्रत्येक ज्ञानानुशासन के प्रतीक इसी प्रकार के होते हैं, लेकिन उनके अर्थ को अनेक आयामिकता अन्य अनुशासनों में 'प्रवेश' करने से होती है। यहां पर मैं जिस बात की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ, वह यह है कि प्रतीक का अंत:अनुशासनीय परिप्रेक्ष्य एक ऐसा सत्य है जो प्रतीक के बहुआयामी विवेचन का मार्ग प्रशस्त करता है। प्रतीक के इस अन्तर्प्रवेश में कटघरों की जकड़न टूटती है। ये प्रतीक जो अलग अलग 'कटघरों' में बंद रहते हैं, वे एक दूसरे में प्रवेश कर

अपना अर्थ-विस्तार ही नहीं करते हैं, वरन् विचार और सर्जना को गति देते हैं। एक को पहचानने का अर्थ है दूसरे को पहचानना। हिंदी आलोचना के क्षेत्र में ऐसे प्रतीकों (पारिभाषिक शब्दों) का ऐतिहासिक अध्ययन जो अन्य ज्ञान क्षेत्र से हिंदी में आए हैं, उनका एक आरंभिक अध्ययन डॉ. बच्चन सिंह ने अपनीं पुस्तक *आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द* में प्रस्तुत किया है। ऐसा ही ऐतिहासिक अध्ययन अन्य अनुशासनों में भी होना जरूरी है जो इस तथ्य को स्पष्ट करेगा कि भिन्न अनुशासनों के भाषिक प्रतीक और रूपाकार किस रूप में, कितने अर्थ-संकुचन और अर्थ-विस्तार के साथ उस विशिष्ट अनुशासन में आए हैं। उदाहरणस्वरूप, 'संरचना' शब्द को लिया जा सकता है जो विज्ञान का शब्द-प्रतीक होते हुए भी, नृतत्व,समाजशास्त्र ,साहित्य तथा दर्शन आदि क्षेत्रों में कहीं संकुचित अर्थ में (नृतत्वविज्ञान) तो कही व्यापक अर्थ-संदर्भ (जैसे साहित्य,दर्शन में) में प्रयुक्त हो रहा है। साहित्य समीक्षा में यह प्रतीक कृति की जैविकता को व्यंजित करता है, मात्र खण्डों या अवयवों तक अपने को सीमित नहीं रखता है। इसी के साथ ब्रह्मांडीय संरचना, समाज संरचना, इतिहास संरचना और जैविकी संरचना आदि प्रयोग में 'संरचना' शब्द-प्रतीक एक विचार दर्शन का प्रतिरूप सा हो गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रतीक-दर्शन का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है; और उसका अंत:अनुशासनीय परिप्रेक्ष्य आज की ज्ञान-मीमांसा का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

यहां पर थोड़ा रुक कर प्रतीक और ज्ञान मीमांसा के अंत:सम्बंध पर विचार अपेक्षित है, जिससे प्रतीक के 'व्यक्तित्व' का वह रूप उजागर होता है जो उसे बिम्ब, काव्यालंकारों, प्रतीकवादी आंदोलन (फ्रांस) की गिरफ्त से 'मुक्त' कर प्रतीक के व्यापक अर्थ-संदर्भ को व्यक्त करता है। जहां तक बिम्ब का सम्बंध है, वे ऐंद्रिय अधिक होते हैं और उनकी स्थिति ' चिन्ह ' के समान होती है। दूसरी ओर बिम्ब उस अर्थ में विचारोद्भावना नहीं करते हैं जो प्रतीक की एक मुख्य प्रवृत्ति है, क्योंकि विचारों का आवश्यक कार्य प्रतीकीकरण है। यदि यह कहा जाए कि बिम्ब जहां 'भास्वर' होते हैं, वहीं प्रतीक व्यंजनात्मक अर्थ के कारण अनुभव और विचार में केन्द्रीभूत हो जाते हैं। इसलिए बिम्बानुभूति मूलत: ऐंद्रिय है, जबकि प्रतीक सीधे "काल" से सम्बंधित होने के कारण ऐतिहासिक एवं जातीय चेतना के प्राणवाहक रूपाकार हैं। फ्रांसीसी प्रतीकवादियों (मलार्मे ,बादलेयर) ने प्रतीक-केन्द्र से 'समाज' को हटाकर उसे 'व्यक्ति' केंद्रित कर दिया जो अतींद्रिय अनुभूति, ऐकांतिक कलावाद तथा अबूझ रहस्यों तक उसका अस्तित्व रह गया। इस अर्थ में प्रतीक का क्षेत्र सीमित कर दिया और सृजन के स्तर पर भी उसे वैयक्तिक मानसिक अवचेतन का प्रतिरूप बनाकर छोड़ दिया गया। यही कारण है कि फ्रांसीसी प्रतीकवादी आंदोलन पतनोन्मुख स्थितियों की ओर समाज को ले गया। इससे भिन्न 'प्रतीक' की स्थिति वहाँ पर देखी जा सकती है जहाँ उसे किसी अलंकार के तहत स्थान दिया गया - जैसे अन्योक्ति, रूपकातिशयोक्ति, श्लेष, यमक

आदि। इसमें हुआ यह कि प्रतीक अलंकारों का एक पूरक तत्त्व ही बन कर रह गया, उसे वह स्वरूप नहीं प्राप्त हो सका, जो ज्ञान-मीमांसा के व्यापक संदर्भ का वाहक बन सके। भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतीक की सामान्यत: यही स्थिति रही। मेरे विचार से ध्वनिवादियों ने प्रतीक को अवश्य एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में स्वीकार किया, क्योंकि यहां पर ध्वनि और प्रतीक का सापेक्ष सम्बंध है जो प्रतीयमान अर्थ की ओर ध्यान ले जाता है। शब्द-प्रतीक जो अपने प्राथमिक अर्थ को गौण बनाकर किसी विशिष्ट प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करता है, यह सारा कार्य 'ध्वनि' द्वारा होता है जो 'स्फोट सिद्धान्त' के तहत अर्थ ग्रहण करता है। इसका अर्थ हुआ कि अन्तत: जो शब्द प्रस्फुटित होता है (प्राथमिक अर्थ-लोप के बाद), वह एक तरह से ध्वनि या प्रतीकार्थ है। आनंदवर्धन ने ध्वनि या प्रतीकार्थ को लौकिक लावण्यमयी अभिव्यक्तियों से जोड़ा है जबकि प्रतीकवादियों ने उसे रहस्यवादी अतीन्द्रियता की ओर मोड़ा है। मलार्मे का यह कथन कि 'प्रतीक बोधगम्य नहीं होते और जो बोधगम्य होत हैं, वे प्रतीक नही हैं,' असल प्रतीक के क्षेत्र को सीमित ही नहीं करता है वरन् 'बोध' और प्रतीक के रिश्ते को भी पृष्ठभूमि में डाल देता है। इस पूरे विवेचन से मैं इस बात की प्रस्तावना करना चाहता हूँ कि प्रतीक एक ऐसा व्यापक प्रत्यय है जो मात्र ऐकांतिक न होकर, अनेक आयामी संदर्भों को, ज्ञान और संवेदना के बहुरूपों को "अर्थ" प्रदान करता है अथवा दूसरे शब्दो में, प्रतीक के अर्थ-विवेचन के द्वारा 'ज्ञान' का प्रासाद निर्मित होता है। भर्तृहरि के अनुसार भी हमारा समस्त 'ज्ञान' शब्द-प्रतीकों से आबद्ध है। ज्ञान या अनुभव के द्वारा हम जो 'अर्थ' ग्रहण करते हैं, वह शब्द से एकरूप होकर हमारे 'ज्ञान' को स्थिर करता है। यही कारण है कि प्रतीक की अवधारणा में विचार का केंद्रीकरण प्राप्त होता है और यह केन्द्रीकरण भिन्न ज्ञान-क्षेत्रों में किसी न किसी रूप में प्राप्त होता है। इन ज्ञान-क्षेत्रों में प्रतीक की स्थिति और स्वरूप मे अंतर हो सकता है, लेकिन इससे यह नहीं माना जाना चाहिए कि इसमें प्रतीक की सार्वभौम सत्ता के प्रति प्रश्नचिन्ह लगाया जाए। हरेक मानवीय ज्ञान-क्षेत्र में और साथ ही, मानवीय अनुभव क्षेत्र में ये प्रतीक एक गत्यात्मक प्रक्रम का परिचय देते हैं, क्योंकि ज्ञान और अनुभव के क्रमिक विकास के साथ प्रतीकों का नया सृजन भी लगातार चलता रहता है। इस अर्थ में ज्ञान और प्रतीक का सापेक्ष गत्यात्मक सम्बंध है। इस गत्यात्मकता में पुराने प्रतीकों का नए संदर्भों में विवेचन भी समाहित है जो हमें प्रत्येक मानवीय क्रिया में प्राप्त होता है। प्रतीक का विवेचन जहाँ एक ओर उसकी अन्तर्निहित ऊंर्जा को प्रकट करता है, वहीं उसके ऐतिहासिक, सांस्कृतिक पक्ष का भी उद्घाटन करता है। यदि गहराई से देखा जाए तो प्रतीक के लिए इतिहास अत्यंत महत्त्वपूर्ण है और जब तक रचनाकार और विचारक के अंदर किसी प्रतीक की इतिहासवत्ता जन्म नहीं लेती, तब तक वह प्रतीक की हैसियत और अर्थवत्ता नहीं प्राप्त कर सकता। ये प्रतीक किसी भी जाति

की सांस्कृतिक-प्रक्रिया के अंग बन जाते हैं और उस जाति की भाषिक संरचना में इन प्रतीकों का पाचन दो स्तरों पर होता है - एक, स्वयं उस जाति विशष के प्रतीक और दूसरे ऐसे प्रतीक जो स्रोतों अथवा विदेशी स्रोतों से आते हैं जो क्रमश: जातीय भाषिक संरचना के 'अपने' प्रतीक बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में, जातीय भाषिक संरचना की प्रकृति और स्वभाव के अनुकूल ही इन प्रतीकों को आत्मसात् किया जाता है और जो भी भाषा इस कार्य को जिस सीमा तक कर सकने में समर्थ होती है, वह भाषा उतनी ही विकसित एवं सृजनात्मक होती है। मेरे विचार से प्रत्येक भाषा में यह शक्ति होती है, अंतर मात्रा और गुण का हो सकता है। इस अर्थ में भाषा की संरचना में नए प्रतीकों और शब्दों का आत्मसात्करण एक द्वन्द्वात्मक और संश्लेषणात्मक प्रक्रम है जो भाषिक संरचना के अन्त:अनुशासनीय रूप की ओर संकेत करता है। इस अन्त:अनुशासनीय रूप में विदेशी प्रतीकों और प्रत्ययों का अनुवाद भी शामिल है जो उस प्रतीक की अवधारणा को सटीक रूप में संकेतित कर सके। दूसरी ओर इन प्रतीकों को उनके मूल रूप में भी लिया जा सकता है जो किसी भाषिक संरचना में घुलमिल कर उसके अपने अंग या घटक बन जाएं। डॉ. रामविलास शर्मा ने 'जातीय भाषा' की जो स्थापना की है उसमें जहां एक ओर 'बोली' किस प्रकार क्रमश: जातीय भाषा का रूप ग्रहण करती है, इसका विवेचन है, वहीं दूसरी ओर इस जातीय भाषा के गठन में शब्दों का आदान-प्रदान भाषा की ध्वनि-प्रकृति और भाव-प्रकृति के अनुसार ग्रहण एवं रूपांतरण होता है (*भाषा और समाज*, पृ.४२८)। भाषा की अपनी एक पाचन शक्ति होती है, और वह उसी के अनुसार शब्दों और प्रतीकों को आत्मसात् करती है। किसी भी भाषा का शब्द-प्रतीक-भंडार उसे प्रयुक्त करनेवालों के जातीय चरित्र का द्योतक होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रतीकों को बिना सोचे अंधाधुंध लिया जाएं, बिना यह सोचे कि वह जातीय अस्मिता के अनुकूल हैं या प्रतिकूल। डॉ. शर्मा ने जो बात शब्दों के आदान-प्रदान के बारे में कही है, वह प्रतीकों के लिए भी सत्य है। उनका मानना है कि शब्दों का आदान-प्रदान दो स्तरों पर होता है- एक समानता के स्तर पर और दूसरे असमानता के स्तर पर। समानता के स्तर पर जो प्रतीक-विनिमय होता है, वह भाषा के जातीय चरित्र को मुखर करता है और जो विनिमय असमानता (शोषक-शोषित) के स्तर पर होता है, वह जातीय चरित्र को संकट में ड़ाल सकता है। हिंदी और भारतीय भाषाओं (सामान्यत: उपनिवेशवादी देशों में भी) के साथ ऐसा ही हुआ है, क्योंकि हम अंग्रेजी शब्दों और प्रतीकों को समानता के स्तर पर नहीं, असमानता (ऊँचे स्तर) के धरातल से ग्रहण कर रहे थे और रहे हैं। जब हम शासक वर्ग के प्रतीकों को प्रयुक्त करते हैं तो वे उच्चस्तरीय मनोभावों को व्यक्त करते हैं। डॉ. शर्मा का यह विवेचन मुझे जितना शोषक-शोषित के संदर्भ में सत्य लगता है, उतना ज्ञान के सार्वभौमिक एवं विश्वजनीन रूप को ध्यान में रखकर नहीं, क्योंकि संचार माध्यम आदि के कारण

यह आदान-प्रदान समानता-असमानता दोनों स्तरों पर होता है और प्रत्येक भाषा की संरचना में प्रतीकों का यह ग्रहण एक द्वन्द्वात्मक आत्मसात्करण की सतत प्रक्रिया है जो ज्ञान के गत्यात्मक स्वरूप की सापेक्षता में एक लाज़िमी प्रक्रम है - एक तथ्य है।

यहां पर मैं शब्द-प्रतीकों के उस विवेचन को लेना चाहूंगा जो तार्किक प्रत्यक्षवादियों (लॉजिकल पॉज़िटिविज़्म) ने प्रस्तुत किया है क्योंकि उनका विवेचन विज्ञान और गणित की तर्कीय पद्धति पर अधिक आश्रित है। उनकी मूल स्थापना यह है कि किसी भी प्रतिज्ञप्ति में शब्द प्रतीकों का संयोजन तर्कमय होता है जों समष्टि रूप से अर्थ का संप्रेषण करता है। यहाँ पर तर्कशास्त्र का सहारा लिया गया जो यह मानता है कि वाक्य-संरचना में प्राप्त अर्थ-तारतम्य उनमें प्रयुक्त प्रतीकों की तर्कमयता पर अवलम्बित है। बर्ट्रेंड रसेल ने तर्कशास्त्र को एक प्रतीक-विधान ही माना है, जिसका प्रयोग किसी नियम के अन्तर्गत भौतिक-शास्त्र और गणित में प्राप्त होता है। (दि फिलॉसॉफी ऑफ मैथामैटिक्स) इस दृष्टि से यह भी माना गया कि वैज्ञानिक प्रतीकवाद मानव की प्रतीकीकरण शक्ति का एक नवीन अध्याय है। तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने तो यहाँ तक कहा कि दर्शन का मुख्य कार्य प्रत्ययों और प्रतीकों का तर्कसंगत विश्लेषण करना ही है और पारम्परिक दार्शनिक तत्त्वचिन्तक के प्रत्ययों और प्रतीकों को तर्कशास्त्र और वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर विवेचित नहीं किया जा सकता है; अतः तत्त्वचिंतन की जितनी भी प्रतिज्ञप्तियाँ (प्रोपोजिसेंस) हैं, वे अर्थहीन हैं। तत्वमीमांसा के प्रत्यय अनुभवाश्रित न होने के कारण व्यावहारिक दृष्टिकोण से अर्थहीन होते हैं और दार्शनिक चिंतन में परिकल्पना (स्पैकुलेशन) का कोई स्थान नहीं है। कारनाप, श्लिक आदि तार्किक प्रत्यक्षवादियों के इस मत से विट्गेन्स्टाइन जैसे प्रत्यक्षवादी पूर्ण रूप से सहमत नहीं थे क्योंकि उनका मानना था कि दार्शनिक चिंतन करते समय सारा ध्यान गणित और विज्ञान पर दिया जाए, यह अपने में तर्कसंगत नहीं है। दूसरी ओर, एक अन्य मुख्य बात यह है कि प्रतिज्ञप्तियों के द्वारा और उनकी संरचना के द्वारा एक दार्शनिक मूलतः जगत् या वास्तव की संरचना को समझ सकता है। अतः दर्शनशास्त्र का मुख्य कार्य प्रतिज्ञप्तियों का स्पष्टीकरण है जो भाषा-प्रयोग की तथा प्रतीक-प्रयोग की स्पष्टता पर आधारित है। इस प्रकार वास्तव और प्रतीक का गहरा सम्बंध है और यदि यह सम्बंध नहीं है, तो वह भाषा की विकृति है।

यहां पर मैंने तार्किक प्रत्यक्षवादियों का जो हवाला दिया है, वह कम-से-कम दर्शन और तत्त्वचिंतन को एक आयाम तो देता है, लेकिन इसके साथ ही साथ वह दर्शन के क्षेत्र को सीमित भी करता है और उसे गणित और विज्ञान के तर्कशास्त्र में न्यूनांकित (रिड्यूस) कर देता है। इस कमी के बावजूद मैं कारनाप के उस विभाजन को अवश्य स्थान देना चाहूंगा जो विज्ञान और गणित की भाषा को दो वर्गों में विभाजित करता है, यह विभाजन मात्र विज्ञान तक सीमित न होकर अन्य ज्ञान-क्षेत्रों को भी

किसी न किसी रूप में समाहित कर सकता है। गणित की भाषा और उसमें प्रयुक्त चिन्ह और प्रतीक जिस भाषा का सृजन करते हैं, वह "स्थिर भाषा" (डेफिनिट लैंग्वेज) है, जिसमें प्रतीकों का संयोजन तर्कसंगत होता है। अंक, रेखाएं, वृत्त, ज्यामितिक आकार या चित्र, कल्पना चिन्ह (कैल्कुलस)- ये सभी चिन्ह-प्रतीक की तरह प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि गणित के क्षेत्र में इनका कोई न कोई विशिष्ट अर्थ होता है। तार्किक दृष्टि से इन प्रतीकों को एक विशेष क्रम से संदर्भ (रिफरेन्स) की अवतारणा करनी होती है। अत: गणित के प्रतीक एक तार्किक सम्बंध को व्यक्त करते हैं। कुछ विचारकों, यथा गोल्डबर्ग (दि वण्डर आफ वर्ड्स) आदि का मत है कि गणित के प्रतीक शब्द के वर्ण या अक्षर ही हैं जो किसी विशिष्ट 'मूल्य' की व्यंजना करते हैं। बीजगणित के प्रतीक इसी प्रकार के हैं। यही बात अंकों के लिए भी सत्य है जिनका एक क्रम होता है। गणित में 'अनंत' का भी अपना अर्थ है और अंकों का भी। इस प्रकार अंक और रेखाओं का अपना दर्शन है जो विश्व और जगत् की संरचना को, उसके रहस्य को प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त या संकेतित करता है। एक (अद्वैत) और दो (द्वैत) की दार्शनिक धारणाएं अंक-दर्शन पर ही आधारित हैं। इसी प्रकार वर्ण का अपना प्रतीकार्थ होता है, जो हमें धर्म, दर्शन आदि क्षेत्रों में प्राप्त होता है। "ओऽम्" वर्ण प्रतीकार्थ (अ,उ,म) का एक ऐसा ही उदाहरण है। यदि इस व्यापक परिदृश्य को लिया जाए तो एक बात यह स्पष्ट होती है कि गणित के प्रतीकों का अर्थ अन्य ज्ञान-क्षेत्रों में अपने संदर्भ लेकर आता है और इस प्रकार उनका स्वरूप स्थिर न होकर विवेचनात्मक हो जाता है। दूसरा वर्ग उन प्रतिकों का है जो भौतिकी, रसायनशास्त्र तथा वनस्पतिशास्त्र आदि में प्राप्त होता है जहां प्रतीकों की योजना तार्किक होते हुए भी विवेचना एवं विवरण की अपेक्षा रखती है। अत: यह भाषा अस्थिर भाषा की सृष्टि करती है जो स्थिर भाषा की अपेक्षा अधिक गत्यात्मक और सांकेतिक होती है। भौतिक विज्ञानों की भाषा और प्रतीक का स्वरूप विवेचनात्मक होने से उनका अर्थ-विस्तार भी हो सकता है और अर्थ-संकुचन भी। यही बात अन्य ज्ञान-क्षेत्रों के बारे में भी सत्य है। वाक्य-विन्यास में इन प्रतीकों का संयोजन इस प्रकार का होता है जो व्याख्या की अपेक्षा रखता है; अत: इस प्रकार के प्रतीक ज्ञान विकास में अपनी विशिष्ट भूमिका अदा करते हैं। ये प्रतीक अक्सर अन्य ज्ञान-क्षेत्रों में भी प्रयुक्त होते हैं जो अपने मूल अर्थ के साथ अन्य संदर्भों को भी समाविष्ट करते हैं। इस स्तर पर भी ज्ञान के अंत:अनुशासनीय स्वरूप का उद्घाटन होता है जिसका संकेत मैंने आरंभ में किया था।

उपयुक्त विवेचन से प्रतीक की अर्थवत्ता का संकेत प्राप्त होता है। इस अर्थवत्ता के दो पक्ष हैं- एक, उनका भौतिक पक्ष और दूसरे उनका तात्त्विक अर्थ-संदर्भ। यहां पर एक विचित्र सी अवस्था के दर्शन होते हैं कि तात्त्विक या पराजागतिक संदर्भों में जिन प्रतीकों का प्रयोग होता है, वे प्रतीक भी जागतिक या भौतिक क्षेत्र के ही होते

हैं जो व्यापक या तात्त्विक या अनेक संदर्भों के भी वाहक होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जागतिक दिक् काल के प्रतीकों का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि वे इनके द्वारा ही हम अनंत या तात्विक संदर्भों को व्यंजित करते हैं। रहस्यवादी मनोभाव में ऐसा ही घटित होता है जब ससीम और असीम के सम्बंध को जागतिक प्रतीकों (मैं-तुम;बूँद-समुद्र,पिंड-ब्रह्मांड आदि) के द्वारा व्यक्त किया जाता है। परमसत्ता की अवधारणा में 'सम्राट्' का भाव निहित है; ब्रह्मांड की प्राचीन अवधारणा में सूर्य को एक प्रकार से 'सम्राट्' माना गया और ग्रहों को उसका मंत्रिमंडल, जैसाकि हमें बेबीलोनिया और मिश्र की प्राचीन संस्कृतियों में प्राप्त होता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होती है कि जागतिक अनुभव एवं वस्तुएं ही पराजागतिक या अनंत अनुभवों को प्रतीकात्मक निर्देशन देती हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भाषिक वाक्य-विन्यासों में शब्द-प्रतीकों का मूलाधार जागतिक दिक्काल ही है जहाँ से रचनाकार, विचारक, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक व्यापक संदर्भों की व्यंजना करते हैं; अत: प्रतीकों के सृजन एवं अर्थविस्तार में जागतिक दिक्-काल का अपना विशिष्ट स्थान है। अत: इस जागतिक स्तर को नकारना संभव नहीं है क्योंकि इसी बिंदु से व्यक्ति भूत और भविष्यत् (संभावना, अनंत) को पकड़ने का प्रयत्न करता है। लगभग सभी ज्ञान-क्षेत्रों में संभावना और अनंत को किसी न किसी रूप में स्थान देने की प्रवृत्ति प्राप्त होती है क्योंकि मानवीय चेतना की गति पश्च एवं अग्रगामी द्वोनों ओर होती है।

समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि भाषा का प्रतीक-दर्शन, विचारों और अवधारणाओं को 'रूपाकार' देता हुआ, ज्ञान की गतिशीलता को संकेतित करता है। इसी संदर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि ज्ञान स्वयं एक प्रतीकवाद है।

५ झ १५, जवाहर नगर
जयपुर - ३०२००४
(राजस्थान)

वीरेन्द्र सिंह

नव-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (२१)

विषयता-विषयिता

पूर्व लेख में यह बतलाया गया था कि अनुमिति की तरह शाब्दबोध में भी उद्देश्यता और विधेयता प्रतीत होती हैं। परंतु "पर्वत अग्निमान् है" इस शाब्दबोध में अग्निमान् ही तादात्म्य सम्बन्ध से पर्वत के प्रकार के रूप में मालूम पडता है। क्योंकि नामार्थ का नामार्थ के साथ तादात्म्य सम्बन्ध से ही अन्वय होता है, भेद सम्बन्ध से नहीं। अतः वहाँ पर्वत में रहने वाली उद्देश्यता से निरूपित विधेयता अग्नि में प्रतीत नहीं होती है। इसलिए शाब्दबोध में विधेयता आदि को स्वीकार करना अप्रामाणिक है। लेकिन अनुमिति में उन्हें स्वीकार करना आवश्यक है,1अन्यथा 'पर्वतो वन्हिमान्' इस तात्पर्य से 'पर्वत का अनुमान कर रहा हूँ' यह प्रयोग होने लगेगा। अनुमिति में विधेयता और उद्देश्यता आदि पदार्थ मानने पर ही इतर स्थलों में द्वितीया विभक्ति का अर्थ विषयिता यह स्वीकार करने पर भी 'अनुमिति' के अर्थ वाले धातु का सामीप्य होने से द्वितीया का अर्थ विधेयता तथा सप्तमी का अर्थ उद्देश्यता यह स्वीकार कर के ही "पर्वतो वह्निमान्" इस अनुमिति के ताप्तर्य से 'पर्वतमनुमिनोमि' (पर्वत का अनुमान करता हूँ) इस प्रयोग का निवारण सम्भव है। उद्देश्यता का ऐसा अर्थ न कर के द्वितीया का प्रकारिता ऐसा अर्थ करने पर भी उक्त प्रयोग की आपत्ति का निरास सम्भव है। फिर भी 'पर्वतत्वमनुमिनोमि ' इस प्रतीति का निरास सम्भव नहीं प्रतीत होता। इसलिए गदाधर2भट्टाचार्य ने कहा है कि अनुमित्यर्थक धातु का योग होने पर विधेयत्व या विधेयित्व यह द्वितीया का अर्थ है। अतः शब्दार्थक धातु का योग होने पर विषयित्व को द्वितीया का अर्थ मानने पर भी कोई हानि नहीं है।

विषयिता को इस प्रकार द्वितीया का अर्थ मानने पर 'पर्वते पर्वतं श्रृणोमि' यह प्रयोग ग्राह्य होना चाहिये, क्योंकि पर्वत विशेष्य वाला शाब्दबोध भी पर्वत विषय वाला है ऐसा मानने पर जहाँ सप्तमी विभक्ति वाला पद प्रयुक्त है वहाँ तादात्म्य सम्बन्ध से

नियमित होने वाली प्रकारिता ही द्वितीया विभक्ति का अर्थ है। तादात्म्य से भिन्न सम्बन्ध कहने का तात्पर्य यह है कि 'पर्वते वह्निंमन्तं श्रृणोमि' यह प्रयोग ग्राह्य नहीं होता।

उद्देश्यता और विधेयता के सम्बन्ध में एक और भी बात ध्यान में रखने योग्य है और वह यह कि उद्देश्यता और विधेयता में साक्षात् निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध होता है। 'पर्वते वह्नि:' यहाँ पर वह्नि में रहने वाली प्रकारता में साक्षात् निरूप्य- निरूपक- भाव नहीं है। ' पर्वत पर अग्नि ' यहाँ सप्तमी (पर्वते) का अर्थ आधेयता यह प्रकार के रूप में भाषित होने पर भी पर्वत उद्देश्य और अग्नि विधेय के रूप में प्रतीत होता है; अत: उनमें साक्षात् निरूप्य-निरूपक-भाव है, जब कि उपर्युक्त प्रकारता और विशेष्यता में विधेयता सम्बन्ध के द्वारा निरूप्य-निरूपक-भाव है।

यद्यपि उद्देश्यता आधार में ही होती है, तथापिं वह आधारता-रूप नहीं है। 'अग्नि कहाँ है?' ऐसा पूछने पर उत्तर मिलता है 'पर्वते'। यहाँ पर्वत विधेय तथा अग्नि उद्देश्य होता है। परन्तु अग्नि पर्वत का आधार नहीं है। अत: उद्देश्यता आधारता पदार्थ से भिन्न पदार्थ है।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि जहाँ अखण्डोपाधि (आकाशत्व आदि) या जाति (गोत्व आदि) का स्वरूपत: प्रत्यय होता है वहाँ उनमें रहने वाली प्रकारता आदि 'निरवच्छिन्न' अर्थात् किसी धर्म से नियमित नहीं होती है। 'यह गो है या अश्व है' यहाँ गोत्व में रहने वाली या अश्वत्व में रहने वाली प्रकारता किसी अन्य धर्म से नियमित नहीं है, जबकि 'पर्वतो वह्निमान्' ऐसा कहने पर पर्वत में रहने वाली उद्देश्यता तथा वह्नि में रहने वाली प्रकारता दोनों भी क्रमश: पर्वतत्व और वह्नित्व धर्मों से अवच्छिन्न हैं। परन्तु उद्देश्यता और विशेष्यता में यह एक और भेदक तत्त्व है कि उद्देश्यता हमेशा 'सावच्छिन्न' (किसी धर्म से नियमित) होती है, जब कि विशेष्यता कभी सावच्छिन्न तो कभी निरवच्छिन्न भी होती है। जैसे, 'नीलोत्पलम्' यहाँ विशेष्यता सावच्छिन्न है, तो 'गोत्ववान्' यहाँ विशेष्यता निरवच्छिन्न है।

उद्देश्यता तथा विधेयता की तरह ही कोटिता भी एक विषयता का प्रकार है।[3] कोटिता नामक विषयता 'संशय' के प्रसंग में स्वीकार की गयी है। 'अग्निमान्वा' (अग्निमान् है या नहीं) इस संशय में दो विरोधी वस्तुएँ विषय के रूप में प्रतीत होती हैं। उन्हें नैयायिक कोटियाँ कहते हैं। यहाँ एंक कोटि अग्नि है तथा दूसरी कोटि अग्नि का अभाव है। अत: इन दो कोटियों में दो कोटियाँ रहती हैं, जोकि कोटिताख्य विषयताएँ कहलाती हैं। संशय में दोनों कोटियाँ परस्पर विरोधी होती हैं- एक भाव कोटि तथा दूसरी अभाव कोटि। कभी कभी दोनों ही कोटियाँ भाव-रूप होती हैं, जैसे- 'अग्निमान् या घटवान् पर्वत है' या 'यह स्थाणु है या पुरुष है' (स्थाणुर्वा पुरुषो वा) यहाँ एक कोटिता स्थाणु में है और दूसरी पुरुष में है ।

कुछ लोग मानते हैं[4] कि एक धर्मी का विरुद्ध भावा-भाव-वाला ज्ञान ही संशय होता है। उनका कथन है कि भाव और अभाव जैसे विरोधियों के ज्ञान के बिना संशय होता ही नहीं है। उनके मतानुसार 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यह संशय केवल स्थाणु और पुरुष को ले कर होने वाला दो कोटियों वाला संशय नहीं है, बल्कि यह चार कोटियों वाला संशय है। यहाँ स्थाणुत्व एक कोटि है, स्थाणुत्वाभाव दूसरी कोटि, पुरुषत्व तीसरी कोटि और पुरुषत्वाभाव चौथी कोटि है। अतः प्रत्येक कोटि में भिन्न भिन्न कोटियाँ होने से यह संशय चार कोटियों वाला संशय है।

कुछ नैयायिकों का मत है कि कोटिता विषयता का भिन्न प्रकार नहीं है, अपितु कोटिता का अर्थ ही कोटि-प्रकारता है। इसलिये कोटिता प्रकारता का ही एक भेद है।[5] दूसरी ओर गदाधर का मत है कि जिस प्रकार लौकिक सन्निकर्ष से जन्य प्रत्यक्ष में 'साक्षात्कारोमि' इस प्रतीति के आधार पर विशेष प्रकार की विषयता मानी जाती है या 'अनुमिनोमि', 'आपादयामि' इन प्रतीतियों से साध्य और आपाद्य में विलक्षण विषयताएँ मानी जाती हैं उसी प्रकार 'सन्दिह्येमि' इस प्रतीति के आधार पर संशय की कोटियों विलक्षण विषयताएँ होती हैं। प्रकारता में रहने वाला प्रकारतात्व जिस प्रकार अखण्डोपाधि है उसी प्रकार कोटिता में रहने वाला कोटितात्व भी अखण्डोपाधि धर्म है।

यद्यपि संशय के समान समुच्चय में भी कोटिद्वय प्रकारता या दो कोटिताएँ होती हैं तो भी जब कि संशय में कोटिद्वय प्रकारता (कोटिता) से निरूपित एक विशेष्यता होती है, समुच्चय में कोटिद्वय प्रकारता (कोटिता) से निरूपित अनेक विशेष्यताएँ होती हैं। जैसे - 'वह्निमान् घटवान् वा पर्वतः' और 'वह्निमान् घटवांश्च पर्वतः' इन ज्ञानों में होने वाला भेद इस प्रकार समझा जा सकता है कि 'वह्निमान् घटवान् वा पर्वतः, में वह्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित तथा घट में रहने वाली प्रकारता से निरूपित पर्वत में एक ही विशेष्यता है, जबकि 'वह्निमान् घटवांश्च पर्वतः' इस ज्ञान में वह्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित एक विशेष्यता पर्वत में है तथा दूसरी घट में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता भी पर्वत में है।

दूसरी बात यह है कि संशय की कोटिता-रूप प्रकारता प्रकारिता से नियमित प्रकारिता की निरूपक होती है। संशय में भिन्न भिन्न कोटि प्रकारिताओं में परस्पर अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव होता है, जो समुच्चय वाली प्रकारिताओं में नहीं होता है। समुच्चय को संशय से भिन्न सिद्ध करने का आधार संशय की प्रकारिताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव का होना यह माना जाता है ।[7]

कोटिता को प्रकारता से भिन्न मानना इसलिये भी आवश्यक है कि संशय की कोटियाँ जहाँ विशेष्य होती हैं वहाँ उनमें प्रकारताएँ नहीं रहती हैं। जैसे - 'वह्नि पर्वते न वा' इस संशय में वह्नि और वह्न्यभाव-रूप दोनों कोटियाँ विशेष के रूप में

तथा पर्वत प्रकार के रूप में प्रतीत होता है। यदि कोटिता को प्रकारता के रूप में स्वीकार करें तो उक्त संशय की कोटिताएँ प्रकारता-रूप न होने से उक्त संशय का संग्रह नहीं होगा। कोटिता को प्रकारता से भिन्न स्वीकार करने पर कोटि-प्रकारक और कोटि- विशेष्यक दोनों ही संशयों का संग्रह हो जाता है। अत: कोटि-विशेष्यक संशय-साधारण कोटिता के संग्रह के लिये कोटिता को प्रकारता से अन्य मानना ही उचित है।

कोटिता को भिन्न स्वीकार करने पर भी उसका अन्तर्भाव विषयता में किया जा सकता है। अत: कोटिता भी विधेयता आदि के समान विषयता का ही एक प्रकार है। अथवा प्रतियोगिता आदि को स्वतन्त्र पदार्थ मानने वालों के मत के अनुसार संशय-स्थलीय कोटिता भी एक स्वतन्त्र पदार्थ है।[8]

कोटिता के सम्बन्ध में जानने योग्य बात यह है कि संशय की दोनों कोटिताएँ दो भिन्न सम्बन्धों तथा भिन्न धर्मों से नियमित (अवच्छिन्न)होती हैं। जैसे -'पर्वतो अग्निमान् न वा' इस संशय की अग्नि में रहने वाली कोटिता संयोग सम्बन्ध से नियमित होती है, क्योंकि पर्वत पर अग्नि संयोग सम्बन्ध से रहता है। उसी प्रकार अग्नि के अभाव में रहने वाली दूसरी कोटिता स्वरूप सम्बन्ध से नियमित होती है, क्योंकि अभाव स्वरूप सम्बन्ध से पर्वत पर रहता है। उसी तरह जहाँ अग्नि में रहने वाली कोटिता अग्नित्व धर्म से नियमित होती है, वहाँ अग्नि के अभाव में रहने वाली कोटिता अग्न्यभावत्व धर्म से नियमित होती है। कोटिताओं को सम्बन्ध और धर्म से नियमित माने बिना संशय और निश्चय में प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव की व्यवस्था नहीं बनेगी। पर्वत पर संयोग सम्बन्ध से अग्नि के संशय का निवर्तक पर्वत पर संयोग सम्बन्ध से ही अग्नि का निश्चय होगा। उसी प्रकार पर्वत पर द्रव्यत्वेन अग्नि के संशय का निवर्तक वहाँ द्रव्यत्वेन अग्नि का निश्चय होगा, अग्नित्वेन अग्नि का निश्चय नहीं।

यद्यपि संशय के समान 'एकत्र द्वयं' इस ज्ञान में कोटिद्वय प्रकारता (कोटिता) से निरूपित एक विशेष्यता होती है- जैसे, 'पुस्तक और लेखनी-युक्त मेज' कहने पर पुस्तक और लेखनी दोनों में रहने वाली दो प्रकारताओं से निरूपित एक विशेष्यता मेज में मालूम पड़ती है - फिर भी संशय और 'एकत्र द्वय' इन प्रत्ययों में भेद है। संशय में दोनों कोटिताख्य विषयताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव होता है। अर्थात्, 'अग्निमान् न वा' इस संशय की अग्नि-विषयता से अग्नि के अभाव की विषयता अवच्छिन्न होती है। 'एकत्र द्वयं' यहाँ एक विशेष्यता से निरूपित दोनों प्रकारताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव नहीं होता है। यही उन दोनों में होने वाली भिन्नता का परिचायक है।

संशय के समान सम्भावना में भी अनेक या कम-से-कम दो कोटियाँ होती

हैं। परन्तु संशय और संभावना में अन्तर है। संशय की दोनों कोटियाँ समान स्तर की होती हैं, जबकि सम्भावना की एक कोटि उत्कट होती है। ऐसी उत्कट कोटि में रहने वाला औत्कट्य याने उत्कटता भी विषयता का एक प्रकार है। इसलिये उत्कट-एककोटि-प्रकारक नानाकोटि-प्रकारक ज्ञान को सम्भावना कहा जाता है। जैसे- 'आश्विन महिने में वृष्टि अधिक होगी या नहीं' ऐसा सन्देह होने पर अधिक वृष्टि या कम वृष्टि का बोधक यहाँ कुछ भी नहीं है। अतः दोनों भी कोटियाँ यहाँ समान हैं; उनमें से कोई भी उत्कट नहीं है। परन्तु 'भाद्रपद मास में वृष्टि होगी या नहीं' यहाँ भाद्रपद मास वर्षा ऋतु के अन्तर्गत होने से वृष्टि-कोटि उत्कट है और इसलिये उक्त महीने में वृष्टि होने की सम्भावना है। दोनों कोटियाँ उत्कट होने की स्थिति में न तो संशय होता है और न ही सम्भावना। ऐसी स्थिति अनध्यवसाय की कोटि हो सकती है।

इस प्रकार से विषयताओं की विलक्षणता के आधार पर संशय, सम्भावना, समुच्चय तथा 'एकत्र द्वयं' आदि में भेद किया जाता है।

विषयिता

ज्ञान और उसके विषय के बीच में विषय-विषयी-भाव माना जाता है। जिन रजतादि वस्तुओं का ज्ञान होता है वे विषय होते हैं। उनमें विषयता होती है, तथा ज्ञान स्वयं विषयी होता है और अतः उसमें विषयिता होती है। विषयी में रहने वाला धर्म (पदार्थ) विषयिता कहलाता है।[9] विषयता और विषयिता में निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। अतः विषयता-निरूपकत्व ही विषयित्व है ऐसा भी कुछ नैयायिकों का मत है।

ज्ञान के साथ विषय के होने वाले सम्बन्ध को ही विषयिता कहा गया है तथा विषयता के समान ही यह प्रकारिता,संसर्गिता, विशेष्यिता भेद से तीन प्रकार की होती है।[10] विशेष्य-रूप विषय के साथ ज्ञान का सम्बन्ध विशेष्यता है। जब 'पर्वतो अग्निमान्' यह प्रत्यय होता है तो पर्वत इस विशेष्य में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित विशेष्यिता उक्त ज्ञान में प्रतीत होती है। उसी प्रकार उसी ज्ञान में अग्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित प्रकारिता भी प्रतीत होती है। विषय का ज्ञान के साथ होने वाला सम्बन्ध विषयता न हो कर विषयिता है, क्योंकि अनुयोगि-निष्ठ को ही सम्बन्ध मानने पर ज्ञान अनुयोगी होने से उसका विषय के साथ होने वाला सम्बन्ध विषयिता के रूप में ही गृहीत होता है। अतः ज्ञान विषयी होता है।

यह पहले बताया जा चुका है कि समान आश्रय वाली एक ज्ञान की विषयताओं के बीच कुछ नैयायिक अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव तथा कुछ अन्य नैयायिक अभेद सम्बन्ध मानते हैं। अतः ज्ञान में प्रतीत होने वाले 'विशेष्यकत्व' का अर्थ है विशेष्यता निरूपित विशेष्यित्व और प्रकारकत्व का अर्थ है प्रकारता निरूपित प्रकारित्व।

'पर्वतो वह्निमान्' इस ज्ञान में पर्वत में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित विशेष्यित्व जैसे है वैसे ही अग्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित प्रकारित्व भी है। परन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि एक ही ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता तथा विशेष्यिताओं के बीच में क्या सम्बन्ध है? इसके विषय में नैयायिकों का यह मत है कि उन विशेष्यिता और प्रकारिताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव सम्बन्ध है, क्योंकि जिन विषयताओं में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है उनसे निरूपित विषयिताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव होता है ऐसा नियम है।

'पर्वत अग्मिान् है' इस ज्ञान में जैसे एक ओर अग्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित हुई प्रकारिता होती है वैसे ही दूसरी ओर पर्वत में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित विशेष्यिता भी होती है जो उक्त प्रकारिता से अवच्छिन्न (नियमित) भी होती है। इस प्रकार प्रकारिता से अवच्छिन्न विशेष्यिता तथा विशेष्यिता से अवच्छिन्न प्रकारिता होती है।

विषयिता को कुछ नैयायिक स्वरूप सम्बन्ध का एक प्रकार मानते हैं, जब कि कुछ अन्य नैयायिक उसे स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं।[12] विषयिता ज्ञान, इच्छा और कृति इन तीन सविषयक पदार्थों में रहती है। विषयिता भी विषयता आदि इतर पदार्थों के समान ही सम्बन्ध तथा धर्म दोनों ही रूपों में प्रतीत होती है। जैसा कि ऊपर बताया उसके अनुसार ज्ञान में विषयिता रहती है, क्योंकि ज्ञान विषयी है। ज्ञान का विषय और ज्ञान इनमें विषयिता सम्बन्ध होता है। अर्थात्, पुस्तकत्व से नियमित विषयता से निरूपित विषयिता याने पुस्तक का उसके ज्ञान, इच्छादि के साथ सम्बन्ध है। उसी प्रकार घट-ज्ञान के साथ घट का सम्बन्ध घटत्व से नियमित विषयता निरूपित विषयिता होता है।

घट-ज्ञान होने पर घटत्व में जो प्रकारता है वही ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता है ऐसा भी एक मत है।[13] ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता ही विषयिता है, विषयिता के अन्य भेद विशेष्यिता आदि नहीं, जबकि अन्य नैयायिक विषयिता के भी अन्य भेद स्वीकार करते हैं जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

विषयिता तब तक रहती है जब तक विषयी ज्ञान, इच्छादि रहते हैं। अर्थात्, ज्ञान के समय में ही विषयिता घट का ज्ञान के साथ सम्बन्ध बनता है। ज्ञान के न रहने पर घट का सम्बन्ध विषयिता नहीं होता है।

जिस प्रकार विशेष्यता सम्बन्ध से नियमित नहीं होती है, प्रकारता ही सम्बन्ध से नियमित होती है उसी प्रकार विषयिता भी सम्बन्ध से नियमित नहीं होती है। परन्तु विषयिता धर्म से नियमित होती है। प्रत्येक ज्ञान में रहने वाली विषयिता उक्त ज्ञानत्व धर्म से नियमित होती है। ऐसा स्वीकार न करने पर प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। इसके विषय में पूर्व लेखों में पर्याप्त चर्चा की गयी है। आगे

भी प्रतिबन्धकता और प्रतिबन्धकताओं के विवेचन के प्रसंग में पुनः इसकी चर्चा होगी ही।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे - ४११ ००७

बलिराम शुक्ल

टिप्पणियाँ

१. रामरुद्र; वस्तुतस्तु शाब्दबोधे विधेयकत्वादिकमप्रामाणिकमेव अनुमितावेव तदङ्गीकार आवश्यकः। *रामरुद्र्यां*, पक्षता-प्रकरणे.

२.गदाधर भट्टाचार्य:अनुमित्यर्थकधातुयोगे विधेयत्व विधेयित्वं द्वितीयार्थ इति ।*वहीं*

३.बालकृष्ण मिश्र; एषैव विषयता कोटितापदेनोच्यते । *उभयाभाववादकव्याख्यायाम्*

४. विश्वनाथ; एकधार्मिकविरुद्धभावाभावप्रकारकं ज्ञानं संशय इत्यर्थः। *न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यां*,संशयनिरूपणे

५. दिनकर;स्वीयैककोटिप्रकारतावच्छिन्न प्रतिबध्यतानिरूपित प्रतिबन्धतावच्छेदकीभूतापरकोटिप्रकारताशासिज्ञानत्वं संशयत्वमिति ध्येयम् । *दिनकर्यां* संशयनिरूपणे

६.गदाधर; यथा लौकिकसन्निकर्षजन्ये साक्षात्करोमीति प्रतीतिविषयताविशेषः अनुमिनोमि,आपादयामीति प्रतीतेश्चानुमित्यापत्त्योः साध्यापाद्ययो विषयताविशेषो अपह्नवः, तथा सन्देह्मीत्यनुव्यवसायबलात् संशयेऽपि कोट्यंशे विलक्षणविषयता निष्प्रत्यूहैवेति। *गादाधर्यां*, सत्प्रतिपक्षप्रकरणे ।

७.यद्वा प्रकारित्वावच्छिन्न प्रकारितानिरूपकत्वं तत्र विशेषत्वं लाघवात् संशये तत्कोटि प्रकारितयो समुच्चय-वैलक्षण्याय अवच्छेद्यावच्छेदकभावस्याभ्युपेतत्वात् । वहीं

८.तदन्यैव वा कोटिविशेष्यक संशयसाधारण्यानुरोधात् । *वहीं*

९.उमानाथ उपाध्याय; ज्ञाने विषयस्य सम्बन्धो विषयिता । *व्याप्तिपञ्चकव्याख्यायाम्*

१०.साच त्रिविधा-प्रकारिता,संसर्गिता,विशेष्यिता भेदात् । *वहीं*

११.जगदीश; ययोविषयतयोः परस्परं निरूप्यनिरूपक-भावस्तन्निरूपितविषयतयोरवच्छेद्यावच्छेदकभाव इति नियमेन। जागदीश्याः शिवदत्त मिश्र कृत *व्याख्यायाम*, पक्षताप्रकरणे।

१२. रघुनाथ; विषयतातत्वादिवत् प्रतियोगित्वाधिकरणत्व सम्बन्धत्वादयोऽप्यतिरिक्ता एव पदार्थाः इत्येकदेशिनः । *दीधित्यां* सिद्धान्तलक्षणे

१३.यादवाचार्य; या घटत्वादिनिष्ठ प्रकारता सा ज्ञाननिष्ठा प्रकारिता, ज्ञाननिष्ठा या प्रकारिता सैव विषयितेत्युच्यत । न्यायसिद्धान्तमञ्जर्याः *व्याख्यायाम्* ।

१४.जगदीश; विषयिता च ज्ञानसमानकालीनैवेति । *जागदीश्यां*,व्यधिकरणप्रकरणे ।

ग्रन्थ -समीक्षा

सिंह, (डॉ.)वीरेन्द्र; *विचार-संवेदन: विविध-आयाम* ; विवेक पब्लिशिंग हाउस,जयपुर,१९९० पृ.१५२ मूल्य: ७५ रुपये.

डॉ. वीरेन्द्र सिंह के लेखों का यह संकलन हाल ही में प्रकाशित हुआ है। संकलन के लेख *आलोचना, मधुमती, पहल, साक्षात्कार, समकालीन सृजन,दस्तावेज, भाषा* तथा *परामर्श* जैसी पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। ये लेख आलोचना से सम्बन्धित भिन्न भिन्न विषयों पर हैं। फलत: इस संक्षिप्त समीक्षा में उन सभी के विषय में चर्चा करना सुविधाजनक नहीं होगा। कुछ लेख स्वयं साहित्यिकों अथवा उनकी रचनाओं पर समीक्षाएं हैं। अनेक अन्य लेख कुछ ऐसी अवधारणाओं से सम्बन्धित हैं जो वीरेन्द्रजी के आलोचना-दर्शन में आधारभूत तत्त्व हैं। इन अवधारणाओं में दिक्-काल, द्वन्द्वन्याय, मिथक, विज्ञान, ज्ञान की बहु-आयामिता, प्रमुख हैं।

इन अवधारणाओं के आधार पर जिस परिदृश्य की संरचना वीरेन्द्र जी के आलोचना-विचार में उभरती है, उसे उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार रखा जा सकता है :

.....वर्तमान का जागतिक बोध वह आधारशिला है जहां से रचनाकार भूत और भविष्य के बिम्बों को प्रक्षेपित करता है। (पृ.१२)भारत-भारती तथा अनेक अन्य सन्दर्भों में वीरेन्द्र जी उस 'वर्तमान क्षण' की बात करते हैं जिस पर पैर जमा कर भूत और भविष्य को 'रचनाकार' विवेचित और सन्दर्भित करता है (पृ.३८)। इसी सन्दर्भ में मिथक, काल तथा इतिहास के सम्बन्ध में उल्लिखित हुआ है : "मिथक और काल का गहरा सम्बन्ध है। भारतीय दर्शन में मिथक को 'इतिहास' भी कहा गया है, जो किसी भी जाति का आंतरिक इतिहास है (पृ.३८) .... सृजन के क्षेत्र में दिक् और

काल का अस्तित्व "मैं" की सापेक्षता में होता है... मैं, तुम, वस्तु, घटना आदि एक विस्तृत अनुभव का अंग बन जाते हैं ... 'ये सब उस समय सृजनात्मक हो उठते हैं जब वे रचनाकार के ज्ञान-संवेदन से दीप्तमान होते हैं ...... प्रतीक बनने की प्रक्रिया में आ जाते हैं। सम्बन्धों का तनाव, क्रियाओं का व्यापार, स्थितियों की टकराहट, वस्तुओं का विद्युतीकरण तथा भावों-विचारों का रचनात्मक संगुफन - ये सभी तत्त्व "मैं" की सापेक्षता में दिक् और काल के चतुर्मितीय विस्तार को, भिन्न-भिन्न सीमाओं और परिधियों में अनुस्यूत करते हैं या "अर्थ" प्रदान करते हैं। (पृ.१५) सृजन के क्षेत्र में काल और दिक् विशिष्ट विषय और विषयी के द्वन्द्व एवं संगति का दिक्-काल-बोध निजी एवं विशिष्ट होते हुए भी, सामान्य को अपने अन्दर समाहित किए रहता है। (पृ.१७) स्मृति काल के विशिष्ट खण्ड को ग्रहण कर उसे वर्तमान और भविष्य के संदर्भों में रूपांतरित करती है (पृ.१७)। 'भारत भारती' के संदर्भ में वीरेन्द्र जी इस ओर ध्यान दिलाते हैं कि नियति, विधाता, विधि आदि रूपाकार परोक्षत: काल के ही वाचक या प्रतीक हैं क्योंकि काल को एक शक्ति या ऊर्जा के रूप में देखने की एक परम्परा पुराणों ओर महाकाव्यों में रही है (पृ.३०)।

'विज्ञान' बोध से अपने तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए वीरेन्द्र सिंह लिखते हैं 'विज्ञान' बोध का अर्थ यह कदापि नहीं है कि साहित्य को विज्ञान की अवधारणाओं और प्रत्ययों से आरोपित करना, वरन् उनके अध्ययन द्वारा चेतना पर पड़े प्रभाव को, बिम्बों और रूपाकारों द्वारा, एक ऐसा रचनात्मक एवं संवेदनात्मक सन्दर्भ देना, जो काव्य के अर्थ- सौन्दर्य को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान कर सके।(पृ.४९) इसी के साथ वीरेन्द्र जी की कुछ और पंक्तियों को उद्धृत करना प्रासंगिक होगा जो साहित्य तथा ज्ञान की बहुआयामिता के सम्बन्ध को स्पष्ट करती हैं। '.... प्रत्येक अनुशासन की यह आन्तरिक प्रवृत्ति होती है कि वह अपनी 'पूर्णता' या 'व्यापकता' के लिए अन्य ज्ञानानुशासनों की ओर उन्मुख हो।' (पृ.५०) यह आन्तरिक प्रवृत्ति ज्ञान के एक ऐसे धरातल, एक ऐसे सन्दर्भ की ओर संकेत करती है जो रचनाकार के लिए अनन्त समृद्धि तथा सृजन का स्रोत बनता है। किसी सीमा में, उपयुक्त वर्णन वीरेन्द्र जी के आलोचना दर्शन की दिशा की ओर इंगित करता है। संकलन के निबन्धों में दिक्-काल के रूपों की अनेक दूसरे सन्दर्भों में भी चर्चा हुई है, यथा इतिहास, भाषा, रहस्यवाद जैसे सन्दर्भ। इन अन्य सन्दर्भों में वे अनेक विचारोत्तेजक उद्भावनाएँ प्रस्तुत करते हैं। मेरे विचार से यदि दिक्-काल की इन भिन्न अवधारणाओं की पृथक् भूमिका को दर्शाया जाता तथा रचनाकार और आलोचक को अलग रखा जाता, तो उपर्युक्त परिदृश्य अधिक महत्त्वपूर्ण रूप प्राप्त कर सकता।

वीरेन्द्र जी द्वारा प्रतिपादित जागतिक तथा पराजागतिक दिक्-काल की अवधारणाएं 'सत्' आयामों का संकेत देती हैं। यहां वीरेन्द्र जी अपनी विशेष दृष्टि को

प्रतिपादित करना चाहते हैं। उनके विचार से इन दो प्रकारों में गहरा सम्बन्ध है, यहां तक कि वे एक दूसरे पर आश्रित है। उनकी यह धारणा एक विश्वास के रूप में ही सामने आती है, यद्यपि वह अधिक ताने-बाने तथा आधार की अपेक्षा रखती है।

दिक्-काल के अमूर्त प्रत्यय के लोभ ने वीरेन्द्र जी को दिक्-काल के एक अधिक समृद्ध तथा मूल सन्दर्भ की अवहेलना में मदद की है। प्रकृति में ऋतुओं का अनुभव तथा प्राणी जीवन की विचित्र अवस्थाएं आदि में दिक्-काल के मूर्त सन्दर्भ भावजगत् के असंख्य व्यापारों को चित्रित करने में सहायक होते हैं।

दिक्-काल आदि अवधारणाओं की भूमिका तथा अन्त: अनुशासनीय दृष्टि कुछ और उलझ जाती है, जब रचनाकार तथा आलोचक के सन्दर्भ एक दूसरे से अलग नहीं रखे जाते हैं। इस व्यामोह के कारण अन्त:अनुशासनीय प्रतिज्ञाएं तथा विज्ञान पर वीरेन्द्र जी का आग्रह उनके पाठकों को अभिप्रेत दिशा में नहीं ले जाता। वे यह नहीं कहना चाहते कि रचनाकार के लिए ज्ञान विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में तथा आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धानों के विषय में जानकारी होनी चाहिए अथवा विभिन्न अनुशासनों में निष्णात होना आवश्यक है। वे जानते हैं कि जागरूक रचनाकर का रचनाधर्म तथा कर्म उसके समय की प्रबुद्ध प्रवृत्तियों से अनायास ही प्रभावित होता है। सृजन का वैशिष्ट्य तो इस बात में है कि वह किसी प्रभाव से उतना अभिभूत नहीं होता कि वह उससे आगे न जा सके। इसके विपरीत आलोचक अपने समय की प्रबुद्ध प्रवृत्तियों से अपरिचित रह कर आलोचना कार्य का निर्वाह नहीं कर सकता। कई बार भाषा की समझ, परोक्ष संकेतों तथा प्रतीकों के संदर्भों का स्पष्टीकरण रचना की सही समझ तथा आकलन के लिए अनिवार्य शर्त बन जाते हैं। फलत, अंत:-अनुशासनीय सन्दर्भ तथा वैज्ञानिक बोध की अपेक्षाएं रचनाकार तथा आलोचक के धर्म कर्म में भिन्न भूमिकाएं रखती हैं।

अब यदि आप पृष्ठ ८ पर नये पैरे के आरम्भ पर ध्यान दें तथा आगे की कुछ पंक्तियां देखें तो आपके सामने यह बात स्पष्ट रूप से नहीं आती कि रचनाकार के संदर्भ में तथा आलोचक के संदर्भ में उपर्युक्त भिन्न भूमिकाएं क्या काम करती हैं? अन्तिम अध्याय में (पृष्ठ १४३) वीरेन्द्र जी आलोचना और सृजन में द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध का उल्लेख करते हैं। और आलोचना की बात करते करते रचनाकार की बात करने लगते हैं। यहां विचार की बात यह है कि क्या आलोचना तथा रचना एक ही प्रक्रिया के दो सोपान हैं, क्या उनका एक ही अधिष्ठान है? कुछ विलक्षण सन्दर्भों में उत्तर 'हां' होते हुए भी उन्हें अलग प्रक्रियाएं तथा उनके पृथक् अधिष्ठान को मानना ही वस्तुस्थिति के अधिक निकट होगा।

कुल मिला कर वीरेन्द्रजी के लेख विचारोत्तेजक हैं। यद्यपि कोई भी समीक्षक उनमें अनेक प्रकार की असंगतियां दिखा सकता है, फिर भी नई

दिशाएं तथा उनसे उत्प्रेरित उत्साह इन असंगतियों से अधिक विचार विमर्श का मार्ग प्रशस्त करती हैं। मेरे विचार से वीरेन्द्र जी का आलोचना-कर्म इस मांग को काफी सीमा तक पूरा करता है ।

आर-५ विश्वविद्यालय परिसर
जयपुर- ३०२ ००४.
(राजस्थान)

राजेन्द्र स्वरूप भटनागर

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

२१६. डॉ. पृथ्वी वल्लभ चन्द्राकर
२/८५३, चौबे कालोनी
रायपुर. (म. प्र.)

२१७. डॉ. जगदीश गुप्त
१८१/अे/१, नागवासुकी
इलाहाबाद-२११ ००६
(उ. प्र.)

२१८. डॉ. भक्तराम शर्मा
१३/२३६, गीता कॉलोनी
गांधी नगर,
दिल्ली - ११० ०३१

२१९. डॉ. कुमुदनाथ झा
ओझा लॉज,
महाराजा हाता
कातिरा
आरा- ८०२ ३०१
(बिहार)

२२०. डॉ. प्रमिला कुमारी
३२, एम्आईजी , चाणक्यपुरी
गया
(बिहार)

२२१. डॉ. भगवन्त सिंह
दर्शन शास्त्र विभाग
रविशंकर विश्वविद्यालय
रायपुर -४९२ ०१०
(म. प्र.)

२२२. डॉ. श्रीमती कुसुमकुमारी
प्रपाठिका, दर्शनशास्त्र
गौतमबुद्ध महिला महाविद्यालय,
गया, (बिहार)

२२३. डॉ. एस्. के. नवल
२३२, ग्रीन एवेन्यू
अमृतसर - १४३ ००१
(पंजाब)

२२४. डॉ. गायत्री शर्मा
नया हनुमान मन्दिर
नेहरू चौक
बुढ़ा पारा
रायपुर-४९२००१
(म.प्र.)

२२५. डॉ. श्रीमती उर्मिला आनन्द
म.नं.८१
आनन्दबाग कालोनी
दयाल बाग
आगरा- २८२००५
(उ.प्र.)

प्रोफेसर जी.आर्. मलकानी निबंध-प्रतियोगिता

किसी भी भारतीय शिक्षा-संस्था में अध्ययन करने वाले और २५ वर्षों से जादा उम्र न होने वाले स्नातक-पूर्व या स्नातकोत्तर छात्र-छात्राओं से प्रोफेसर जी. आर्. मलकानी निबंध प्रतियोगिता के लिये **"भारतीय सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्षता"** इस विषय पर अंग्रेजी या हिन्दी में निबन्ध आमन्त्रित किये जा रहे हैं। प्रतियोगिता के लिये स्वीकृत निबन्धों के अधिनिर्णयन के लिये नियुक्त किये गये निर्देशियों के मतानुसार प्रथम तथा द्वितीय निबन्धों को क्रमशः रुपये २००/- और रुपये १००/- के पारितोषिक दिये जायेंगे, और पारितोषिक प्राप्त निबन्ध कालान्तर से इण्डियन फिलॉसॉफिकल क्वार्टर्ली की छात्र-परिशिष्टि या परामर्श (हिन्दी) इन त्रैमासिकों में प्रकाशित किये जायेंगे। उक्त पारितोषिक के लिये पेश किये जाने वाले निबन्धों को निम्नलिखित शर्तों के अनुसार प्रस्तुत करना होगा :-

१. निबन्ध डबल स्पेस में कागज की एक बाजू पर टंकलिखित किया हुवा और दो प्रतियों में होना चाहिये।
२. निबन्ध २५०० शब्दों से जादा लम्बाई का न हो।
३. निबन्ध के साथ छात्र/छात्रा जिस संस्था में अध्ययन करता / ती हो उस संस्था/विभाग के प्रमुख / अध्यक्ष का ऐसा प्रमाणपत्र होना चाहिए कि
   अ) छात्र/छात्रा उक्त संस्था / विभाग में अध्यायन कर रहा / ही है और उसकी उम्र २५ वर्षों से जादा नहीं है।
   ब) प्रतियोगिता में प्रस्तुत निबन्ध उक्त छात्र /छात्रा ने लिखा हुआ है।
४. यह आवश्यक है कि प्रतियोगिता के लिये प्रस्तुत किये जाने वाले निबन्ध डॉ. मंगला रा. चिंचोरे जी के पास दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिण्ड, पुणे ४११००७ इस पते पर हर हालत में ३१-५-१९९२ तक पहुँच जाने चाहिये।
५. अधिनिर्णयन के लिये नियुक्त किये गये निर्देशियों का निर्णय सारे प्रतिस्पर्धियों पर बन्धन-कारक होगा और उक्त विषय में किसी भी प्रकार का पत्राचार नहीं किया जायेगा।

अध्यक्ष, दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
गणेशखिण्ड, पुणे ४११ ००७

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बडा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जाएगा। **जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें।** जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत हैं और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। **पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।**

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक प्रिण्ट आर्ट एण्टरप्रायजेस् ११२१, शिवाजीनगर, पुणें ४११ ०१६ में छपवाकर प्रकाशित किया।

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883/79

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड १३, अंक २

मार्च, १९९२ / फाल्गुन २०४८

संपादक

सुरेन्द्र बारलिंगे
आनंदप्रकाश दीक्षित

राजेन्द्र प्रसाद
मो. प्र. मराठे

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

परामर्श (हिन्दी)

* पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक पत्रिका नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)
* संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे * राजेन्द्र प्रसाद * आनन्दप्रकाश दीक्षित * मो.प्र.मराठे

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल * रमाकान्त सिनारी * विजयकुमार भारद्वाज * शारदा जैन संगमलाल पांडे * आर्.बालसुब्रमणियन् * अशोक रा.केळकर * के.जे.शहा नारायणशास्त्री द्राविड़ * के. सच्चिदानंद मूर्ति * जी.सी.नायक * ग.ना.जोशी मोहनलाल मेहता * जे.फाईस * सुमन गुप्ता * रा.स्व.भटनागर

कार्यकारी संपादक : चन्द्रकान्त बांदिवडेकर * सु.ए.भेल्के * मीना अ. केळकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्राचार के लिए संपर्क करें, संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७(महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या डिमांड ड्राफ्ट के द्वारा इस पते पर भेजा जाए :
संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने के भीतर कार्यालय में मिल जाए, तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१) संस्थाओं के लिए	रु.५०/-
(२) व्यक्तियों के लिए	रु.४०/-
(३) एक प्रति	रु.१२/-

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु.१५००/-
व्यक्तियों के लिए रु.४००/-

* राशि मनिऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट के माध्यम से ही भेजें।

आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

संपादकीय

दर्शन मनुष्य के चिंतन का परिपाक है । हर एक आदमी चिंतनशील होता है और जीवन के प्रति उसका अपना कोई रुख भी होता है । उसी को वह अपनी अभिव्यक्तियों से प्रदर्शित करता रहता है । काव्य, संगीत, चित्र, कहानी, उपन्यास, नाटक, नृत्य तथा विज्ञान आदि बहुतेरी विधाओं में उसका चिंतन प्रकट होता है । इन विधाओं में दिक्, काल तथा द्रव्य इन का अमूर्तीकरण कुछ हद तक किया हुआ होता है, हालाँकि दर्शन में वह अमूर्तीकरण पूर्णतया किया जाता है । अतः दर्शन को समझने के लिए काव्यादि दर्शनेतर विधाएँ काफी उपकारक साबित होती हैं । उन विधाओं के आधार से दर्शन को समझ लेना महत्त्वपूर्ण एवं आनंददायक होता है । इस आनंद को किसी विधि या पद्धति की मर्यादा में बाँध के जकड़ रखना वांछनीय नहीं है ।

'परामर्श' (हिंदी) पत्रिका में हम चाहते हैं कि विभिन्न तरह की अभिव्यक्तियों के माध्यम से प्रस्तुत किये हुए विचारों को प्रकट एवं प्रकाशित होने का मौका मिले । केवल मूल तथा तांत्रिक रूप से जो दर्शनशास्त्र समझा जाता है उसी तक हमारी सीमाएँ रुक न जाएँ । जहाँ तक विचार, चिंतन एवं मनन का सवाल है, निश्चित दार्शनिक विधाओं के साथ-साथ साहित्य, कला तथा अन्य विज्ञानों तक उन का परिवेश विस्तीर्ण है । उस परिवेश में प्राप्त साहित्य के प्रकाशन का पत्रिका में हार्दिक स्वागत है ।

हमारी सामाजिक परंपराएँ, सांस्कृतिक आलेख, वैज्ञानिक गतिविधियाँ इन में उभरनेवाली सांप्रतीय समस्याओं को लेकर चिंतन एवं विचार प्रस्तुत करने वाले लेखों के लिए भी हम आवाहन करते हैं ।

इस पत्रिका की परिधि हमारे संकल्प में विशाल है । लेकिन हमारे संकल्प की सिद्धि लेखकों के सहयोग पर निर्भर करती है । अतः हम चाहते हैं कि किसी एक पिटी-पिटाई राह पर चलने के बजाए जहाँ नवीनता हो ऐसे विचारों एवं शैलियों का प्राधान्य प्राप्त करने वाले साहित्य से लेखक अपना सहयोग सुदृढ करते जाएँ । हम चाहते हैं कि किसी एक समस्या को लेकर उस पर लिखित परिचर्चा भी पत्रिका में प्रकाशित हो जाए । इस की जिम्मेदारी उठाने के लिए भी हमें लेखकों से सहयोग की अपेक्षा है ।

हम आशा करते हैं कि लेखकगण अपने सहयोग से **'परामर्श' (हिंदी)** पत्रिका के इस संकल्पित उन्मुक्त एवं संपन्न रूप को मूर्त बनाने के लिए अपने लेखों से हमें लाभान्वित करके अवश्य सहयोग देते रहेंगे ।

कार्यकारी सम्पादक

मानव-मानसिकता पर आधुनिक टेक्नोलोजी का प्रभाव

(१)

मैं यह समझ नहीं पा रहा कि मैं किस प्रकार अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के सदस्यों एवं अधिकारियों को इस आदर के लिये धन्यवाद दूँ। वैसे, इन दिनों अध्यक्ष का चयन तो मताग्रह के प्रयत्न के अनुरूप ही होता है, तथा अध्यक्षीय भाषण औपचारिकता का निर्वाह मात्र बनता जा रहा है। किन्तु परिषद् के अधिकारी एवं अधिकांश सदस्यों का जिस प्रकार का स्नेह और आदर हमें मिलता रहा है, वह हमें यह सोचने को विवश करता है कि एक अस्वस्थ और इसलिये भयभीत व्यक्ति को बिना मताग्रह के प्रयत्न के अपने अधिवेशन का अध्यक्ष मनोनीत करने के पीछे हमारे मित्रों की हम से कुछ अपेक्षा तो अवश्य है– और यही सोच मेरे कार्य को और अधिक दुरूह बना देती है।

इसी मनःस्थिति में मैं यह सोचने लगा कि कुछ ही वर्ष पूर्व हम अध्यक्षीय भाषणों को संजो कर रखते थे, उनसे कुछ रचनात्मक चिन्तन का दिशा-निर्देश प्राप्त करते थे। अब क्या हो गया कि वही भाषण औपचारिकता के स्तर पर उतर आया! क्या हमारे सोचने-समझने - देखने का ढ़ंग ही परिवर्तित हो गया है? क्या हमारी मानसिकता ही बदल रही है? क्या जीवन और अस्तित्व को समझने की हमारी दृष्टि में ही कुछ आमूल परिवर्तन हो रहा है?

और मैं इसी प्रश्न में उलझ गया। सोचने लगा कि क्यों नहीं इस बदलती हुई मानसिकता पर ही विचार करूँ? वैसे, इसकी निश्चित रूपरेखा का बकाये चित्रण तो संभव नहीं है, किन्तु दार्शनिक चिन्तन इसकी कुछ विशिष्टताओं को स्पष्ट अवश्य कर सकता है।

ऐसा नहीं है कि वर्तमानकाल का नवीन दार्शनिक चिन्तन इस प्रश्न के प्रति सर्वथा उदासीन है। नहीं, इस शताब्दी के उत्तरार्ध में विचारकों ने इस बदलती हुई मानसिकता को निकट से समझने का प्रयत्न किया है, तथा इसके उपकरण एवं प्रभावों पर प्रकाश ड़ाला है। गत पन्द्रह वर्षों में तो ऐसा प्रतीत होता रहा है कि वर्तमान काल में परिवर्तन का एक सर्वथा नवीन आयाम प्रकाश में आया है। इस काल में परिवर्तन उत्पन्न करने वाले कुछ ऐसे विशिष्ट उपकरण प्रतिष्ठित हो गये हैं कि उन्हीं के प्रभाव में मानव के देखने-सोचने-समझने के ढ़ंगों में आमूल परिवर्तन हो रहा है। यह प्रभाव इतना व्यापक हो गया है कि इससे जीवन का कोई पक्ष अछूता नहीं रह पाया है। यह प्रभाव सशक्त रूप में पारिवारिक अपेक्षा, सामाजिक संबंध, राजनैतिक व्यवस्था, दार्शनिक चिन्तन तथा जीवन के हर क्षेत्र में – यहाँ तक कि मानव की आम रुचि और कार्य-प्रणाली के निर्धारण पर भी सक्रिय हो गया है।

दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस बार वैचारिक परिवर्तन के फलस्वरूप मानसिकता नहीं बदल रही है, बल्कि बदलती मानसिकता के प्रभाव में 'जीने' का ढ़ंग बदल रहा है, तथा चिन्तन को एक नया आयाम मिल रहा है– एक ऐसा आयाम जिसमें चिन्तन के समक्ष चिन्तन को त्यागने की चुनौती भी निहित है। यह एक विलक्षण वैचारिक क्रान्ति है जिसमें विचार 'विचार की उपादेयता' पर ही प्रश्न-चिन्ह लगाने को तत्पर हो गया है। विचार के इतिहास के लिये भी यह एक सर्वथा नवीन मोड़ है जो विकास के हर प्रचलित ढ़ंग से पूर्णतया भिन्न है।

(२)

'वैज्ञानिक क्रान्ति' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए टॉमस कून ने कहा है कि विज्ञान के विकास-क्रम में जब कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन आता है तो वह परिवर्तन मूल प्रतिमानों (Paradigms) का परिवर्तन होता है। इस प्रकार के परिवर्तन का अर्थ यह है कि पहले के मान्य प्रतिमान के स्थान पर एक नवीन प्रतिमान स्थापित हो जाता है, और अब व्याख्या के सभी आयाम इस नये प्रतिमान के अनुरूप रचित होते हैं। इस प्रतिमान-विचार की कड़ी आलोचनाअें भी हुई हैं। मैं भी इस विचार का पूर्ण समर्थक नहीं हूं। किन्तु इसमें निहित एक तथ्य ऐसा है जिसे भिन्न भिन्न रूपों में, भिन्न भिन्न नामों के साथ सदा मान्यता मिलती रही है। मतभेदों से ऊपर उठ कर इतना तो कहा ही जा सकता है कि हर युग की कुछ विशिष्ट वैचारिक मान्यताएँ स्थापित हो ही जाती हैं, या उस युग के ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों पर आधृत होती हैं। इन मान्यताओं में इतनी तो शक्ति आ ही जाती है कि वे उस समय की वैचारिक संस्कृति के अंश बन कर उभरती हैं और उस काल के जीवन एवं चिन्तन को स्पष्ट रूप में प्रभावित करती हैं। यह ठीक है कि यदि कोई उन मान्यताओं की स्पष्ट रूपरेखा खींचने का, उन्हें स्थापित सत्यों के समान निरूपित करने का प्रयत्न करे तो वह वैसा नहीं कर पाता। उन मान्यताओं की पूर्णतया निश्चित स्थापना करना सम्भव प्रतीत नहीं होता। कून के विरुद्ध यह एक मूल आपत्ति भी है– फिर भी उनकी इस अनिश्चयता से कोई अन्तर नहीं पड़ता; बल्कि उनके इस अनिश्चित स्वरूप और उसमें निहित उनकी प्रभाव-शक्ति में दार्शनिक चिन्तन के लिये एक नया चिन्तन-विषय उत्पन्न हो जाता है। अनिश्चयता और अस्पष्टता तो दार्शनिक चिन्तन को जन्म देती ही है; साथ साथ यह समझ कि अनिश्चयता के रहते हुए भी इन वैचारिक मान्यताओं का जीवन पर व्यापक प्रभाव है दार्शनिक चिन्तन को और अग्रसर करती है। सामान्य रूप में कहा जा सकता है कि वर्तमान युग की भी कुछ वैचारिक मान्यतायें उभर कर सामने आ गयी हैं, जो जीवन के हर पक्ष को प्रभावित कर रही हैं। इसी प्रभाव में आज की मानव-मानसिकता बदल रही है। इसे 'प्रतिमान' कहें, 'वैचारिक मान्यता' कहें, या कोई अन्य नाम दें– इतना तो स्पष्ट ही है कि जीवन को इस रूप में प्रभावित करने वाला तथा मानसिकता में मौलिक बदलाव उत्पन्न करने वाला यह उपकरण है– 'टेक्नोलोजी'।

(३)

प्रथमतः तो इस बात पर बल देना अनिवार्य है कि आज हमें यह स्वतंत्रता नहीं है कि हम इस 'टेक्नोलोजी' शब्द का अपने मनोनुकूल अर्थ-निर्धारण कर लें। आधुनिक काल में 'टेक्नोलोजी' यह शब्द एक विशिष्ट अर्थ ले कर प्रतिष्ठित हुआ है, और हमारे लिये यह एक प्रकार की बाध्यता हो गयी है कि हम इसे किसी दूसरे अर्थ में नहीं समझ सकते। सामान्यतः वैज्ञानिक सत्यों के वास्तविक प्रयोग एवं उपयोग के ढ़ंगों को 'टेक्नोलोजी' कहा जाता रहा है; परन्तु आज 'टेक्नोलोजी' विज्ञान का अनुगामी नहीं, बल्कि विज्ञान ही पूर्णतया 'टेक्नोलोजी' पर आधृत है। 'टेक्नोलोजी' भी मशीन-केन्द्रित है, किन्तु 'टेक्नोलोजी' के अन्तर्गत मशीन की मशीनियत भी नये ढ़ंग से अर्थवान् हो गयी है। औद्योगिक क्रान्ति में भी 'मशीन' ही केन्द्रीय था, किन्तु वहां मशीन मानव में अलगाव-भाव उत्पन्न करने का उपकरण बन गया था। यही सूझ मार्क्स के विचारों का प्रेरणा-स्रोत था। किन्तु टेक्नोलोजी के युग में मशीन मात्र अलगाव उत्पन्न नहीं करता, बल्कि वह तो जीवन और समाज में समा कर उसका अंग बन गया है। वह समस्त जीवन के साथ जुट गया है, और यही उसके व्यापक प्रभाव का मूल कारण है।

वैसे देखा जाय तो विचारकों ने इस प्रकार की टेक्नोलोजी के विशिष्ट लक्षणों की चर्चा की है। उनका विशद विवरण तो यहाँ संभव नहीं, किन्तु इसके कुछ ऐसे लक्षणों का उल्लेख तो करना ही है जिनका सक्रिय प्रभाव मानव-मानसिकता के बदलने पर हुआ है। मैंने एक अन्य लेख में बैकस एलल के विचारों से सहायता लेते हुए आधुनिक टेक्नोलोजी के आठ विशिष्ट लक्षणों का विवरण दिया है। वे हैं– बुद्धि-सम्मत व्यवस्था (Rationality), प्रबन्धन-सम्बन्धी संगठन (Organisation), स्वचालिता (Automation), स्ववृद्धिमूलता (Self-augmentation), स्वायत्तता (Autonomy), कृत्रिमता (Artificiality), एकवादिता (Monism), तथा सार्वभौमता (Universalism)। 'बुद्धि-सम्मत व्यवस्था' उस स्थल पर दिखायी देती है जहाँ कार्य-सम्पादन का आधार बौद्धिक श्रम-विभाजन एवं पूर्ण व्यवस्थित कार्य-प्रणाली पर टिका हो, तथा वहाँ परिणाम या उत्पाद स्थापित मानक के पूर्णतया अनुरूप हो। जिस कार्य में कोई बौद्धिक ढ़ंग या सिलसिला या व्यवस्था नहीं हो वह बुद्धि-सम्मत हो ही नहीं सकता। टेक्नोलोजी इसी अर्थ में बुद्धि-सम्पन्न कार्य निष्पादित करती है। टेक्नोलोजी का एक लक्षण स्वचालिता है। इसका अर्थ यह है कि यह एक ऐसा सुव्यवस्थित तंत्र है कि इसके हर ढ़ंग पूर्ण-गणना के अनुरूप नाप कर निर्धारित किये हुए होते हैं– वह भी इस प्रकार कि वह तंत्र स्वतः अपनी निर्दिष्ट दिशा की ओर अग्रसर होता रहता है। इस लक्षण के साथ साथ टेक्नोलोजी में स्ववृद्धिमूलकता का लक्षण जुटा है, जिससे यह सूचित होता है कि टेक्नोलोजी का तंत्र किसी बाह्य उपादान के हस्तक्षेप को नहीं स्वीकारता। यह अपना दिशा-निर्देश अपने आप करता है, और इस दृष्टि से यह पीछे लौटना नहीं जानता, बल्कि हर क्षण नयी दिशा खोज कर अपनी शक्ति से उस ओर अग्रसर होता है। टेक्नोलोजी का एक विशिष्ट लक्षण यह है कि इसमें पूर्ण स्वायत्तता होती है। टेक्नोलोजी अपना स्वामी स्वयं है,

वह किसी का अनुगामी या अनुचर या दास नहीं बन सकता– यहाँ तक कि वांछित परिणाम भी टेक्नोलोजी का स्वरूप निर्धारित नहीं करते, क्योंकि टेक्नोलोजी की गति इसी मान्यता पर आधृत है कि यदि इसका संथारा हुआ तंत्र पूर्णतया सुव्यवस्थित हो तो वांछित परिणाम प्राप्त होंगे ही। यदि कभी यह वांछित परिणाम को नहीं पा पाता, तो यह टेक्नोलोजी की असफलता का सूचक नहीं है, बल्कि इसका मात्र इतना ही अर्थ है कि उस तंत्र की व्यवस्था-प्रणाली का पुनः निरीक्षण आवश्यक हो गया है, जिससे कि उसमें समुचित परिवर्तन किया जा सके। 'कृत्रिमता' को जब टेक्नोलोजी का लक्षण बताया जाता है तो इस शब्द का एक विशिष्ट अर्थ स्पष्ट होता है। यह प्रकृति में मशीनीय उपयोगिता के उपकरणों को पहचानने की प्रवृत्ती है। उदाहरणतः, टेक्नोलोजी के लिये विस्तृत पर्वत-शृंखला सौन्दर्यानुभूति का विषय नहीं, बल्कि उसमें थल-मार्ग या रेल-मार्ग निकाल सकने की या इसी प्रकार के किसी अन्य प्रयोजन की पहचान-शक्ति मात्र है। इसे 'कृत्रिमता' इस कारण कहा गया है कि यह प्रकृति - अनुरूपता नहीं है, बल्कि प्रकृति में प्राकृतिकता से भिन्न मानवजनित बाह्य उपादानों को बिठाने की चेष्टा है। वर्तमान काल में टेक्नोलोजी जिस रूप में कार्यरत है, उसमें ऊपर बाताये सभी लक्षण स्पष्ट रूप में विद्यमान हैं। इनके अतिरिक्त जिस सबल ढ़ंग से यह जीवन तथा समाज पर छाया जा रहा है, उसके आधार पर इसके दो अन्य लक्षण भी स्पष्ट हो गये हैं– जिन्हें 'एकवादिता' तथा 'सार्वभौमता' कहा जा रहा है। 'एकवादिता' से यह तथ्य सूचित होता है कि जहाँ टेक्नोलोजी का प्रभाव पड़ता है वहाँ अन्य सभी प्रभाव शिथिल पड़ जाते हैं। टेक्नोलोजी का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं हो सकता। जहाँ यह प्रवेश करती है वहाँ शनैः शनैः इसकी एकछत्रता स्थापित हो जाती है। यदि इसके विरुद्ध आवाज उठती भी है, तो उस आवाज में ही एक निर्बलता एवं प्रतिरक्षात्मकता का भास प्रतीत होता है, क्योंकि टेक्नोलोजी का विरोध बुद्धि-सम्मत नहीं प्रतीत होता। 'सार्वभौमता' यह इसका लक्षण इसकी व्यापकता का सूचक है। इससे यह सूचित होता है कि जीवन के हर क्षेत्र में– दैनिक क्रियाओं से हो कर बड़े-बड़े कार्यनिष्पादन में– टेक्नोलोजी का उपयोग अनिवार्य होता जा रहा है।

अतः आज की टेक्नोलोजी को समझने के सभी प्रचलित ढ़ंग अपूर्ण सिद्ध हो गये हैं। यह अब मात्र मशीनी जीवन नहीं है, यह मशीनों तथा अन्य उपकरणों के माध्यम से किसी वांछित लक्ष्य की प्राप्ति मात्र नहीं है। यह मात्र 'यान्त्रिक कुशलता' नहीं है। टेक्नोलोजी यह सब है, इसके साथ साथ इसमें एक ऐसी विलक्षणता उभर आयी है कि यह वर्तमान आधुनिक जीवन के आधार के रूप में उभर रही है। प्रतीत होता है कि टेक्नोलोजी पूर्ण जीवन है– इसके बिना मानव ही अपूर्ण एवं अधूरा प्रतीत होता है।

(४)

इस प्रकार की टेक्नोलोजी का मानव-मानसिकता पर गहरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। उस प्रभाव का पूर्णतया निश्चित निर्देश तो सम्भव नहीं, मानव-मानसिकता के स्वरूप का

ही निश्चित निर्देश संभव नहीं, किन्तु उस प्रभाव का चित्रांकन तो संभव है ही– उसके कुछ परिलक्षित रूपों पर प्रकाश तो ड़ाला ही जा सकता है– और यही इस भाषण-लेख का उद्देश्य भी है।

वैसे देखा जाय तो 'मानव-मानसिकता' के सम्बन्ध में यह विभिन्न रूपों में माना जाता है कि इसके तीन पक्ष होते हैं– इसका वैचारिक तथा ज्ञानात्मक पक्ष, इसका भावनात्मक पक्ष तथा इसका क्रियात्मक पक्ष। मानसिकता के रूप लेने में व्यक्ति की वैचारिक मान्यताओं तथा उसके विशिष्ट एवं सामान्य ज्ञान का योगदान तो रहता ही है। उसी प्रकार मानसिकता के हर संगठित रूप का एक प्रबल पक्ष उसकी भावनात्मकता होती है, तथा यही मानसिकता किसी न किसी रूप में हर प्रकार की क्रियात्मकता का प्रेरक है। इस सर्वमान्य तथ्य के अतिरिक्त यह भी प्रायः माना ही जाता है कि मानसिकता की प्रतिक्रिया में इसके विभिन्न पक्षों के द्वारा खण्डित रूप में नहीं होती, बल्कि, इसके विपरीत, हर प्रतिक्रिया में ये तीनों पक्ष क्रियाशील रहते हैं– भले ही किसी उदाहरण में प्रबलता किसी एक पक्ष की हो तथा दूसरे उदाहरण में किसी दूसरे पक्ष की। जिस पक्ष की प्रमुखता रहती है उसी के अनुरूप इन प्रतिक्रियाओं को ज्ञानात्मक या भावनात्मक या क्रियात्मक कहा जाता है। किन्तु यह तो है ही कि मानसिकता की प्रतिक्रियायें व्यक्ति की संपूर्णता की होती है, जिसमें व्यक्तित्व का हर पक्ष किसी न किसी रूप में क्रियाशील हो ही पाता है। इन सभी विशिष्टताओं के अतिरिक्त मानसिकता के निरूपण एवं विकास में एक अन्य विशिष्ट उपकरण का भी महत्त्व है। व्यक्ति का उस 'जगत्' से, जिसमें यह स्थित होता है, एक विशिष्ट सम्बन्ध हो जाता है। उस जगत् में भिन्न भिन्न प्रकार के 'वस्तुतत्त्व' भी हैं तथा 'अन्य' भी हैं– जगत् के पदार्थ भी हैं और समाज के सदस्य भी हैं। व्यक्ति जिन रूपों में इनसे– जगत् के वस्तुतत्त्वों तथा अन्य व्यक्तियों से– सम्बन्धित होता है उनका उसकी मानसिकता के गठन में योगदान है। हर व्यक्ति की मानसिकता उसके जगत् तथा अन्य के सम्बन्धों के अनुकूल ही संरचित तथा विकसित होती है।

इस प्रकार हमने मानव-मानसिकता के पाँच प्रमुख विशिष्टताओं का उल्लेख किया। मानसिकता की संरचना, उसके संगठन एवं विकास में इन पाँचों का हाथ रहता ही है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आज जो मानव-मानसिकता में बदलाव दिखाई दे रहा है उसका एक प्रमुख कारण यही है कि आधुनिक टेक्नोलोजी मानसिकता की इन पाँचों वृत्तियों को साक्षात् ढ़ंग से प्रभावित कर रही है। हमारी वैचारिकता, हमारा भावनात्मक जीवन, क्रियाशीलता के हमारे ढ़ंग, हमारा संपूर्ण व्यक्तित्व तथा जगत्, तथा अन्य व्यक्तियों के साथ हमारे सम्बन्ध– ये सभी टेक्नोलोजी के प्रभाव में नये रूपों में उभर रहे हैं। फलतः हमें प्रतीत होता है कि हमारी मानसिकता पहले की मानसिकता न ही हो, आज का मानव शायद एक सर्वथा नवीन मानसिकता लेकर खड़ा हो रहा है। इसे पूर्णतया स्पष्ट करने के लिए हम इन पाँचों पर टेक्नोलोजी के प्रभाव की अलग अलग विवेचना करें।

(५)

पहले हम यह देखें कि किस प्रकार टेक्नोलोजी का प्रभाव हमारी मानसिकता के वैचारिक पक्ष पर पड़ता है। टेक्नोलोजी का एक ढ़ंग तो यह है कि वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए बहुत सोचने-विचारने का अवसर ही नहीं छोड़ती। वस्तुतः विचार का प्रारंभ किसी समस्या की समस्यात्मकता की पहचान में होता है। जब कोई ऐसी स्थिति प्रस्तुत हो जाती है जिसके साथ हमारी प्रतिक्रिया के सामान्य ढ़ंग जूझ नहीं पाते तो वही 'समस्या' बन जाती है, तथा उसी स्थिति में विचार का जन्म होता है। किन्तु अब तो टेक्नोलोजी धीरे धीरे हमारी सभी समस्याओं को सुलझाने का भार लेती जा रही है। हर प्रकार के कम्प्यूटर हमारे लिये विचार कर लेते हैं- और वह भी समय का अपव्यय किये बिना। सामान्य जीवन की आवश्यकताओं के लिए भी हमें विचार करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जन-सम्पर्क-माध्यमों के विभिन्न ढ़ंगों के द्वारा टेक्नोलोजी हमारी अभिरुचि भी निरूपित करती है तथा यह तय भी कर देती है कि हमारी आवश्यकता किस प्रकार से पूरी होगी।

विचार की आवश्यकता उस समय भी उत्पन्न होती है जब व्यक्ति को चुनाव करने का अवसर मिलता है। टेक्नोलोजी विचित्र रूप में व्यक्ति के चयन-विधि को भी सीमित कर देती है। सुखसुविधा तथा आवश्यकता के सभी उपकरण इस सुगमता से व्यक्ति के निकट पहुँच जाते हैं कि इनके लिए भी किसी मानसिक श्रम की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। साथ साथ टेक्नोलोजी हर प्रकार की आवश्यकता के लिए व्यक्ति के समक्ष असंख्य विकल्प प्रस्तुत कर देती है। इस असंख्यता से व्यक्ति विभ्रान्ति की अवस्था में उलझ जाता है। भ्रान्त व्यक्ति की विचार-शक्ति अशक्त होने लगती है। फलतः वह अपने को इनमें से कुछ ऐसे विकल्पों तक सीमित कर लेता है जिससे उसकी आवश्यकतायें यन्त्रवत् पूरी होती जाय और उसे सोचना न पड़े।

व्यक्ति विचार तब करता है जब वह आश्वस्त रहता है कि उसके पहल करने से उसके उपक्रम को मान्यता मिलेगी। किन्तु टेक्नोलोजी के युग में वैयक्तिक पहल का कोई महत्त्व नहीं। टेक्नोलोजी एक ऐसा सुव्यवस्थित तंत्र है जिसका हर अंग पूर्व-व्यवस्था के अनुरूप संगठित रूप में कार्य करता है। यहाँ 'टीम' का महत्त्व है, संगठित व्यवस्था का महत्त्व है; व्यक्ति का कार्य मात्र यही है कि वह सही उद्दीपन पर सही समय में सही बटन दबा सके। अंतरिक्षयात्रियों के प्रशिक्षण में उनके वैयक्तिक पहल की प्रवृत्तियों को प्रायः कुचल ही दिया जाता है। कुछ कम मात्रा में उसी प्रकार का प्रशिक्षण वायुयान के पायलटों के लिये उपयोग में लाया जाता है। तो जब मशीन-मार्जित व्यवस्थित तंत्र इस रूप में वैयक्तिक पहल को अनावश्यक बना सकता है, तो उस के प्रभाव में शनैः शनैः मशीनी जीवन जीने वाले व्यक्ति के लिए विचार की आवश्यकता ही समाप्त हो जाती है।

इसके परिणामस्वरूप विचार को अपने में एक मूल्य समझने की प्रवृत्ति कम होने लगती है। जब हम बिना विचार किये वह सब सुगमता से प्राप्त कर लेते हैं जिसे प्राप्त करने के लिये पहले लोगों को सतत विचार करना पड़ता था, तब विचार की सार्थकता ही समाप्त हो जाती है। अब मानव-मानसिकता में यह बात घर करने लगती है कि विचार को महत्त्व देना कोई मूल्य या आदर्श नहीं है। वैचारिकता मशीनी यन्त्रवत्तता में धीरे-धीरे अपने को खोने लगती है।

(६)

'टेक्नोलोजी' का इस प्रकार का प्रभाव तो भावनात्मक जीवन पर और प्रबल रूप में पड़ता है। कहा जाता है कि टेक्नोलोजी जहाँ प्रवेश करती है वहाँ की पहले से स्थापित व्यवस्था को उलट-पुलट कर देती है। यह वैयक्तिक जीवन, पारिवारिक बन्धन, आत्मीयता के सम्बन्ध आदि सभी को प्रभावित करती है। जब वैयक्तिक जीवन यन्त्रवत् लेकिन सुविधा-पूर्ण ढंग से व्यतीत होने लगता है, तो उसका हृदय शुष्क होने लगता है। श्रम से प्राप्त वस्तुओं के प्रति एक अपनेपन की भावना जागती है। बिना श्रम यन्त्रवत् रूप में उपलब्ध वस्तुओं के प्रति भावनात्मक शून्यता का भाव होना स्वाभाविक है।

उसी प्रकार टेक्नोलोजी पारिवारिक बन्धनों तथा आत्मीयता के सम्बन्धों से भी व्यक्ति को मुक्त करती जाती है। एक उदाहरण के द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट किया जा सकता है। अभी तक भारत में पारिवारिक बन्धन एवं आत्मीयता के सम्बन्धों के बने रहने का एक कारण 'रोग-व्याधि' है। हम युग्नावस्था में पूर्णतया अपने पर निर्भर रहते हैं। लेकिन वृद्धावस्था तथा रुग्णावस्था के लिए बच्चों को परिवार के सदस्यों का सहारा माना जाता है। यह अनुभूति हमें एक सूत्र में बांधे रहती है। भारत में जो अकेले हैं उन्हें यह बात कम अत्यधिकता से खटकती है। किन्तु टेक्नोलोजी की दृष्टि से विकसित देशों में यह बन्धन उतना सुदृढ नहीं है, क्योंकि इसे सुदृढ बनाये रखने का एक सबल आधार वहाँ नहीं है। वहाँ हर व्यक्ति को स्वास्थ्य-सेवा पूर्णतया उपलब्ध है। इस उपलब्धता का आधार सरकारी व्यवस्था तो है ही, किन्तु सरकारी व्यवस्था भी सफल इसी कारण है कि टेक्नोलोजी ने उपकरणों को इस प्रकार से उपलब्ध करा दिया है कि एक ही स्थान में एक साथ सैकड़ों व्यक्तियों को हर प्रकार की स्वास्थ्य-सेवा दी जा सकती है। फलतः वैसे देशों में रोग-व्याधि परिवार की या मित्रों की समस्या ही नहीं रह गयी है। रोगी पति से पत्नि भी मात्र कुछ घण्टों के लिये मिल पाती है। इस प्रकार पारस्परिक संबंधों की उष्णता जीवित रखने का एक उपकरण लुप्त होता जा रहा है। भारत में अभी तक वैसा नहीं है, किन्तु यहाँ भी टेक्नोलोजी के बढ़ते प्रभाव में जैसे-जैसे, जहाँ-जहाँ बीमारी में पारिवारिक निर्भरता कम होती जा रही है, वैसे-वैसे वहाँ भी आत्मीयता को सहेजे रखने का एक आधार ढीला पड़ता जा रहा है।

इस प्रकार के भावनात्मक परिवर्तन का एक कारण और भी है। यह तो स्पष्ट ही है कि टेक्नोलोजी से निरूपित जीवन में यन्त्रवत्तता बढ़ती जाती है। मशीनी जीवन जीने वाला मानव भी अन्दर से मशीनी बनने लगता है। और मशीनों में 'भावना' नहीं होती, बल्कि उनकी मशीनियत की एक पहचान भावना-शून्यता ही है। तो, मशीनी जीवन जीने वाला मानव धीरे धीरे भावनात्मकता को त्यागते हुए वैसे ही गुणों को महत्त्व देने लगता है जो मशीनी क्रियात्मकता के साथ जुड़े हैं। अतः मानवीय सहृदंयता के स्थान पर मशीनी गुणों को प्रधानता दी जाती है, जैसे, समयनिष्ठता, नियमितता, अनवरतता, यथातथ्यता, निश्चयता, क्रमानुसारता, सुव्यवस्थित अनवरुद्ध क्रियाशीलता, मानव-अनुरूपता आदि। जिस समाज पर टेक्नोलोजी का जितना अधिक प्रभाव पड़ा है, उसमें उतनी ही अधिक इन गुणों को मान्यता मिलती रही है, तथा इस प्रभाव में मानवीय भावनात्मकता में पनपे गुण उपेक्षित हो जाते हैं। यही कारण है कि टेक्नोलोजी की दृष्टि से विकसित देशों में पारिवारिक सम्बन्ध तथा आत्मीयता के बन्धन शिथिल पड़ते जा रहे हैं।

(७)

वैचारिकता तथा भावनात्मकता के महत्त्व के कम होने का एक अर्थ तो यह है कि टेक्नोलोजी के प्रभाव में क्रियाशीलता का महत्त्व बढ़ जाए। किन्तु यहां ध्यान इस बात पर देना है कि टेक्नोलोजी क्रियाशीलता पर एक विशिष्ट रूप में ही बल देती है। ऐसा नहीं है कि टेक्नोलोजी के प्रभाव में वैयक्तिक कर्मठता को प्रोत्साहन मिलता हो। इसके विपरीत, जिस प्रकार की क्रियाशीलता पर टेक्नोलोजी बल देती है, उसकी अपनी कुछ विशिष्टतायें हैं जो सामान्य वैयक्तिक कर्मठता से सर्वथा भिन्न हैं।

टेक्नोलोजी वैयक्तिक पहल पर बल ही नहीं देती। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसे एक टीम, एक दल चलाता है। यहां 'टीम-भावना' का भी प्रश्न नहीं है, क्योंकि दल के अधिकांश सदस्यों को न तो अन्य सदस्यों की जानकारी रहती है, और न यह भी जानकारी रहती है कि उनके द्वारा किये कार्यों का अन्ततः क्या उपयोग है। प्रत्येक सदस्य तो मशीन के एक अवयव के समान अपना कार्य यन्त्रवत् करता जाता है, और तंत्र अपनी आन्तरिक व्यवस्था के अनुरूप परिणाम देता जाता है। अतः इस क्रियात्मकता में व्यक्ति की कार्यकुशलता महत्त्वपूर्ण नहीं होती; वैयक्तिक कार्यकुशलता तो टेक्नोलोजी की व्यवस्था से संगत ही नहीं है। यहां क्रियात्मकता का अर्थ है कि व्यक्ति अपनी क्रियात्मकता को मशीनी व्यवस्था का सुव्यवस्थित अंश बना दे।

इस तंत्र की क्रियात्मकता का निर्धारक परिणाम या उत्पाद का लक्ष्य भी नहीं है। इसके पहले ही टेक्नोलोजी की स्वायत्तता एवं स्वचालिता के लक्षणों का उल्लेख हुआ है। उन्हें ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि टेक्नोलोजी की क्रियात्मकता का आधार यह मान्यता है कि

यदि यंत्र पूर्णतया व्यवस्थित है तो परिणाम प्राप्त होंगे ही। यदि परिणाम न ही मिलते तो इसका मात्र इतना ही अर्थ है कि व्यवस्था का पुनर्निरीक्षण हो। अतः आज की क्रियाशीलता में प्रयोजनों या लक्ष्यों का स्थान भी गौण रहता है; उसके स्थान पर महत्त्व बढ़ जाता है प्रणाली का, पद्धति का, व्यवस्था के ढंग तथा विधि का। टेक्नोलोजी क्षमता को महत्त्व तो देती है, किन्तु दक्षता की पहचान का केन्द्र व्यवस्था ही है, व्यक्ति नहीं। कार्य-कुशलता व्यवस्था में रहती है, व्यक्ति उसका आधार नहीं। यदि व्यक्ति अपने निर्धारित कार्य में उस व्यवस्था पर आधृत दक्षता का निर्वाह नहीं करता तो उसे भी मशीनी अवयवों के समान निकाल कर फेंका जायगा।

दार्शनिक भाषा में कहा जा सकता है कि टेक्नोलोजी के तंत्र में साधन और साध्य का भेद प्रायः समाप्त हो जाता है। सामान्यतः यह माना जाता है कि साधन उपकरण के स्तर पर है, तथा साध्य लक्ष्य है जो साधन के उपकरण के रूप में प्रयोग करने से प्राप्त हो जाता है। किन्तु जब टेक्नोलोजी की क्रियात्मकता इस आधार पर कार्यरत है कि व्यवस्था के सही रहने पर लक्ष्य-प्राप्ति होगी ही तो साध्य या लक्ष्य का स्थान गौण हो जाता है। कहा जाता है कि आज की टेक्नोलोजी आवृत्त क्रियात्मकता की प्रेरक है- मैं कर सकता हूं इसलिये मुझे करना है। मैं चांद पर जा सकता हूँ इसलिये मुझे चांद पर जाना है, मैं अणु-विस्फोट कर सकता हूँ इसलिये मुझे वैसा करना है। स्पष्ट है, यहां चांद पर जाना महत्त्वपूर्ण नहीं, जा पाने की शक्ति की अभिव्यक्ति महत्त्वपूर्ण है। अणु-विस्फोट का लक्ष्य यदि केन्द्रीय होता तो उसके सभी परिणामों पर भी ध्यान दिया जाता। किन्तु यहाँ तो विवशता इस बात की है कि अपनी व्यवस्था की शक्ति का निर्देश ही तो करना है।

स्पष्ट है कि इस प्रकार की क्रियात्मकता मानव की मूल्यव्यवस्था तथा सामाजिक मानसिकता को एक नये ढंग से प्रभावित करती है। इस प्रभाव में साधन-मूल्य तथा आन्तरिक मूल्य में भेद करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि कोई मूल्य अपने में मूल्य नहीं रह जाता। और जब कोई मूल्य स्वतः मूल्य नहीं रह जाता तो मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता का भी प्रश्न नहीं उठता। अब तो मूल्यों की पहचान में भी एक तदर्थता आ जायगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस प्रकार की भावना-शून्य क्रियात्मकता के प्रभाव में मानव की मानसिकता का मूल्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण भी परिवर्तित हो जाता है।

(८)

इस प्रकार टेक्नोलोजी के प्रभाव में वैयक्तिकता का महत्त्व ही कम होता चला है, और तब यह भी स्पष्ट है कि उस अनुभूति में व्यक्ति की प्रतिक्रियायें भी उसकी संपूर्णता की प्रतिक्रियायें नहीं हो पातीं। इस प्रभाव में व्यक्ति की प्रतिक्रियायें खण्डित रूप में ही व्यक्त होती हैं। मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता तथा भावनात्मकता व्यक्ति की संपूर्णता को बनाये रखने में सहायक होती हैं। इनका अभाव तथा इसके साथ टेक्नोलोजी के द्वारा व्यक्ति की दैनिक

आवश्यकताओं की सहज रूप में आपूर्ति व्यक्ति की प्रतिक्रियाओं में भी एक प्रकार की तदर्थता उत्पन्न करती है।

प्रतिक्रियाओं की ऐसी तदर्थता में व्यक्ति के आंतरिक संगठन का तनाव ही व्यक्त होता है। प्रतिक्रियायें संगठित व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति तभी होती हैं जब उनमें एक प्रकार की समरूपता हो-- जब उनकी कुछ निश्चित पहचान उभरे। किन्तु टेक्नोलोजी सभी स्थापित मूल्यों को असंतुलित कर उपयोगी इष्टसिद्धि को जीवन का उद्देश्य बना देती है, और वह भी इस प्रकार कि इष्ट लक्ष्य का निर्धारण-निरूपण व्यक्ति नहीं करता, टेक्नोलोजी ही करती है। फलतः उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया भी समरूप नहीं रहती, असंतुलित ही हो जाती है।

इस बात की यथार्थता का एक स्पष्ट प्रमाण यह है कि आज के आधुनिक जीवन जीने वाले व्यक्तियों में उनके क्रिया-व्यवहारों में इस समरूपता के अभाव तथा असंतुलन के फलस्वरूप उत्पन्न हुए कुछ लक्षण स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। आन्तरिक सम्पूर्णता के विच्छिन्न हो जाने के फलस्वरूप ही आज का मानव अपने को विक्षिप्त व्यक्ति के समान हर समय व्यस्त रखता है, फुरसत या अवकाश से उसे घबराहट होती है। उसमें मेधा तथा गाम्भीर्य की कमी दिखायी देती है। वह अतिशीघ्र उत्तेजित हो जाता है, अकारण चिड़चिड़ापन उसका स्वभाव बनता जाता है।

इस प्रकार का जीवन जीते जीते मानव का अभिरुचि-क्षेत्र भी एक घेरे तक सीमित हो जाता है।

टेक्नोलोजी उसके समक्ष असंख्य विकल्पों को प्रस्तुत अवश्य करती है, किन्तु उनकी असंख्यता से व्यक्ति भ्रान्त हो जाता है। उसका प्राथमिक झुकाव तो उन विकल्पों के प्रति होता है जो तात्कालिक फैशन के अनुरूप हों। किन्तु वे भी बहुत देर तक उसकी अभिरुचि को बांध कर नहीं रख पाते। बहुत शीघ्र वह उनसे भी ऊब जाता है। इस 'ऊब' को कुछ विचारकों ने बड़ा व्यापक बना दिया है। किन्तु यह ऊब भी मानसिकता की विक्षिप्त अवस्था की एक अभिव्यक्ति है। वस्तुतः यह एक विचित्र मानसिक थकान है-विचित्र इस कारण कि यहाँ विचार विचार-रत हो कर नहीं 'थका' है, बौद्धिक विचार की रिक्तता तथा आन्तरिक भावनात्मक तनाव इस थकान के जनक हैं। यही कारण है कि वह अपने को व्यस्त रखता है, किसी क्षेत्र में या किसी कार्य में बहुत काल तक बंधा नहीं रहता। वह सदा 'कुछ नये' की खोज में रहता है, और जिस नये का प्रारंभ करता है उससे भी बहुत शीघ्र ऊब जाता है।

वैयक्तिक सम्पूर्णता में इस प्रकार से दरार पड़ जाने के कारण व्यक्ति की मानसिकता में एक 'भूख' जागती है-- एक ऐसी 'भूख' जिसे वह समझ नहीं पाता, किन्तु जिसे समझने के लिये व्याकुल रहता है। इसे 'जीवन की अर्थवत्ता की भूख' कह सकते हैं। यह 'जीवन के अर्थ' की खोज नहीं है। उस खोज में तो वैयक्तिक पहल प्रधान रहती ही है, उसकी एक सामान्य

(या असामान्य भी) समझ भी रहती है। किन्तु आधुनिक मानसिकता में एक 'अंजान' भूख है, जिसे व्यक्ति किसी रूप में निरूपित नहीं कर पाता। इसी अर्थवत्ता की भूख की अभिव्यक्ति है आज के युवावर्ग की उत्तेजनशीलता तथा उनके विक्षिप्त ढंग। अर्ववत्ता की भूख इन्हें भ्रान्त बनाये रखती है। सुख-सुविधा तथा सम्पन्नता के सभी साधन उपलब्ध रहते हुए भी उसे प्रतीत होता है कि कहीं कुछ कमी है -- कि यह सब जीवन नहीं। इसी तड़प में कुछ युवकों में स्वत्व-सूचक प्रवृत्ति जन्म ले लेती है। उनके ज्ञान का क्षेत्र तो सीमित रहता है, किन्तु स्वत्व पर बल देने में शायद उन्हें कुछ सार्थकता का भास होता है, और वे अधूरी जानकारी पर भी वाद-विवाद में उलझना अपना ढंग बना लेते हैं। इस प्रकार की छद्म-प्रज्ञावादिता आज के युवा-वर्ग में स्पष्ट दिखायी देती है। उसी प्रकार टेक्नोलोजी पर आश्रित जीवन को अर्थहीन समझने के कारण वे इस प्रकार के जीवन से भागने का उपक्रम करते हैं। घर-परिवार के प्रति उदासीनता, मादक-द्रव्य-व्यसनता आदि इसी प्रवृत्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। अमेरिकन हिप्पीवाद भी अपने से भाग कर अपने को ढूँढ़ने की प्रवृत्ति का ही व्यक्त-रूप है, और इस प्रकार का विक्षिप्त व्यवहार भी 'अर्थवत्ता की भूख' की ही अभिव्यक्ति है। इस प्रकार टेक्नोलोजी के ढंग मानव की सम्पूर्णता पर आघात कर उसकी मानसिकता भी असंतुलित तथा खण्डित कर देते हैं।

(९)

अब केवल एक प्रभावी लक्षण की विवेचना शेष है। वैसे व्यक्ति की मानसिकता के विकसित होने का एक ढंग है। व्यक्ति जिस रूप में अपने तथा जगत् एवं अन्य के संबंधों को अनुभूत करता है, उन्हीं के अनुरूप उसकी मानसिकता विकसित होती है। टेक्नोलोजी व्यक्ति की मानसिकता के इस मूल रूप को भी प्रभावित करती है।

इस प्रकार की अनुभूति का एक स्पष्ट विवरण अस्तित्ववादी दर्शन में मिलता है। उस विवरण की विविधता एवं विशदता में प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं। उसके एक मूल पक्ष को ध्यान में रखते हुए टेक्नोलोजी के प्रभाव का स्पष्टीकरण किया जा सकता है। अस्तित्ववादी विश्लेषण के अनुसार व्यक्ति के लिये जगत् एक अनन्त सम्भावना-क्षेत्र है। वह जगत् की हर वस्तु में अपना कोई अर्थ, प्रयोजन आदि रख सकता है। वस्तुतः जगत् की हर वस्तु व्यक्ति के लिये उसी रूप में प्रासंगिक है जिस रूप में व्यक्ति ने उसे अपना कोई अर्थ दिया है। इस दृष्टि से वस्तु का वस्तु-रूप सदा निषेधित होता रहता है, और यही निषेधता व्यक्ति और वस्तु की भिन्नता की पहचान है। 'अन्य' की अनुभूति व्यक्ति की उन्मुक्तता पर एक बन्धन है, तथा उसकी प्रतिक्रियायें इस बन्धन से परे जाने के उपक्रम हैं। इस दृष्टि से व्यक्ति की मानसिकता की कुछ सीमायें अन्य की उपस्थिति की अनुभूति के द्वारा ही निर्धारित होती हैं। यहां ध्यातव्य यह है कि मानसिकता के इस प्रकार के विकास का केन्द्र व्यक्ति स्वयं है।

टेक्नोलोजी का आक्रमण या आघात इसी केंद्र पर है। व्यक्ति को मशीनी बना कर वह उसके आन्तरिक उपक्रम में प्रविष्ट हो कर व्यक्ति के वैयक्तिक पहल को ही शिथिल कर देती है, और उसकी मानसिकता के विकास का आधार अपने उपकरणों को बना देती है। इस प्रकार का जीवन व्यक्ति के लिये सुविधाजनक अवश्य हो जाता है, और इसी कारण व्यक्ति इसके आकर्षण या मोह से ग्रस्त हो जाता है। अस्तित्ववादी भाषा में यह अप्रामाणिक जीवन है। किंतु टेक्नोलोजी के लिये प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का भेद कोई अर्थ नहीं रखता। वह तो टेक्नोलोजी के व्यापक प्रभाव को स्थापित करने के लिये सतत प्रयत्नशील है।

इसमें रोचक तथ्य तो यह है कि इसके बावजूद भी वैयक्तिकता तो मरती नहीं, अकर्मण्य हो जाती है, सो जाती है। किंतु कभी कभी तो वह मुखरित भी हो जाती है। तो प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता के इस तनाव में व्यक्ति की मानसिकता रूप लेती है। वैसे देखा जाय तो इन दिनों टेक्नोलोजी ने अप्रामाणिक जीवन को इतना सुविधाजनक बना दिया है कि मानव-जीवन उसी रूप में अधिक ढ़ला हुआ है। किन्तु इतना तो है ही कि प्रामाणिकता की सम्भावना मनुष्य को पूर्णतया मशीनी ढ़ाँचे में ढ़लने नहीं देती। इसका परिणाम यह होता है कि एक ओर तो टेक्नोलोजी के प्रभाव में मानसिकता का सामान्य झुकाव उपयोगतंत्रवादी प्रवृत्तियों की ओर हो ही जाता है, तो दूसरी ओर कभी कभी उसे इस प्रकार के जीवन में एक भार, एक बोझ प्रतीत होता है-- उसे कभी कभी प्रतीत होता है कि इस प्रकार का जीवन उसका स्वाभाविक मानवीय जीवन नहीं है, वह 'ओढ़ा' हुआ जीवन है, 'लादा' गया जीवन है।

यही तो उसके आज के जीवन का यथार्थ चित्रांकन है। मशीनी जीवन जीते जीते उसमें पूर्वमान्य आदर्शों के प्रति--जैसे, ज्ञान, बुद्धिमत्ता, सत्य-शिव-सुन्दर के प्रति उसका समर्पण आदि--उसका आकर्षण शिथिल हो जाता है, और उसके स्थान पर उसमें स्व-केंद्रित गुणों--जैसे, भौतिक सम्पन्नता, सामाजिक प्रभुत्व, सत्ताधिकार, राजनैतिक शक्ति से जनित सम्मान आदि--के प्रति सम्मोहन बढ़ जाता है। फलतः पूर्व-स्थापित मूल्यों एवं मान्यताओं के प्रति वह क्रमशः उदासीन होता जाता है और अपने में ही सिमटता जाता है।

विचित्र बात तो यह है कि अपने में सिमटने में उसकी वैयक्तिकता पुष्ट नहीं हो रही है, क्योंकि उसका यह सिमटना उसके टेक्नोलोजी के द्वारा अभिप्रेरित है, उसी से उत्पन्न है। फलतः वह अपने में सिमटता हुआ भी अपने से दूर है। इस सिमटने में एक यन्त्रवत्तता है, एक अवैयक्तिकता है। इसी से वह इस प्रकार के सिमटने को पूर्णतया भोग भी नहीं पाता-- 'भोगने' की उसकी शक्ति ही शिथिल हो गयी है। उदाहरणातः, अपने कार्यों में वह स्वतंत्र है, उन्मुक्त है। किन्तु इस उन्मुक्तता का एहसास उसे नहीं होता। उसकी उत्सुकता जागती है, किन्तु उसकी उत्सुकता में ठहराव नहीं है। वह पहल करना नहीं चाहता, क्योंकि 'मानक' के अनुरूप जीना अधिक सहल है। ऐसे 'मानक-जीवन' के संबंध में हर प्रकार की जानकारी टेक्नोलोजी के जन-सम्पर्क-माध्यम (जैसे, टेलिवीजन, रेडिओ आदि) बच्चों तक भी बहुत ही शीघ्र पहुंचा देते

हैं। बच्चे अपनी परंपरा, मूल्यों, मान्यताओं को जानने से बहुत पहले आधुनिकता तथा उपयोगतंत्रवादी जीवन के ढंगों को जान लेते हैं, तथा हर दिन उनके विषय में कुछ नयी जानकारी पाते हैं। फलतः उनकी मानसिकता उन नये क्षेत्रों के प्रति उत्सुक हो जाती है और उसी शीघ्रता से उनकी उत्सुकता एवं अभिरुचि में भी परिवर्तन होता जाता है। जो उसे उपलब्ध हो जाता है उससे वह शीघ्र ही ऊब जाता है तथा कुछ 'नये' के प्रति आकर्षित हो जाता है। इसका परिणाम यह हो जाता है कि उसकी अभिरुचि-क्षेत्र का यह भटकाव, यह विचलन उसकी मानसिकता का स्वभाव बन जाता है।

तो इस प्रकार आधुनिक मानसिकता में टेक्नोलोजी के प्रति प्रतिबन्धता है, प्रतिबद्धता नहीं। प्रतिबद्धता में किसी आदर्श के प्रति समर्पण का चेतन निर्णय निहित होता है, प्रतिबन्धता में चेतन समर्पण नहीं, अपितु कुछ बाहर से लादा हुआ प्रतीत होता है।

(१०)

टेक्नोलोजी के प्रभाव में उभरती मानसिकता का जो चित्र ऊपर उभर आया है वह स्पष्टतः निषेधात्मक प्रतीत होता है। मैं यहीं स्पष्ट कर दूँ कि अभी मैं इसका यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा हूँ, इस पर निर्णय नहीं दे रहा, इसे निराशाजनक या निषेधात्मक नहीं बता रहा। यह चित्र का एक पक्ष है, जो उभर कर सामने आया है। इसे निराशाजनक, भयावह, अन्धकारपूर्ण आदि सभी कहा जा सकता है जब हमारे निर्णय का मापदण्ड परंपरागत एवं स्थापित मूल्य तथा मान्यता ही हों। उस दृष्टि से देखने पर ही इस प्रकार के निर्णय दिये जा सकते हैं। किन्तु टेक्नोलोजी की सम्भावनाओं पर विचार किये बिना ऐसा निर्णय देना युक्तिसंगत नहीं। सम्भवतः मूल्यों की अवधारणा ही बदल रही है। सम्भवतः मानव-मानसिकता एक नया पड़ाव, एक नया ठहराव पाने की प्रक्रिया में है। विचारकों नें इस पक्ष पर भी सुंदर, वैचारिक एवं तर्कसंगत अनुमान किया है। किन्तु उसकी विवेचना फिर कभी, किसी दूसरे अवसर पर।

एम्. आई. जी हाउस-१५३
हनुमान नगर, कंकड़बाग,
पटना-८०००२० (बिहार)

बसन्त कुमार लाल

टिप्पणी

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के नवंबर, १९९१ में बरेली में संपन्न ३६ वें वार्षिक अधिवेशन का अध्यक्षीय भाषण.



प्रोफेसर जी. आर. मलकानी

निबंध-प्रतियोगिता

किसी भी भारतीय शिक्षा-संस्था में अध्ययन करने वाले और २५ वर्षों से जादा उम्र न होने वाले स्नातक-पूर्व या स्नातकोत्तर छात्र-छात्राओं से प्रोफेसर जी. आर. मलकानी निबंध प्रतियोगिता के लिये **"भारतीय सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्षता"** इस विषय पर अंग्रेजी या हिन्दी में निबन्ध आमन्त्रित किये जा रहे हैं। प्रतियोगिता के लिये स्वीकृत निबन्धों के अधिनिर्णयन के लिये नियुक्त किये गये निर्देशियों के मतानुसार प्रथम तथा द्वितीय निबन्धों को क्रमशः रुपये २००/- और रुपये १००/- के पारितोषिक दिये जायेंगे, और पारितोपिक प्राप्त निबन्ध कालान्तर से इण्डियन फिलॉसॉफिकल क्वार्टर्ली की छात्र-परिशिष्ट या परामर्श (हिन्दी) इन त्रैमासिकों में प्रकाशित किये जायेंगे। उक्त पारितोषिक के लिये पेश किये जाने वाले निबन्धों को निम्नलिखित शर्तों के अनुसार प्रस्तुत करना होगा–

१. निबन्ध डबल स्पेस में कागज की एक बाजू पर टंकलिखित किया हुवा और दो प्रतियों में होना चाहिये।

२. निबन्ध २५०० शब्दों से जादा लम्बाई का न हो।

३. निवन्ध के साथ छात्र/छात्रा जिस संस्था में अध्ययन करता/ती हो उस संस्था/विभाग के प्रमुख/अध्यक्ष का ऐसा प्रमाणपत्र होना चाहिए कि-
   अ) छात्र/छात्रा उक्त संस्था/विभाग में अध्ययन कर रहा/ही है और उसकी उम्र २५ वर्षों से जादा नहीं है।
   ब) प्रतियोगिता में प्रस्तुत निबन्ध उक्त छात्र/छात्रा ने लिखा हुआ है।

४. यह आवश्यक है कि प्रतियोगिता के लिये प्रस्तुत किये जाने वाले निबन्ध डॉ. मंगला रा. चिंचोरे जी के पास दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिण्ड, पुणे ४११ ००७ इस पते पर हर हालत में ३१-५-१९९२ तक पहुँच जाने चाहिये।

५. अधिनिर्णयन के लिये नियुक्त किये गये निर्देशियों का निर्णय सारे प्रतिस्पर्धियों पर बन्धन-कारक होगा और उक्त विषय में किसी भी प्रकार का पत्राचार नहीं किया जायेगा।

अध्यक्ष, दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
गणेशखिण्ड, पुणे - ४११ ००७



कबीर : ' मधि कौ अंग '

कबीर आज के सांप्रदायिक तनाव, भोगकारक जीवन, मानसिक अशान्ति और पक्षपातपूर्ण विचारधारा में हमें कितना प्रकाश दे सकते हैं यह उनकी साखी के पाठ 'मधि कौ अंग' से स्पष्ट है।

कबीर का निरपष अथवा प्रेमदर्शन 'मधि कौ अंग' में प्रतिपादित है। बुद्ध का मध्यममार्ग भी इसी प्रकार का है। द्वन्द्व दो परस्पर विरोधी सीमाओं का द्योतक है। द्वन्द्व से परे होना अर्थात् हर्ष-शोक, शीत उष्ण जन्य संवेदनाओं के वशीभूत न होना। मनोभाव, प्रभाव, मनोवेग हमें बाहर ले जाते हैं। और हमारी विवेक-शक्ति को विनष्ट कर देते हैं। आज संप्रदायभक्त एक ईश्वर को नकार कर मंदिर-मस्जिद के झगड़े से हिंसापोषक बन गया है।

कबीर का 'मधि को अंग' यहाँ भावार्थ और निवृत्ति के साथ प्रस्तुत है। इस में कबीर द्वारा प्रयुक्त शब्दों-प्रयोगों पर विमर्श है। कबीर के भाव के साथ उनकी भाषाशैली और विचारप्रक्रिया को समझने में यह सहायक है। कबीर के अनुशीलन में यह नया प्रयास है।

कबीर ने मधि = मध्य कौ अंग में निरपष = निरपेक्ष (निर् + अपेक्ष) की बात कही है। दादू ने "मधिभाव" का अभेद-समदृष्टि अथवा तटस्थ के भाव में प्रयोग किया है :

समदृष्टि सूँ भाई सहज में, आपहि आप विचारा।
मैं तैं मेरी यह मति नाहीं, निरवैरी निरविकारा॥
तथा, द्वै पखरहित पन्थ गह पूरा, अवरन एक अधारा॥

"द्वै पख रहित" भाव ही "मधि" है। यही निर्द्वद्व (गीता, २.४५) की स्थिति है। दूसरे शब्दों में द्वैत (हर्ष-विषाद) से परे की स्थिति है यह। जहाँ द्वैत है वहीं दुविधा (संशय) है, अतः कबीर "मधिकौ अंग" में संशय तथा आपा-पर भाव से विगत रहने की सीख देते हैं। द्वन्द्व-भाव समझाने के लिए वे धरती-आकाश का प्रतीकात्मक प्रयोग करते हैं-- दोनों सीमाओं से मुक्त अथवा विरक्त हो जो, वही योगी-साधु है। भारतीय दर्शन के अद्वैतभाव का यही निचोड़ है। कबीर जब 'लोक-वेद' से ऊपर उठने की बात कहते हैं तब "मधि" भाव ही समझना चाहिए। कबीर हिन्दू-मुसलमानों के आपसी घृणात्मक भाव को दो पक्षों का भाव मानते हैं और उसके विरोध में अपने को न हिन्दू कहते हैं और न मुसलमान। नामदेव भी अपने को मन्दिर-मसजिद से अलग मानते थे :

हिन्दू पूजै देहरा, मुसलमान मसीद।
नामा सोई सेविया, जहं देहरा न मसीद॥

सभी संतों ने राम-रहीम, राम-खुदा कासी-काबा के झगड़े को द्वन्द्व कहा है। (साखी ५३२,५३६)

कबीर कहते हैं काजी "चढ़ि मसीति एकै कहै" पर "ब्रह्म हतै तब दोइ" (४१४) यही उसकी द्वैत दृष्टि (आपा-पर का भेद) सर्वनाश का कारण है। काजी "दुनी का साथि" है "दीन" को बिसारि– "दिल थैं दीन बिसारिया"। कबीर का "देहरा" "मसीति" इस शरीर के भीतर है-कहीं बाहर नहीं--"दस द्वारे का देहरा तामे जोति पिछांणि।" (४३५) कबीर अद्वैतवादी हैं– "दूजा" कोई है नहीं। उस एक को पहचानना, जानना ही "मधि कौ अंग" है।

संस्कृत मध्य का एक अर्थ है तटस्थ, निष्पक्ष। इसी भाव में "मधि" है। संस्कृत मध्य से विकसित मंझ, मांझ, मांह है। उच्चारण सुविधा से "मध्य" ही मधि है। "मधि कौ अंग" अर्थात् निष्पक्ष, निर्द्वन्द्व रहनि की महिमा।

कबीर मधि अंग जे को रहै, तो तिरत न लागै बार।
दुइ दुइ अंग सूं लागि करि, डूबत है संसार॥ १ ॥५२६

भावार्थ : कबीर का कथ्य है "निरपष"– निर्द्वन्द्व रहने पर भवसागर पार होने (मुक्ति) में विलम्ब नहीं लगता। संसार राम से नाता न जोड़ कर दूसरों से नाता जोड़ता है। दुइ-दुइ अंग (एक अंग, **सा.** - ५२७) अर्थात्- द्वैत, भेद अथवा दो पक्ष। सामयिक संदर्भ में हिन्दुओं का पष और तुरुकों का पष दो भिन्न-भिन्न मार्ग। सचाई यह है कि मानव उसी परमेश्वर का अंग है– सर्वत्र वही। कहीं भेद नहीं, दो नहीं। हिन्दू-मुसलमान को "मधि" का अंग अपनाना चाहिए। 'दुइ-दुइ अंग' दुविधा (५२७) संशय के आशय में भी है। दुइ-दुइ अंग = एक "अबरन" को छोड़ कर दूसरा रास्ता पकड़ना, राम-अल्लाह में भेद मानना, हिन्दू-तुरुक को अलग मानना। **नारद भक्ति सूत्र**– "कस्तरति कस्तरति मायाम्। यः सङ्गस्त्यजति यो महानुभावं सेवते निर्ममो भवति।" ४६

"डूबत" के स्थान पर "बूड़ना" हरि की भगति जाने बिना, "भव बूड़ी मुवा संसार। "रमैनी। कबीर का "मधि अंग" हरिभक्ति है जो संसार से तारता और परमार्थ से जोड़ता है। अन्यत्र भी "बूड़हुगे परिवार सकल सिउ राम न जपहु अभागे।" तरने का विरोधी है बूड़ना, डूबना, नष्ट होना–

"तारन तिरन तिरन तूं तारन, और न दूजा जानौ।"

विवृति : जे को = जो कोई, जे < यः, को < केचित् (२६५,५०८,५९४)

तिरति – तृ. तरति = पार जाता है। बार न लागै = समय नहीं लगता है, **बार** < वार (२,२३) दुई < द्वि = दो, दोनों। लाग करि < लग्न। डूबत = बूडत (११०), **बूड़ना** प्राकृत बुड्डई (१७७)।

कबीर दुबिधा दूरि करि **एक अंग ह्वै लागि।**
बहु सीतल बहु तपति है, दोऊ कहिये आगि ॥ २ ॥ ५२७

भावार्थ : दुविधा (द्विधा = दो टुकड़ों में बंटा = संशय ग्रस्त = चंचल) दूर करके मनुष्य उस एक 'अबिनासी', "त्रिभुवन पति" से मन लगावे, दूजा से नहीं, यही मुक्ति का मार्ग है। "संशयात्मा विनश्यति"। एक अंग ह्वै लागि अर्थात् एक के आश्रित रहे– उसी एक का दास। दुइ दुइ अंग नहीं अर्थात् किसी और का भरोसा नहीं। संसार में द्वन्द्व है हर्ष-विषाद का, शीतल-उष्ण का, राग-द्वेष का। इन दोनों अंगों को छोड़ कर मार्ग चुने। शीतल और तप्त दो छोर हैं– दोनों ही अंततः कष्टप्रद हैं, हर्ष-शोक का चक्र चलता रहता है। साधक को इन द्वन्द्वों से विरक्त रहना चाहिए अर्थात् द्वन्द्वातीत। एक अंग का आशय रामभक्ति से है– उस "सम्रथ्थ" (समर्थ) के आश्रित होने से है।

नारद भक्ति सूत्र– "भक्ता एकान्तिनो (= अनन्य) मुख्याः"।
दुबिधा – हरदी कबीर भीतर आरसी, मुख देखणां न जाइ।
मुख तौ तौ परि देखिये, जे मन की दुबिधा जाइ ॥ २८०

कबीर अनल अकासा घर किया, मधि निरंतर बास।
बसुधा ब्यौम बिरकत रहै, बिन ठाहर बिन बास ॥ ३ ॥ ५२८

भावार्थ : कबीर दादू ने "अनल अकासा" की बार-बार चरचा की है– उसे आदर्श माना है। **अनल पक्षी :** इसके बारे में मान्यता है कि वह अधर (अंतरिक्ष) = मधि (मध्य) में वास करता है– न आकाश में, न धरती पर, दोनों से विगत। कबीर-दादू के अनुसार यही "मधि अंग" है, यही निरपष का भाव है– द्वन्द्व से परे अर्थात् निर्द्वन्द्व अथवा द्वन्द्वातीत। निस्संग, वियुक्त, निर्मम अथवा संग से विरकत (विरक्त)। कबीर के अनुसार भक्त का ठाहर-वास संसार नहीं जहाँ माया का साम्राज्य है, जहाँ दुविधा है, जहाँ मनुष्य का चित्त चंचल है। आत्मस्थ होने के लिए द्वन्द्वातीत होना अनिवार्य है। भारतीय दर्शन के अनुसार– यही अद्वैतभाव है। तुलनीय,

"मन उनमन उस अंड ज्यूं अनल अकासा जोइ। २८
अनल पंषि आकमस कूं माया मेर (मेरू) उलंघि।
दादू उलटे पंथ चढ़ि, जाइ बिलंबे अंगि ॥"

विवृति : आकासां < आकाश = अंतरिक्ष, गगन। कबीर ने इसी भाव में "अधर (आकाश के नीचे) का भी प्रयोग किया है– "

कबीर मनवा तो अधर बस्या बहु तक झीणा होइ।
आलोकत सचु पाइया, कबहुं न न्यारा सोइ। २८६

दादू ने भी–

षेलै सीस उतारि करि, अधर एक सौं जाइ ।
दादू पीवें प्रेम रस, सुष में रहे समाइ ॥

घर किया = निवास किया । **घर** पा., प्रा. घर (६२) निरंतर– कबीर का बल सतत राम से जुड़े रहने के लिए है । एक क्षण के लिए भी उस "आनंद मूल सदा परसोत्तम" (सोरठि ३१) को न भूले– सदा निर्द्वन्द्व रहे । बिरकत < विरक्त = विगत = सांसारिक विषय-वासना से उदासीन । **ठाहर** = ठौर < स्थावर, ठौर-ठाहर, ठहराना ।

बासुरि गमि न रैंणि गमि, ना सुपनैं तरगम ।
कबीर तहाँ बिलंबियां जहाँ छाहड़ो न धम ॥ ४ ॥ ५२९

भावार्थ : कबीर उस 'अबरन बरन' अलष राम के धाम का वर्णन करते हुए कहते हैं, उस परम धाम में न दिन (सूर्य) की गति है और न रात्रि (चन्द्रमा) की । सबके लिए अगम्य । वहाँ धूप-छाँह का द्वन्द्व नहीं है– वह सभी द्वन्द्वों से रहित है । वहाँ स्वप्न में भी नहीं पहुँचा जा सकता है, अर्थात् समय-स्थान की सीमा से परे है वह अलख । कबीर उस अलख के पास ठहर रहा है और वहाँ आनंद ले रहा है ।

विवृति : बासरि < वासर । गम, गमि < गम्य (१८५, १२६, ३१०) रैंणि < रजनी, प्रा. रयणि, वासर-रैनि (रैणि) का प्रयोग द्वन्द्व भाव के बोध के लिए है, हिंदी दिन रात (रात दिन) इसी भाव में है (बासर सुख नां रैणि सुख, ना सुख सुपिने मांहि । कबीर बिछुट्या राम सूं, नां सुख धूप न छांह ॥ ७ ॥ **सुपनंतर** = स्वप्न में । **बिलंबिया** < लंब, विलंबते = ठहरा हुआ है (कबीर तहां बिलंबिया करै अलष की सेव । १६३) = संलग्न । छांह < छाया, छाहीं । धंम = धाम पा. प्रा. धम्म < धर्म ।

जिहि पैडे पंडित गए, दुनिया परी बहीर ।
औघट घाटी गुर कही, तिहिं चढ़ि रह्या, कबीर ॥ ५ ॥ ५३०

भावार्थ : कबीर का कथ्य है कि पंडितों ने शास्त्र की घिसी-पिटी जो लीक चलाई उसी पैंडे बधिर (६२०), (बहिर अंधी-साखी ७२६) दुनिया लग गयी । अथवा "दुनिया परी बहीर" = फिर दुनिया उस पर चल पड़ी । (हि. बहुरि, मा. बहोड़ि) = (फिर) (प्रा. वाहुडिअ) पंडित-मुल्ला कर्मकाण्ड में फँसे हैं, मन्दिर मसजिद के द्वन्द्व में पड़े हैं, उन्हें समता-अभेद का मार्ग, शुद्ध हृदय की बात आती ही नहीं । उन्हें उस भेदरहित परमात्मा के प्रति आस्था नहीं है । उस निराकार का पैंडा (पंथ) अगम है । उस मार्ग पर सब नहीं चल सकते, वह संकीर्ण है । (प्रेम गली अति सांकरी) वह औघट है । कबीर कहते हैं गुरु कृपा से वह अगम्य दुर्गम पथ "सुघट-घाट" हो गया है और कबीर उस राम से अपनाया जा चुका है ।

घट माँहै औघट लहा, औघट माहैं घाट।
कह कबीर परचा भया, गुरु दिखाई बाट ॥ ३ ॥

"राम रतन पाया घट माहिं।" २७ भैरूँ। ईश्वर भीतर है, मंदिर-मसजिद में नहीं।

पैंडा < पद-दण्ड (पगडंडी) = मार्ग। कबीर का कहना है 'लोकवेद' के रास्ते चल कर न जाति -पांति कुल का भेद मिटेगा और न उस ज्योति का अनुभव होगा–

पीछै लागा जाइ था लोकवेद के साथि।
आगै थै सतगुर मिला दीपक दीया हाथि ॥ ११ ॥

नारद भक्ति सूत्र– "निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः।"
अगनृकथैं हूँ रह्या सतगुरु के प्रसादि।
चरन कवँल की मौज मैं, रहिस्यूं अंतरू आदि ॥ ६ ॥ ५३१

भावार्थ : कबीर पहले भक्त हैं, बाद में कुछ और। वे निर्गुण निराकार राम की बात करते हैं, पर साथ ही राम के चरण कमल में अपना मन लगाते हैं: यही उनकी वैष्णवी उपासना है (द्रष्टव्य, लेखक की कृति **वैष्णव कबीर**), कबीर को मात्र निर्गुणी मानना औचित्य से परे है।

कबीर का कहना है उन्हीं राम के चरणकमल के प्रसाद से मैं रामरस में मस्त रहता हूँ। मैं आदि-अंत सदा उन्हीं चरणों की भक्ति में रहूँगा। आदि-अंत सीमा द्योतक हैं और परस्पर विरोधी। कबीर का कथ्य है, प्रत्येक काल-स्थिति में मैं अभेद-भाव से उसी राम के प्रति समर्पित हूँ। सतगुरु ने मुझे यही ज्ञान-मार्ग दिया है (रामानन्द में भी ज्ञान-भक्ति का समन्वय है।) इसी भक्ति से मैं सर्ग-नरक दोनों सीमाओं से अलग हूँ अर्थात् मुझे बिहिश्त और दोजख से भय नहीं–

दोजग तौ हम अंगिया यहु डर नाहीं मुझ ।
भिस्त न मेरे चाहिये, बाझ पियारे तुझ ॥ १९९

कबीर राम को पति (खसम) रूप में मानते हैं। वे अपने को रामदास भी कहते हैं, राम सनेही भी। उन्हें केवल राम से नाता है; उसी के नाते वे निर्भय और निर्द्वन्द्व हैं, शरणागत भक्त की स्थिति यही है। कबीर को न स्वर्ग से मोह है ओर न नर्क से भय। उनका कहना है–

हरि चरनौ चित्त राखिये, तौ अमरापुर होइ ॥ ४४५

अमरापुर में होना = मौज-आनन्द में होना है। यह स्थिति तभी संभव है जब सर्वभावेन राम के चरणों में चित्त लगा रहे और हृदय निर्मल रहे– "कबीर माला पहस्या कुछ नहीं गांठि हिरदा को खोइ" ४४५, भगति मुरारि (५४५) और "चरन सेवा" पर बल है कबीर का– "चरनन लागि करौं सेवकाई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई।" अन्यत्र भी "कहै कबीर सेवौं बनवारी, सींचौ

बेड़ पिवै सब डारी।" कबीर का कथ्य है कि जपतप-तीर्थ-व्रत थोथरे, व्यर्थ हैं।

कबीर जप तप दीसै थोथरा, तीरथ ब्रत बेसास।
सूवैं सैमल सेविया, सूँ जग चल्या निरास ॥ ४३३

कबीर की भक्ति का अर्थ है सर्वत्र राम के स्वरूप का दर्शन "सकल मांड मैं रमी रह्या साहिब कहिये सोइ।५८१ सूर-तुलसी की भक्तिभावना के आधार कबीर हैं। गोरख, ज्ञानदेव, नामदेव सबका बल रहा है अभेद पर। घर में और बाहर एक ही तत्त्व है-वही जल भीतर, वही बाहर। घड़ा फूटने पर जल परमतत्त्व में लय हो जाता है। यह अभेद- दृष्टि भारतीय दर्शन का मुख्य अंग है। कबीर को पूरी परंपरा से जोड़ कर समझा जा सकता है। कबीर भले– 'अविगत,' "निरंजन" की बात करें, पर उनका हृदय सूर, तुलसी की भांति रामचरन में है।

हिंदू मूये राम कहि, मुसलमान खुदाइ।
कहै कबीर सो जीवता, दुह मैं कदे न जाइ ॥ ७ ॥ ५३२

भावार्थ: कबीर द्वैत का बार-बार विरोध करते हैं-दुह (दुइ) को नहीं, एक को जानो (५२६, ५२७)। हिन्दू-मुसलमान दोनों ही उस एक तत्त्व को, जो सर्वत्र-सब में है भुला कर राम और खुदा को अलग-अलग जानते हैं। "पुरुषोत्तम" एक ही है-- सारा जग उस हे व्याप्त है और सारा जग उसमें है। जब तक अभेद- दृष्टि मिलेगी नहीं और समत्व को लोग अपनावेंगे नहीं तब तक दोनों का सर्वनाश, दोनों धर्म के नाम पर लड़ रहे हैं इसलिए दोनों की राह गलत है। यह पंथ उस "अविनाशी" का नहीं है। कबीर का बल एक राम, एक ब्रह्म, एक मुरारि पर है। **"दुह में कदे न जाइ"** अर्थात् अनन्य भक्ति "अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता।" **नारद भ. सू.**। कदे न (२०९)। "मूये" और "जीवता" (मृतक-जीवित) परस्पर विरोधी हैं।

कबीर अखंडता-एकता-समता के सर्वोच्च कवि हैं। उन्हीं का दर्शन हमारी सामाजिक धार्मिक समस्याओं को सुलझा सकता है। गोरख से लेकर तुलसी तक ज्ञान-भक्ति-समता की जो त्रिवणी बहती है उसी में अवगाहन करना होगा। तर्क से एकता संभव नहीं। "निरपष" बनना आत्मदर्शन से ही संभव है. यह "मधि का अंग" है। "दुइ-दुइ अंग लाग करि, डूबत है संसार।" ५२६ दुइ के विरोध में "अबरन एक अकल अबिनासी, घटि-घटि आप रहैं।" तथा "जौ यह एक जांणिया, तौ जांणां सब जांण।" २०० तथा, "आसा एक जु राम की, दूजी आस निरास।" २०३ दूजी आस = "जगत् की आस"। कबीर राम से आशा रखने वाले को "जीवता" (जीवित) कहते हैं और संसार से आशा रखने वाले को "मृतक" : "कबीर जीवित मृतक है रहै, तजै जगत का आस।" ६१९ ऐसी स्थिति होने पर फिर भगवान् ही भक्त की सेवा करते हैं-उसे दुख नहीं होने देते : "तब हरि सेवा आपण करै, मति दुख पावै दास।" ६१८ **भामिनी विलास** (४.३९) में है-"ध्रुवं ते जीवन्तोऽप्यहह मृतका मन्दमतयो, न येषामानन्दं जनयति जगन्नाथभणितिः।"

कबीर दुखिया मूवा दुख कूं, सुखिया सुख कौं झूरि ।
सदा अनंदी राम के, जिन सुख दुख मेल्हे दूरि ॥ ८ ॥ ५३३

भावार्थ : कबीर सुख-दुख के द्वन्द्व से मुक्त होकर "अनंदी राम" बनने की कला बताते हैं। आनंद और सुख में अंतर है--सुख में इन्द्रियसुख, भौतिक समृद्धि है, प्रेय की प्राप्ति है और आनन्द मानसिक आत्मिक शांति। कबीर आनन्द के दर्शन की विवृति कर रहे हैं। संसार में जो सम्पन्न हैं वे और सुख की तलाश में दुःखी हैं इसलिए वे सुखी-सम्पन्न होते हुए भी माया-मोह से संतप्त हो रहे हैं-अधिक से अधिक संग्रह उनके विनाश का कारण बनता है। जो सचमुच दुख-विपन्नता का शिकार है वह तो मर ही रहा है। इस प्रकार सुख-दुख सबको पीड़ित कर रहा है। यह विषमता किसी भौतिक दर्शन से सुलझने वाली नहीं है। अधिक सुख और अधिक दुख दोनों ही आग है (५२७)। संत सुख-दुख से राग नहीं करता। वह विरक्त हो इन्द्रियों को बाह्य जगत् से मोड़ कर भीतर की ओर प्रेरित करता है। आत्मज्योति से वह सर्वत्र एक ही सत्य का अनुभव करता है।

"सदा अनंदी राम के" कबीर की भक्ति भावना एवं समदृष्टी की पुष्टि करता है– आनंद आत्मसुखी होने में है, संतुलन में है, "यः कर्मफलं त्यजति, कर्माणि संन्यस्यति, ततो निर्द्वन्द्वो भवति।" **नारद भ. सू.** ।

'नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।' **मनु ६/४५**

आज संसार प्रक्षेप्यास्त्रों की लड़ाई में भस्म हो रहा है– सारी लड़ाई अधिकार और सुख-भोग के लिए है। यह साम्राज्यवादी नीति विषमता का मूल है। इससे मुक्ति के लिए कबीर की विचारधारा सहायक है। सामाजिक असमानता दूर करनी होगी, एतदर्थ हृदय को निर्मल-उदार-त्यागी बनाना होगा। दूरि (सा.॥) **मेल्हे दूरि** = सुख-दुख को दूर हटा दिया। राम भक्त हर्ष-विषाद से मुक्त होता है। तुलनीय–

पूरे सूं परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि ।
निर्मल कीन्हीं आत्मा, ताथैं सदा हजूरि ॥ ३५

कबीर हरदी पीयरी, चूना ऊजल भाइ ।
राम सनेही यूँ मिलें, दून्यूं बरन गँवाइ ॥ ९ ॥ ५३४

भावार्थ : कबीर "मध कौ अंग" में मध्यम मार्ग (निरपष भाव) को ग्रहण करने की सलाह दे रहे हैं। हिन्दू-मुसलमान जातिभेद, वर्णभेद भूलें तो मेल संभव है। इसी को प्रतीकात्मक ढंग से कबीर कहते हैं कि हल्दी पीली होती है और चूना उज्ज्वल। जब चूना हल्दी अपनी अपनी पहचान छोड़ते हैं और मिलते हैं तब सम्यक् रंग उत्पन्न होता है। हिन्दू-मुसलमान राम-अल्लाह का भेद मिटा कर मिलें तभी अखंडता-एकता की रक्षा हो सकेगी। जो द्वन्द्व छोड़े वही "राम

सनेही" है। कबीर कर्मकाण्ड को महत्त्व नहीं देते। उनका बल विचारशुद्धि, हृदयशुद्धि पर है। कबीर अपने को बार-बार "राम सनेही" कहते हैं। आज सम्प्रदाय-सनेही, वैभव-सनेही, भेद-सनेही का प्राबल्य है। कबीर इसलिए आज के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण हैं। "राम सनेही" वही है जो शील (सम्यक् आचरण) का निर्वाह करे। कबीर पंडितों से कहते हैं तू "कागद की देखी" कहता है और मैं "आंखिन देखी"– अर्थात् तुम शास्त्रों के पीछे पड़े हो, और यहाँ सर्वत्र असमानता है। प्रत्यक्ष समस्या भेद-भाव की है, वह पंडित-मुल्ला बढ़ा रहे हैं। वे सत्य-यथार्थ को नकार रहे हैं, यह तो ईश्वर की भक्ति नहीं। यह भेद मनुष्य की एकता के विरोध में है। **"दून्यूं बरन गमाइ"** अभिव्यंजनापूर्ण है। **भाइ** (भाव) हिन्दू-मुसलमान दोनों अपने-अपने "भाव" को छोड़ कर एकता का भाव अपनावें तभी समाज सुखी हो सकेगा "साई सेती सांच चलि, औरों सौं सुध भाइ।" (४४७) **गमाइ** (सा. ३८५)

काबा फिर कासी भया, राम भया रहीम।
मोट चून मैदा भया, बैठि कबीरा जीम ॥ १० ॥ ५३५

भावार्थ : कबीर "मधि कौ अंग" में एक ही बात पर बार-बार बल देते हैं- "दून्यूं बरन गमाइ" (५३४) एक हों। अभेद-दृष्टि से काबा और कासी का, मस्जिद-मन्दिर का झगड़ा समाप्त हो जायगा। भेद दृष्टि से हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के शत्रु हैं। ईश्वर के सब बन्दे हैं। इसलिए हर एक "राम सनेही" (५३४) बने, मस्जिद-मन्दिर सनेही नहीं। राम इन सब मर्यादाओं से उपर हैं। ईटों का भेद मनुष्य-मनुष्य के बीच खाई है। राम-रहीम भिन्न नहीं, नामभेद हमारी दृष्टि को मंद कर रहा है। "मोट चून मैदा भंया" अर्थात् मोटा और बारीक चूर्ण मैदा सदृश पिस कर एक बनें तब ऐक्य-अभेद। जेमन = भोजन, खाना। "मोट चून मैदा भया बैठि कबीरा जीम" = "इस मन कौं मैदा करौं नान्हां करि-करि पीस। तब सुख पावै सुन्दरी ब्रह्म झलकै सीसि" ॥ ७५९ "बैठि कबीरा जीम" का सांकेतिक अर्थ है, द्वन्द्व भुला कर ऐक्य का आनन्द; अनासक्ति, निर्लिप्तता, निस्संगता का सुख।

– हरिहरप्रसाद गुप्त

१४७, त्रिवेणी रोड
इलाहाबाद - २११००२
(उत्तरप्रदेश)



हिंदी नवगीत में बिम्ब-विधान

साहित्य में विम्ब-विधान अमूर्त के मूर्तीकरण की प्रक्रिया है, अरूप को रूपायित करने का प्रयास है, इन्द्रियातीत संवेदनों को इन्द्रिय-ग्राह्य बनाने की चेष्टा है। काव्य को संगीत और चित्र-कला के निकट और दर्शन और विज्ञान से विलग करने का प्रयत्न है। काव्य को अनुभव की विम्बात्मक अभिव्यक्ति भी कहा गया है, क्योंकि विम्बों की सर्जना और उनका समुचित प्रयोग काव्य-रचना को अधिक संवेद्य और ग्राह्य बनाता है। इससे सूक्ष्म अनुभूतियों और मानस-क्रियाओं का प्रत्यक्षीकरण होता है। और कवि की सूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना, भाव-चेतना और विचार-चेतना को आकार मिलता है इसीलिए विम्ब को "अप्रस्तुत की मानसिक या काल्पनिक सृष्टि या रूप-रचना"[१] कहा गया है। विम्ब का प्रयोग मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में भी हुआ है। वहाँ इसे 'मानसिक पुनर्रचना' (Mental Reproduction) कहा गया है, जिसका अर्थ है विगत संवेदनात्मक या अवगमात्मक (परसेप्चुअल) अनुभव की मानसिक प्रतिकृति; जरूरी नहीं है कि यह अनुभव चाक्षुष प्रत्यक्षीकरण का विषय ही हो। साहित्य के सन्दर्भ में विम्ब को अनेक मनीषियों ने परिभाषित करने का प्रयास किया है। कहा गया है कि "विम्ब-विधान अभिव्यक्ति की एक प्रणाली है, जिसमें अनुभूतियों का चित्रण मानसिक चित्रों में किया जाता है"[२] और यह भी कि "विम्ब कवि द्वारा अपने विचार को उदाहृत, सुस्पष्ट तथा अलंकृत करने के हेतु प्रयुक्त एक लघु शब्दचित्र है। यह किसी वस्तु के साथ तुलना अथवा साम्य के द्वारा वर्णित तथा व्याख्यात विचार या वर्णन है। विम्ब अपने कथ्य के विषय में लेखक द्वारा दृष्ट, उत्पादित या अनुभूत प्रणाली को बहुत कुछ समग्रता, गहनता एवं समृद्धि के साथ (हममें) उद्रिक्त संवेगों एवं संपृक्तियों (associations) के माध्यम से हम तक सम्प्रेषित करता है।"[३]

डॉ. नगेन्द्र ने विम्ब को "किसी पदार्थ के साथ इन्द्रियों के सन्निकर्ष के प्रमाता के चित्त में उद्‌बुद्ध हो जानेवाला चित्र"[४] कहा है परन्तु विम्ब ऐसा चित्र नहीं है जो केवल चाक्षुष प्रत्यक्षीकरण के माध्यम से स्पष्ट होता है, क्योंकि विम्ब-विधान केवल चाक्षुष ही नहीं हुआ करता। "मनोवैज्ञानिकों और सौन्दर्यशास्त्रियों ने इसके अनेक भेद किए हैं। विम्ब न केवल 'रसना' और 'घ्राणेन्द्रिय' के होते हैं, बल्कि 'ऊष्मा' और 'दबाव' के भी विम्ब हुआ करते हैं। स्थैतिक (स्थिर) विम्ब-विधान और गतिशील विम्ब-विधान का प्रयोग परम्परागत रूप से या निजी रूप से प्रतीकात्मक हो भी सकता है और नहीं भी। मिश्र विम्ब (चाहे यह कवि की असामान्य मनोवैज्ञानिक रचना का परिणाम हो, या साहित्यिक रूढि का) एक ज्ञानेन्द्रिय से दूसरी में रूपान्तरित हो जाता है, जैसे ध्वनि से रंग में। इसके अतिरिक्त, बिम्बों का एक और भेद भी है जो साहित्य के विद्यार्थी के लिए लाभकर हो सकता है, और यह है 'बंधे' और 'मुक्त'

बिम्बों का भेद। पहले में 'श्रुति' और 'पेशियों' से सम्बन्धित बिम्ब आते हैं।"[५]

बिम्बों का विभाजन अनेक प्रकार से हुआ है। डॉ. नगेन्द्र ने (i) ऐन्द्रिकता के आधार पर (दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, घ्रातव्य और रस्य) (ii) सर्जक कल्पना के आधार पर (स्मृत एवं कल्पित तथा लक्षित एवं अलक्षित) (iii) प्रेरक अनुभूति के आधार पर (सरल, मिश्र, जटिल तथा समाकलित (iv) खण्डित तथा काव्यार्थ की दृष्टि से (एकल एवं संश्लिष्ट घटना तथा प्रकरण) इन पाँच वर्गों में विभाजित किया है।[६] बिम्बों के भेद-प्रभेद औरों ने भी किए हैं, यथा रोबिन शेल्टन तथा डॉ. भगीरथ मिश्र। राबिन शेल्टन बिम्ब के १० भेद करते हैं।[७] डॉ. मिश्र ने ऐन्द्रिय और मानस दो ही वर्ग मान कर ऐन्द्रिय को दृश्य और अन्य संवेद्य में विभाजित किया है। दृश्य बिम्ब के पुनः वस्तु बिम्ब और व्यापार बिम्ब दो भेद किए गए हैं। मानस बिम्ब भाव और विचार दो भागों में विभाजित हैं।[८] इस पूरे विवेचन को समीकृत करते हुए डॉ. सुशीला शर्मा ने बिम्बों को इन बीस वर्गों में रखा है– (१) चाक्षुष, (२) श्रावण, (३) घ्राणपरक, (४) स्पर्शपरक, (५) आस्वादपरक, (६) सहसंवेदनात्मक, (७) गत्वर, (८) स्थिर, (९) वेगोद्भेदक, (१०) शब्दबिम्ब, (११) वर्ण-बिम्ब, (१२) समानुभूतिक, (१३) संश्लिष्ट, (१४) एकल, (१५) सामासिक, (१६) प्रसृत, (१७) प्रस्तुत, (१८) अप्रस्तुत, (१९) जैव तथा, (२०) आदि बिम्ब।[९] इसका आशय भाग यही है कि बिम्बों के अनेक रूप हैं जो चाक्षुष भी हैं और अन्य इन्द्रिय संवेद्य भी, पौराणिक और सांस्कृतिक भी हैं और संश्लिष्ट भी, यांत्रिक भी हैं और आद्य भी। जुगुप्सापरक भी हैं और सुवासपरक भी, सूक्ष्म भी हैं और स्थूल भी।

क्या नवगीत के बिम्ब-विधान की चर्चा में बिम्ब के भेद प्रभेद की चर्चा के बिना काम नहीं चल सकता था? इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक है क्योंकि नवगीत गीत की प्रचलित सनातन धारा का नवरूप है। वस्तुतः आधुनिकता, वैज्ञानिक मानसिकता और जीवन-सम्पृक्ति का जो बोध १९५० के आसपास नयी कविता का कथ्य बना उसने गीत के परम्परागत स्वरूप में भी परिवर्तन कर दिया। इस समय गीत में एक नवोन्मेष दिखाई पड़ा। इस नवोन्मेष को 'आज का गीत'[१०] या 'आधुनिक गीत' या केवल 'गीत' के नाम से अभिहित किया गया, परन्तु अन्ततः नूतन भाव-बोध, नयी संवेदना, अभिनव शिल्प से (युक्त) गीतों की 'नवगीत' संज्ञा ही स्वीकृत हुई। यह नाम 'नयी कविता' की तर्ज पर आया और 'आधुनिकता की चुनौती' की स्वीकृति के रूप में सकारा गया। गीत के इस नवीन स्वरूप ने जहाँ कथ्य का खुला खुला विस्तृत और वैविध्यपूर्ण आकाश स्वीकारा वहीं शिल्प के क्षेत्र में भी नये-नये परिवर्तन आए। यों कहा जाय कि 'नयी कविता' जिन युगीन संवेदनाओं के खुरदुरेपन के लिए चर्चित हुई उन्हें भी नवगीत ने आत्मसात् कर लिया और उन्हें मसृण और ऋजु-तरल बना लिया। फलस्वरूप जहाँ उसकी भाषा बदली, काव्य परम्परा बदली, वहीं उसका बिम्ब-विधान भी बदला, प्रतीक परम्परा भी बदली और सभी क्षेत्रों में नये मूल्यों की स्थापना हुई। नयी भाव-भूमि की स्थापना हुई। जहाँ महानगरीय संत्रास, अनुभूति की सहज और निश्छल अभिव्यक्ति, मानवीय जीवन

में गहराती अनास्था, सांस्कृतिक विघटन, मूल्यगत संघर्ष, मानवीय जिजीविषा, प्रकृति से बिछुड़ने का दर्द, पराजय, कुण्ठा आदि को अभिव्यक्ति मिली, वहीं भाषा की सहजता, संक्षिप्ति, गेयता का परिहार, लोकगीतों के प्रभावस्वरूप लोक-तत्त्वों के बढ़ते प्रभाव, व्यंजनामयी उक्तियों के बाहुल्य आदि को शिल्प के क्षेत्र में स्वीकृति मिली।

नवगीत के बिम्ब-विधान की पहली ध्यातव्य विशेषता यह है कि वह सायास नहीं है, नितान्त सहज है। फलस्वरूप किसी परम्परागत शास्त्रीयता के बन्धन में भी नहीं बंधता। युगीन यथार्थ को अभिव्यक्त करना गीतकार की पहली और अनिवार्य जरूरत है। महानगरीय जीवन की यांत्रिकता और जीवन की नियति किसी एक और शास्त्रीय परम्परानुपोषित बिम्ब में बंध भी तो नहीं सकती थी। इसीलिए नवगीतकार युग के भौंडे, कुरूप और घिनौने यथार्थ को उभारने के लिए एक ही साँस में दो-दो बिम्बों का प्रयोग करता है–

"शाम किसी ढ़ाबे में सिकती हुई जल गयी
कालगर्ल सी रात उम्र के पूर्व ढल गयी" [११]

बिम्ब जुगुप्साजनक होता है या रमणीय, परम्परागत शैल्पिक मूल्य टूटते हैं या बचे रहते हैं, भाषा कोई नया आकार लेती है या परंम्परागत ढर्रे की ही बनी रहती है। नवगीतकार इन बातों की परवाह नहीं करता, इसीलिए कि "आईने तडके हुए हैं, बिम्ब बेमानी हुए हैं" [१२] तभी तो एक ही स्थान पर कत्लगाह भी है और पुल भी, जिबह होती हुई मरियल तारीख भी है और फिसलता हुआ आवारा युगबोध भी

"जिबह हुई मरियल तारीख
कत्लगाहों में
फिसल गया पुल से
आवारा युग बोध" [१३]

वस्तुतः नवगीत अभिव्यक्ति की पूर्णता में विश्वास करता है; इसीलिए सभी स्तरों पर उसमें परम्पराओं का स्वीकार भी है और नकार भी। बिम्ब-विधान के स्तर पर भी ऐसा ही है इसीलिए मछुआ, नदियाँ, किरनें, उदासी, तट, आवारा शाम, पागल दोपहर, अम्मा, दूध-भात, खीर-खांड, गौरैया, गृहस्थी, रस्सी-मूंज, महुआ, आम-बंसवारी, बनपाखी कोयल, धूप, सूरज, चाँदनी रात, ठंडा शहर, निर्मम धाराएं, टूटे हुए सेतु, सोनमछरी, कागा, कुंजगली, राधा, गोपी, उद्धव, वस्त्र उतारते पेड़, ताल-तलैया, पोखर, खेत, खलिहान, जेब में तुड़ा-मुड़ा कागज, चौराहे आदि बहुत कुछ है जो इन बिम्बों के रूप में उभरा उतरा है। दूसरे शब्दों में यों कहें तो अतिशयोक्ति न होगी कि जो कुछ जिन्दगी में है, जिन्दगी का परिवेश है, हमारे आस-पास है वह सब नवगीतों में है; गीतों में प्रयुक्त बिम्बों में भी वही है, जिन्दगी के सतरंगे आयाम सर्वत्र बिखरे पड़े हैं।

बीसवीं सदी यांत्रिक युग और वैज्ञानिक प्रगति लेकर आयी है। जीवन में क्षिप्रता और

लाघव की प्रवृत्ति बढ़ी है। साहित्यिक विधाओं के आकार छोटे होने लगे हैं या छोटे आकार वाली विधाएं अधिक लोकप्रिय होने लगीं हैं। नवगीत गजल, मिनी कहानी और उपन्यासिका की लोकप्रियता के पीछे यही लाघव की वृत्ति कार्य कर रही है। लाघव की यह वृत्ति नवगीत के बिम्बि-विधान में भी दृष्टिगोचर हो रही है इसिलिए बहुत छोटे और संक्षिप्त बिम्बों का प्रयोग यहाँ बहुतायत से मिलता है (i) शोरशराबे चाँदघरों के मुँह लटकाए हैं (माहेश्वर तिवारी: "शहर में सबेरा" *नवगीत दशक* २ पृ.१२७) (ii) चाँदनी ने नागफन पर फिर टिकाये पाँव (श्रीकृष्ण तिवारी : "आ गये फिर" वहीं पृ.११३) (iii) पंजों में आकाश घुंए के कसा हुआ है ("यह दौर"- वहीं पृ.१०८) (iv) हवा चौकड़ी भरती हिरनों सी (हृदय चौरसिया : "वे दिन"- *नवगीत अर्द्धशती* पृ.३०३) (v) धीरे से आँगन में उतरी है धूप (अनिलकुमार गौड़- "जाड़े की धूप" वहीं पृ.४२) (vi) गमलों में ऊँघती गुलाब की सदी (अनूप अशेष : "तड़प रहे कपोत" वहीं पृ. ४४) (vii) हृदा गीत गोविन्द लिखे (गुलाबसिंह : "दिन"- वहीं पृ.९७) (viii) तन के भोगकक्ष में कैदी शापग्रस्त प्यासी रूहें (बालस्वरूप राही - "जाने कि बाजन्मेगा सूरज" - *जो नितान्त मेरी है*-पृ.३५) (ix) पी गये भविष्य भीड़ पीते चौराहे (विनोद निगम : "सड़कों से जुड़ना भर" *नवगीत अर्द्धशती* - पृ.२३१) जैसे उदाहरण इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण हैं। इन बिम्बों में जीवन का लाघव उतरा है।

समूची जिन्दगी आज खण्डित है। हमारी आस्थाएँ, हमारे मूल्य, हमारे परिवार, हमारा जीवित-तत्त्व, हमारा धर्म, हमारा कर्म, हमारी निष्ठाएँ आदि सभी कुछ खण्डित हैं। तब नवगीत में खण्डित बिम्बों का प्रयोग कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु कुछ समर्थ कवियों ने बड़े बड़े और पूर्ण बिम्बो का प्रयोग भी किया है। इस दृष्टि से सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का नाम निश्चित रूप से अग्रिम पंक्ति में रखा जा सकता है। उनकी प्रकृति-परक रचनाओं में 'जाड़े की धूप' और 'मेघ आए' के बिम्बों में सांगरूपक का परिपूर्ण निर्वाह है। 'मेघ आए' में गाँव में आए नए पाहुन का और 'जाड़े की धूप' में किसी सुकुमारी नारी के बैठने, पढ़ने और स्वेटर बुनने का बिम्ब प्रस्तुत किया गया है। बिम्ब कहीं से खण्डित नहीं हुए, न ही उनकी क्रमबद्धता को तोड़ा गया है। मेघ बनठन कर गाँव में आया हुआ पाहुन है इसीलिए गाँव भर में उसके लिए आश्चर्य मिश्रित कौतूहल है। लोग दरवाजे और खिडकियाँ खोल-खोल कर उसे देखने लगे, पेड़ झुक कर, झांक कर, गर्दन उचका कर देखने लगे। आँधी चल पड़ी और उस पाहुन को देख कर धूल घाघरा उठा कर भागने लगी। बाकी चितवन से देखती हुई नदी ठिठक गयी और उसका घूँघट सरक गया। तब बूढ़े पीपल ने आगे बढ़ कर मेघ की अगवानी की। किवाड़ की ओट होकर शर्मीली लता बोली कि अब तुमने एक बर्ष बाढ हमारी सुधि ली है, बड़े निर्मोही हो तुम। ताल प्रसन्नचित हो गया और पाहुन के पैर परवारने को परात-भर पानी ले आया। क्षितिज की अटारी पर बिजली का सौन्दर्य चमकने लगा। उसने प्रियतम से क्षमा माँगी, भरम की गाँठ खुल गयी, मिलन हुआ और मिलन के अश्रु ढलक पड़े।[१४] यह परिपूर्ण और विशद बिम्ब

है। परन्तु सामान्यतः नवगीत में इतने बड़े और सुगठित बिम्बों का प्रयोग नहीं हुआ ! इस तरह के कुछ बड़े और परिपूर्ण बिम्ब बालस्वरूप राही, रामावतार त्यागी, नरेन्द्र श्रीवास्तव और रवीन्द्र भ्रमर में भी कहीं-कहीं दृष्टि-गोचर होते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि इसे सामान्य प्रवृत्ति नहीं कहा जा सकता।

यह कहा जा चुका है कि नवगीत के बिम्बविधान की प्रमुख विशेषता संवेदना को तीव्रता प्रदान करना है। इसलिए कहीं कहीं बिम्ब खण्डित हैं, कहीं छोटे हैं, कहीं अस्पृश्य और अमूर्त भी हैं। संवेदन को अधिक मार्मिक, तीक्ष्ण और क्षुरप्र बनाने के लिए दुहरे और विरोधी विम्बों का प्रयोग भी एक साथ किया गया है–

"घोंसलों में बाज सोते हैं यीशु सूली पर चढ़े हैं" (विजयकिशोर 'मानव'– "इस शहर का आदमी"- *नवगीत अर्द्धशती* - पृ. २३४) जैसे प्रयोग इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। कभी-कभी किसी अमूर्त संवेदना का पैनापन इसी तरह विरोधी बिम्बों के बीच रख कर ही वढ़ता और धारदार होता है। "चेहरे की देहरी पर। बैठे सुनसान देह हुई सुधियों का गूँजता मकान" (कुमार रवीन्द्र - "चेहरे की देहरी पर"- *नवगीत अर्द्धशती* - पृ.७९) जैसी पंक्तियाँ भी विरोधी बिम्बों से धारदार बनती संवेदना का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

डॉ.विनोद गोदरे गीत-तन्त्र के लिए बिम्ब नियोजन को आवश्यक नहीं मानते। उनका मानना है कि गीत में सहृदय और स्रष्टा के बीच अन्तराल असह्य होता है वहाँ कवि की संवेदना और सहृदय की अनुभूति में प्रत्यक्ष सम्बन्ध होना चाहिए। बिम्ब अपनी ऐन्दियता और सम्मूर्तता के कारण कवि को पूर्णतः मुखर नहीं होने देता जिससे गीतकार की निजता संकेतों में बदल जाती है। [१५] परन्तु नवगीत तो जीवन का गीत है, नितान्त नया है। यह महानगरीय संवेदनों, दुर्घटनाओं, यांत्रिक चीख-पुकारों और कोलाहल के बीच जन्मा है। यह कुह्मलाये सपनों और कृत्रिम अनुभूतियों का भी द्रष्टा है। टूटते मूल्यों का साक्षी है। यह लय को मानवता की अन्तर्लय से जोड़ रहा है, भावुकता का परित्याग कर रहा है और जीने की शर्तों से जुड़ा हुआ है। यह नयी पीढ़ी का नया गीत है। [१६] इसलिए "अचरज क्या। यदि नये गीत में। स्वर तुक ताल नहीं। उसमें स्पंदित है। इस युग का। उठता हर भूचाल" [१७] और इस भूचाल को स्पंदित करने में नवगीत ने बिम्ब-विधान का भी आश्रय लिया है। आज के जीवन की यन्त्रणा और पिसती कराहती मानवता की पीड़ा को गीतकार चाहे चाक्षुष बिम्बों के माध्यम से प्रकट करे या मानस बिम्बों के, परन्तु वह उसे प्रकट कर लेता है। उसके पास भाषा है जिसे उसने युग की आवश्यकता के अनुरूप गढ़ा है। उसके पास बिम्ब है जो उसकी जरूरत के मुताबिक उसके हाथों तलाशे और तराशे गए हैं इसीलिए–

(१) एहसासों के इन धक्कों में। बुलडोजर से दब जाता हूँ
कोलतार की इन सड़कों पर। मरा हुआ खुद को पाता हूँ
जख्मों पर कुत्तों की जीभें। लावारिस पंजे अनचाहे

(डॉ.उमाशंकर तिवारी - "शहर में डोलता कबन्ध" - *नवगीत अर्द्धशती* - पृ.६४) जैसे स्पर्शपरक बिम्ब हो या (ii) जीवन को बाँट दिया दो ही घटनाओं में। सोया संदेहों में जागा शंकाओं में (रामावतार त्यागी - *मेरा जीवन* - "गीत बोलते हैं" पृ.५३) जैसे संवेदनापरक वे आधुनिक जीवन की विसंगतियों और टूटने-जुड़ने की नियति को चित्रित कर लेते हैं।

आधुनिकता के जिन प्रस्थान-बिन्दुओं को रेखांकित किया गया है उनमें अस्तित्व-बोध, प्रश्नाकुल मनीषा, युगबोध, वैज्ञानिक चेतना, व्यर्थता-बोध की यन्त्रणा और हर मूल्य और परम्परा को कसौटी पर रख कर सही और खरा पाने पर ही उसे स्वीकार करने की वृत्ति प्रमुख है। अपने अस्तित्व के प्रति मानव सजग हुआ है, फलस्वरूप व्यक्तिवाद बढ़ा है। पुरानी परम्पराओं और स्थापित मूल्यों के प्रति संशय का भाव बढ़ा है। अतः प्रश्न तो है, उत्तर नहीं हैं। इसी कारण व्यक्ति को जीवन के व्यर्थता-बोध ने घेर लिया है। यह जीवन निरर्थक है, यह तो उसे लग रहा है परन्तु क्या करने से वह सार्थक हो जाएगा, यह उसे ज्ञात नहीं। संशय- ग्रस्त मानसिकता और ऊहापोह की यह स्थिति जलती आग और सूरज के रथ में जुटे घोड़ों के बिम्बों द्वारा सजीव की गयी है–

(i) "सभी ओर धुएं के पहाड़। जलते फुटपाथों के झाड़
लपटों की लहरें ऊँची। सड़कों पर खा रही पछाड"
(उमाशंकर तिवारी; "जल्ते शहर में" *नवगीत दशक* २ पृ.७९)

(ii) "सूरज के रथ में हम जुटे हुए घोड़े हैं
खुली पीठ पर गहरे उगे हुए कोडे हैं
भार टिकाए दिन का कन्धों के जोड़ पर
घबरा कर रुके कभी जब अन्धे मोड़ पर
– अमरनाथ श्रीवास्तव - "वही दुघमुंटी हँसी" - वहीं, पृ.१३३

(iii) "धूप में नहायी है उजली है
हमलावर होने को मचली है"
"– 'उद्‌भ्रान्त' प्रश्नों की भीड़" - *नवगीत अर्द्धशती* - पृ.५९

(iv) सहमा हुआ कबूतर। अपना मूल्य-बोध यह
और काल के धन्वा पर। यह झुका हुआ सर
– डॉ.राम सनेही लाल शर्मा 'यायावर'
– *मन पलाशवन और दहकती सन्ध्या* - पृ.९

महानगर बाहर ही नहीं, अन्तर में भी व्याप्त है। मूल्य भरभरा कर टूट गिरे हैं। सब-कुछ अन्धकारमय है। मूल्य-बोध कबूतर की तरह सहमा हुआ है। वातावरण में आग लगी है,

ऐसे में कोई गम्भीरता क्यों ? किस उद्देश्य को लेकर ? यह भावना इन बिम्बों में मुखर होकर उभरी है।

केवल महानगरीय जीवन की यन्त्रणा और व्यर्थता-बोध ही नहीं, नवगीत में प्रकृति के प्रति अनुराग भी मुखर हुआ है। गाँव का जीवन, वहाँ की निश्चल प्रकृति, अकृत्रिम व्यवहार और परिवेश अधिक सहज था। वह काम्य है। नवगीतकार उस ग्रामीण परिवेश और लोक-चेतना को पाने के लिए भी प्रयत्नशील है। इसीलिए प्रकृतिपरक बिम्बों की भी नवगीतों में बहुतायत है। कहीं इन प्रकृतिपरक बिम्बों का प्रयोग प्रकृति-चित्रण के लिए ही हुआ है और कहीं मानवीय संवेदनाओं को रूपायित करने के लिए भी हुआ है। वर्षा में बादल में लुकाछिपी करती हुई बिजलियाँ और लहरों में तिरती हुई चाँदी की मछलियों [१८] ग्रीष्म में नीम के पत्तों का झरना, मन की उदासी का बढ़ना, सम्पूर्ण परिवेश का सुनसान हो जाना, लुटे लुटे से शीशमों का उन्मन खड़ा रह जाना, बाँसों के वन की ध्वनि का कर्णकटु हो जाना, दोपहरी का थक कर ठहर जाना, आँखों का वीरान होकर उनमें रूखापन चमकने लगना, ठिठुरन की रातों का बीत जाना [१९] वसन्त में फागुन के दिनों का वौराना, हवा का दबे पाँव सिरहाने आकर बाँसुरी बजाने लगना और दुखते हुए सिर को सहलाना [२०] अंबिया का झांकना, पत्तों का गप्प हाँकना और ताल तलैयों का गप्प हाँकना [२१] फागुन की ओर से चिट्ठी लिखा जाना-जिसमें महुए के फूल और आम के बौर की चर्चा करना, स्वर्णिम फसलों पर मौसम की मोहर लगी होना, उस पत्र में विरामचिन्ह का छूट जाना [२२] फागुन के उस खत का चन्द्रमा के द्वारा बांचा जाना, चाँदनी का सोलह वर्ष की युवती हो जाना। उसका गौना किए जाने का निश्चय, उस पत्र में अन्य समाचारों में आम का बौर लगे होने का समाचार [२३] पर्वतीय परिवेश में पर्वत शिखरों से रुई के गालों की तरह उतरना, चीड़ की कतारों पर कसी बंधी राह पर चितकबरी धूप का चीतल की खाल की तरह बिछा होना [२४] आदि बिम्ब प्रकृति के सजीव और मार्मिक चित्र उकेरते हैं। प्रकृति के ये मोहक बिम्ब जहाँ उसका आकर्षक रूप प्रस्तृत करते हैं परन्तु कहीं कहीं प्रकृति के बिम्बों का प्रतीकात्मक प्रयोग भी नवगीतकारों ने बहुत सार्थकता के साथ किया है। इस तरह के प्रयोग में प्रतीकात्मकता के साथ प्रकृति का मानवीकरण भी किया गया है। ये मानवीकृत बिम्ब मानवीय संवेदनाओं, संक्रमित मूल्यों, ध्वस्त परम्पराओं और परिवेश की निराकार झंकृतियों को रूपायित करते हैं। मयक श्रीवास्तव के गीत 'नदी' में नदी एक प्रताड़िता नारी का रूप लेकर उपस्थित है जो गतिशील मानवीय नियति को प्रतीकित करती है। नदी अपनी पीड़ा से पीड़ित है, वह पुकार उठती है परन्तु मौसम उसके दर्द को नहीं सुनता है। नदी के किनारे रेत और बालू से अदावत मान बैठे हैं। शंख और सीपों के सहारे आखिर वह कब तक जिन्दगी बिताए; अब नदी इस दर्द को सह रही है परन्तु आश्चर्य है कि समुद्र में कोई तुफान नहीं उठता। नदी का मन तो मरुस्थल में दफन है। उसकी देह पर जंगल उगे हुए हैं। शरीर पर किश्तियों के खून के धब्बे लगे हुए हैं। फिर भी यह नदी चुप है। घाट कें पत्थरों को उठा कर हवा फेंक आयी है, पेड़ पौधों की लतायें गोद में निर्जीव लेटी हुई हैं। अब तो यह नदी वक्त

से मार खा रही है। नदी का यह प्रतीक समूचे युगीन परिवेश को रेखांकित कर रहा है।[२५] नदी जीवन की प्रवहमान और गतिशील धारा है। मौसम संक्रमणशील युग है। रेल-बालू मानवीय इकाइयाँ है। किनारे परम्परायें और पुरातन मूल्य हैं। शंख सीपी कल्पना पर टिके लक्ष्य और आदर्श हैं। समुद्र विराट् मानवीय अस्मिता है। मरुस्थल इच्छाओं की अतृप्ति है– आज मानवीय जीवन में अतृप्ति ही अतृप्ति भर गयी है। जंगल मानव जीवन में व्याप्त जंगली मनोवृत्ति का सूचक है। किश्तियाँ मानव-मूल्यों की प्रतीक हैं जिनका खून किया जा चुका है। हवायें परिवेश है जो घाट के पत्थर उठा कर फेक चुकी हैं। इसी तरह बालस्वरूप 'राही' ने अपने गीत 'यात्रा' में वीरान पहाड़ों को युग की दुर्दान्त और दुर्गम कठिनाइयों से जोड़ कर उन्हें पहाड़ों के बिम्ब द्वारा रूपायित किया है। इन पथरीले पीरान पहाड़ों पर जिन्दगी चढ़ते थक गयी है। पथरीले और वीरान पहाड़ों का बिम्ब जीवन की दुर्गम कठिनाइयों के लिए बड़ा ही सार्थ बिम्ब है।[२६] मौसमी हवायें, बादलों की गरज, पहाड़, तीतर, मोरपंख, धूल, पगडण्डी, चैत, फागुन, वसन्त, फूल, गन्ध, सावन, सोनमछरी, ताल, कमल सागर, तट, धूप-छांव आदि अनेक प्राकृतिक पदार्थों के बिम्ब भी स्थान-स्थान पर नवगीतों में प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। बंसवारी, आम्रमंजरी, कोयल, मोर, कागा, हिरन, आदि भी इसी तरह प्रतीकात्मक बिम्ब के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

पौराणिक परम्परायें और कथायें जीवन को एक सांस्कृतिक आयाम प्रदान करती हैं। नवगीतकारों ने पौराणिक और सांस्कृतिक बिम्बों का भी प्रयोग किया है। एक विशिष्ट तथ्य है कि नवगीत में पौराणिक और सांस्कृतिक सन्दर्भों का प्रयोग सीधे सीधे कहीं नहीं हुआ, वे सर्वत्र प्रतीक बन कर ही प्रस्तुत हुए हैं। कहीं कहीं घटनाओं, स्थितियों और परिवेश का मानवीकरण किया गया है। कौरवों की द्यूत-सभा, धर्मराज के जुए और द्रोपदी के दाँव पर लगने के मिथक का बिम्ब प्रस्तुत करते हुए उसे आधुनिक युग-बोध से सम्पृक्त करते हुए गीतकार कहता है–

"फेंक रही पासे। यह बीसवीं सदी। सभागार बीच खड़ी विवश द्रौपदी। धर्मराज खेल रहे खेल जुए का। बिछ गये बिसातों के दाँवों के दिन"[२७] युग की जहरीली और असहनीय यातनाप्रद स्थितियों को तक्षक के बिम्ब से भी साकार किया गया है। "अँधियारे में तक्षक के बेटे लेटे हैं जो फन फैला कर फुफकार रहे हैं और उनकी फुफकार से चारों ओर जहर फैल रहा है"[२८] जैसे बिम्बों में युग की जटिलता और विसंगतियाँ स्पष्ट हैं। परन्तु पौराणिक और सांस्कृतिक बिम्बों के द्वारा केवल युग की जटिलता की ही नहीं, कुछ रागात्मक प्रसंगों को भी रूपायित किया गया है। प्राकृतिक सौन्दर्य, कवि की मनस्विता, जीवन-मूल्यों के प्रति आस्था और निष्ठा को भी ऐसे ही बिम्बों के द्वारा साकार किया गया है। कवि कि सांस्कृतिक आस्था, जीवन के प्रति सम्पृक्ति और मूल्य-निष्ठा को रामायण-रचना के बिम्ब द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार गंगा के प्रवाह को वात्सल्यमयी गाय के बिम्ब और

देवव्रत के प्रति उसके स्नेह के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है– 'भूरवा कहीं देवव्रत टेरे। दूध भरी है छाती। दौड़ पड़ी ममता की मारी। तजकर संग संघाती। गंगा नित्य रंभाती फिरती। जैसे कपिला गइया। सारा देश क्षुधातुर बेटा-वत्सल गंगा मैया।" २९

सांस्कृतिक और पौराणिक बिम्बों की दृष्टि से नवगीत में कहीं कहीं पूर्ण चाक्षुष या सेन्द्रिय बिम्ब तो प्रस्तुत किए ही गए हैं। कहीं कहीं ऐसा भी किया गया है कि कवि अपनी अनुभूति को अधिक पैनापन प्रदान करने के लिए प्रतीकात्मकता के साथ बहुत छोटे छोटे बिम्बों में पौराणिक नामों या घटनाओं का प्रयोग करता है। ये बिम्ब युग-जीवन की अभिव्यक्ति का सार्थक माध्यम बन गये हैं। 'शाकुन्तल आँखों में खो गयी बरसात' *(नवगीत अर्द्धशती* - पृ. २९५) रोज रोज विष पीकर भी शंकर न बन पाने की नियति (**वहीं** - पृ. २२०) 'कर्जे की सुरसा का किसी तरह न उत्तर पाना" (**वहीं** - पृ. २०१) शाकुन्तल आस्था को शहरी मुस्कान का खलना (**वहीं** - पृ. ९३) 'शब्दों के पंख कटा कर जटायु की तरह जीने की विवश' (**वहीं** - पृ. १९४) 'युयुत्सु पीढ़ी का कन्धों पर खाली तरकरा लेकर युद्धभूमि में अभिभंगित होकर सो जाना' (**वहीं** - पृ. १३०) 'दिनों का शाकुन्तल और सहसई खोल कर उनमें मोरपंख रखना' तथा 'हवा का गीत गोविन्द लिखना' (**वहीं** - पृ. ९७) आदि बिम्ब ऐसे ही छोटे छोटे पौराणिक और सांस्कृतिक बिम्ब हैं जो अपनी प्रतीकात्मक अस्मिता में जीवन और युगीन परिवेश के विविध पक्षों को उद्घाटित कर रहे हैं।

इस संक्षिप्त आलेख में नवगीत के बिम्ब-विधान को शास्त्रीय, परम्परागत और पूर्वस्वीकृत सांचे में कस कर प्रस्तुत करना और ऐन्द्रिय-चाक्षुष, घ्राणपरक-मानस, गत्वर, स्थिर आदि बिम्ब-भेदों, उपभेदों के वर्गीकरण को आधार मान कर परखना अधिक सुविधाजनक और सरलीकृत मार्ग हो सकता था। परन्तु प्रयास इनसे अलग हट कर रचनाओं को ही आधार बनाने का और उन्हें अपनी ही दृष्टि से परखने का किया गया है। इतना निश्चित है कि नवगीत का बिम्ब-विधान किसी परम्परा का अनुगामी नहीं है। वह अनुभूति का अनुगामी है। नवगीत में युगबोध और अनुभूति का खरापन अधिक ग्राह्य और स्वीकार्य है। बिम्ब-विधान तो उनको शक्ति प्रदान करने वाला शैल्पिक आयाम है। इनसे नवगीत की भाषा और शिल्प-क्षमता में अद्भुत शक्ति उत्पन्न हुई है।

रामसनेहीलाल शर्मा

हिन्दी विभाग
एस.एस.के स्नातकोत्तर कॉलेज
फिरोजाबाद – २८३ २०३
(उत्तरप्रदेश)

टिप्पणियाँ

१. डॉ. भगीरथ मिश्र - *काव्य मनीषा* - पृ. २८५ - १९६९ हिन्दी समिति सूचना विभाग उ. प्र. लखनऊ

२. "Imagery is a mode of expression of experience in the form of mental pictures" – Km. Adith Riebert, New Mode of The Study of Literature - p. २७

३. Km. Kaiselin Sparjan - Shakespeare's Imagery and what it Tells Us, Cambridge University Press - 1965, p. ९.

४. डॉ. नगेन्द्र - *काव्य बिम्ब* - पृ. ५ - १९६७ - नैशनल पब्लिशिंग हाऊस - दिल्ली

५. रेनवेलेक, आस्टिन वारेन - *थ्योरी ऑफ लिटरेचर* का हिन्दी अनुवाद - *साहित्य सिद्धान्त* - अनुवादक - बी. एस. पालीवाल - पृ. २४३ - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

६. *काव्य बिम्ब* - प्रथम अध्याय

७. Robin Sheltan - The Poetic Pattern - p. ९०-९१ - १९५६, (Rautledge and Kegan Paul)

८. *काव्य-मनीषा* - पृ. २८९.

९. डॉ. सुशीला शर्मा - *तुलसी-साहित्य में बिम्ब योजना* - पृ. ३१६-१९७२ कोणार्क प्रकाशन, दिल्ली.

१०. डॉ. रामदरश मिश्र - *गीत पत्रिका,* अंक २ दिल्ली - "आज का गीत : एक निजी प्रतिक्रिया" - पृ. २१

११. नईम - *नवगीत दशक* - १ -पृ. ५ - १९८२ - पराग प्रकाशन, दिल्ली

१२. डॉ. रामसनेही लाल शर्मा - *मन पलाशवन और दहकती सन्ध्या,* पृ. २९ - १९८७ - पोरवाल प्रकाशन, टूण्डला

१३. चन्द्रभूषण - *नवगीत दशक* - पृ. ९२

१४. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना - "मेघ आये" - *नवगीत अर्द्धशती* - पृ. २७१-२७२ सन १९८८ - पराग प्रकाशन, दिल्ली.

१५. "यद्यपि बिम्ब-संयोजन गीत-तंत्र के लिए आवश्यक नहीं है, क्योंकि गीत में सहृदय एवं स्रष्टा दोनों के मध्य किसी भी प्रकार का अन्तराल असह्य है, बिम्ब अपनी ऐन्द्रियता एव सम्मूर्तता के कारण कवि को सम्पूर्णतया मुखर नहीं होने देता। वह एक मिथ्या मर्यादा का निर्माण कर देता है जिससे गीतकार की अपनी निजता स्पष्ट होने के बजाय संकेतों में बदल जाती है। अतः गीत-शिल्प में बिम्ब-विधान को प्रमुखता नहीं दी जाती है। – डॉ. विनोद गोदरे; *छायावादोत्तर हिन्दी प्रगीत* - पृ. २४८ - १९७५ - वाणी प्रकाशन, दिल्ली.

१६. बालस्वरूप राही - *जो नितान्त मेरी है* - पृ. १-२ -१ १९७५, - नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली

१७. विद्यानन्द राजीव - "कब क्या लिले कलम" - *नवगीत अर्द्धशती* - पृ. २२७

१८. रवीन्द्र भ्रमर - *जामुनी घटाएं - सोनमद्दरी मन बसी* - पृ. ५९ - १९८० - ग्रन्थायन प्रकाशन, दिल्ली.

१९. डॉ. केदारनाथ सिंह - "दुपहरिया" - *नवगीत अर्द्धशती* - पृ. ८७.

२०. बुद्धिनाथ मिश्र - "दिन फागुन के" - वहीं - पृ. १०१

२१. नारायणलाल परमार - "दिन पके हुए" - वहीं - पृ. १४८

२२. महेन्द्र शंकर - "एक फूल महुए का" - वहीं - पृ. १७७

२३. श्यामसुन्दर दुबे - "फागुन जोगलिखी" - वहीं - पृ. १५७

२४. डॉ. जगदीश गुप्त - "मरकत घाटी में" - वहीं - पृ. १०६

२५. आह भरती है नदी । टेर उठती है नदी

और मौसम है कि उसके
दर्द को सुनता नहीं
रेत बालू से अदावत
मान वैठे हैं किनारे
जिन्दगी कवतक बिताएं
शंख-सीपी के सहारे
मन-मरुस्थल में दफन है
देह पर जंगल उगे हैं
तन-बदन पर किश्तियों के
खून के घब्बे लगे हैं

— मयंक श्रीवास्तव - "नदी" - वहीं - पृ. १७२-१७३

२६. इन पथरीले वीरान पहाडों पर
जिन्दगी थक गई है चढ़ते चढ़ते
— वालस्वरूप राही, *जो नितान्त मेरी है* - पृ. ४१

२७. सत्यनारायण - "घाट बंधी नावों के दिन" - *नवगीत अर्द्धशती* - पृ. २०७

२८. कौशलेन्द्र प्रताप सिंह - "चारे ओर जहा" - वहीं - पृ. ८९

२९. उमाकान्त मालवीय - "गंगा मइया" - वहीं' - पृ. ६१.



परामर्श (हिन्दी) के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से सम्बन्धित विवरण

फॉर्म ४ (नियम ८ देखिये)

१.	प्रकाशन स्थान	:	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय पुणे-४११ ००७
२.	प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
३.	मुद्रक का नाम	:	डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिङ्गे
	पता और राष्ट्रीयता	:	१, मोरेश्वर हाउसिंग सोसायटी, बाणेर रोड, पुणे-४११ ००७ भारतीय
४.	प्रकाशक का नाम,	:	डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिङ्गे
	पता और राष्ट्रीयता	:	१, मोरेश्वर हाऊसिंग सोसायटी, बाणेर रोड, पुणे - ४११ ००७ भारतीय
५.	सम्पादकों के नाम,	:	डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिङ्गे
	पता और राष्ट्रीयता	:	१. १ मोरेश्वर हाउसिंग सोसायटी, बाणेर रोड पुणे - ४११ ००७, भारतीय २. डॉ. राजेंन्द्र प्रसाद, स्टेडियम मुख्य दरवाजे के सामने, प्रेमचंन्द पथ, राजेंन्द्र नगर पटना - ८०० १६, भारतीय ३. डॉ. आनन्द प्रकाश दीक्षित, 'कलापी', प्लॉट क्रं. २५३७, पोलिस परिवहन कार्यशाला के पीछे, बाणेर रोड, औंध पुणे - ४११ ००७, भारतीय ४. डॉ. मोरेश्वर प्रभाकर मराठे, दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे - ४११ ००७, भारतीय
६.	उन व्यक्तियों/संस्थाओं के नाम व पते जो समाचारपत्र के स्वामी हों।	:	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय पुणे - ४११ ००७ और प्रताप तत्वज्ञान, केंद्र, अमलनेर - ४२५ ४०१ जिला - जलगांव, (महाराष्ट्र)

मैं, सुरेन्द्र शिवदास बारलिङ्गे, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

- सुरेन्द्र बारलिङ्गे



पद-स्वरूप (न्याय मतानुसार)

प्रस्तुत प्रबन्ध का उद्देश्य न्याय मतानुसार पद के लक्षण और उसके स्वरूप पर विचार करना है। इसके लिए आवश्यक है कि वैयाकरणों के मतों की भी चर्चा को ध्यान में रखा जाय। इस उद्देश्य से प्रस्तुत प्रबन्ध को मुख्यतः तीन खंडों में विभाजित किया गया है। पहला, जिसमें वैयाकरणों के मत की विस्तार से आलोचना की गई है,। दूसरा, न्याय मत का सविस्तार से उल्लेख किया गया है। तीसरा, जगदीश के द्वारा दी हुई "सार्थक शब्द" की परिभाषा पर विशेष रूप से विचार किया गया है। यद्यपि न्याय के ही अन्तर्गत इसका उल्लेख प्रासंगिक था, फिर भी इसका उल्लेख पृथक् खंड में किन्हीं कारणों से किया गया है।

I

व्याकरणशास्त्र पदशास्त्र के रूप में प्रसिद्ध है। पदशास्त्र का अनुसरण करके ही संसार में सर्वशास्त्रों का व्यवहार जगत् में होता है। पदज्ञान के बिना किसी भी शब्द का सम्यक् अर्थ ज्ञात नहीं हो सकता है। इसलिए पद-स्वरूप का विचार आवश्यक है। "पद" शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ "छञ्" प्रत्यय से युक्त होकर पद्यते गम्यते अर्थात् ज्ञातते अर्थो येनेति प्राप्त होता है। *यजुर्वेद प्रातिशाख्य* में कहते हैं - "अर्थः पदम्" (अ. ३, सू. २) पंतजलि भी कहते हैं कि "शब्देनोच्चारितेनार्थे गम्यते" (*महाभाष्य* १.१.६८) अर्थात् शब्द के उच्चारण से अर्थ का बोध होता है, अथवा यों कहें कि शब्द के साथ अर्थ का गहरा सम्बन्ध है। क्योंकि शब्द के बिना अर्थ का बोध नहीं होता है। प्रश्न उठता है कि शब्द क्या है ? पंतजलि कहतें हैं–

"येनोच्चारितेन सास्नालांगूलककुद खुर–
विषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः" – *महाभाष्य* --

अथवा जिसके उच्चारण से सास्ना, लांगूल, ककुद, खुर और सींग वाले पशु का बोध होता है वह शब्द है। इसमें "उच्चारण" और "संप्रत्यय" दोनों शब्द, "शब्द" के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। शब्द वह है जो उच्चारित होता है और किसी अर्थ का प्रत्यायक भी होता है। उच्चारण "शब्द" के ध्वन्यात्मक स्वरूप को सामने लाता है और "संप्रत्यय" शब्द के सांकेतिक रूप को व्यक्त करता है। पंतजलि का दूसरा वक्तव्य है–

"प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तस्माद् ध्वनिः शब्दः।
– *महाभाष्य*--

अर्थात् प्रतीतपदार्थक ध्वनि को शब्द कहते हैं। प्रतीतपदार्थक का तात्पर्य है लोकप्रचलित अर्थ अथवा ऐसे शब्द जो सर्वसाधारण के लिए समान अर्थ रखते हैं। इस अर्थ

में आदैव, टि, धु, म, आदि प्रतीतपदार्थक शब्द नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि पशु, अपत्य, देवता आदि प्राप्त- पदार्थक शब्द हैं। यदि संप्रत्यायक ध्वनि को शब्द माना जायेगा तो टि, धु, म, आदि कृत्रिम संज्ञायें भी शब्द मानी जायेंगी, क्योंकि "टि" आदि से भी संप्रत्यय किसी न किसी को तो होता ही है। किन्तु "टि" आदि सबके लिए शब्द नहीं हैं, इसलिए संप्रत्यय के स्थान पर "प्रतीतपदार्थक" रखना पतजंलि को अधिक उपयुक्त जान पड़ा होगा। पहली परिभाषा में कृत्रिम संज्ञायें भी शब्द हैं, दूसरी परिभाषा के अनुसार सामान्य रूप से वे शब्द नहीं हैं। पहली परिभाषा में संप्रत्यय प्रधान है। दूसरी परिभाषा में ध्वनिरूप प्रधान है।

समस्त व्यवहारिक क्रियाकलाप का आधार शब्द है, किन्तु शब्दों का यथार्थ ज्ञान बिना व्याकरण के नहीं होता है। एतएव शब्दों के तात्त्विक ज्ञान के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है। शब्दों के दो रूप हैं - एक शब्दत्व और दूसरा साधुत्व। शब्द के शब्दत्व का ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय से हो जाता है, परन्तु उसके साधुत्व का ज्ञान व्याकरण से ही होता है। व्याकरण के द्वारा शब्दों का अनुशासन किया जाता है, तब वे पद कहलाते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि पद क्या है? *शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य* में कहते हैं– "अक्षर-समुदायः पदम् अक्षरं वा"। (अ.८ सू.४१-४१)

यहाँ पर 'रामः', 'कृष्णः' इत्यादि अक्षर-समुदाय का उदाहरण है। अ - ई - उ वर्ण अक्षर पद के उदाहरण हैं। "अ" कार वासुदेव का, ई - कार लक्ष्मी का, उ-कार शम्भु वाचक प्रसिद्ध है। वैसे, तो *तैत्तीरीय प्रातिशाख्य* में "एकवर्णः पदमिति" (अ.१ सू.५४) कहा गया है, लेकिन बाद में "वर्णसमूहः पदम्" कहा गया है। पाणिनी प्रत्याहार के द्वारा" "सुप्तिङ्न्तंपदम्" (१/४/१४) लक्षण करते हैं। "सु" प्रातिपदिक संज्ञा के बाद और "तिङ्" धातु के बाद आते हैं। यथा रामः, रामौ, रामाः। भवति, भवतः भवन्ति इत्यादि। पदज्ञान के बिना साधु-शब्द का ज्ञान नहीं होता है और बिना साधु-प्रयोग के कामधुग् नहीं हो सकता।

"एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः, सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवतीति।

(*महाभाष्य* - ६/१/८४)

वार्तिककार कात्यायन भी पद का लक्षण पाणिनि के ही मिलते-जुलते स्वर में करते हैं। "विभक्त्यन्तं पदम्"

(*महाभाष्य* १/२/३ —)

अर्थात् विभक्तियुक्त वर्ण-समूह ही पद कहलाता है। लेकिन किसी भी वर्ण-समूह को विभक्ति-युक्त करने से पद नहीं कहा जा सकता है; वह वर्ण-समूह अर्थवत् होना चाहिए। तभी उसमें विभक्ति का प्रयोग करके उसे "पद" कहलाने का गौरव प्राप्त हो सकता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि "वर्णसमूह" या वर्ण जबतक सार्थक न हो, उनमें विभक्ति का योग करके "पद" नहीं बनाया जा सकता है। सम्पूर्ण शब्दराशि का विभाजन ही अर्थवत्ता की दृष्टि

से किया गया है। धातु और प्रातिपदिक अव्यवहार्य व्याकरणात्मक दो इकाईयाँ हैं, उन्हीं का व्यावहारिक रूप "नाम" और "आख्यात" है। नाम के अन्तर्गत संज्ञा, विशेषण और सर्वनाम, तीनों ही आ जाते हैं। वे तीनों ही द्रव्यों के अभिधायी हैं। इसलिए उन्हें नाम या सत्त्व के बृहद् वर्ग में रखना ही उचित है। दूसरी ओर कर्मप्रवचनीय, उपसर्ग, निपात में विभक्ति का प्रयोग नहीं होता है। पाणिनि इन सबको अव्यय का नाम देते हैं; साथ में वे इन्हें मूलतः सप्रत्यय भी कल्पित करते हैं। बाद में वे इनका लोप भी मान लेते हैं। पर अव्यय नाम देने के बाद वे इन्हें प्रातिपदिक से पृथक् ही मानते हैं। यद्यपि नाम और प्रातिपदिक में कोई भेद नहीं है, तथापि विभक्ति जुड़ने से पूर्व की संज्ञा-अवस्था को प्रातिपदिक कहते हैं। पाणिनि कहते हैं धातु और प्रत्यय को छोड़ कर अर्थवान् शब्द-स्वरूप की प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

"अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (१/२/४५)

जैसे - डित्थ., कपित्थः इत्यादि।

काशिकाकार कहते हैं–

"अर्थवच्छशब्दरूपं प्रातिपदिक संज्ञा भवति धातु प्रत्ययौ वर्जयित्वा"।

सृष्टिधर, सत्रहवीं शताब्दी के एक बंगाली टीकाकार, ने "प्रातिपदिक" शब्द की व्युत्पत्ति "प्रतिपद" शब्द के साथ ठक् प्रत्यय योग करके बना है जिसका अर्थ है कि प्रातिपदिक सभी विभक्त्यन्त पदों के अन्तर्भुक्त शब्द को कहते हैं। जैसे - वृक्षः, वृक्षम्, वृक्षान् इत्यादि के अन्दर निहित "वृक्ष " शब्द प्रातिपदिक कहलाता है।

"प्रातिपदिक इति बृहत्याः संज्ञायाः प्रतिपादनेन प्रतिपदं गृह्ण" ति व्युत्पत्त्या पदोत्तरपदं गृह्णाति (४.४.३९) इति ठकि सर्वेष्वेव पदेषु यानि यानि वृक्षादीनि समन्वयन्ति तेषाम् एव संज्ञा।"

ऊपर के सूत्र १/२/४५ से पता चलता है कि वैयाकरणों के मत में प्रातिपदिक धातु और प्रत्यय सभी अर्थवान् होते हैं, पर धातु और प्रत्यय का व्यावर्तन प्रातिपदिक से करने के लिए ही अधातु और अप्रत्यय का योग किया है। लेकिन ये सभी अर्थवान् होते हुए भी स्वतंत्र रूप से प्रयोग में नहीं लाये जाते हैं जब तक प्रातिपदिक विभक्ति प्रत्यय स्वरादि और धातु विभक्ति प्रत्यय तिबादि के साथ युक्त नहीं होते हैं। इसी तरह से प्रत्यय भी स्वतंत्र रूप से अर्थ के बोधक नहीं होते हैं जब तक वे प्रातिपदिक और धातु के साथ युक्त नहीं होते।

प्रश्न उठता है कि अर्थवत् कहने का क्या तात्पर्य है? नागेश *शब्देन्दु शेखर* में कहते हैं–

"अर्थत्वं च एतत्संज्ञाफलीभूत विभक्तितरसमभिव्याहार नापेक्षया लोकेऽर्थविषयक बोधजनकत्वम्"

इसका तात्पर्य है कि लोकनिर्दिष्ट अर्थविषय के बोध का जो जनक हो वही अर्थवत्,

कहलाता है। अर्थवत् का स्पष्टार्थ काशिकाकर करते है "अभिधेयवचनोऽर्थ शब्दः" अर्थात् जिसके द्वारा अर्थ का बोध हो वही अर्थवत् है। ऐसा कहने से अभाववचन भी अभिधेय हो जायेगा क्योंकि इसके द्वारा भी किसी न किसी अर्थ का बोध तो होता ही है। इस प्रकार अभाव वचन को भी प्रातिपदिक संज्ञा प्राप्त होती है।

"अभावोऽप्यभिधेयो भवत्येव। अन्यथा ह्यर्थाभावादितीदं वचनमनुचरणीयं स्यात्, अनर्थकत्वात् न ह्यनर्थक वचनं प्रयोगमर्हति। तस्मादभाववचनानामपि प्रातिपदिक संज्ञा भवत्येव।"

– *न्यास* १/२/४५

वैयाकरणों के मतानुसार "शशविषाण" इत्यादि शब्द भी अर्थवत् हैं और उन्हें प्रातिपदिक संज्ञा प्राप्त होती है, क्योंकि इसके द्वारा बोद्धार्थ का बोध होता है। पर इसकी चर्चा करना हमें यहां अभीष्ट नहीं है। ऊपर कहा जा चुका है कि प्रकृति (नाम और धातु) विभक्ति-युक्त होकर ही पद कहे जाते हैं। यदि ऐसा ही है तो प्रकृति और प्रत्यय के समुदाय को एक इकाई मान कर ही उन्हें पद कहा जाय, प्रकति और प्रत्यय दो अलग-अलग भाग करने की क्या आवश्यकता है? इस पर कहते हैं कि यद्यपि ऐसा कहना सही है, परन्तु अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ का ग्रहण किया जाता है। जैसे - वृक्षः में "वृक्ष" प्रकृति है, "सु" प्रत्यय है। दोनों का अर्थ पृथक्-पृथक् है, फिर भी जब इनका प्रयोग होता है तो "वृक्षः" रूप में ही होता है। अन्यथा वृक्ष + सु = वृक्षः, घट + सु = घटः, पट + सु = पटः, इत्यादि स्थलों में प्रकृति भिन्न होने पर भी प्रत्यय एक ही रहता है, तथा वृक्ष + सु = वृक्षः, वृक्ष + औ = वृक्षौ, वृक्ष + अस् = वृक्षाः, आदि स्थल में वृक्ष प्रकृति एक है, पर प्रत्यय भिन्न भिन्न ऐसा बोध नहीं होगा। यदि "वृक्ष" यह सामान्य रूप से बोध कराता तो वृक्ष सुनने से वृक्षः, वृक्षौ, वृक्षाः तीनों का ही बोध हो जाता; अथवा "सु" सुनने से घट, पट, वृक्ष आदि सभी का बोध हो जाता। पर ऐसा नहीं होता है। इसलिए "प्रकृति प्रकृत्यर्थ है, और प्रत्यय प्रत्ययार्थ है" ऐसा ही अन्वय व्यतिरेक से मानना चाहिये।

"एवं कल्पितन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृति प्रत्ययविभागं
तयोरर्थत्वं च परिकल्प्य शास्त्रेष्वाख्यानमिति भावः।

– *महाभाष्य प्रदीपोद्योत* - १/२/४६.

इससे एक बात और उभर कर आती है कि वैयाकरण सिर्फ पद-रचना को अर्थ के द्वारा नियन्त्रित मानते हैं। बगान में एक ही वृक्ष होने पर "वृक्षः" कहना ही व्याकरण की दृष्टि से सही है, वृक्षौ नहीं, इसका कारण है कि वास्तविक पदार्थ (वृक्ष) एक ही है। अतएव यह सिद्ध होता है कि वैयाकरण भी भाषा की शुद्धता अर्थ द्वारा ही नियन्त्रित मानते हैं। "सुप्तिङ्न्तंपदम्" कहना व्याकरण की दृष्टि से कहना ठीक है, पर इसके पीछे एक पूरा अर्थ-संसार काम कर रहा

है, उसकी कतई उपेक्षा नहीं की जा सकती।

यह बात और भी साफ हो जाती है जब पाणिनि "समर्थः पदविधिः" (२/१/१) सूत्र में कहते हैं कि समर्थपदों में ही परस्पर अन्वय संभव हो सकता है। काशिकाकार कहते हैं–

"समर्थः = शक्तः। विग्रहवाक्यार्थाभियाने यः शक्तः स समर्थो वेदितव्यः।"

अर्थात् जो शक्तिविशिष्ट हो उन्हीं दो पदों में अन्वय संभव हो सकता है। व्याकरण में शक्ति के दो भेद कर लिये जाते हैं– व्यपेक्षा और एकार्थीभाव। व्यपेक्षा वाक्यविज्ञान की शक्ति है जो पदों का वाक्य में सम्बन्ध निर्धारित करती है। एकार्थीभाव वह शक्ति है जो अनेक अर्थों को एक अर्थ में परिणत कर लेती है। वही सभासदि की शक्ति है। यहां पद प्रधान अर्थ के लिए अपने अर्थ को गौण बना लेता है अथवा छोड़ देता है। इस तरह पद का अर्थ व्यर्थ हो जाता है या अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति करता है।

"पृथगर्थानामेकार्थीभावः समर्थवचनम्" (२/१/१, *वार्तिक।*)

अथवा

"पृथक् पृथगर्थोपस्थापकपदानां समुदायनिष्ठैकशक्त्या
एकोपस्थितिजनकत्वमेकार्थीभावः।"

यहां पर "शक्तं पदम्" नैयायिकों के मतानुसार पद का लक्षण समझना चाहिए। राज्ञः पुरुषः = राजपुरुषः आदि में अलग-अलग अर्थों के उपस्थापक पदों का समुदायनिष्ठ-शक्ति के द्वारा "राजविशिष्ट पुरुष" रूप एक अर्थ की उपस्थिति जनकता है जो जल और धूल की तरह मिल कर एकार्थीभाव को प्राप्त होते हैं। "राजपुरुष इत्यत्र राजशब्दोऽपि पुरुषोऽर्थमेवाचष्टे इति द्वयोरेकार्थीभावो भवति। अथवान्य एवावयवार्थान्वितः समुदायार्थः प्रादुर्भवतीति तदपेक्षयैकार्थीभाव उच्यते पांसूदकवदेकभावापन्नत्वात्। यद्यपि शब्दान्तरमेव वृत्तिः अवयवा वर्णवदनर्थकाः। तथापि सादृश्यात् तत्त्वाध्यवसाय पदानामाश्रित्य पृथगर्थानामेकार्थी भाव इत्युक्तम्। "समर्थ वचनमिति" समर्थ शब्दस्य वाच्यं इत्यर्थः।

– *महाभाष्य प्रदीप* २/१/१

समास में दोनों पद स्व स्व अर्थ का निरूपण करके समुदाय रूप से विशिष्ट अर्थ का निर्देश करते हैं। कभी-कभी पद स्व स्व अर्थ को लेकर समुदाय से अर्थ निर्देश करते हैं।

"पदानां तत्तद्विषयताविशिष्टेऽर्थे शक्तिः। अतएव बोधे विषयतानियमः। एवंच राजपदादे राजत्व निष्ठप्रकारितानिरूपित विशेष्यत्वावच्छिन्नं स्वार्थस्तत्र समासे विशेष्यत्वांशत्याग इत्येतावता जहत्स्वार्थत्वमिति। अत्र च बीजं समुदायशक्तिः। एवं च अवयवशक्तिसहकृतसमुदायशक्त्या विशिष्टैकोपस्थितिरिति तत्त्वम्।

– *महाभाष्य प्रदीपोद्योत* (२/१/१)

व्यपेक्षावाद में यह माना जाता है कि पद परस्पर साकांक्ष होते हैं, उनमें एक दूसरे की आकांक्षा होती है।

"परस्पर व्यपेक्षा सामर्थ्यमेके" (२/१/१, *वार्तिक* ४)

व्यपेक्षा वाक्यविज्ञान की वह शक्ति है जो पदों का वाक्य में सम्बन्ध निर्धारित करती है। एकार्थीभाव वह शक्ति है जो अनेक अर्थों को एक अर्थ में परिणत कर लेती है। वह समासादि की शक्ति है। न्याय में एकार्थीभाव जैसे किसी शक्ति को मान्य नहीं किया जाता है। वहाँ समास में लक्षणावृत्ति स्वीकार की जाती है। अतः न्यायमत मे एकार्थीभाव को समास न कह कर पदों के एकपदीभाव को समास नाम देते हैं। एकार्थीभाव शक्ति अमान्य करने से नैयायिकों को बहुब्रीही में लक्षणा मान्य करनी पडती है। उदाहरणार्थ पीताम्वर - पीत और अम्बर शक्ति से अपना अर्थ लेते हैं, धारण-कर्ता का अर्थ लक्षणा से आता है। द्वन्द्व समास में वैसे तो लक्षणा होती ही नहीं है, पर समाहार में लक्षणा मानी जाती है - त्रिलोकी इत्यादि। किन्तु वैयाकरण समास-शक्ति को पद-शक्ति में ही समाहित करते हैं। फिर भी चाहे हम व्याकरण-सम्मत एकार्थीभाव की बात करें या न्याय-सम्मत लक्षणा का सहारा लेकर चलें, अर्थगत विविधता हमें प्रयोग और प्रसंग के अधीन ही दिखाई पडती है।

उदाहरण के लिए "राज्ञः भार्या, पुरुषो देवदत्तस्य" यहाँ पर राज्ञः और "पुरुषः" समर्थ न होने के कारण समासबद्ध नहीं होते हैं।

प्रश्न उठता है कि क्यों नहीं समास-बद्ध हो सकते ? तो इसका एकमात्र उत्तर हो सकता है कि यह तो सापेक्षता, अर्थबोध या तात्पर्यबोध से ही मालूम पड़ जाता है। एक दूसरा उदाहरण लें "राजगवीक्षीर" : यहाँ पर हम अपनी इच्छानुसार (राजगवी), क्षीर अथवा 'राजगोक्षीर' स्थल में राज (गोक्षीर) कर सकते हैं। क्योंकि इसमें मुख्यता वक्ता के बोध पर निर्भर करती है। इन दोनों उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पदों की समासबद्धता अर्थ-निर्भर है और अर्थ-बोध तात्पर्य-बोध के द्वारा नियन्त्रित होता है।

"समर्थः पदविधिः" इस सूत्र के आलोचना प्रसंग में यदि हम वापस जाएं तो देखेंगे कि सामर्थ्य पदशक्ति न होकर पदों की परस्पर अन्वयशक्ति को ही लेना होता है। महाभाष्यकार ने इसके लिए सापेक्ष समर्थ कहा है। अर्थात् पद एक दूसरे की अपेक्षा रखता है, यही सामर्थ्य है। समर्थ शब्द का अर्थ है (१) समर्थ वह है जिसका अर्थ संगत है। (२) संसृष्ट अर्थवालों को समर्थ कहेंगें। (३) संप्रेक्षित अर्थवाला समर्थ होता है। (४) समर्थ वह है जिसमें अर्थ-संबंध रहते हैं। पहले दो अर्थ एकार्थी भाव (समास) के लिए हैं, अन्तिम दो अर्थ व्यपेक्षा (वाक्य) के लिए हैं। उक्त दृष्टि से सामर्थ्य अथवा शक्ति को वाक्य के भीतर ही लिया जाता है। अलग-अलग पदों के अर्थ को लेकर प्राचीन व्याकरण में शक्ति-विचार नहीं हुआ। नागेश कहते हैं– वाक्य ही समर्थ होता है, पदों में केवल संकेत रहता है। इन पदों को वाक्य में

कल्पित कर लिया जाता है। इसी प्रकार पद में भी प्रकृति-प्रत्यय के खंड कल्पित कर लिये जाते हैं। यह सारी परिकल्पनाशास्त्र मात्र की वस्तु है, व्यवहार में वाक्य-शक्ति ही मान्य है। फिलहाल इस वक्तव्य की आलोचना यहाँ प्रासंगिक नहीं है।

वैयाकरणों का मत है कि "पंकज" शब्द में रूढ्यर्थ के कारण जैसे विशेष शक्ति स्वीकार की जाती है, वैसे ही समास में भी पृथक् शक्ति स्वीकार करनी चाहिए और वही एकार्थीभाव है। "पंकज" शब्द का अवयवार्थ है जो पंक में उत्पन्न होता है। लेकिन रूढिगत अर्थ में सिर्फ "कमल" के लिए ही प्रसिद्ध है। अर्थात् अपनी अवयवशक्ति का त्याग करके समुदायशक्ति से कमल अर्थ को ग्रहण करता है। वैसे ही समास अन्तर्निहित पदों के पृथक् अर्थ होने पर भी उनमें समुदायनिष्ठता के आधार पर एकार्थीभाव प्राप्त हो जाता है। परन्तु जहाँ पर रूढ्यर्थ का बाधक होता है वहीं समास में जहत्स्वार्था वृत्ति लेनी चाहिये।

"जहत्स्वार्थी तु तत्रैव यत्र रूढिविरोधिनी। अवयवार्थविरुद्धो यत्र समुदायार्थ तत्रैवसेति तदर्थः। यथा अश्वकर्णमण्डपादौ।"

– *सिद्धान्त कौमुदी*

वैयाकरणों के मत में "वृत्ति" शब्द का एक विशेष स्थान है। नागेश पद-संपादक सभी विधि को पदविधि कहते हैं, यानि वृत्ति मानते हैं। परार्थ के अभिधान का नाम वृत्ति है।

"परार्थाभियानं वृत्तिः"

– *महाभाष्य*, २-१-१

पदार्थ या अन्तर्हित अर्थ को स्पष्ट करने या सामने लाने वाली विश्लेषणपद्धति को वृत्ति कहते हैं। अथवा "वृत्ति" एक ऐसी विशेष पद्धति है जिसके द्वारा विभिन्न पदों में युग्म-संपादकता संभव होती है। वृत्ति शब्द की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गई है। जैसे–

परस्य = विग्रहवाक्यावयपदार्थेभ्योन्यस्य यस्य विशिष्टैकार्थे यस्याभिधानं यत्र भवति सा वृत्तिरिति कथ्यते। अर्थात् विग्रहावस्थायां येषां येषां स्वार्थपर्यवसायिपदानां परिनिष्ठितेषु सम्मिलितैकार्थो बोधो यया शक्त्या भवति सा वृत्तिरिति भावः। परस्य शब्दस्य योऽर्थास्याभिधानं शब्दान्तरेणयत्रसा वृत्तिरित्यर्थः यथा राजपुरुष इत्यत्र राजशब्देन वाक्यावस्थामनुक्तः पुरुषोऽर्थोऽभिधीयते।

– *महाभाष्य प्रदीप* (२/१/१)

वृत्ति-स्वरूप के सम्बन्ध में भी वैयाकरण कभी जहत्स्वार्थी और कभी अजहत् स्वार्थीवृत्ति स्वीकार करते हैं। जहत्सवार्था वृत्ति में पद अपने अपने अर्थ का परित्याग करके समुदाय-निष्ठ अर्थ ग्रहण करता है, जबकि अजहत्स्वार्था वृत्ति में पद अपने अपने अर्थ का बिना परित्याग किए हुए एकार्थीभाव को प्राप्त हो जाता है। समास में यदि अजहत्स्वार्था वृत्ति स्वीकार की जाय तो "राजपुरुष" कहने पर पुरुषमात्रस्यानयनं प्राप्नोति।

"औपवगमानय" कहने पर अपत्य मात्र का आनयन होगा। फिर यदि अजहत्स्वार्था वृत्ति मानी जाय तो "उभयो विद्यमानस्वार्थयोर्द्वयो द्विवचनमिति द्विवचनं प्राप्नोति।"

तब इसमें कौन सी वृत्ति मानी जाय यह प्रश्न है। भाष्यकार कहते हैं जहत्स्वार्था ही ठीक है क्योंकि "दृश्यते लोके पुरुषोऽयं परकर्मणि प्रर्वतमानः स्वं कर्म जहाति। तद्यथा तथा राजकर्मणि प्रवर्तमानः एवं तक्षकर्म जहाति।"

-- (*महाभाष्य* २/१/१)

ऐसा यदि कहा जाय तो "राजपुरुषमानय" इत्यादि में जो दोष दिखलाया गया कि पुरुष मात्र का आनयन हो जायेगा, तो कहते हैं कि ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है क्योंकि "जहदप्यसौ स्वार्थं नात्यन्ताय जहाति, यः परार्थ विरोधी स्वार्थत्वं जहाति। तद्यथा - तक्षा राजकर्मणि प्रवर्तमानः स्वं तक्षकर्म जहाति न तु हिक्कितश्वसितहसित कण्डूयतानि। न चायमर्थ परार्थविरोधी विशेषणं नाम, तस्मात्तन्न हास्यति। (२/१/१)

अतः स्पष्ट है कि एकार्थीभावस्य वृत्ति में परार्थविरोधी स्वार्थ का ही त्याग होता है, सर्वार्थ का त्याग नहीं होता है। अतः राजपुरुष में पूर्व पद ही स्वार्थ का त्याग करता है, उत्तर पद नहीं करता है। भाष्यकार भी एकार्थीभाव को ही मानते हैं। अतः समासार्थ विशिष्टार्थ के कारण वाक्य है, नैयायिकों की तरह लक्ष्य नहीं है। इस तरह वैयाकरण एकार्थीभाव को और नैयायिक, मीमांसक व्यपेक्षा को सामर्थ्य मानते हैं। वे समुदाय की शक्ति नहीं मानते। वैयाकरण विशिष्ट शक्तिवादी हैं। क्योंकि यदि समास में शक्ति न मानी जाय तो उस समुदाय की अर्थवत्ता न होने पर, "अर्थवत्..." सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा समास को प्राप्त नहीं हो सकेगी। समास में शक्ति न मानने पर उस समुदाय का अर्थ न होने पर "शक्य सम्बन्ध रूप" लक्षणा भी नहीं हो सकती है। अतः लाक्षणिक अर्थवत्ता भी न होने से प्रातिपदिकत्व का उपपादन सर्वथा असंभव हो जाएगा। उस संज्ञा के न होने पर "सु" आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी और फलस्वरूप पदसंज्ञा नहीं हो सकेगी। अतः "अपदं न प्रयुज्येत्" इस नियम से उन समस्त पदों का प्रयोग ही नहीं हो सकेगा। इसलिए प्रातिपदिक संज्ञारूप कार्य ही अर्थवान् है। यदि समुदाय में शक्ति स्वीकार नहीं की जायेगी, तो समास अर्थवान् नहीं हो सकेगा। फलतः प्रातिपदिक भी नहीं होगा। "कृत्तद्धितसमासश्चेति" इस सूत्र के अनुसार समास की प्रातिपादिक संज्ञा है, फलतः समास अर्थवान् है।

इसलिए "अर्थवत्" सूत्र पर भाष्य में "अर्थवद्" इस विशेषण की आवश्यकता पर बल दिया है। अर्थवानों का समुदाय अनर्थक होता है।

"दशदाडिम षडपूपा..." इत्यादि का समुदाय अर्थवान् नहीं है, इसकी व्यावृत्ति के लिए "अर्थवद्" विशेषण दिया है। "दशदाडिम..." इत्यादि में पृथक् पद अर्थवान् होने पर भी उनका समुदाय अनर्थक है, फलतः उसमें प्रातिपदिकत्व नहीं है। समास का अर्थवान् होना आवश्यक

है, इसलिए समास में विशिष्टशक्ति वैयाकरण स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार समासार्थ वाक्य है, लक्ष्य नहीं है। यदि उसे लक्ष्य माना जाय तो उसे प्रातिपदिक संज्ञा नहीं कह सकेंगे। लाक्षणिक होने के लिए भी तो उसमें शक्य सम्बन्ध रूप लक्ष्यार्थ माना भी जा सकता है, किन्तु नैयायिक समस्त पद में तो वाक्यार्थ नाहीं मानते। अतः लक्ष्यार्थ भी नहीं मान सकते हैं। अतः वैयाकरणों के अनुसार समास प्रातिपदिक होने के कारण, वाक्य ही होगा।

यदि "राजपुरुष" पद में "राज" पद की "सम्बन्ध" में लक्षणा स्वीकार करेंगे तो "राज्ञः पुरुषः" इस विग्रह वाक्य में विरोध हो जायेगा, क्योंकि इस विग्रहवाक्य का "राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरुषः" ऐसा अर्थ कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। "वृत्यर्थबोधकं वाक्यं विग्रहः" ऐसा नियम है। समास विग्रह वाक्य है ऐसा सर्वत्र स्वीकृत है। यदि समासार्थ और विग्रह वाक्य के अर्थ में समन्वय नहीं होता है तो उसमें विग्रह नहीं माना जाना चाहिए। अतः "राज" पद में लक्षणा नहीं माननी चाहिए। "सम्बन्ध" में भी लक्षणा नहीं मानते हैं क्योंकि "राजसम्बन्ध्यरूपः पुरुषः" की प्रतीति होने लगेगी। अतः समास में शक्ति ही माननी चाहिए। वैयाकरण कहते हैं कि समुदाय में शक्ति है। इसका प्रमाण व्याकरण नहीं वरना लोकव्यवहार ही है। क्योंकि "राजपुरुषमानय" इसको सुन कर राजविशिष्ट पुरुष ही लाया जाता है, केवल राजा या केवल पुरुष नहीं।

"यैरपि व्याकरणं न श्रुतम्, तेऽपि "राजपुरुषमानय" इत्युक्ते राजविशिष्ट पुरुषामानयन्ति न राजानम्, नापि पुरुषमात्रम्"। – *काशिकावृति* (१२,५,५६)

वैयाकरणों के मत से प्रतीत होता है कि पद-स्वरूप की विवेचना वे आकार और अर्थ दोनों ही दृष्टियों से करते हैं। "सुप्तिङ्क्त" और "समर्थः पदविधिः" सूत्रों में पदरचना और अर्थरचना दोनों पर ही जोर दिया गया है, यद्यपि वे समुदाय में एक शक्ति मानते हैं। अर्थवत् दोनों पर ही जोर दिया गया है, यद्यपि वे समुदाय में एक शक्ति मानते हैं। अर्थवत् होने पर ही साधु प्रयोग के लायक शब्द हो सकता है, जो कि विभक्तियुक्त होने पर ही होता है। विभक्तिरहित शब्द भी कभी कभी व्यवहृत होते हैं, पर वे प्रयोग के योग्य नहीं होते हैं, यद्यपि वे भी अर्थवान् होते हैं। "भू" सत्तायां अर्थ में असाधुत्त्व हो जायेगा क्योंकि यह अपरिनिष्ठित शब्द है। विभक्ति के अभाव में पदत्व नहीं है। और अपद का प्रयोग नहीं होता है। इसका उत्तर है कि पद का तात्पर्य परिनिष्ठित से है। परिनिष्ठित एवं साधु दोनों पर्याय होने के कारण अर्थवान् होंगे। "स्वं रूपं शब्दस्याशब्द संज्ञा" (१/१/६८) इस सूत्र के द्वारा "शब्द" जब स्व अर्थ को ही प्रकाशित करता है तब भी उसे अर्थवान् कहा जाता है। जैसे -"अग्नेर्ढक्" इस सूत्र से "अग्नि" शब्द के साथ ढ़क् प्रत्यय प्रयुक्त होता है, बाह्य अग्नि के साथ नहीं। तब अग्नि शब्द मात्र शब्द के स्वरूप को ही प्रकाशित करता है, पर वह स्व-अर्थवान् कहा जा सकता है।

II

न्यायमतानुसार "पद" की सबसे प्राचीन परिभाषा *न्यायसूत्र* "ते विभक्त्यन्ताः पदम्" (२.२.५८) में मिलती है। अर्थात् विभक्ति-युक्त (वर्ण-समूह) पद कहा जाता है। भाष्यकार वात्स्यायन कहते हैं– "यथा दर्शनम् विकृतर्वणा विभक्त्यन्ताः पदसंज्ञा भवन्ति। विभक्ति द्वयी नामिकी आख्यातिकी च। ब्राह्मणः पचति इत्युदाहरण्।" यहाँ पर भी वैयाकरणों की तरह विभक्ति दो प्रकार की ही मानी गई है। प्रातिपदिक के साथ युक्त विभक्ति नामिकी, यथा– सुप, तथा धातु के साथ युक्त विभक्ति आख्यातिकी कही जाती है। अतः पद दो ही हुए नाम और क्रिया। वैसे भाष्यकार इन दो पदों के अलावा निपात और उपसर्ग भी पद-रूप में स्वीकार करते हैं। यथा - नामाख्यातोपसर्गनिपाताः (५.२.७)। परन्तु उपसर्ग और निपात नाम के ही अन्तर्युक्त किये जाते हैं क्योंकि वहाँ पर व्याकरण के नियमानुसार विभक्ति-लोप का विधान है। अतएव यह कहना ठीक है कि विभक्त्यन्त पद को ही नाम और क्रिया कहा जाय।

"यदि द्वयी विभक्तिरुपसर्ग निपास्तर्हि न पदसंज्ञकाः? न, नाम्न्यन्तर्भावात् - उपसर्गनिपाता नाम्ना संगृहीताः, यस्मादाह अव्ययाल्लोप इति; ते सुबन्तत्वात्तेनैव संगृहीता इति"। – *न्यायवार्तिक* (२.२.५८)

भाष्यकार नाम के दो लक्षण देते हैं। पहला, वाच्य अर्थ का क्रियाविशेष के साथ सम्बन्धयुक्त "विशिष्यमाणरूप"; अर्थात् रूपभेद होता है ऐसा शब्द नाम कहा जाता है।

"अभिधेयस्य क्रियान्तरयोगाद्विशिष्यमाणरूपः शब्दो 'नाम' " (५.२.७)

तात्पर्य टीकाकार इसकी व्याख्या करते हैं–

"अभिधेयस्य" क्रियान्तरयोगात् = क्रियाविशेषस्य योगाद् विशिष्यमाणरूपो = भिद्यमानरूपः शब्दो नामेति, यथा-वृक्षंस्तिष्ठति, वृक्षं छिनन्ति, वृक्षेण चन्द्रमसं पश्यति, वृक्षायोदकमासिंचतीत्यादि।

दूसरा लक्षण करते हैं कि–

"अभिधेस्य क्रियान्तरयोगाद्विशिष्यमाणरूपः शब्दो 'नाम', यथा ब्राह्मण इति क्रियाकारकसमुदायः कारकसंख्याविशिष्टः।" – *न्यायवार्तिक* २.२.५८

अर्थात् कर्तृकर्मादिकारक एकत्वादि संख्या-विशिष्ट एवं जात्यादि और कारक ही नाम है।

वस्तुतः "नाम" पद प्रातिपदिक का ही बोधक है। *निरुक्त* में भी नाम को "सत्त्व प्रधानानि" कहा गया है। (१.१.९)। सत्त्व का अर्थ है लिंग और संख्या के द्वारा अन्वित द्रव्य। जैसे– "रामकृष्णादि शब्दाः सत्त्वाभिधायका नाम पदेन गृह्यन्ते।" लिंग और संख्या से शून्य होने के कारण च, ह, वा इत्यादि निपात कहे जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि "यस्याभिधेयं

नियमेन क्रियाविशेषमाकांक्षति तन्नामलक्षणाच्चात्र क्रियापदं नास्ति तत्राप्यस्तीति क्रिया सत्तारूपेण वर्तत एव, ततश्च नामाख्यातयो विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धः सुदृढः।"

प्राचीन नैयायिक जब पद का लक्षण विभक्त्यन्त— कह कर करते हैं तो उनका उद्‌देश्य वैयाकरणों के स्फोटवाद का खण्डन भी करना है। स्फोटवादियों का कहना है कि पद के अन्तर्गत वर्ण भिन्न-भिन्न होने के कारण तथा उनका क्रम से उच्चारण होने के कारण एक साथ उपस्थि होना असंभव है। जब "क" का उच्चारण किया जाता है, तब "म" और "ल" नहीं होते हैं, तथा जब "ल" का उच्चारण किया जाता है, तो "क" और "म" नहीं रहते। इस तरह तीनों वर्णों का एक साथ प्राप्त होना संभव नहीं है। फलस्वरूप इन वर्णों से अतिरिक्त "स्फोट" की सत्ता मानी जानी चाहिए, जो अर्थ का वाचक होती है।

"अस्ति हि भिन्नेष्वपि वर्णेषु वाक्यमिदमेकं पदमिति वा सर्वजनीनोऽनुभवः। न चासौ भिन्नवर्णालम्बनो भवितुमर्हति, एकस्य नानात्व विरोधात्। तस्माद्वर्णातिरिक्तं पदं वाक्यं वा आलम्बते, तच्च प्रत्येकमेव ध्वनयोऽभिव्यञ्जयन्ति।

केवलं पूर्वे ध्वनयः स्वरूपमाभासयन्ते चरमस्तु व्यक्तम्। न चेयमर्थे विधा संभविनी प्रत्यक्षज्ञाननियतत्वात्। व्यक्ताव्यक्तावभासितायाः पदे प्रत्यक्षे उपपत्ति, अर्थस्य तु पदगम्यस्याप्रत्यक्षस्य मानान्तरेण ग्रहणमस्तीति; अग्रहण्यं वा न तु स्फुटास्फुटत्वाभ्यां योगः। अपि च यस्मिन्ननुवर्तमाने यद्व्यावर्तते तत् तस्माद्‌भिद्यते, यथा सुवर्णावयवेष्वनुवर्तमानेषु कटकमुकुटादयः। अनुवर्तमानेषु तु वर्णेषु व्यावर्तन्ते पदभेदाः तस्मात् तेऽपि वर्णेभ्यो भिन्ना इति तान् प्रत्याह— ते विभक्त्यन्ताः पदम् त एव वर्णा एव पदम, न तु तदतिरिक्तं स्फोटाख्यमित्यर्थः।

– न्यायवार्तिकात्पर्यटीका (२.२.५८)

नैयायिक वर्णों से अतिरिक्त स्फोट का खंडन करते हैं। उनका कहना है कि यद्यपि वर्ण अनित्य है तथा उनका उच्चारण भी एक साथ नहीं हो सकता है, तथापि वर्णों के उच्चारण के क्रमानुसार संस्कार बुद्धि पर पड़ जाते हैं। फलस्वरूप अन्तिम अन्तिम वर्ण के उच्चारण के समय पूर्व के वर्ण भी स्मृति के द्वारा बुद्धि में आरूढ होकर एकार्थ का बोध कराने में सक्षम होते हैं।

"इदमत्राऽऽकूतम— न तावद्वर्णातिरिक्तः पदात्मा कश्चिदुपलभ्यते प्रत्यक्षेण, पदमिति तु व्यपदेशस्तानेव वर्णान् बहूनप्येकस्मृतिसमारोहितया वा एकार्थधीहेतुतया वा अभिन्नकारकावस्थात्वयावालम्बते भाक्तः। – तदेव

इस तरह विभक्त्यन्त वर्णों को ही पद संज्ञा देते हैं। अतः वर्णों को ही पद कहना पड़ेगा। अतः यही ध्वनित होता है कि वर्ण-समुदाय ही पद है। "वर्ण समूहो पदम्"— स्फोट नामक अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। पूरे समुदाय से एक ही अर्थ की प्रतीति होगी। इन विनाशी

वर्णों में उत्तरोत्तर अनुग्रहभाव होगा। एक वा दूसरे वर्ण की सहायता करता चला जायेगा और उस विद्यमान वर्णसमुदाय का एकात्मक अर्थ मान लेंगे। अतः समूह की कल्पना से ही पदबोध हो सकता है। इस पर यदि वैयाकरण कहें कि तब तो "सर" इस पद में जितने वर्ण हैं, उतने ही "रस" में भी हैं। इसी तरह "वन" और "नव", "नदी" और "दीन" इत्यादि में भी एक ही अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए। नैयायिक कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है; वर्णों के क्रम में भेद होगा तो अर्थ में भी भेद पड़ेगा। अतः वर्ण ही वाचक है।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि यदि विभक्त्यन्त (वर्ण-समूह) को ही पद कहा जायेगा, तो उपसर्ग, निपात आदि पदसंज्ञा न हो सकेंगे। क्योंकि इनमें विभक्ति का लोप पाया जाता है। दूसरी बात यह है कि नाम और धातु भी विभक्तिरहित होकर अर्थ-बोध कराने में सक्षम नहीं होते हैं। उन्हें अर्थ-बोध के लिए विभक्ति की आवश्यकता पड़ती है। विभक्ति-रहित होकर उनका कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता है। तीसरी बात है कि विभक्तियों को भी अर्थयुक्त होना चाहिए, क्योंकि विभक्तियुक्त होने से "प्रकृति" पद व्यवहार के योग्य समझा जाता है। इस सभी आशंकाओं को ध्यान में रख कर नव्य नैयायिक "वृत्तित्वं पदत्वं" या ''शक्तं पदम्" पद का लक्षण करते हैं। अन्नंभट्ट *तर्कसंग्रह* में "शक्तं पदम्" कह कर पद का लक्षण करते हैं। अर्थात् पद में अर्थ-बोध कराने का सामर्थ्य ही शक्ति है।

"अर्थस्मृत्यनुकूलः पदपदार्थसम्बन्धः शक्तिः (अन्नंभट्ट)। अर्थात् शक्ति पद और पदार्थ के बीच सम्बन्ध है जो अर्थ का स्मरण कराती है। जैसे– "घट" पद के द्वारा घट पदार्थ का ही बोध होता है पटादि का नहीं। *वैशेषिक सूत्र* २.२.९ *उपस्कार* भी कुछ इसी तरह का लक्षण करते हैं। "पदत्वं च संकेतवत् वर्णत्वम्" अर्थात् वर्णक्रम में निहित संकेत-विशिष्ट होना ही पद का लक्षण है। उपस्कार और अन्नंभट्ट दोनों ही शक्ति या संकेत के द्वारा ही पद का लक्षण करते हैं जबकि "वृत्तिमत्वं पदत्वं" कहने से शक्ति और लक्षणा इन दोनों का ही ग्रहण हो जाता है, क्योंकि जबतक पद में संकेत या शक्ति नहीं होगी उसमें लक्षण भी नहीं हो सकता है। लक्षणा को "शक्य सम्बन्ध" कहा गया है। पद पदार्थ के बीच के सम्बन्ध को शक्ति कहा गया है। यह सम्बन्ध ईश्वर-संकेत के द्वारा निर्धारित होता है। इसके दो आकार हो सकते हैं–

"अस्मात् पदात् अयमर्थो बोद्धव्यः"
अथवा "इदम् पदमिमर्मथम् बोधयतु"।

दोनों ही प्रकार से पद का सम्बन्ध पदार्थ के साथ निश्चित होता है। पद अपने संकेत या शक्ति के द्वारा अर्थ को नियंत्रित करता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि नव्य-नैयायिक के अनुसार पद का स्वरूप सिर्फ व्याकरण-रचना पर ही निर्भर नहीं करता है, वरन्, इससे एक ही उल्लेखनीय तत्त्व को प्रधानता दी गई है। और वह है "पदार्थ" का बोध करवाना। प्राचीन नैयायिकों के लक्षण में पद की व्याकरणात्मक रचना पर जोर दिया गया था, पर नव्यों ने इसमें "अर्थवत्ता" को प्रधानता दी है। ऐसा कहने से "प्रत्यय" भी अर्थवत् शब्दसमूह की राशि के

अन्तर्गत स्थान पा जाते हैं क्योंकि प्रत्ययों की भी एक स्वतंत्र सत्ता कायम हो जाती है। वे भी शक्तियुक्त माने जाते हैं। उनके द्वारा भी एक विशिष्ट अर्थ का बोध स्वीकारना पड़ेगा। जिस तरह प्रकृति के बिना प्रत्यय का कोई मूल्य नहीं है, वैसे ही प्रत्यय के बिना प्रकृति का भी मूल्य नहीं है। फिर क्यों प्रकृति को ही प्रधानता दी जाय, प्रत्ययों की नहीं। नियम ही है कि "न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न च केवलः प्रत्यय इति।" यथा महाभायकार पतंजलि भी कहते हैं कि "भवति प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्य प्रातिपदिक संज्ञा इति।" दोनों ही एक दूसरे की जब अपेक्षा रखते हैं तो दोनों को ही शक्ति-युक्त कहना उचित है। इसलिए नव्य-नैयायिक "शक्तं पदम्" पद का लक्षण करके प्रत्यय को भी "पद" के आसन पर बैठने का गौरव प्रदान करते हैं।

प्राचीन और नव्य नैयायिकों के द्वारा दिए हुए "पद" के दो विपरीत लक्षणों के बीच की खाई को पाटने का काम न्यायसूत्र वृत्तिकार श्री विश्वनाथ ने किया है। उन्होंने एक नवीनतम व्याख्या के द्वारा प्राचीन मत की रक्षा करते हुए उसे नव्य मतानुसार मोड़ दिया है। वे कहते हैं कि "ते वर्ण विभक्तत्यन्ताः पदम्" इस सूत्र में विभक्ति का अर्थ वृत्तिः है, अन्त का अर्थ सम्बंध है। अतः सूत्र का तात्पर्य हुआ- तेन वृत्तिमत्वं पदत्वमिति (पृ.६५९)। अर्थात् नव्य नैयायिकों की परिभाषा "शक्तं पदम्" के साथ प्राचीन नैयायिकों की परिभाषा में कोई विरोध नहीं है। ऐसा नहीं है कि प्राचीन नैयायिक एक बारगी ही उपरोक्त समस्याओं से अनभिज्ञ थे, क्योंकि प्रत्ययों की निरर्थक सता प्राचीन नैयायिक भी मानने को तैयार नहीं हैं। इसका एक मनोरंजक उदाहरण उद्योतकर प्रस्तुत करते हैं–

"न हि भौतिकं मनो नाप्यभौतिकमिति। कार्यधर्मावेतौ भौतिकत्वं भौतिकत्वं च, न च कार्यं मनः, तस्मान्न भौतिकं नाप्यभौतिकमिति। श्रोत्रे चासम्भवः यदि भौतिकत्वा-भौतिकत्वलक्षणाद्वैधर्म्यादपरिपाठः सूत्रे मनसः, श्रोत्रमपि सूत्रे न पठितव्यं तर्हि, न हि श्रोत्रं भौतिकं नाप्यभौतिकमिति। स्वार्थे प्रत्ययविधाननमिति चेत्, न। प्रत्ययवैयर्थ्यात्। स्यादेषा वुद्धिः स्वार्थिक एष प्रत्ययो भूतमेव भौतिकमिति। तच्च न। प्रत्ययवैयर्थ्यात। न हि भौतिकमित्यनेन कश्चित्ताद्धितार्थो लभ्यते, तस्माद् व्यर्थमेतत् स्वार्थे प्रत्ययविधानमिति"

– *न्यायवार्तिक* १-१-४ (पृष्ठ १२४)

शब्द कौस्तुभ में भी भट्टोजी दीक्षित कहते हैं कि "स्वार्थिका अपि प्रत्ययार्थेनार्थवन्तः"– २-१-१ -२

इस तरह यदि प्रत्ययों को भी अर्थवान् मान लिया जाय तो "विभक्त्यन्तं पदम्" इस पद के लक्षण को, नव्य नैयायिक एक सम्पूर्ण वाक्य ही मान लेते हैं जो सार्थक वर्ण-समुदाय शक्ति का लक्षण वृत्ति का आश्रय होता है वही पद हो जाता है। फलस्वरूप "नीलो घटः" यहाँ पर प्राचीनों के अनुसार दो पद हैं, किन्तु नव्यों के अनुसार चार पद हैं। यथा- "नील" पद, उकार पद, घट पद तथा विसर्ग पद। नील रूप अर्थ में "नील" पद की शक्ति है। उ-कार पद अभेदार्थ का बोधक है। "घट" पद घटत्वविशिष्ट का बोधक है, तथा विसर्ग एकत्व संख्या का बोधक

है। उपरोक्त दृष्टान्त वास्तव में दो खण्ड-वाक्यों से निष्पन्न एक अखंड वाक्य है। परस्पर आकांक्षा विशिष्ट बहुपद घटित वाक्य को न्याय मत में महावाक्य कहा जाता है। नीलो यहाँ प्रथमा विभक्ति का अर्थ तादात्म्य अभेद है। वह विशेष्य है, एवं उसका विशेषण नील पदार्थ है। अतः "नीलो" इस वाक्य का अर्थ है = तादात्म्य नीलीय इस प्रकार का अवान्तर वाक्यार्थ बोध पहले होता है, पश्चात् "नील तादाम्यवान् घट" ऐसा महावाक्यर्थ बोध होता है। नव्य-न्याय की भाषा में इसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

"नीलत्वावच्छिन्न तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारतानिरूपित घटत्वावच्छिन्न विशेष्यताश्रयो घटः।"

पद के सम्बन्ध में एक बात पहले ही कही जा चुकी है कि "पदं पुनः वर्णसमूहः" (*न्यायवार्तिक* १.१.१ पृ.४) किन्तु जिस किसी प्रकार का वर्ण समूह पद नहीं कहला सकता है; वर्ण समूह को एक ज्ञान का विषय होना चाहिए। केशव मिश्र *तर्कभाषा* में कहते हैं कि–

"समूहश्चात्रैकज्ञानविषयीभावः।"

वर्णसमूह पद इस परिभाषा के अनुसार किसी एक ज्ञान में भासित होने वाले वर्णों का नाम होता है पद। इसलिए घ्, अ, ट और अः ये वर्ण क्रम से उच्चारित हो कर जब तक किसी एक व्यक्ति को एक साथ ज्ञात नहीं होते, तब तक वे "पद" नहीं कहे जाते; किन्तु जब वे किसी एक व्यक्ति को एक साथ ज्ञात होकर एक ज्ञान के विषय बन जाते हैं, तब वे "घट" पद कहे जाने लगते हैं। पद के लक्षण में समूह शब्द के सन्निवेश से यह कदापि नहीं सोचना चाहिए कि पद सदा अनेक वर्णात्मक ही होता है, किन्तु बहुत स्थलों में पद एक वर्णात्मक भी होता है, जैसे विष्णुवाची "अ", आकाशवाची "ख" इत्यादि।

प्रश्न है कि पद जब एक वर्णात्मक भी होगा, तब तो "घट" यह एक पद न होकर पदों का समूह हो जायेगा। उत्तर है कि "वर्ण-समूह" यह पद का पूरा लक्षण नहीं है, यह तो उसके सम्बन्ध में एक संकेत मात्र है। उसका उचित लक्षण तो "शक्तः साभिप्रायो वर्णो वर्ण-समूहो वा पदम् के रूप में किया जा सकता है। इसके अनुसार जो वर्ण या वर्ण-समूह किसी अर्थ में शक्त और साभिप्राय होता है वह पद होता है। पद के इस लक्षण के अनुसार घ्, अ, ट और अः इन चार वर्णों का समूह रूप होने पर भी "घट" पद एकवर्णात्मक पदों का समूह न होगा, क्योंकि उस पद के अंगभूत एक एक वर्ण किसी अर्थ में शक्त और साभिप्राय नहीं है अपितु वे सब सम्भूय "घडा" रूप अर्थ में शक्त हैं और उसी को बतलाने के अभिप्राय से उच्चारित हैं। यद्यपि वर्ण क्रम से ही उच्चारित होते हैं और अत्यन्त शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, अतः एक काल में अनेक वर्णों का श्रवण संभव नहीं हो सकता। तथापि किसी एक पद के अंश-भूत वर्ण जिस क्रम से अत्यन्त भिन्न होते हैं उसी क्रम से श्रोता के द्वारा उनका अनुभव होता है और उसी क्रम से अनुभवों द्वारा उनका संस्कार उत्पन्न होता है। इस क्रम से उस पद का अन्तिम वर्ण जब

कान में पहुँचता तब इस अन्तिम वर्ण से सम्बन्ध हुआ, श्रोत्र पूर्व वर्णों के अनुभवों से उत्पन्न हुए संस्कारों के सहयोग से एक साथ ही विनष्ट और विद्यमान सभी वर्णों को विषय करने वाले एक पद ज्ञान को उत्पन्न करता है। विनष्ट और विद्यमान वर्णों की ग्राहकता में केवल यही अन्तर है कि विद्यमान वर्णों के साथ श्रोत्र का साक्षात् सम्बन्ध होता है और विनष्ट वर्णों के साथ संस्कार द्वारा होता है।

एवं च वर्णानां क्रमवतामाशुतरविनाशत्वेन एकदाऽनेक वर्णानुभावासंभवात् पूर्वपूर्ववर्णाननुभय अन्त्यवर्णश्रवणकाले पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृतेन अन्त्य-वर्णसम्बन्धेन पदव्युत्पादनसमयग्रहानुगृहीतेन श्रोत्रेण एकदैव सदसदनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीतिर्जन्यते सहकारिदाढ्र्यात् प्रत्यभिज्ञावत्।

– *तर्कभाषा* (पृ. १४१)

इसी तरह की एक और परिभाषा *न्यायकोश* में मिलती है– अर्थबोधकम् पद्म (पृ. ४६१)। अर्थात् पद अर्थबोधक होना चाहिये। कहने का तात्पर्य है कि नव्यमत में पद की अर्थवत्ता को ज्यादा महत्त्व दिया गया है यद्यपि प्राचीन मत में पद में अर्थवता है ही नहीं, ऐसा हम नहीं कहते हैं किन्तु वहाँ पर व्याकरण की दृष्टि से पद-साधुत्व पर ज्यादा जोर दिया गया है।

इस तरह हम देखते हैं कि जिस तरह वैयाकरणों के मत में दो प्रमुख धारायें के पद के लक्षण के सम्बन्ध में चल रही थीं, वैसे ही नैयायिक सम्प्रदाय में भी प्रचलित थीं क्योंकि मूलतः पद और अर्थ परस्पर इस तरह जुड़े हुए हैं कि अर्थ के अभाव में पद की कोई खास अहमियत नहीं रह जाती है, यह अर्थ चाहे बाह्यार्थ हो या बोधार्थ। इस विवाद में फिलहाल हम जाना पसन्द नहीं करेंगे।

III

प्राचीन और नव्यनैयायिकों के मतों का सुन्दर समन्वय हम जगदीश तर्कालंकार के द्वारा दिए हुए सार्थक शब्द के लक्षण के स्थल में पाते हैं। वास्तव में इस प्रबन्ध का उद्देश्य जगदीश के मत को ही प्रकाशित करना था, परन्तु बिना इतनी विस्तृत भूमिका के हम जगदीश के लक्षण के साथ शायद न्याय नहीं कर पाते, इसलिए इतना कहना अनिवार्य हो गया। जगदीश तर्कालंकार सार्थक शब्द का लक्षण इस प्रकार करते हैं–

"शब्दान्तरमपेक्ष्यैव सार्थकः स्वार्थबोधकृत्।
प्रकृतिः प्रत्ययश्चैव निपातश्चेति स त्रिधा॥"

– *श. श. प्र.* (का. ६)

इसका सरलार्थ है जो शब्द, शब्दान्तर की अपेक्षा से अपने अर्थ के बोध का जनक होता है वही सार्थक शब्द होता है। सार्थक शब्द तीन प्रकार के होते हैं– प्रकृति, प्रत्यय और

निपात। इसकी व्याख्या करते हुए जगदीश स्वंय कहतै हैं–

"यादृशः शब्दः शब्दान्तरं सहकृत्यैव स्वस्य स्वघटकस्य वा वृत्युपस्थाप्ययादृशार्थावगाहि बोधं प्रत्यनुकूलः, स तथाविधार्थे सार्थकः। पटपाचकाद्याः प्रकृतयः सुप्तिङ्द्यः प्रत्ययाश्चादयो निपाताश्च स्वोपस्याप्यर्थस्य बोधं नियमतः शब्दान्तरं सहकृत्य जनयन्ति, वाक्यानि पुनरसहकृत्यापि। शशाविषाणादिकः शब्दोऽपि शशीयत्वादिना विषाणादेरन्वयबोधमादधानस्तादृशविषयताकबोधने सार्थक एव परन्त्वयोग्यः।" – तदेव - पृ. १३

साकांक्ष शब्द पदार्थ- उपस्थिति के द्वारा शाब्द-बोध करके शाब्दबोध का प्रयोजक होता है। साकांक्ष शब्द सार्थक होना चाहिये तभी शाब्दबोध का प्रयोजक होगा। जो शब्द अन्य शब्द की अपेक्षा करके शक्ति या लक्षणा वृत्ति द्वारा उपस्थापित स्व-अर्थ अथवा स्व-घटक अर्थ का बोध उत्पन्न करता है उसे सार्थक शब्द कहते हैं। सार्थक का अर्थ है– अर्थेनसह वर्तमानं सार्थकम्। *कृष्णकान्ती टीका* में "सार्थक" शब्द की व्याख्या करते हैं– "स्वविषयिताव्यापकविषयिताक शब्दस्य वृत्युपस्थाप्य परमिति भावः।" *रामभद्री टीका* में सार्थक शब्द की व्याख्या करते हैं– "स्वेतरशब्दानपेक्ष्य स्वार्थान्वयबोधजनक शब्दत्वमेव सार्थक शब्दत्वमिति भावः।" यथा पट, पाचक (प्रकृति) सुप्, तिङ् (प्रत्यय) तथा च, वा (निपात समूहें) अपर एक शब्द को सहकारी रूप से ग्रहण करके ही सार्थक होता है। "गौरस्ति" यह वाक्य बिना किसी पदान्तर की अपेक्षा से वाक्यार्थ बोध का जनक होता है। अतः शब्द और वाक्य में पार्थक्य है। शशविषाणादि अनुपाख्य शब्द भी शशीयत्व रूप से विषाण के साथ अन्वय-बोध का उत्पादक होता है। अतः "शशविषाण" सार्थक शब्द रूप से परिगणित होता है। राजपुरुषः और शशिविषाण दोनों ही सार्थक शब्द हैं, पर "शशविषाण" अयोग्य शब्द है। जगदीश तर्कालंकार के द्वारा दिए हुए उपर्युक्त पद के लक्षण से हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। प्रथमतः सार्थक शब्द शाब्दबोध के प्रसंग में ही सार्थक हो सकता है। जगदीश स्वयं कहते हैं–

वाक्यभावमवाप्तस्य सार्थकस्यावबोधतः ।
सम्पद्यते शाब्दबोधो न तन्मात्रस्य बोधतः ॥

– *श. श. प्र.* (का. १२)

अर्थात् वाक्यभाव को प्राप्त जो सार्थक शब्द है उसका ज्ञान ही अन्वय-बोध को उत्पन्न करता है, केवल (वाक्यभाव को प्राप्त न होकर) सार्थक शब्द के ज्ञान से अन्वय-बोध नहीं होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सार्थक शब्द दो तरह के होते हैं–

एक जो वाक्यभाव को प्राप्त होकर अन्वयबोध के जनक होते हैं जैसे-घटं। दूसरे वें जो बिना वाक्यभाव को प्राप्त हुए ही सार्थक शब्द रहता है, जैसे- घट, भू, इत्यादि।

इससे अच्छा होता यदि कहा जाता कि वाक्यभाव को प्राप्त सार्थक शब्द "पद" है और बिना वाक्यभाव को प्राप्त शब्द सार्थक शब्द है।

द्वितीयतः, सार्थक शब्द को शब्दान्तर की अपेक्षा रहती है, यानि प्रकृति को प्रत्यय की तथा प्रत्यय को प्रकृति की अपेक्षा रहती है। स्वतंत्र रूप से केवल मात्र प्रकृति, प्रत्यय और निपात अथवा निराकांक्ष पद के साथ मिलित सार्थक पद-समूह अन्वय बोध का जनक नहीं होता है। चूंकि पदार्थ में ही पदार्थ का अन्वय होता है, अतएव प्रकृत्यर्थ के साथ प्रत्ययार्थ का अन्वय होता है। प्रकृति, प्रत्यय और निपात स्व स्व वृत्ती के द्वारा अर्थ को उपस्थित अवश्य करते हैं, पर वे वाक्यभाव को प्राप्त होकर ही शब्दान्तर की अपेक्षा रखते हैं। अर्थात् "घट" यह वाक्यभाव को प्राप्त पद है। जबकि घट सार्थक शब्द है (यद्यपि न्याय मत में घट) सुबन्त पद वाक्य रूप में ही स्वीकृत है। "घट" यह वाक्य कभी आनय के साथ तो कभी "आनय" के बिना भी स्वोपस्थाप्यघटीयकर्मत्वबोध को उत्पन्न कर देता है।

तृतीयतः, ह्रद् पद "गौ", "घट" आदि स्व वृत्ति के द्वारा समुदित अर्थ का बोध कराता है, जबकि "पाचक" इत्यादि यौगिक पद के स्थल में पच + वुञ् (अक) में एकदेश शब्द के द्वारा वृत्ति उपस्थापित अर्थ का बोध कराने के लिए अन्य शब्द के सहयोग की अपेक्षा करके ही शाब्द- बोध का प्रयोजक होता है। "पाचक" में स्ववृत्ति के द्वारा अर्थबोध नहीं होता है, परन्तु स्वघटक प्रत्यय के द्वारा अर्थ-बोध होता है। जगदीश स्पष्ट रूप से यहाँ पर समुदाय शक्ति का समर्थन करते हैं, तथा "शक्तं पदम्" इस लक्षण को ही सार्थक शब्द के लक्षण रूप में ग्रहण करते हैं। क्योंकि प्रकृति, प्रत्यय और निपात तीनों ही उनके अनुसार सार्थक हैं, जो स्व स्व वृत्ति द्वारा अर्थ को उपस्थित करते हैं। उपसर्ग को अतिरिक्त पद नहीं मानते हैं। यदि कोई उपसर्ग सार्थक होता है तो वह निपात के ही अन्तर्युक्त हो जाता है।

प्रकृति, प्रत्यय का अपना अपना अर्थ भी है परन्तु वे विभक्ति के साथ प्रयुक्त होकर ही अन्वय बोध कराने में समर्थ होते हैं -यथा पटः, पट प्रकारक सु (विभक्ति) विशेष्यकः। इसका अन्वयबोध इस प्रकार होगा, एकत्ववान् घटः। इसी प्रकार पटम् = "पट" पद प्रकारक कर्म विशेष्यक शाब्दबोध "पट" पद की शक्ति द्वारा उपस्थित वसन् अर्थात वस्त्र रूप अर्थ प्रकारक, प्रत्ययार्थ कर्मत्व विशेष्यक, "कर्मत्वं पटीयम्" शाब्दबोध का जनक होगा। पट, भू, प्रभृति शब्द स्वोत्तरवर्ती (अम्, तिप् विभक्ति के अंश में अव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्ध में निश्चित होकर ही) 'पट' पद के द्वारा उपस्थित वनस्, भू पद के द्वारा उपस्थापित "जनन" द्वितीयार्थ का कर्मत्व में, तिबर्थ का कर्तृत्व में अन्वय-बोध का जनक होगा। अन्य प्रकार से अन्वयबोध नहीं होगा।

चतुर्थतः, जगदीश जब "नाम" का लक्षण करते हैं तो वे "प्राचीन सम्मत" मत का समर्थन करते हुए दिखाई देते हैं। वे कहते हैं–

"येन स्वीययदर्थस्य मुख्यतः प्रतिपादने ।
स्वोत्तरप्रथमापेक्ष्या तन्नाम स्यात्तदर्थकम् ॥"

– श. श. प्र.(का.१५)

अर्थात्, जो शब्द मुख्य विशेष्य रूप से प्रतिपादित होकर स्वोत्तरवर्ती प्रथमा विभक्ति की अपेक्षा करता है, वह शब्द उस अर्थ नाम का बोधक होता है, जैसे घटः, पटः आदि। यहाँ तक की "पीतपट" इस समास के स्थल में भी प्रथमा विभक्ति के स्मरणरूप प्रतिसन्धान के द्वारा ही प्रथमा विभक्त्यंश में पटादि प्रकारक ज्ञान होने पर पट मुख्य विशेष्यक अभेद सम्बन्ध से पीत प्रकारक अन्वय बोध होगा। प्रथमा विभक्ति का अनुसन्धान नहीं होने से अन्वय बोध नहीं होगा। निर्विभक्त्यन्त "पीतपट" समस्त पद ही नहीं होता है। अतएव शब्द विभक्त्यन्त न होने से पद नहीं होता है।

"पीतपट इत्यादिकः समासोऽपि स्वोत्तरं प्रथमाप्रतिसन्धान दशायामेव पटादिमुख्यधर्मिकस्य पीताद्यन्वयबोधस्य जनकः, अतएव 'नापदं प्रयुञ्जीत' इति वृद्धाः। पदं विभक्त्यन्तम्।"

– श. श. प्र.(तदैव)

अतएव पद का लक्षण विभक्त्यन्त ही होगा। "पीतपट" स्थल में लुप्त प्रथमा विभक्ति का अनुसन्धान करके ही पीत प्रकारक पट विशेष्यक अन्वयबोध संभव होता है। किन्तु पीतपटस्यरूपम् स्थल में लुप्त विभक्ति के अनुसन्धान का विषय षष्ठी विभक्ति होता है, प्रथमा नहीं। अतः वह पीत प्रकारक पट मुख्य विशेष्यक महावाक्यार्थ बोध के पूर्व कैसे होगा? (पटस्य पीतरूपम्)

महावाक्य = पीतपट वृत्तिरूपम्।

जगदीश कहते हैं कि उक्त महावाक्यार्थ बोध के प्रति अवान्तर वाक्य कारण नहीं है, क्योंकि उक्त समासबद्ध वाक्य में पट प्रथमा विभक्त्यन्त नहीं है। अतः अवान्तर वाक्यार्थ महावाक्यार्थ का कारण नहीं है। इस तरह से जगदीश सम्पूर्णतः प्राचीन मत का समर्थन करते हैं। तब नव्य मत का क्या होगा? ऐसा लगता है कि जगदीश प्राचीन और नव्य दोनों मतों का समन्वय करने का प्रयास करते हैं। इसलिए वे सार्थक शब्द और पद में भेद स्वीकार करते हैं। जब वे "शक्तं पदम्" लक्षण स्वीकार करते हैं तब वे उसे सार्थक शब्द कहते हैं तथा जब "पदं विभक्त्यन्तं" मानते हैं, तो शब्द को पद मानते हैं। सार्थक शब्द कहने से वे इतना ही मानते हैं कि जो अर्थवान् हो जैसे- प्रकृत्यर्थ, प्रत्ययार्थ इत्यादि। लेकिन भाषा में प्रयुक्त शब्द कभी भी केवल प्रकृति, केवल प्रत्यय आदि नहीं होता है। टीकाकार कृष्णकान्त इसी तरह का प्रश्न शब्द *शक्तिप्रकाशिका* ग्रंथ में उठाते हैं–

"ननु पदत्वं यदि शक्तिमत्वं, तदा समासस्यातथात्वात् विभक्तिसहकारेणापि कथं तत्

प्रयोग इत्यत आह पदं विभक्त्यन्तं। तथाचापदं विभक्त्यन्तभिन्नमित्यर्थः।" *श. श. प्र. कृष्णकान्ती* (पृ.७०)

अर्थात् पद यदि शक्तियुक्त ही स्वीकृत है तो विभक्ति का प्रतिसन्धान समास स्थल में क्यों किया जाय ? इस पर कहते हैं कि समास पद ही नहीं कहा जा सकता है, जब तक वह विभक्त्यन्त नहीं होगा। क्योंकि जो विभक्ति-भिन्न है वे अपद ही कहे जाते हैं। इससे साफ जाहिर होता है कि "विभक्त्यन्तं पदम्" ही जगदीश को पद का लक्षण मान्य है।

वैयाकरणों के द्वारा जिस प्रकार "अर्थवत्" शब्द का लक्षण करने में शब्द का विभक्ति युक्त होना आवश्यक नहीं कहा गया है, परन्तु वे जब भाषा में प्रयुक्त होते है तो उन्हें विभक्ति युक्त होना चाहिए ऐसा वे मानते हैं और तभी उन्हें पद कहा जाता है जैसा कि प्रातिपदिक के लक्षण अर्थवद्..... २-१-४५ में कहा गया है तथा इसी तरह *कातन्त्र व्याकरण* में "धातु विभक्तिवर्जनमर्थवल्लिंगम्" कहा गया है। अर्थात् धातु, विभक्ति रहित लेकिन अर्थ विशेष का बोधक शब्द लिंग (नाम) कहा जाता है। जगदीश भी वैयाकरणों के इस मत के पोषक कहे जाते हैं। इसके अलावा "शशविषाण" जैसे शब्द को जगदीश जब सार्थक शब्द की कोटि में रखते हैं तो यह विचार भी पूर्णतः वैयाकरणों के ही मत के समर्थन में रखा गया है, क्योंकि ऐसे शब्दों के द्वारा वैयाकरण अर्थबोध बोद्धार्थ रूप में स्वीकार करते है। पुनः नैयायिकों के प्रभाव से वे इसे अयोग्य भी घोषित कर देते हैं।

एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न इस संदर्भ में उठाया जा सकता है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि जगदीश नव्य मत का समर्थन करते हुए "शक्तं पदम्" को ही पद कां लक्षण मानते हैं, तो समास पद के स्थल में, जो कि न्याय मत में शक्ति रहित स्वीकारा गया है, कैसे पदार्थ उपस्थित होगा ? क्योंकि न्याय मतानुसार समास विग्रह वाक्य है और वाक्य में शक्ति नहीं होती है अतएव समास में भी शक्ति नहीं होनी चाहिए। लेकिन जगदीश सार्थक शब्द के विभाग में समास को भी यौगिक पदों के ही अन्तर्गत रखते हैं। यदि समास भी पद है तो उसमें शक्ति अवश्य माननी चाहिये। पुनः यह पद कहीं विग्रह-वाक्य, या जगदीश के मत में महावाक्य है, तो इसे पदों की श्रेणी में क्यों रखा गया है ?

"कृत्तद्धितसमासाश्च" (१-२-४६) इस सूत्र के द्वारा जिस तरह से वैयाकरण कृत्, तद्धित और समास तीनों को ही प्रातिपदिक की श्रेणी में रखते हैं, वैसे ही जगदीश भी कृत्, तद्धित और समास को नाम के अन्तर्गत रखते हैं। फिर उन्हें समुदाय शक्ति स्वीकारने में क्या आपत्ति है जो वे समास में शक्ति नहीं मानते हैं ? पाचक, पाठक स्थल में स्वधारक प्रत्यय के जोर से पकाने वाला, पढने वाला इत्यादि पदार्थ उपस्थित हो सकता है। सिर्फ "पच्", "पठ्" धातु के बल से पदार्थ पकाने वाला, पढ़ने वाला उपस्थित नहीं होता है।

समास के स्थल में ही उन्हें समुदायशक्ति स्वीकारने में हिचकिचाहट क्यों है ? ऐसा

लगता है कि वे पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर ही यह स्वीकार नहीं कर पाते कि समास भी एक पद है और उसमें एक शक्ति होनी चाहिये। "राजपुरुष" इस स्थल में वे दो पद क्यों देखते हैं? क्योंकि कभी कभी हम "राज" और "पुरुष" दो अलग-अलग पदों का भी व्यवहार करते हैं, इसलिए वे जब उन्हें एक साथ देखते हैं तो वे उन्हें उसी (पृथक् पृथक्) पूर्वाग्रह से ही देखते हैं। अन्यथा कोई कारण नहीं है कि वे समास में एक शक्ति स्वीकार न करें। जगदीश स्वयं एक वैयाकरण थे, अतएव उनका वैयाकरणों से प्रभावित होना ही स्वाभाविक है; किन्तु वे नैयायिक सम्प्रदायों के ही परिपालक थे अतएव वे नैयायिक सिद्धान्तों को भी सम्पूर्णतः छोड़ नहीं पाते हैं।

वैयाकरण जब कृत्, तद्धित, समास एक शेष और सनाद्यन्त धातु रूप में वृत्ति स्वीकार करते हैं तो "वृत्ति" से तात्पर्य समुदाय शक्ति से है, जिसका लक्षण पहले ही किया जा चुका है। "परार्थाभिधानं वृत्ति" अर्थात् परार्थ से अन्वित स्वार्थ का उपस्थापक होना। जगदीश सार्थक शब्द के लक्षण में" शब्दान्तरमपेक्ष्यैव– इत्यादि कह कर इसी वैयाकरणों के वृत्ति लक्षण को ही मानों उजागर करते हैं। क्या इससे ऐसा प्रतीत नहीं होता है, कि वे भी समासादि में समुदाय शक्ति स्वीकारने का आग्रह रखते हैं? वैयाकरण वृत्ति के भी दो भेद करते हैं–

जहत्स्वार्थी और अजहत्स्वार्थी, ऐसा पहले से ही कहा जा चुका है। अवयववार्थ के प्रति निरपेक्ष होते हुए समुदायार्थ का बोधक होना जहत्स्वार्था है। अवयवार्थ संवलित समुदायार्थ का बोधक होना अजहत्स्वार्था है। वृत्ति कहने से वैयाकरण पदों के अन्वय में ही वृत्ति मानते हैं। जबकि नैयायिक वृत्ति कहने से शक्ति या लक्षण मानते हैं। फिर भी जहाँ पर समास एक अखंड पदों के रूप में स्वीकृत है वहाँ अन्वय का प्रश्न ही नहीं उठता है, वे समस्त रूप से एक ही शक्ति के द्वारा अर्थ का बोध कराते हैं। जगदीश प्रदत्त सार्थक शब्द के लक्षण के प्रसंग में वैयाकरणों के उपरोक्त सिद्धान्तों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

जगदीश के मत में एक और बात वैयाकरणों के प्रभाव की देखी जाती है, वह यह है कि उनके अनुसार वे ही शब्द सार्थक होते हैं जो वाक्य भाव को प्राप्त होते हैं। तो क्या बिना वाक्य भाव को प्राप्त शब्द का कोई अर्थ नहीं होता है? अर्थात् परोक्ष रूप से वे वाक्य की महत्ता ही सिद्ध करते हैं। पद तो वाक्य के अंग के रूप में ही महत्त्वपूर्ण होते हैं, स्वतन्त्र रूप से नहीं। जैसे नगीने का स्वयं भी महत्त्व हो सकता है, पर उसका गौरव अंगूठी में जड़ कर ही सिद्ध होता है।

विवेकानन्द कालेज
ठाकूर पुकुर, कलकत्ता - ७०० ०६८

मधु कपूर

ग्रंथ - सूची

१. पाणिनीय व्याकरणमहाभाष्य — निर्णय सागर मुद्रित

२. पाणिनीयाष्टाध्यायी सूत्रवृत्ति — काशिका न्याय-पदमंजरी - पं. जयशंकर लाल त्रिपाठी और डॉ. सुधाकर मालवीय द्वारा सम्पादित (तारा बुक एजन्सी वाराणसी)

३. अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन — कपिलदेव द्विवेदी (हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद)

४. संस्कृत व्याकरण दर्शन — राम सुरेश त्रिपाठी (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली)

५. व्याकरण की दार्शनिक भूमिका — डॉ. सत्यकाम वर्मा (मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली)

६. न्यायदर्शनम् (भाष्य-वार्तिक - तात्पर्य टीका - विश्वनाथ वृति सहित) सम्पादित तारानाथ न्याय तर्कतीर्थ और अमरेन्द्र मोहन तर्कतीर्थ (मुंशीराम मनोहर लाल पब्लिशर्स, प्रा. लि.)

७. शब्द-शक्ति प्रकाशिका — जगदीश तर्कालङ्कार, चौखम्बा प्रकाशन

८. तर्क भाषा — केशव मिश्र — व्याख्याकर श्री. बदरीनाथ शुक्ल (मोतीलाल बनारसी दास)

९. तर्क संग्रह — दीपिका — अन्नं भट्ट सम्पादित श्री. गोपीनाथ भट्टाचार्य (प्रोग्रेसिव पब्लिशर, कलकत्ता)

१०. न्यायकोश — महामहोपध्याय भीमाचार्य झलकीकर (भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना)

११. पद पदार्थ विभाग परिशीलनम् — जगदीश चक्रवर्ती

१२. **Samarthahnik** – 2-1-1 – Dr. S. D. Joshi

१३. **Technical Terms and Techniques of Sanskrit Grammar** – Ksitish Chandra Chatterjee. (University of Calcutta)

१४. **The Philosophy of Sanskrit Grammar** – Dr. P. C. Chakravarty.

१५. **Linguistic Speculations of the Hindus.** – Dr. P. C. Chakravarty.

१६. **Proceedings of the Winter Institute on 'Ancient Indian Theories on Sentence Meaning.** (Held in March/1979) Edited by S. D. Joshi, University of Poona, Pune 1980.



सडक पर दिन : एक अनुबोध

यह डॉ. महेन्द्र कार्तिकेय का हाल ही में प्रकाशित हुआ एक नया काव्य है। कुछ अर्से से डॉ. कार्तिकेय जी निरन्तर लिख रहे हैं। उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम प्रायः काव्य ही रहा है। लेकिन इस काव्य की एक विशेषता यह रही है कि उसमें चिंतनशीलता दिखाई पड़ती है। इस का कारण है कि उनकी काव्य-चेतना को दर्शन का स्पर्श हुआ है। प्रस्तुत काव्य तो समूचे जीवन को दर्शन के परिप्रेक्ष्य में ही देखने का एक प्रयास है।

वाकई, हर आदमी कम से कम अपने साथ ही क्यों न हो, अपने जीवन पर किसी न किसी दार्शनिक अंग से अवश्य ही सोचता है। इस अर्थ में हर आदमी दार्शनिक है। लेकिन आम आदमी की तरह कवि अपनी दार्शनिकता के स्वयं के घेरे में अपने को बाँध नहीं रखता है। कवि की पहुँच हमेशा अपने से परे होती है और अपने चिंतन के दायरे में कवि आम आदमी की असलियत को समा कर समूची आदमियत की खोज प्रस्तुत करता है। इस बात का एक अच्छा सबूत हमें डॉ. कार्तिकेय जी का *सड़क पर दिन* काव्य पढ़ते हुए मिलता है।

सड़क पर दिन तो एक दिन की कहानी है। वैसे एक दिन तो बहुत छोटा ही। लेकिन क्या आदमी का अपना जीना एक दिन से कभी ज्यादा भी होता है। आदमी की केवल एक दिन की छोटी सी जिंदगी को हम एक अनूठी तरकीब से बड़ा बना लेते हैं। वह तरकीब है टुकड़े करने की। किसी भी चीज के टुकड़े करने से एक ही चीज बहु बन जाती है, उसमें विस्तृतता का आभास पैदा होता है। ठीक उसी तरह हम दिन को, जो असल में बहुत ही छोटा अवधि है, कुछ टुकड़ों में बाँट देते हैं और टुकड़ों में बांटा दिन हमें खींचे हुए रबड़ की तरह काफी लम्बा दिखाई देता है। सुबह से ले कर शाम तक, नहीं, रात्रि गुजरने तक हम दिन को अलग अलग रूप में देखते हैं और वही उसके टुकड़े बना देते हैं। उन टुकड़ों में भी अर्थ होता है। क्यों कि हमारी चेतना भी हमेशा एक जैसी नहीं होती है। वह अनेकों मुड़ाओं पर अपना रुख बदल बदल के हर क्षण किसी न किसी नये रूप में उभर आती रहती है। आंतरिक तथा वाह्य भी परिस्थितियों के कोने उसे चेतना को नये रूप में उभरने पर बाध्य करते हैं और इसी तरह चेतना के हर मोड़ एवं हर रूप में अर्थ भर आता है। दिन के हर टुकड़े में भी इसी तरह अर्थ भर जाता है। डॉ. कार्तिकेय जी की रचना में दिन के इन टुकड़ों को लेकर जीवन के विभिन्न रूपों को अपने अपने अभिभावों में व्यक्त कर दिया है। इस तरह इस में प्रवेश, भोर, दोपहर, सांज, रात, मध्यरात्रि और उषःकाल इन मोड़ों से गुजरता हुआ दिन अपने अलग अलग फिर भी एक दूसरे से जुड़े हुए अर्थ बना देता है।

एक ओर दिन को जीवन से जुड़ा लिया है और दूसरी ओर सड़क को जीवन से जुड़ा लिया है। जीवन को समझने के लिए डॉ. कार्तिकेय जी इन दो आयामों से प्रतीत होने वाला चित्र हमारे सामने रख देते हैं। काफी पुराने जमाने से जीने को रास्ता चलने के अर्थ में समझा है। मानव-जाति का यह शायद सबसे पुराना लेकिन आज भी उतना ही तरोताजा रूपक है। इसी मार्ग या सड़क के रूपक को ले कर यहाँ जीने का अर्थ पूरा कर दिया है। एक तरह से दिन प्रतिनिधित्व करता है काल का और सड़क प्रतिनिधित्व करती है दिक् कर। सड़क के इस रूपक में दिक् को गतिमान एवं परिवर्तनशिल रूप में लिया गया है। इस दिक् में जो वस्तुरूप प्रत्यक्ष मिलता है वह जीने की असलियत है। इसी असलियत को काल के माध्यम से जानने का प्रयास प्रस्तुत रचना में किया गया है। इस काव्य की शुरूवात ही होती है

"सड़क क्या है
मार्ग है
कारण है गति का

या हमारे प्राण के उन्मेष का है द्वार" (पृ.९) लेकिन दिन और सड़क इन दोनों उपमानों को कहीं न कहीं आपस में जुड़ जाना चाहिए। तभी तो अर्थ निकलेगा। कवि उसे अपनी रीति से जोड़ देता है।

"_उसी में एक है दिन।
एक है सड़क
या सड़क ही दिन है।" (पृ.९)

जीवन के बारे में सोचना जो है वह केवल आदमी को केन्द्र बना कर ही नहीं सोचना, बल्कि समूची सृष्टि को भी केंद्र बना कर जीने का अर्थ परखना है। यह द्विकेन्द्री अर्थान्वय है - एक केंद्र है आदमी और दूसरा सृष्टि। इन दोनों केंद्रों से जो परिघ बनता है वही जीवन है। उसी परिघ पर चलना है। उसे चलने का अर्थ समझना है। कवि यहाँ बड़ी खूबी के साथ दूसरे केन्द्र को स्पष्ट कर देता है।

"यह सृष्टि सड़क है
जिस पर चलते हैं मानव
पशु
पक्षी
मृत
अमृत।
_जड़ और चेतन।" (पृ.११)

भूमिति-शास्त्र हमें बताना है कि दो बिंदुओं के बीच के फासले को काटना ही रेखा बनाना है। अंतर की कल्पना का यह उद्गम है। यह अंतर दिक् में है और उसे हम काल पर भी

आरोपित करते हैं। दिन और काल के अपने अपने गुणों को एक दूसरे पर आरोपित करने के लिए दिन और सड़क को साथ लाया गया है ताकि जीवन का अर्थ सुचारु रूप से स्पष्ट हो सके। दिन को टुकड़ो में बाँट कर देखने से वह दो बिंदुओं के बीच का अंतर है यह बात स्पष्ट होती है। और सड़क भी क्या है? वह भी तो दो बिंदुओं के बीच का अंतर ही तो है। इस अंतर को काटना यही आदमी के लिए जीना है। जीने का अर्थ आदमी के केंद्र से बनता है। सृष्टि के केंद्र से इसी जीने को समझने से जीने का जो अर्थ बनता है वह कुछ अलग ही है। इस केंद्र से देखने से यह बात तो स्पष्ट होती है कि टुकड़ो में अंशों को बाँट कर बनायी बहुत्व की निर्मिति मात्र कल्पना का विलास ही है। उसे अपना अस्तित्व नहीं है। सृष्टि के केंद्र से जीवन सिर्फ एक समूचा एवं अखंड क्षण है, जिस में न कोई छोर है न कोई अंतर। इसीलिए कहना पड़ता है,

"लेकिन पता नहीं
अन्तर क्या है
किसी अन्त का। (पृ.१२)

फिर भी आदमी उस स्तर पर रहना पसंद नहीं करता क्योंकि उसकी प्रतिभा, उसकी कल्पनाशक्ति उसे सृष्टि के केंद्र पर कभी स्थिर नहीं होने देती। सृष्टि के केंद्र को पकड़ते हुए भी वहाँ कल्पना का जाल बिछा दिया जाता है। और उसी में जीने के अर्थ को पकड़ने की कोशिश होती है। इस कोशिश में दोनों केंद्रों को ऐसे कोण से देखा जाता है कि वे एक दूसरे पर चिपकाए से आरोपित नजर आएँ। प्रतिभा के इस आयोजन से कवि का अर्थग्रहण सुलभ एवं ठोस बनने लगना है।

"सड़क माध्यम है
चेतना का
जहाँ गुजरता रहता है
समय" (पृ.१३)

इस तरह से जो जीवन का अर्थ बनता है उस पर कुछ अधिक सोचना जरूरी है। क्योंकि जैसे कि हम पहले ही बता चुके हैं कि आदमी जीता है केवल एक हि दिन। एक ही दिन के आवर्त वह पुनः पुनः अनुभव करता रहता है। उस की संवेदना इतनी सशक्त एवं सक्षम नहीं है कि अनुभव के परिणामों को वह हमेशा संचित रख सके। लेकिन उसकी संवेदना तो अवश्य ही इतनी सशक्त है कि बार बार वह अनुभूति से अभिभूत हो जाए और हरेक डुबकी में वही नया गीलापन भी पा सके। यही कारण है कि जिस दिन को अनेकों टुकड़ो में बाँटा जा सकता है उस एक ही दिनसे न केवल बहुत सारे महीने बनते हैं। बल्कि ढेर सारे साल भी बनते हैं और उन्हीं आवर्ती सालों में आदमी जीता है। बार बार डुबकी लगा कर अपने को गीला करते रहता है। उस का जीना तो एक ही दिन का जीना है - सुबह से शाम तक नहीं, बल्कि दिन और

रात से गुजर कर एक सुबह से चल कर दूसरी सुबह तक।

आदमी के केंद्र से एक दिन और सृष्टि के केंद्र से उसी दिन के अनेकों आवर्त। ऐसे बहुतेरे दिनों के जनम की कथा क्या बताना? क्योंकि बहुत्व है केवल कल्पना का संसार।

"दिन का नहीं है
कोई माँ-बाप
न कोई पत्नी-पुत्र..." (पृ. १४)

यह दिन जिसका किसी चीज से कोई अर्थपूर्ण ताल्लुक ही नहीं रहता। क्या क्या नहीं बनता इस एक दिन में? सभी बनता रहता है। इस एक दिन का आलेख ही तो मनुष्य के जीवन का इतिहास है। पुनः पुनः घटित होते रहते हुए उस का दिन इतना जटिल हो जाता है कि उसे पढ़ना मुश्किल-सा लगता है। एक ही शब्द को बार बार उसी के ऊपर लिखते रहने से शब्द मिट जाता है। लेकिन शब्द के आकार की गति उसके मुड़ाव के साथ हाथ का स्वभाव बन जाती है। हाथ का यही स्वभाव देख कर हम शब्द पढ़ते हैं, लेख को देख कर नहीं। जीवन का अर्थ लगाना होता है तो इसी तरीके से लगाना पड़ता है। पैदल चलते चलते पाँव किस तरह बढ़ते हैं यह देख कर ही यात्रा का पता लगता है। क्योंकि इतने सारे आदमी चल कर सड़क का पता क्या लगाया जाए? एक छोर है जन्म का और अंत का छोर है मृत्यु का। इस के बीच का फासला ही सड़क है और उसे चल कर कम करते रहना है।

"हर कण-कण में बसी है
एक यात्रा
जन्म से पुनर्जन्म तक की यात्रा
यानी सड़क
और हर यात्रा में है सुबह, दोपहर रात
यानी दिन।" (पृ. १६)

जीना क्या है? बस, चलना है। एक दिन में आदमी कितना चल पाता है?- खाली तीन कदम। तीन कदम चलने के बाद कुछ समय तो बच पाता है लेकिन कोई हौसला नहीं बचता; चौथा कदम चलने के बगैर आदमी सो जाता है। चौथे कदम का चलना तो वैसे सपने में ही पूरा हो जाता है। लेकिन उस चलने में सड़क वहीं की वहीं रह जाती है। आदमी भी वहीं का वहीं ठहर जाता है। रात के सारे व्यवहार भी उसके सपने में चौथा कदम चलना है। उस का विश्राम उसका चौथा कदम चलना है।

"मृत्यु घटना है
दुर्घटना है
भीर का ललौहा है
जहाँ से उगता है

नया सूरज..."

मृत्यु को जीना और पुनर्जन्म की ओर रुख लेकर जीना ही जीवन का चौथा कदम चलना है। मृत्यु को समझें बिना जीवन अधुरा है और जीवन के समझे बिना मृत्यु अधूरी है। यही मृत्यु नये जन्म का गर्भसंभव कराती है। नये सूरज को उगाने के लिए जगह बना देती है।

जब यह जीवन उभरता जाता है, जैसे, जैसे सड़क आगे बढती रहती है, उलझाव भी जटिल होते जाते हैं। इस जटिलता में कई गाँठें आ पड़ती हैं। उन्हीं में से एक गाँठ का नाम है इतिहास। जीवन का बढना एक संघर्ष है और वह कुटिल संघर्ष है। इसी से हर जगह कुरुक्षेत्र बनता है। गाँठें उलझती रहती है। इतिहास बनता है। यह इतिहास आदमी-आदमियों के बीच बनता रहता है। लेकिन आदमी के अंदर उस के मन में भी गाँठें उलझ जाती हैं। युद्ध छिड़ जाते हैं। संघर्ष अपनी कराल दाढ़ें खींचता रहता है।

"महाभारत
सिर्फ नहीं लड़ा जाता है, कुरुक्षेत्र में
मन के अंदर में भी
मचता है घमासान युद्ध
परकीया सौंदर्य
ललचाती है राक्षसी प्रवृत्तियों को।" (पृ. २०)

यह तो अपनेसे ही लड़ा अपना युद्ध है। मोहमाया के जाल में एक बार फँसने से गाँठें ही गाँठें उलझती रहती है और इतिहास बनता जाता है। लेकिन यह इतिहास पुरुषार्थ का नहीं होता। यह तो कामवासनादि विकारों की खातिर लड़ा आदमी का अपना इतिहास होता है। अपनी कमजोरियों के रास्ते पर अपने आप फिसल कर पड़ने का इतिहास होता है। अपने ही काम के आवर्त में आप ही धँस जाने का इतिहास है। यह इतिहास आत्मा की कसम का नहीं बल्कि बंधन का इतिहास है। क्या यही जीवन है ? हर्गिज़ नहीं। इस नकार को सँजोए रखने वाली चेतना बंधन की विवशता को तोड़ कर आत्मा की उड़ान के लिए नये द्वार खोजती है। काम के कीचड़ में फँसी आत्मा का असली इतिहास वासना से लिप्त रहने में खत्म नहीं हो जाता, बल्कि मुक्ति का एक नया द्वार बनाने में वह शुरु हो जाता है। आदमी यह द्वार बना पाता है। यही है वह द्वार-कृष्ण। इस कृष्ण ने तो युद्ध लड़ना ही सिखाया है। लेकिन ऐसा युद्ध जो बंधन की विवशता नहीं, बल्कि मुक्ति का द्वार बनता है।

"कृष्ण ही परमात्मा है
जो शक्तिवान् करते हैं
इंद्रियों को
जिस से जीत सके युद्ध

मार सके
अपने ही भीतर की वासना। (पृ.२१)

डॉ.कार्तिकेय जी की विचार-धारा में आया यह मोड़ इस काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण मोड़ है। यह काव्य न केवल कल्पना का विलास है। बल्कि इस में विचार की गंभीरता भी है और उसी के आधार पर इस काव्य की गति अबाधित रहती है।

अपना जीवन जीते रहना याने अपने अस्तित्व को परखते रहना है। इस अस्तित्व पर जो विभिन्न तरंग से उठते रहते हैं,उनका विलोकन ही जीवन-पट को देखते रहना है। आदमी के केन्द्र से यह जीवन-पट चलता रहता है। लेकिन सृष्टि के केन्द्र से देखने पर इस में कुछ भी खासियत नज़र नहीं आती। वह एक बिन्दुमात्र रह जाता है।

"अस्तित्व तो रहता है,
ओझल हो सकता है
चमकता है, अपने केन्द्र में
नकारा नहीं जा सकता अस्तित्व...
हम ही डूब जाते हैं। अपनी उड़ान में
पकड़ में नहीं आता
कुछ भी
न ओर, न छोर। (पृ.२८)

इन दो केन्द्रों में जो मेल-जोल है या मेलजोल का अभाव है उसी के कारण जीवन को समझना या न-समझना बनता है। वैसे देखा जाए तो जीवन को समझना काफी मुश्किल है, शायद असंभव भी। लेकिन जीवन का सूत्र कहीं न कहीं अवश्य पाया जा सकता है। यही कारण है कि जीवन के दर्शन बनते जाते हैं; चलते जाते हैं। वे अनेक होते हैं,उन के बारे में सहमति एवं असहमति दोनों होती हैं। जीवन जीना याने मार्ग चलना, सड़क पर चलना। इस दृष्टि से भी समझा जाए तो एक बात स्पष्ट होती है कि चलने के दो अंश हैं-एक अचल सड़क और दूसरा गतिमान चलने वाला। सृष्टि के केन्द्र से देखने से इस सड़क की कोई लम्बाई नहीं होती है। फिर भी चलने वाले की गतिमानता तो रहती ही है। सड़क और पथिक इन दोनों के इस संघर्ष-सहयोग से यात्रा बनती जाती है। इस यात्रा में कुछ पड़ाव आते हैं। लेकिन क्या कभी इस यात्रा का कोई अंतिम पड़ाव होता है। यात्री की हैसियत से वह यात्रा का अंत है। लेकिन यात्रा का अपने में न कोई अंत है न आरंभ भी। इस बात को समझना जीवन को समझने का सबसे बड़ा सूत्र है। यात्रा है, यात्रा का आरंभ है, यात्रा में पड़ाव हैं और यात्रा का अंत है तथा यही यात्रा यात्री को कहीं ले भी जाती है। ये तो सभी मानने की बाते हैं। मानने से जो मिलता है क्या वह असल में कहीं होना (भी) है?

"दिन-दिन ही होता है

सड़क-सड़क ही होती है
यात्राएँ
चाहे जहाँ से करें शुरू,
खतम होती ही है
किसी न किसी मुकाम पर
किसी न किसी हादसे के बाद।" (पृ.४२)

लेकिन जवानी किसी इस बात को सोचती नहीं है। वह तो संघर्ष और युद्ध में ही रत रहती है। खून का खेलना सबसे खरतनाक होता है। वही आदमी के अहंकार को पुष्ट किये देता है, युद्ध छेडता है, पराजय की गर्त में पड़ जाता है और फिर भी मरता नहीं है

"जिन्दगी के इस मोड़ पर
आदमी चाहता है दौड़ना तेजी से
कि हरा दे समय को
और सूर्य के रथ को..." (पृ.४४)

ऐसे संघर्षों से धर्म बनता है। और धर्म से समाज का धारण होता है। फिर भी इस धर्म का आधार सत्य नहीं बल्कि संघर्ष ही होता है। इस युद्ध की कोई उपलब्धि नहीं होती है। इस दौरान और भी दिशाएँ आदमी को उकसाती हैं- अपनी-अपनी ओर यात्रा के रुख कर लेने के लिए। इस में एक दिशा है सत्य की, सद्गुरु की, ईश्वर की। इस दिशा में बढती यात्रा के पड़ाव कुछ और ही होते हैं।

"सत्य गुरु है
जो अंगुली पकड़ कर
करता है पथप्रदर्शन....

सद्गुरु हो तो असफलताएँ नहीं आती हैं पास क्योंकि वह जानता है

काल के भाल पर लिखि बात
कि क्या होगा क्रमवार।" (पृ.३५)

यह भी अपने में एक यात्रा है। यात्रा गुजरती है सड़क से और समय से। क्या संबंध है इन दोनों में ? यह सवाल तो हर मोड़ पर उठता है और जवाब के तौर पर अपना नया मुख दिखा कर लुप्त भी हो जाता है। सड़क और दिन साथ है। और उन के बीच आदमी है अपना जीवन गुजारता हुआ। उस के पाँवों तले है सड़क और संवेदना को गुजरने के लिए समय याने दिन। इन दोनों के बीच गुजरते हुए जो होता है वही जीवन है, उसी को समझना है, उसी को चित्रित करना है। सड़क और समय इन दोनों को बाँधता है आदमी याने उसका जीवन, सड़क और समय में यही संबंध है। फिर भी वे दोनों हमेशा एक दूसरे के साथ हैं। आदमी के कारण ही एक का दूसरे के लिए मतलब हो पाता है, अन्यथा एक दूसरे के संवेदन के बिना ही वे एक

दूसरे के साथ हैं। जीवन में भी यही बात होती है। बहुत सी चीजें एक दूसरे के साथ होती हैं। लेकिन उनको जोड़ने वाले किसी पुर्जे के बिना उन दोनों में संवाद नहीं हो पाता है। एक का दूसरे के लिए अर्थ होने के लिए उन दोनों को दो छोरों से एक साथ पकड़ कर रखने वाला कोई चाहिए। दिन के जो टुकड़े अलग अलग बँटते हैं उन को भी एक साथ जोड़ा जाता है। दिन के दो महत्त्वपूर्ण पहलू उस के दो टुकड़े हैं- दिन और रात। उन के छोरों को एक साथ पकड़ रखने वाली सँधिवेला है साँझ। इस साँझ को समझना बहुत महत्त्वपूर्ण है। यही साँझ दिन और रात इन विभिन्न पहलुओं को एक दूसरे के लिए मतलब जता देती है।

साँझ के समय दिन की रोशनी मिटती जाती है और रात का अँधेरा बढ़ता जाता है। बिना कोई दीप जलाए इस साँझ को देखा नहीं जाता, चाहे बाहर देखना हो या अंदर।

"दीपावली के दीपक जलते हैं,
उसी में है देवता की चेतना
वही है समय।" (पृ.५२)

डॉ.कार्तिकेय जी की ये पंक्तियाँ अंदर और बाहर दोनों ओर प्रकाश देने वाले देहली पर रखे दीप का संकेत कर जाती हैं।

"चाहे कोई भी रहा हो
युगपुरुष
कोई भी क्या बाँध पाया समय
रोक पाया सूर्य का रथ," (पृ.५३)

क्यों कि इसी साँझ की वेला में दिन अपना एक रूप बदल कर दूसरे पहलू में उभर आता है।

"साँझ
जीवन के एक दौर के बाद
विश्राम की घंटी है,
ऊर्जा विस्तार के बाद
उर्जरित होने का क्षण।" (पृ.५३)

इसी साँझ के कर्तृत्व को कवि यहाँ बहुत ही काव्यपूर्ण रूप में पुनः एक बार प्रस्तुत करता है-

"साँझ सुन्दरी है
जो आकाश से मेनका की तरह
उतरती है
धीरे धीरे
और बूढ़े तपस्वियों को

अपने सौंदर्य की लौ में बाँध
बना देती है गृहस्थ।" (पृ.५४)

फिर भी इस साँझ पर नियंत्रण पाना बहुत ही मुश्किल है।

"साँझ एक सुनहरी मछली सी
हाथ में आ फिसलती है" (पृ.५५)

पकड़ में आते आते हाथ से चली जाने वाली साँझ होती है बहुत गहरी, फिर भी उतनी ही सँकरी। उसे देखते देखते ही वह निकल जाती है और दिन के दूसरे गाढ़े पहलू के अमल में हम चले जाते हैं। दिन की अपेक्षा रात्रि निश्चल मानी जाती है। लेकिन असल में बात कुछ और ही होती है। रात्रि के काले और विपरीत बर्ताव जीवन के काले पहलू दिखा जाते हैं। वे कितने ही काले क्यों न हों। वह भी दिन की सच्चाई है। जो कुछ उथल-पुथल जीवन में मचली है उस के सारे कारोबार रात ही के तो होते हैं।

रात के हृदय में चलते रहते हैं ऊहापोह
मूल्यों का संकट
मूल्य ही बनाते हैं
राम को पुरुषोत्तम
कृष्ण को प्रभु
मूल्य ही बनाते हैं (पृ.५९)

इस रात्रि में बहुत कुछ बनता है और बहुत कुछ बिगड़ता भी। अंधकार की अपनी आँखें होती हैं जो दिन को नहीं देख पाती, बल्कि उगते दिन को बनाती वही हैं। उसी समय नये बीज बोये जाते हैं। दिन में होता है शब्दों का व्यवहार। लेकिन थक कर वह विश्राम कर लेता है रात्रि में। विश्राम का अर्थ गति की कुंठा नहीं, गति का परिवर्तन है। थका हुआ शब्द-संसार रात में जब विश्राम करता है तब काया की अपनी भाषा अपना संसार रचने लगती है। रात्रिकाल न केवल विश्राम के लिए अवधि है बल्कि वह क्रीड़ा की बेला है और उस क्रीड़ा का फल केवल आनंद ही नहीं, बल्कि सृजन एवं नवनिर्मिति के बीज बोने का अवसर भी है। क्यों कि उस क्रीड़ा का माध्यम है काया। मध्यरात्रि यात्री के लिए अपना समय है जब यात्री अपनेपन से प्रेरित होकर क्रीड़ा में शरीफ होता है और अन्ततः अपनेपन को क्रीड़ा में समर्पित करके आनंद पाता है। उस के समर्पण का ही फल है सृजन एवं नवनिर्मिति के अंकुरों के उन्मेष के लिए बीजारोपण।

रात को तय होता है
हर कारखाने का संतति विस्तार
या विग्रह
निर्माण में नियंत्रण है मूल्य का,

उत्पादन में नियंत्रण है माँग का,
जन्म में नियंत्रण है चाह का (पृ.६३)

जो कुछ जुटाया जाता है, समाया जाता है वह रात्रि में ही हो जाता है। और दिन उभरते उभरते उन्मेष फूटने लगते हैं। कलियाँ खिलने लगती हैं और अभिव्यक्ति साकार होने लगती है। उषःकाल उन फूटते हुए अंकुरों का दर्शन है।

लेकिन यहाँ कवि रात्रि के बाद उषःकाल की ओर नहीं बढता है। वह जाता है एक दूसरी ही संधिवेला की खोज में। यह संधिवेला साधारण रूप में प्राप्त नहीं है। लेकिन कवि की प्रतिभा इसे पकड़ कर ही रहती है। यह संधिवेला है मध्यरात्रि। दिन के इस टुकड़े के निमित्त कवि ने यहाँ कुछ गूढ संकेतों के सहारे जीवन के रहस्यमय अर्थ को भी हमारे सामने प्रस्तुत किया है। आदमी का जीवन केवल शब्द और काया के स्तर पर किया व्यवहार नहीं है। उसी आत्मा का भी कोई मापन होता है और उसी मापन को यहाँ लिया गया है। आदमी के अंदर सुप्त चेतनाशक्ति की जागृति और उस की यात्रा यह अनंत की यात्रा है। वह आदमी के जीवन का मुख्य अर्थ है। कुंडलिनी शक्ति का जग जाना, सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में अपने को विलीन कर लेना यही जीवन है। इस जीवन का दूसरा रूप है शिव और शक्ति के द्वन्द्व-एकात्म में। असल में मनुष्य का जीवन और सारी सृष्टि इसी शक्ति की यात्रा से बनते हैं। यह ईश्वर के लिए तो क्रीड़ा ही है। क्रीड़ा और उन्मेषों में है साधना का अवकाश। इस अवकाश में जो घटता है उस के बारे में तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। यह क्रीड़ा-रात्रिक्रीड़ा तो यात्री का निजी जीवन है। फिर भी उस के रंग उठते हैं, कहे जा सकते हैं। क्रीड़ा के बाद घटने वाली साधना किसी भी शब्दों के परे ही होती है। उस साधना के क्षण सरस्वति जैसे गुप्तरूपेण प्रवाहित होते हैं।

शक्ति की सीमा है प्रकृति_
वही तो नचाती है_
वही तो बहाती है_
उसी के अधरों पर आनंद है
सृष्टि है_(पृ.७४)

तब आता है उषःकाल, उगता है नया दिन यहाँ एक दिन की परिक्रमा पूरी होती है।

"उषा जन्मान्तरण है
दिन का जन्मान्तरण
सडक का जन्मान्तरण" (पृ.७७)

इसी तरह एक के बाद एक दिन और एक के बाद एक जीवन बनता जाता है। संधिवेला में मिट कर, रात्रि में बीज सँजोए उषःकाल में वह फिर उभर आता है। यह भी यात्रा है समय की। इस यात्रा का कोई अन्त नहीं

"खतम नहीं होती
कभी
यह अनवरत प्रवाही यात्रा।" (पृ.७८)

जीवन का अर्थ समझते समझते हम यहाँ विराम कर लेते हैं। दो आवर्तों के बीच यह संधिवेला है जहाँ विराम लेकर हम आवर्त को समझ लेते हैं। और जीवन को इस काव्य के प्रारूप से, काव्य की भाषा से और काव्य की शैली से समझने का एक बहुत ही अच्छा प्रयास डॉ. महेन्द्र कार्तिकेय जी ने यहाँ यशस्वी रूप से कर के दिखाया है। इस प्रयास में काव्य की सहजता होने के कारण उनका पारदर्शी दर्शन समझना पाठक के लिए आसान बनता है। गहन विचारों के गर्त में उलझे बिना काव्य की कोमलता को कायम रख कर कार्तिकेय जी अपने काव्य-प्रयास में सफल हुए हैं। यही प्रस्तुत काव्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है। *

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे - ४११००७

सुरेन्द्र बारलिंगे
सुभाषचन्द्र भेलके

* कार्तिकेय, (डॉ) महेन्द्र;
सड़क पर दिन,



आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

२२६. **डॉ. र. ना. वरखेडे**
संचालक,
का. स. वाणी मराठी प्रगत
अध्ययन संस्था
उन्नतिनगर
देवपुर
धुळे - ४२४००२

२२७. **साध्वी डॉ. ज्ञानप्रभा**
द्वारा, जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड
आनन्द ऋषिजी मार्ग
अहमदनगर - ४१४००१

२२८. **डॉ. सुधा सोनी**
प्रवक्ती, दर्शनशास्त्र विभाग
क्वार्टर नं. A/२
जैन विश्वभारती
लाडनूं - ३४१ ३०६
(राजस्थान)

२२९. **डॉ. मुकुल राज मेहता**
' संकल्प '
महामनापुरी
वाराणसी - २२१ ००५
(उ.प्र.)

२३०. **मुनि श्री. नवीनचन्द्र**
द्वारा, देविन्दर कुमार
घर क्रमांक B/IV । ९०३
वेत गंज, लाल मसजिद
लुधियाना - १४१ ००८
(पंजाब)



नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (२२)

विषयिता

पिछले लेख में विषयिता की चर्चा की गयी थी और कहा गया था कि विषयिता प्रकारिता, संसर्गिता तथा विशेष्यिता भेद से तीन प्रकार की होती है। जिस प्रकार विषयिता विषयता से निरूपित होती है उसी प्रकार प्रकारिता भी प्रकारता से निरूपित होती है। प्रकारिता प्रकारी में रहने वाला सम्बन्धात्मक धर्म है। ज्ञान, इच्छा आदि सप्रकारक होते हैं। अतः उन्हें प्रकारी कहा जाता है। प्रकार और प्रकारी इन में होने वाला सम्बन्ध प्रकारिता है। [१]

"पर्वत अग्निमान् है" इस ज्ञान में पर्वत विशेष्य, और अग्नि प्रकार होता है, तथा उक्त ज्ञान प्रकारी होता है। अतः उसमें प्रकारिता रहती है। अतः 'प्रकार'-रूप विषय का ज्ञान के साथ होने वाला सम्बन्ध प्रकारिता कहलाता है।

नैयायिक मानते हैं कि ज्ञान जैसे विषय से सम्बन्धित होता है वैसे विषय भी ज्ञान से सम्बन्धित होता है। अतः ज्ञान का सम्बन्ध विषय में विषयता-रूप होता है, तो विषय का सम्बन्ध ज्ञान के साथ विषयिता-रूप होता है। अतः एक ही ज्ञान में प्रकारिता, विशेष्यिता तथा संसर्गिता तीनों भी होती हैं। जैसे, "पर्वत अग्निमान् है" इस ज्ञान के तीन विषय होते हैं-पर्वत, अग्नि तथा उन दोनों का सम्बन्ध। पर्वत में जो विषयता है वह विशेष्यता-रूप है, अग्नि में जो विषयता है वह प्रकारता-रूप है, तथा अग्नि और पर्वत के बीच में होने वाले सम्बन्ध की जो विषयता है वह संसर्गता-रूप है। परन्तु उक्त तीन ही विषयताओं से निरूपित तीन अलग-अलग विषयितायें उक्त एक ही ज्ञान में हैं। "पर्वत अग्निमान् है" इस ज्ञान में अग्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित प्रकारिता है, पर्वत में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित विशेष्यिता है, तथा पर्वत और अग्नि के बीच में होने वाले संयोग सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता से निरूपित संसर्गिता भी है।

न्यायसिद्धान्तमञ्जरी के टीकाकार ने "अयं घटः" यह ज्ञान होने पर घटत्व में रहने वाली प्रकारता को ही ज्ञाननिष्ठ प्रकारिता कहा है। [२] वे ज्ञान में रहने वाली विषयिता को ही प्रकारिता मानते हैं तथा प्रकारिता को विषयिता का एक भेद भी मानते हैं। उनके मत से घट-ज्ञान में रहने वाली प्रकारता घट-ज्ञान का विषय घटत्व आदि से निरूपित होती है।

ज्ञान में रहने वाली विषयिता सर्वदा प्रकारिता-रूप नहीं होती है यह हम पूर्व में बतला चुके हैं। ज्ञान में विशेष्यिता और संसर्गिता भी होती है जो प्रकारिता-रूप नहीं होती। अतः यादवाचार्य का यह कथन कि ज्ञान-निष्ठ प्रकारिता ही विषयिता है समीचीन नहीं है।

परामर्श (हिन्दी) ,खण्ड १३, अंक २, मार्च १९९२

यादवाचार्य ने जो यह कहा कि घटत्व में रहने वाली प्रकारता ही ज्ञान-निष्ठ प्रकारिता है इसमें उनका अभिप्राय यह लगता है कि प्रकारता जो कि घटत्व में स्वरूप सम्बन्ध से रहती है वही प्रकारता ज्ञान में निरूपकत्व सम्बन्ध से रहती है। घट-ज्ञान घटत्व में रहने वाली प्रकारता का निरूपक होता है। अतः घटत्व में रहने वाली प्रकारता का और घट-ज्ञान का निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध है और इसलिये घटत्व में रहने वाली प्रकारता निरूपकत्व सम्बन्ध से ज्ञान में रहती है तो उसे ही प्रकारिता कहा जाता है। यद्यपि यादवाचार्य ने प्रकारिता को ज्ञान-निष्ठ कहा है, तथापि ज्ञान यह पद उपलक्षण है। ज्ञान पद से इच्छा, कृति द्वेष इत्यादि सभी सविषयक गुण ग्रहण करने चाहिये। घट-ज्ञान में ज्ञान प्रकारी है तथा घटेच्छा में इच्छा प्रकारी है। उसी प्रकार शत्रु-विषयक द्वेष में द्वेष प्रकारी है।

ज्ञान, इच्छा आदि उस ज्ञान के विषय में रहने वाली विषयता के निरूपक होने से विषयता (प्रकारता) में निरूप्यता आती है, तथा ज्ञान, इच्छा आदि में निरूपकता आती है। प्रकारता चूंकि प्रकार के ज्ञान से निरूपित होती है इसलिये ज्ञान प्रकारता का निरूपक होता है। अतः प्रकार में रहने वाली प्रकारता निरूपकत्व सम्बन्ध से ज्ञान में रहती है। निरूपकत्व सम्बन्ध से ज्ञान में रहने वाली उक्त प्रकारता को प्रकारिता कहा जाता है ऐसा यादवाचार्य का मत है। परन्तु अन्य नैयायिक प्रकारता और प्रकारिता में निरूप्य-निरूपक-भाव स्वीकार करने पर भी प्रकारता से निरूपित प्रकारिता को प्रकारता से भिन्न पदार्थ ही स्वीकार करते हैं। निरूपकत्व सम्बन्ध से ज्ञान में रहने वाली प्रकारता उसी ज्ञान में स्वरूप सम्बन्ध से रहने वाली प्रकारिता से भिन्न है। स्वरूप सम्बन्ध से प्रकार में रहने वाली प्रकारता से भिन्न सिद्ध करने के लिये ही उसे प्रकारिता यह संज्ञा दी गयी है। प्रकारिता भी प्रकारता, प्रतियोगिता आदि के समान स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष ही है। कुछ लोग प्रकारता की तरह ही प्रकारिता को भी स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं।[३]

जो लोग प्रकारिता को स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष ही मानते हैं उनके अनुसार प्रकारिता ज्ञान, इच्छा, कृति इत्यादि-स्वरूप ही है, जो कि स्वरूप-सम्बन्ध से उनमें रहती है।

यहाँ यह एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि प्रकारिता अपने आश्रय ज्ञान, इच्छा, कृति आदि में स्वरूप-सम्बन्ध से रहती है तो वह स्वरूप-सम्बन्ध कैसे हो सकती है? कोई भी वस्तु उसी सम्बन्ध-रूप हो कर उसी सम्बन्ध से किसी भी स्थान में कैसे रह सकती है? जो लोग प्रकारिता को अतिरिक्त पदार्थ स्वीकार करते हैं उनके मत में यह प्रश्न उपस्थित ही नहीं होता है, क्योंकि प्रकारिता जो कि अतिरिक्त पदार्थ है वह अपने आश्रय ज्ञान, इच्छा आदि में स्वरूप-सम्बन्ध से रह सकती है। जैसे, घटाभाव भूतल पर स्वरूप सम्बन्ध से रहता है, या समवाय सम्बन्ध अपने आश्रय द्रव्य, गुण आदि में स्वरूप-सम्बन्ध से रहता है। परन्तु प्रकारिता को स्वरूप-सम्बन्ध मानने वालों के मत में यह प्रश्न रहता ही है। क्योंकि कोई भी वस्तु, जो कि विशेष प्रकार का सम्बन्ध है, उसी सम्बन्ध से अपने आश्रय में नहीं रहती है यह बात

अनुभव-सिद्ध है। जैसे, अग्नि का पर्वत के साथ होने वाला संयोग संयोग सम्बन्ध से नहीं होता, या घटत्व का घट के साथ होने वाला समवाय उसी समवाय सम्बन्ध से नहीं होता है; वह स्वरूप-सम्बन्ध से ही होता है।

यहाँ नैयायिकों का यह कथन है कि संयोग या समवाय के विषय में भले ही यह हो कि संयोग या समवाय उसी सम्बन्ध से अपने आश्रय में नहीं रहते हैं। परन्तु स्वरूप सम्बन्ध के विषय में यह नियम लागू नहीं है। स्वरूप-सम्बन्ध का अलग स्वरूप-सम्बन्ध या अन्य कोई सम्बन्ध मानने से अनवस्था उत्पन्न होगी। प्रथम स्वरूप-सम्बन्ध का द्वितीय स्वरूप-सम्बन्ध, उसका फिर तृतीय इस प्रकार अनवस्था होगी। उसी अनवस्था दोष से बचने के लिये नैयायिक स्वरूप-सम्बन्ध का कोई दूसरा स्वरूप-सम्बन्ध नहीं मानते। प्रथम स्वरूप-सम्बन्ध प्रथम ही स्वरूप-सम्बन्ध से अपने आश्रय में रहता है ऐसा स्वीकार करते हैं।

जानकीनाथ भट्टाचार्य का मत है कि पदार्थों में अभेद होने पर भी आधार-आधेय-भाव होता है। जैसे, घटाभाव की स्थिति में 'घटो नास्ति' यह प्रतिति होती है। यह घटाभाव आधार-रूप और 'घटो नास्ति' इस प्रतीति से सिद्ध घटाभाव एक ही है।[४] इसका अर्थ यह है कि आधार-आधेय-भाव होने में आधार और आधेय का ऐक्य बाधक नहीं है। यादवाचार्य ने भी अन्य उदाहरण के द्वारा भट्टाचार्य जी के ही मत का समर्थन किया है। वे कहते हैं कि घटाभावे घटाभावः यह एक उपलक्षण है। ऐसे कई उदाहरण हो सकते हैं, जैसे-प्रमेयत्वे प्रमेयत्वम्। प्रमेयत्व पदार्थ भी प्रमेय है, क्योंकि वस्तुमात्र ही प्रमेय है। अतः प्रमेयत्वरूप प्रमेय में प्रमेयत्व होने में कोई बाधा नहीं है। प्रमेयत्वरूप प्रमेय में रहनेवाला प्रमेयत्व, आश्रय-रूप प्रमेयत्व से भिन्न नहीं है।[५]

उसी प्रकार प्रकारिता-रूप स्वरूप-सम्बन्ध में प्रकारिताप्रतियोगिकत्व और ज्ञानानुयोगिकत्व रह सकता है। कोई भी सम्बन्ध द्विष्ठ होने से उसका एक सम्बन्धी प्रतियोगी और दूसरा सम्बन्धी अनुयोगी होता है यह बात पहले ही कई बार बतलायी जा चुकी है। प्रतियोगिकत्व का अर्थ है प्रतियोगिवृत्तित्व, और अनुयोगिकत्व का अर्थ है अनुयोगिवृत्तित्व। इस प्रकार प्रकारिता-रूप स्वरूप-सम्बन्ध स्वरूप प्रतियोगि में वृत्ति होने में तथा अनुयोगि में वृत्ति होने में कोई बाधा नहीं है। जब पदार्थों में ऐक्य होने पर भी आधार-आधेय-भाव में कोई बाधा नहीं है तो सम्बन्ध और सम्बन्धी में भी अभेद होने पर सम्बन्ध-सम्बधिभाव होने में भी कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। प्रकारिता-रूप स्वरूप-सम्बन्ध-रूप सम्बन्धी और उसका स्वरूप-सम्बन्ध एक ही होने पर भी उनमें सम्बन्ध-सम्बन्धि-भाव माना जा सकता है।

कुछ नैयायिक प्रकार-रूप विषय का ज्ञान के साथ होने वाले सम्बन्ध को प्रकारिता कहते हैं। परन्तु कुछ प्राचीन नव्य-नैयायिक प्रकारिता को सम्बन्ध नहीं मानते हैं। उनके अनुसार विशिष्ट-बुद्धि का नियामक जो हो वही सम्बन्ध है। जिस सम्बन्ध से विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न नहीं

होता है वह सम्बन्ध ही नहीं है।[६] उनका मत है कि जहाँ सम्बन्धत्व हो वहाँ उससे विशिष्ट-बुद्धि अवश्य उत्पन्न होती है और वह 'मत्वर्थक' शब्द से द्योतित होती है। जैसे, रूपवान् घटः, वह्निमान् पर्वतः इत्यादि। वह्निमान् ज्ञान है, या वह्निमान् अभाव है ऐसा प्रामाणिक अभिलाप नहीं है। अतः विषयिता (प्रकारिता), प्रतियोगिता आदि सम्बन्ध नहीं हैं। 'वह्निं जानामि' (अग्नि को जानता हूँ), वह्निर्नास्ति (अग्नि नहीं है) इस प्रकार के अभिलाप सर्वजन विश्रुत हैं। इससे विषयिता और प्रतियोगिता का सम्बन्ध तथा 'घटो नास्ति' यहाँ पर घट पद के बाद प्रयुक्त प्रथमा विभक्ति का अर्थ सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान और अभाव के प्रत्यक्ष में ज्ञान में रहने वाली विषयिता (प्रकारिता) तथा अभाव की प्रतियोगिता प्रकार के रूप में ही प्रतीत होती है, सम्बन्ध के रूप में नहीं।

परन्तु यह मत सभी नैयायिकों को मान्य नहीं है। इसीलिये आचार्य जगदीश ने 'प्राचां' पद के द्वारा उसकी अनवसरता प्रदर्शित की है। उनका आशय यह है कि विषयित्व और प्रतियोगित्व के प्रकार के रूप में उपस्थिति (ज्ञान) न होने से विषय-विशिष्ट-ज्ञान (जैसे-घट-ज्ञान) से प्रतियोगि-विशिष्ट-अभावप्रत्यक्ष (जैसे-घटो नास्ति) नहीं उत्पन्न होना चाहिये, जबकि प्रामाणिक अनुभव है कि प्रतियोगित्व और विषयत्व के प्रकार के रूप में ज्ञान न होने पर भी विशिष्ट प्रत्यक्ष होता है।

प्रकारिता यह सम्बन्ध अन्य संयोग, समवायादि सम्बन्धों से विलक्षण सम्बन्ध है। संयोग आदि सम्बन्धों में एक प्रतियोगिकत्व और अपरानुयोगिकत्व रहता है। यही कारण है कि पर्वत और अग्नि तथा पर्वत और धूम इन दोनों का संयोग होने पर भी वह संयोग एक नहीं है। अग्नि-प्रतियोगिक संयोग अलग है, और धूम-प्रतियोगिक संयोग अलग है। एक ही संयोग में उभय प्रतियोगिकत्व नहीं रहता है। परन्तु यह बात प्रकारिता सम्बन्ध के साथ नहीं लागू होती है। प्रकारिता सम्बन्ध अग्नि और धूम का एक ही हो सकता है। अतः अग्नि और धूम उभयत्व से अवच्छिन्न-प्रतियोगिक सम्बन्धत्व प्रकारिता-रूप सम्बन्ध में होने में कोई बाधा नहीं है।[७]

अब प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है कि ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता, संसर्गता तथा विशेष्यिता में परस्पर क्या सम्बन्ध है? इस विषय में नैयायिकों में परस्पर मतभेद है। इस विषय में कई मत उपलब्ध होते हैं। जगदीश आदि कुछ नैयायिक जिस प्रकार एक ही वस्तु में रहने वाली प्रकारता और विशेष्यता-रूप विषयताओं में अभेद मानते हैं,[८] उसी प्रकार एक ही ज्ञान में रहनेवाली विशेष्यिता, प्रकारितादि-रूप विषयिताओं में भी अभेद मानते हैं। उनके मतानुसार ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता उसी में रहने वाली विशेष्यिता से भिन्न नहीं है। प्रकारिता को विशेष्यिता से भिन्न या विशेष्यिता को प्रकारिता से भिन्न मानने में कोई प्रमाण नहीं है, तथा एक ही स्थान में रहने वाली समानाधिकरण विषयिताओं को एक मानने में कल्पना-लाघव भी है।

दूसरा मत गदाधर भट्टाचार्यादि नैयायिकों का है। उनके मतानुसार एक ही वस्तु में रहने वाली विषयता और प्रकारता, विशेष्यता आदि में जिस प्रकार अवच्छेद्य-अवच्छेदक-भाव होता है, उसी प्रकार एक ही ज्ञान में रहने वाली विषयिताओं में अवच्छेद्य-अवच्छेदक-भाव होता है।[९] अर्थात्, 'पर्वतो वह्निमान्' इस ज्ञान में रहने वाली विशेष्यिता अवच्छिन्न होती है। अतः विशेष्यिता में अवच्छेद्यता तथा प्रकारिता में अवच्छेदकता होती है। जिन विषयताओं में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है उन विषयताओं से भिन्न विषयिताओं में अवच्छेद्य-अवच्छेदक-भाव का नियम है। 'पर्वत अग्निमान् है, इस ज्ञान की पर्वत में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित अग्नि में रहने वाली प्रकारता होती है। अतः अग्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता, तथा पर्वत में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित विशेष्यिता में परस्पर अवच्छेद्य-अवच्छेदक-भाव है। प्रकारिता से अवच्छिन्न विशेष्यिता तथा विशेष्यिता से अवच्छिन्न प्रकारिता होती है।

तृतीय मत के अनुसार विशेष्यता और प्रकारता में निरूप्य-निरूपक-भाव होता है।[१०] ये लोग जिस प्रकार एक वस्तु में रहने वाली प्रकारता को विशेष्यता से भिन्न मानते हैं, वैसे ही एक ही ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता और विशेष्यिता भी भिन्न हैं तथा उनमें भी प्रकारता और विशेष्यता के समान परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है ऐसा स्वीकार करते हैं। 'पर्वत अग्निमान् है' इस ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता जैसे अग्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित होती है, उसी प्रकार पर्वत में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित विशेष्यिता से भी निरूपित होती है।

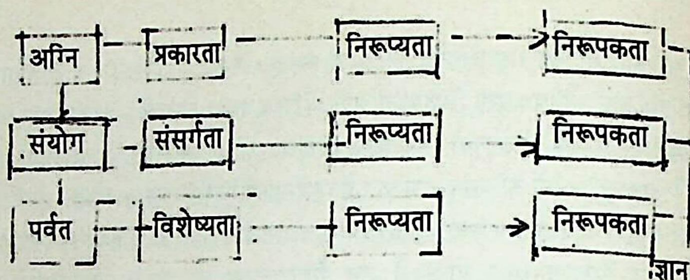
अन्य कुछ नैयायिक प्रकारता और विशेष्यता में निरूप्य-निरूपक-भाव स्वीकार कर के भी उन विषयताओं (प्रकारता, विशेष्यता) से निरूपित विषयिताओं (प्रकारिता और विशेष्यिता) में नियम से अवच्छेद्य-अवच्छेदक-भाव ही स्वीकार करते हैं।[११] अर्थात्, जिस तरह प्रकारता से निरूपित प्रकारिता से उसी ज्ञान में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित विशेष्यिता अवच्छिन्न होती है, उसी तरह विशेष्यता से निरूपित विशेष्यिता से उक्त ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता भी अवच्छिन्न होती है।

उपर्युक्त मतों को निम्न प्रकार दर्शाया जा सकता है–

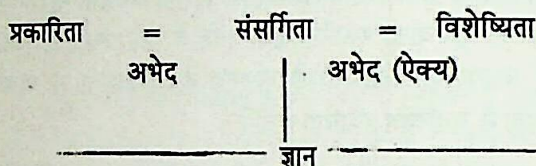
'पर्वत अग्निमान है'

अग्नि - प्रकारता → निरूपित प्रकारिता
संयोग - संसर्गता → निरूपित संसर्गिता
पर्वत - विशेष्यता → निरूपित विशेष्यिता
ज्ञान

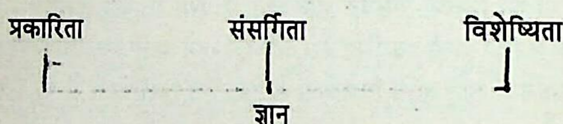
(आकृति - १)

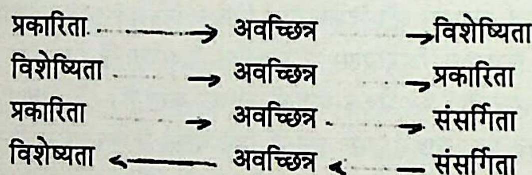


(आकृति - २)

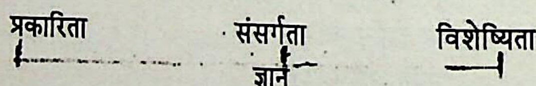


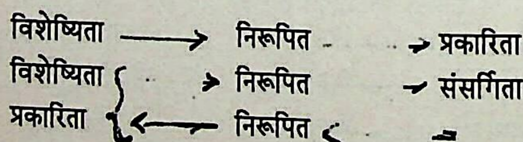
(आकृति - ३) (जगदीश मत)





(आकृति - ४) (गदाधर मत)





(आकृति - ५) (अन्य मत)

इसके पश्चात् अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिस प्रकार प्रकारता धर्म और सम्बन्ध से नियमित होती है, तो क्या उसी प्रकार प्रकारिता आदि भी सम्बन्ध और धर्म से नियमित होती हैं ? इसके विषय में अग्रिम लेख में विचार किया जायगा।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे - ४११ ००७

बलिराम शुक्ल

टिप्पणियाँ

१) उमानाथ उपाध्याय; प्रकाराख्य विषयस्य ज्ञाने सम्बन्धः। व्याप्तिपञ्चकमाथुरी, प्रकारिता टिप्पणी।

२) यादवाचार्य; या घटत्वनिष्ठा प्रकारता सा ज्ञाननिष्ठा प्रकारिता। न्यायसिद्धान्तमञ्जरी व्याख्या।

३) (अ) रघुनाथ; विषयतातत्वादिवत् प्रतियोगित्वाधिकरणत्वतत्त्व सम्बन्धत्वादयोऽप्यतिरिक्ता एव पदार्था इत्येकदेशिनः। दीधिती, सिद्धान्तलक्षणे।

(ब) जगदीश; आदिना प्रकारित्व परिग्रहः। जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे।

४) जानकीनाथ; घटाभावे घटो नास्तीति प्रतीतिरभेदेऽपि त्वयाङ्गीकारात्। न्यायसिद्धान्तमञ्जर्यां।

५) यादवाचार्य; इदमुपलक्षणं प्रमेयत्वे प्रमेयत्वम्। न्यायसिद्धान्तमञ्जरी व्याख्यायाम्।

६) जगदीश; प्राचांमते प्रकारित्वादौ सम्बन्धत्वाभावात्, विशिष्टधीनियामकस्यैव तथात्वादिति। जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे।

७) न च वह्निधूमोभयत्वावच्छिन्नप्रकारित्वादावेव तादृशोभयावच्छिन्न प्रतियोगिसम्बन्धत्वसिद्धिसम्भवः। वहीं।

८) गदाधरः केचित्तु एकविशेष्यतापन्नस्य यत्रापरांशे प्रकारता तन्निरूपित प्रकारताविशेष्यतयोरभेदः। गादाधरी, अनुमितिप्रकरणे।

९) भट्टाचार्यमते समानाधिकरणविषयतोर्नाभेदः, किन्तु अवच्छेद्यावच्छेदकभाव इति। वहीं।

१०) रामरुद्र; एकनिष्ठैकज्ञानीय प्रकारताविशेष्यतयोर्भेदवादिमते निरूप्यनिरूपकभाववत्। रामरुद्री, हेत्वाभासप्रकरणे।

११) शिवदत्त मिश्र; यादृश विषयतयोर्निरूप्यनिरूपकभावः तादृश विषयतानिरूपित विषयितयोरवच्छेद्यावच्छेदकभावनियमेन_। सामान्यनिरूक्तिटिप्पण्याम्।



चित्रकला की कुछ चुनौतियाँ

किसी भी चित्र का स्वरूप कैसा हो इसके बारे में हमारी कुछ साधारण-सी धारणाएँ हैं और अनेकों पीढियों से ऐसी धारणाएँ हम सँजोते आये हैं। इन धारणाओं में प्रायः भोलापन ही दिखाई देता रहा है। इसमें एक धारणा यह भी है कि किसी भी चित्र का विषय सुंदर या आँखों के लिए सुहावना होना चाहिए। इसलिए सुंदर स्त्री, जलप्रपात, हरे वृक्ष, रंगीन सूर्यास्त ऐसे दृश्यों के चित्रों का बोलबाला रहता है। चित्र उतारने के विषय में सामान्य आदमी इस से अधिक गंभीरता से सोचना भी नहीं चाहता है। असल में किसी भी कला के संदर्भ में हमारा ध्यान आकृष्ट करने वाले कुछ मौलिक एवं दार्शनिक प्रश्न होते हैं। उन प्रश्नों पर सोचने से उस कला को समझने में कुछ अलग ही भूमिका भी हमें प्राप्त हो जाती है। चित्र कैसा हो ? अच्छा चित्र कौन सा होता है ? बिगड़ा हुआ चित्र कौन सा है और सफल चित्र कौन सा है ? चित्र किस तरह पूरा होता है ? और किस तरह कोई चित्र बिगड़ जाता है ? इस तरह के सवाल सौंदर्यशास्त्र में उठते रहते हैं। पश्चिमी दार्शनिक परंपरा के मुताबिक सौंदर्यशास्त्र यह दर्शनशास्त्र का एक विभाग बनता है। और दर्शनशास्त्र में उठने वाले प्रश्नों की तुलना तो विक्रम और वेताल की कथाओं से ही की जा सकती है। क्योंकि दर्शनशास्त्र में किसी एक समस्या का हल निकालने से वह समस्या सुलझती नहीं है, बल्कि उस से निकलने वाला और कोई सवाल भूत वन कर हम पर सवार हो जाता है। विक्रम और बेताल की कहानियाँ जेसे मन लुभा लेने वाली हैं, ठीक उसी तरह दर्शनशास्त्र में शुरू होने वाली अंतहीन प्रश्नमाला हमें मोह लेती है। फिर क्यों न हम सौंदर्यशास्त्र से कुछ ऐसे प्रश्न उठाएँ जिन से सौंदर्य के बारे में हम कुछ और जान सकें ?

हम पहला सवाल यही उठाते हैं कि चित्र कैसा हो ? प्रायः इस सवाल पर कोई सोचता ही नही हैं। क्या मतलब है इस सवाल का ? जिस वस्तु का चित्र है, ठीक उसी वस्तु के मुताबिक वह चित्र होना चाहिए। इस के सिवा चित्रकला और होती भी क्या है। जिसे हम देखते हैं ठीक उसी तरह कागज़ पर उतार लेना यही चित्रकला है। जिस नज़ारे को हम देखते हैं, ठीक उसी तरह चित्र होना चाहिए। याने वह एक प्रतिकृति है। अगर किसी फूल का चित्र है तो वह ठीक-ठीक इस तरह फूल जैसा हो कि तितली भी गलती कर ले और समझे कि यह असल में फूल ही है। ऐसा होने से मानते हैं कि चित्र पूरा हो गया। इस सिद्धांत को न केवल सामान्य जनों ने ही स्वीकृति दे रखी थी बल्कि बहुतेरे प्राचीन दार्शनिकों ने भी इस सिद्धान्त की अगुवाई की थी। यह सिद्धान्त उतना सरल नहीं है जितना की वह आपाततः लगता है। यह सिद्धांत मानना याने फिसलभरी राह से चलना है, क्यों कि इस सिद्धान्त के पीछे एक मौलिक सवाल

है– जिसे हम विश्व कह कर पुकारते हैं वह वास्तव में है किस तरह का ? शायद आप समझेंगे कि इस सीधे-सादे सवाल का जवाब है 'जैसा दिखाई देता है, बस, वैसा ही यह विश्व होता है'। और ऐसा जवाब देते ही हम फिसल पड़ते हैं। क्योंकि यह एक मनोवैज्ञानिक सिद्धांत है जिसे हम अपने अनुभव से मान भी लेते हैं कि हर कोई आदमी इस विश्व को अपने-अपने ढंग से देखता है। हरेक को यह विश्व अलग-अलग सा दिखाई देता है। हमारी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ तथा पूर्वानुभव आदि अनेकों चीजों पर हमारा देखना निर्भर करता है। दिखाई देने वाली बहुतेरी वस्तुओं से यह विश्व कितना भी भरा क्यों न हो, हरकोई उस में वही देखता है जो वह खुद देखना चाहता है। अतः एक ही वस्तु या घटना का अनुभव हरेक के लिए भिन्न हो सकता है। नानी और पोती का मंदिर को देखना अवश्य ही भिन्न होगा। उन की आयु और आयु से आने वाले अनुभव के कारण यह फर्क होगा। फर्क होगा उनके अपने व्यक्तित्व के विशिष्ट इतिहास के कारण। हरेक की संवेदना-क्षमता भिन्न होने के कारण भी यह फर्क हो सकता है। यह फर्क व्यक्तिनिष्ठ है।

लेकिन कभी कभी ऐसा भी होता है कि एक ही वस्तु अलग प्रसंगों पर अलग समय पर अलग-अलग सी दिखाई देती है। वह इतनी अलग दिखने लगती है कि अंततः देखने वाले को भ्रम-सा हो जाता है कि असल में उस वस्तु का रूप ही क्या है। समुद्र भी हर ऋतु में हर समय कुछ अलग ही दिखाई देता है। वही बात है शिल्प-कला के बारे में। कुहरे के धुँधलके से उजलने वाला ताज़महल और पूर्णिमा के प्रकाश में शराबोर ताज़महल दोनों भिन्न दिखाई देने पर भी उतने ही सच होते हैं। ताज़महल मशहूर होने के नाते उस का हरकोई मूड़ या नज़ाकत को पकड़ने की एक दूसरे से होड़ लगी हुई रहती है। वैसे देखा जाए तो हमारे ही इर्द-गिर्द की वहुत सी वस्तुओं के रूप इस तरह हमेशा बदलते रहते हैं। घाँस के झोपडे भी अपने रूप बदलते रहते हैं। लेकिन इस को महसूस करने के लिए आदमी में तरल एवं समर्थ संवेदनाक्षमता होना ज़रूरी है जैसी कि क्लॉद मोने की थी। मोने ने झोपडे के दिन के अलग-अलग समय पर दिखाई देने वाले चित्रों के रूप आँक दिये थे। झोपडे के सभी मूड उसकी चित्तवृत्तियों पर छाए रहे और उस ने उन को चित्रित कर के अमर कर दिया। उसके मन पर जो प्रतिमाएँ उठ आयी थीं उन को उस ने साकार कर के दिखाया। लेकिन क्या असली झोपडे को साकार करने में वह सफल रहा या नहीं इस प्रश्न का उत्तर मिलना तो अभी भी बाकी है।

इस संदर्भ में 'देखना' इस क्रियापद पर सोच-विचार होना आवश्यक है। हम ऐसा मान कर चलते हैं कि वस्तु जिस तरह होती है उसी रूप में हम उसे देख लेते हैं। लेकिन असल में, क्या यह सच है ? मृगमरीचिका जैसे उदाहरणों से तो यह बात स्पष्ट होती है कि किसी वस्तु का होना और दिखाई देना एक नहीं है। प्रायः वस्तु जैसी असल में होती है वैसी हमें दिखाई नहीं देती है। यहाँ दिखाई देना और देखना इन में होने वाले फर्क को समझना चाहिए। जब

कोई वस्तु दिखाई देती है तब देखने वाला याने कर्ता अपने आप सोद्देश्य एवं हेतुतः किसी प्रवृत्तिरूप क्रिया का आचरण नहीं करता है। अपनी ज्ञानेंद्रियों से प्राप्त संवेदनाओं का ही वह केवल ग्रहण करता रहता है। लेकिन देखने की क्रिया सोद्देश्य एवं प्रवृत्तिरूप होती है। यहाँ मनुष्य अपनी कल्पनाशक्ति का प्रयोग करता है। इस कल्पनाशक्ति के सहारे भूतकालीन अनुभवों को इकट्ठे लाना, प्राप्त संवेदनाओं को विरोध में या संगति में अनुभव करना, उनका विश्लेषण करना, विभिन्न संभावनाओं के माध्यम से उन को निरखना आदि क्रियाएँ की जाती है। इसलिए देखने की क्रिया व्यामिश्र एवं पद्मबंधात्मक होती है। कला के बारे में तो इस देखना क्रिया का चोली दामन का साथ होता है। क्यों कि यहाँ समूची कलावस्तु एक ही ज्ञानेंद्रिय के लिए प्रस्तुत संभावना होती है। जैसे चित्र केवल आँखो का विषय होता है। चित्र को हम ना सुनते हैं ना सूँघते हैं; उसे केवल देखते ही हैं। इसीलिए कलाकृति अपनी ज्ञानेंद्रिय को कितना मोहित करती है, कितना आनंद देती है और किस तरह विविध भावनाओं एवं अनुभवों को परावर्तित करती है इस पर उस कलाकृति का बल निर्भर करता है। कलाकृति का आस्वाद तो मनुष्य को उस के देखने के लिए चुनौती होता है। क्योंकि देखने से कोई व्यावहारिक रूप का फायदा मिलता नहीं है। लेकिन इस देखने की क्रिया में कल्पनाशक्ति को अपनी करतूत दिखाने का बड़ा मौका मिलता है। कलावस्तु के विभिन्न घटकों का आपसी संबंध एवं उन संबंधों से प्रतीत होने वाला अनुभव हम कल्पनाशक्ति के जरिये ही कर सकते हैं। अतः कल्पनाशक्ति की प्रगल्भता के माफिक कलावस्तु के आस्वाद की क्षमता विभिन्न रहती है, और आस्वाद की प्रक्रिया में वह कल्पनाशक्ति काफी सहयोग देती है।

यह बात हुई देखने की। लेकिन कोई भी वस्तु जब दिखाई देती है तब कुछ ऐसे घटक होते हैं जिनकी वजह से वह दिखाई देती है और उन्हीं घटकों के कारण वह वस्तु अलग-अलग तरीके से दिखाई देती है। प्रकाश के बिना आदमी देख भी नहीं पाता। चित्रकला में प्रकाश का महत्त्व अनूठा है। कभी कभी तो चित्र बनता है केवल प्रकाश की विभिन्न छटाओं के खेल से। लेकिन यही प्रकाश बाह्य जगत् का चित्रण करने में एक रुकावट भी बन बैठता है। वैसे देखा जाए तो प्रकाश याने तेज महाभूत का ही तो आविष्कार है। 'प्रकाश' की इस संकल्पना ने कवियों तथा दार्शनिकों से ले कर वैज्ञानिकों तक सभी लोंगों को अचंभे में ड़ाल दिया है। इस प्रकाश ने मशहूर चित्रकारों को भी चुनौतियाँ दी हैं। उन चुनौतियों को देखना भी काफी दिल बहला देता है। क्योंकि किसी भी वस्तु को हम तभी पहचान पाते हैं जब वह प्रकाशित हो उठती है। ओले बरसाने वाली बरसात, बादलों से धुँधला बना आसमान, खाइयों से ऊपर उठने वाला घना कुहरा, जहाँ तक नज़र टिके वहाँ तक फैली हरियाली ये सभी नज़ारे तो प्रकाश के कारण ही दिखाई देते हैं। वस्तुतः हम प्रकाश को गृहीत मान कर ही चलते हैं। उसके मिटने के बगैर उस के अस्तित्व का हमें अंदाज़ा तक नहीं लगता है। लेकिन प्रकृति या व्यक्तियों के चित्र उतारने वाले चित्रकारों का सब से पहला ताल्लुक हो आता है इस प्रकाश से। यह रोशनी

ही उन के चित्रों में जान भर देती है। इस तंत्र के संबंध में रेम्ब्रा नामक चित्रकार ने काफी प्रयोग किये। उन के प्रयोगों से उनके समकालीन चित्रकारों और कला-आस्वाद कों में बड़ी खलबली मची थी। रेम्ब्रा के चित्रों से लोगों ने महसूस करना शुरू किया कि प्रकाश यह चित्र का बड़ा महत्त्वपूर्ण घटक है। अठारहवीं तथा उन्नीसवीं सदियों में चित्रकार मानों एक कोशिश में लगे रहे। वह कोशिश थी प्रकाश को रँगों में पकड़ने की। जैसे कवि अपने अनुभवों को शब्दों में जकड़ना चाहता है ठीक उसी तरह वह कोशिश रही। चमचमाती किरणें, वृक्षों के साये, धूप से चमकने वाला हिलता हुआ पानी, अंधेरे कमरे को किसी नाटकीय ढंग से उजाले में बदल देने वाली धूप ये तो प्रकाश के सीदे-सादे रूप हैं। लेकिन ताँबे तथा पीतल के बर्तनों की चमचमाहट, आईने की ज़गमग, फूलों-पत्तों का पारदर्शी रूप, रेशम के कपड़ों की दमक, बालों का तज़ेलापन, नगीनों की झगमगाहट ये सभी उसी प्रकाश के रूप हुये। प्रकाश के इन विविध रूपों को अपने कॅनवास पर उतारने की कोशिश अठारहवीं तथा उन्नीसवीं सदी के बहुतेरे चित्रकारोंने की। वाकई सवाल है प्रकाश का रँग कौनसा है? यह सवाल तो उसी प्रश्न जैसा है जो पूछता है, 'पानी तेरा रँग कैसा?' लेकिन कॉन्स्टेबल, टर्नर, मोने, दगा, पिसारों, रन्वा आदि महान् चित्रकारों ने अपनी अपनी शैली के मुताबिक बड़ी ताकत से इस सवाल का उत्तर किया। इनके बहुत-से चित्र तो मानों आँखों के लिए उत्सव ही हैं। फिर भी ये चित्रकार प्रकाश को जकड़ने में कितने सफल रह चुके हैं यह सवाल दार्शनिक को जरूर सताए रहता है। इस का सीधा-सादा कारण है, बड़े हौसले से विश्व को चित्रित करने की ठान लेने वाले चित्रकार नामक मुमुक्षु आदमी की मर्यादाएँ। इस समय याद आती है इम्यॅन्युएल कांट की जिसने मनुष्य के ज्ञान की मर्यादाओं पर जोर दिया था। उसकी राय में मनुष्य का ज्ञान सीमित होता है क्योंकि मनुष्य की ज्ञान-ग्राहक यंत्रणा को मौलिक मर्यादा होती है। कांट की राय को पूरे तौर पर स्वीकार करना चाहे जरूरी भी न हो, फिर भी उस ने सोचने के लिए जो दिशा दिखाई है वह महत्त्वपूर्ण है। करीबन सभी के सभी चित्रकार दाहिने हाथ से चित्र बनाने वाले थे। इसलिए उनके चित्रों में प्रकाश का स्रोत बायी तरफ हो कर हलके से वह दाहिनी तरफ फैलता जाता था। अतः प्रकाश को जकड़ने वाले बहुत-से चित्रों में प्रकाश बायी तरफ से आ कर दाहिनी तरफ फैलता जाता दिखाई देता है। वरमीर जैसे सोलहवीं-सत्रहवीं सदी के चित्रकार के बारे में यह बात तो बहुत ही स्पष्ट है। इस का मतलब यह हुआ कि मनुष्य का ज्ञान और उस ज्ञान की अभिव्यक्ति ये दोनों मनुष्य की शारीरिक एवं मानसिक रचना से निर्धारित होती हैं। अतः विश्व जैसा है ठीक उसी रूप में कॅनव्हास पर उसे उतारना इन कल्पना में ही कुछ बुनियादी भ्रम नजर आता है। और एक बात है कि विश्व त्रि-परिमापक होता है और उस का चित्रण जिस कॅनव्हास पर होता है वह द्वि-परिमापक ही होता है; उस पर तीसरे परिमापक का आभास पैदा करने की कितनी भी कोशिश करने पर वह अपनी प्राकृतिक मर्यादा तो लाँघ नहीं सकती है। इसका सीधा मतलब यह हुआ कि चित्र तो चित्र ही है, वह वस्तु, व्यक्ति या विश्व नहीं है। चित्र को 'नकल' समझने वालों के लिए यह बात काफी महत्त्वपूर्ण है।

सौंदर्यशास्त्र का विवेचन करने वाले तत्त्वचिंतक सिर्फ इसी आलोचना से संतुष्ट नहीं हैं। उन के पास कुछ और भी खास आलोचनाएँ हैं। उनकी राय में जब चित्रकार चित्र उतारता है तब उस का दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण होता है। दृष्टिकोन याने कि किसी एक पहलू पर जोर देना। चित्रकार या तो वस्तु के सामान्य पर जोर देता है या उस के विशेष पर। दार्शनिक तो सामान्य की खोज में काफी रुचि लेते रहते हैं। विश्व की अनेकों वस्तुओं में समानरूप से रहने वाले किसी एक सूत्र को खोजने की कोशिश ग्रीक एवं भारतीय दार्शनिकों में हमेशा के लिए रही है। स्वर्ण के आभूषणों में सोना, तो मनुष्यों के समुदाय में मनुष्यता ये सामान्य हैं और आसमान तथा समंदर में नीलापन समान है। इन सभी सामान्यों को समेटने वाला सब से ऊँचा सामान्य खोजने में दार्शनिकों ने खूब समय गवाया है। कुछ पैमाने पर चित्रकला में भी यही कोशिश दिखाई देती है। किसी भी चित्र को उतारने के पहले उसके आकृतिबंध को ठीक तरह से समझ लेना यह मौलिक सूत्र है। अगर किसी पंछी का चित्र उतारना है तो जिस रेखाबंध में पंछीपन समाए बैठता है उस पर नियन्त्रण पाना चाहिए। चित्रकला सिखाने वाली किसी भी किताब में इस तरह रेखाबंध की जानकारी दी जाती है। अगर पंछी का चित्र उतारना है तो पहले दो अंडों का चित्र उतारें, एक बड़ा व दूसरा तिरछा और छोटा। अगर आप इस तरह चित्र बना पाएँ तो आप बड़ी सुलभता से पंछी का चित्र बना सकते हैं। क्योंकि यह पंछी का रचनाबंध है, उसका फॉर्म्युला है। लिओनार्दो, मायकेल एंजेलो जैसे चित्रकारों की ऐसे फॉर्म्युलों पर प्रभुता थी। उस जमाने की चित्रकला में यह बात संमत भी थी। लेकिन धीरे धीरे इस स्थिति में परिवर्तन होता गया। सामान्य के बजाय विशेष पर अधिक ध्यान देना चित्रकार पसंद करने लगे। वस्तुतः हरेक चीज अपने में कुछ अलग तथा अनूठी होती है और इस अनूठेपन को उतारने की जरूरत चित्रकार महसूस करने लगे। उनको लगा कि किसी भी चीज का अनूठापन उस के सामान्य के बोझ के नीचे दबता जा रहा है। अतः किसी भी वस्तु का एकमेवाद्वितीयत्व दिखाने में उनमें अधिक रुचि पैदा हुई। दर्शन की यात्रा ने भी धीरे धीरे वही रुख लिया। और सामान्य के आधार पर बनने वाला चिंतन पिछड़ता चला गया।

वस्तु जैसी है ठीक उसी तरह उसे कागज़ पर उतारने में जो कठिनाई है वह अब तक स्पष्ट हुई होगी। इस के साथ कुछ और भी बन्दुओं पर ध्यान देना जरूरी है। उन में सब से महत्त्वपूर्ण बात है मनुष्य की भावप्रवणता। अरस्तू ने आदमी का लक्षण रॅशनल के आधार पर ही क्यों न किया हो, आदमी के जीवन में भावों का बहुत ही बड़ा महत्त्व रहा है। आदमी यंत्र जैसा काम कर भी सकता है, फिर भी वह यंत्र नहीं है। आदमी की आँख और कॅमेरा की लैन्स में भी तो फर्क है। अतः चित्रकार जिस वस्तु या स्थिति को अंकित करता है, वह भावपूर्ण हो सकता है, चाहे चित्र का विषय परिचित न भी हो। रंग तथा रेखाओं के संचलन के जरिये चित्रकार यह जरूर कर पाता है क्यों कि उस में उस के अंतस् का प्रतिबिंब होता है।

व्यक्तिवाद के पुरस्कर्ताओं ने इस तरह के चित्र उतारे हैं। उन्होंने विश्व को चित्रांकित

करते हुए पूर्णतया वस्तुनिष्ठ न रह कर उसमें अपने मन के भावों की मिलावट कर दी है। अतः जिन रंगों का उन्होंने इस्तेमाल किया वे रंग आँखों को दिखाई देने वाले रंग नहीं थे, बल्कि मन को सूझने वाले, भाने वाले प्रतीकात्मक रंग थे। उनके लिए चित्र भावों की उत्कट अभिव्यक्ति का साधन बन गया। व्हिन्सेंट व्हान गॉग यह चित्रकार ऐसे चित्रों के लिए मशहूर था। उस पर पागलपन के दौरे पड़ते थे। उस के चित्र भावों की तीव्रता के सर्वोच्च बिंदु तक पहुँचते हैं। उस के चित्रों के रंग भी बेचैन करनेवाले हैं। उस के समूचे चित्र से भावों की छटपटाहट मानों टपकती रहती है।

इस अभिव्यक्ति के साथ-साथ ही प्रतीकात्मक चित्रण की शैली का पदार्पण हुआ। इस शैली में चित्र के रंग तथा रेखाएँ नकल न हो कर प्रतीक हुआ करते थे। इन प्रतीकों से उत्कट भावनाएँ, विचार, कल्पनाएँ बड़े जोर से फूट निकलती थीं। अतः इन चित्रों का आस्वाद कुछ अलग ही अनुभव रहा करता था। एमिल बर्नार्ड, पॉल गोग इन्हों ने इस शैली में चित्र बनाए। इस से चित्रकला में नई धारा प्रवाहित हुई। अभिव्यक्तिवाद, प्रतीकात्मक शैली और भौमितिक चित्रण इन का प्रभाव वीसवीं सदी की आधुनिक चित्रकला पर काफ़ी रहा।

चित्रकला का इतिहास मनुष्य के विश्व से बदलते रिश्तों का आलेख ही है। इस प्राचीन रिश्ते के संबंध में उठने वाले विविध दार्शनिक प्रश्नों का एक सिलसिला है। लेकिन आज भी यह सिलसिला अधूरा है और उन्हीं पुरानी चुनौतियों को लेकर आज भी जारी है।

दर्शन-विभाग
पूना विश्वविद्यालय,
पुणे - ४११ ००७

अर्चना देगांवकर

संदर्भ

Gombrich E. H., *Art and Illusion : A study in the Psychology of Pictorial Representation;* Phaiden Press, London 1960.

* * *

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाइ जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बडा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जाएगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।



University of Poona.

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक प्रिण्ट आर्ट एण्टरप्रायजेस् ११२१, शिवाजीनगर, पुणे ४११ ०१६ में छपवाकर प्रकाशित किया।

परामर्श (हिन्दी) पंजीकरण सं. 39883/79

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड १३, अंक ३

जून १९९२ / वैशाख-ज्येष्ठ, २०४८

संपादक

सुरेन्द्र बारलिंगे	राजेन्द्र प्रसाद
आनन्दप्रकाश दीक्षित	मो. प्र. मराठे

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

परामर्श (हिन्दी)

* पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक पत्रिका नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्राचार के लिए संपर्क करें, संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७(महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या डिमांड ड्राफ्ट के द्वारा इस पते पर भेजा जाए :

संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने के भीतर कार्यालय में मिल जाए, तो अंक बचे होने पर पुन: भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१) संस्थाओं के लिए	रु.५०/-
(२) व्यक्तियों के लिए	रु.४०/-
(३) एक प्रति	रु.१२/-

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु.१५००/-
व्यक्तियों के लिए रु.४००/-

* राशि मनिऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट के माध्यम से ही भेजें।

आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

ज्ञान की स्वयंप्रकाशता

- १ -

'आत्मदीपो भव' की आध्यात्मिक निष्ठा में अद्यतन चेतन तत्त्व की प्रधानता भारतीय दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इस विशेषता की तात्त्विक और ज्ञानमीमांसीय पृष्ठभूमि में 'ज्ञान की स्वयंप्रकाशता' या 'स्वसंवित्ति' एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक अभ्युपगम के रूप में प्रस्तुत होता है। यद्यपि निर्विवाद रूप से इसका उत्स औपनिषदिक है तथापि संसदीय भारतीय दर्शन के इतिहास में यह विज्ञानवादी बौद्ध आचार्य प्रभाकर मीमांसक और वेदान्तियों की मेधा का सहयोग पाकर सम्यक् रूपेण विकसित हुआ है। नैय्यायिकों और कुमारिल भट्ट के द्वारा प्रस्तुत किया गया इस सिद्धान्त का प्रतिपक्ष न केवल इसके तार्किक स्वरूप को प्रखरता प्रदान करता है, बल्कि इसे भारतीय प्रत्ययवाद के पोषक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करता है।

यह ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से ज्ञान की उस अवस्था की खोज है, जहाँ ज्ञान का सत् उसके अन्तर्वस्तु के रूप में प्राप्त होता है और उसके स्वरूप की भावपरकता स्वत: प्रमाणित होती है। तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से यह ज्ञान में आचरित एक ऐसा सन्दर्भ है, जो हमें बाह्य संसार के बन्धन से सर्वथा मुक्त ही नहीं करता बल्कि उसकी आद्यनियामकता स्वयं ज्ञान में है, इसे अनिवार्य तार्किक पूर्वमान्यता के रूप में तात्त्विक स्थिति प्रदान करता है।

भारतीय दर्शन में "ज्ञान की स्वयंप्रकाशता" एवं उसकी तात्त्विक परिणति के विषय में पर्याप्त मतवैभिन्न्य है। यह मतवैभिन्न्य अन्तत: चेतना के स्वरूप विषयक मतभेद में परिलक्षित या पर्यवसित होता है। क्या "ज्ञान की स्वयंप्रकाशता" या "स्वसंवित्ति" इस विषयक मतभेद को एक निश्चित दिशा प्रदान कर सकती है; या यह स्वयं चेतना के तात्त्विक स्वरूप विषयक मतभेद की पृष्ठभूमि में अपनी संज्ञानात्मक भूमिका को प्राप्त करती है? वस्तुत: सम्पूर्ण ज्ञानमीमांसा की एक तात्त्विक पृष्ठभूमि होती है। हम इसी से प्रारम्भ करते हैं और अन्तत: हमें इसी में लौटना होता है।

परामर्श (हिन्दी) खण्ड १३, अंक ३, जून, १९९२

यदि मनुष्य इस संसार का अंग है या यह संसार स्वयं मानव मन की होई प्रागनुभविक संरचना है, तो दोनों ही स्थितियों में मानवीय संज्ञानात्मक प्रक्रिया में जाने-अनजाने तात्त्विक पूर्व कल्पना का पूर्वगामी होना "संसार में मनुष्य " होने की बाध्यता है। यह बाध्यता किसी विशेष तत्त्वमीमांसा का उद्‌घाटक है या तत्त्वमीमांसा सामान्य ही उपर्युक्त बाध्यता से विवक्षित है? ऐसे प्रश्न दार्शनिक चिन्तन के इतिहास में अद्यतन विवादास्पद रहे हैं। तथापि, किसी भी दर्शन की ज्ञानमीमांसीय भूमि पर कुछ ऐसे सन्दर्भों को अवश्य प्राप्त होना चाहिए जो उस दर्शन की तत्त्वमीमांसा से संवाद या संसक्तता रखते हों । ऐसे संवाद या संसक्तता के अभाव में किसी दार्शनिक की वैचारिक योजना में स्ववचन व्याघात , स्वज्ञान व्याघात और स्वक्रिया व्याघात [1] की सम्भावना सदैव बनी रहेगी । ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति ज्ञान में आचरित एक ऐसा ही सन्दर्भ है। यह चेतना के किस तात्त्विक स्थिति को प्रस्तावित करता है; या इसकी तात्त्विक परिणति ज्ञानमीमांसा का अतार्किक विस्तार है अथवा जिसे हम तात्त्विक परिणति समझते हैं वह मात्र "लॉजिकल प्रीसपोजिशन् ऑफ नॉलेज" है ? ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति के सन्दर्भ में इन्हीं समस्याओं का विज्ञानवादी बौध्द विश्लेषण और समीक्षा प्रस्तुत निबन्ध का विचार्य विषय है। इसे स्पष्ट करने के लिए स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् ज्ञान की संज्ञानात्मक भूमिका को सम्यक् रूपेण उद्‌घाटित करना होगा, अन्यथा इसके महत्त्व और मर्म को नहीं समझा जा सकता है ।

- २ -

स्वयंप्रकाश ज्ञान की संज्ञानात्मक भूमिका का समारम्भ इस सामान्य प्रश्न से होता है कि सम्पूर्ण जगत् ज्ञान से प्रकाशित है । ज्ञान प्रकाश-मौलिक है । यह "प्रकाशों का प्रकाश" स्वयंप्रकाश है । इसे ज्ञात होने के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं । जानना और इस बात से बिल्कुल अनभिज्ञ रहना, कुछ भी नहीं जानना है । अज्ञात ज्ञात तो वदतो व्याघात है । इसलिये प्रत्येक ज्ञान का स्वज्ञान होना या प्रत्येक चेतना का स्वचेतन होना परिनिष्ठित है । यद्यपि ज्ञान को ज्ञात होना चाहिए, इसे एक सीमा तक सभी दार्शनिकों की सामान्य स्वीकृति प्राप्त है, तथापि यह कैसे होता है इसके बारे में दार्शनिकों के मध्य पारस्परिक मतभेद है । भारतीय दर्शन में इतिविषयक नैय्यायिकों का "अनुव्यवसायवाद" , मीमांसकों का "ज्ञाततालिंगानुमेयवाद" और "त्रिपुटी प्रत्यक्षवाद", बौद्धों का "स्वसंवेदनवाद" या "विज्ञानस्वयंप्रकाशतावाद" एवं वेदान्तियों का "आत्म स्वयंप्रकाशतावाद" अतिप्रसिद्ध है । उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों की सम्यक् व्याख्या यहाँ सम्भव नहीं है । अतएव हम अपने विश्लेषण और समीक्षा

को इतिविषय विज्ञानवादी बौद्ध अवधारणा तक ही सीमित रखेंगे ।

भारतीय दर्शन के इतिहास में सर्वप्रथम विज्ञानवादी बौद्धों ने स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् ज्ञान की संज्ञानात्मक भूमिका को उद्घाटित करने के लिए कुछ प्रबल तर्कों को उपस्थापित किया है। प्रत्यक्ष विषयक सौत्रान्तिक अवधारणा की अव्याख्येयता और माध्यमिकों द्वारा चित्तमात्रतावाद के विरुद्ध उपस्थापित " न हि चित्तं चित्तं पश्यति "[२] का विप्रतिषेध ही वह कारण है, जिसके फलस्वरूप विज्ञानवादी बौद्धों ने दृढ़ता के साथ ज्ञान की स्वयंप्रकाशता को प्रस्तावित किया। इसे बौद्ध अपनी शब्दावली में "स्वसंवेदन" या "स्वसंवित्ति" कहते हैं। इस सम्बन्ध में धर्मकीर्ति की यह गवेषणा कि "अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टि प्रसिद्ध्यति" बड़ा ही प्रसिद्ध है। प्राय: सभी परवर्ती बौद्ध और बौद्धेतर दार्शनिक इसका अनुगमन करते हुए प्रतीत होते हैं। स्वसंवित् ज्ञान के पक्ष में बौद्धों द्वारा प्रस्तुत किये गये तर्क सम्पूर्ण ज्ञान की संरचना को ही प्रभावित करते हैं। यदि ज्ञान को स्वसंवित् न माना जाय तो ज्ञाता-ज्ञेय के ढाँचे में ज्ञेय की ज्ञानात्मक उपलब्धि सम्भव ही नहीं होगी। यह एक सार्वजनीन तथ्य है कि वह ज्ञान जिसके द्वारा किसी विषय की ज्ञेयोपलब्धि होती है, वह विषय की चेतना और उस चेतना की चेतना के द्वैविध्य में बँटा होता है। इसके लिए बौद्ध ग्रंथों में ग्राह्याकार--ग्राहकाकार, स्वाभास-अर्थाभास, ज्ञानाकार-अर्थाकार जैसे शब्द प्राप्त होते हैं। इस दूसरे पक्ष के द्वारा न केवल विषयाकार चेतना होती है बल्कि विषय सारूप्य विशिष्ट चेतना के ग्राहक रूप में स्वग्रहण भी होता है। यदि ऐसा स्वीकार न करते हुए यह स्वीकार किया जाय कि प्रत्येक ज्ञान का केवल एक ही पक्ष होता है, याने वह अर्थाकार होता है या तो स्वाकार होता हैं, तब तो विषय की चेतना और विषय सारूप्य विशिष्ट चेतना की चेतना का भेद ही समाप्त हो जाने से ज्ञाता ज्ञेय का ज्ञान ढाँचा ही असंभव होगा और विषय की ज्ञात ज्ञेयोपलब्धि ही अनुपपन्न होगी। अत: प्रत्येक चेतना का द्वयपक्षात्मक होना ज्ञान की "स्वयंप्रकाशता" या "स्वसंवित्ति" को सिद्ध करता है।[३]

वस्तुत: चित्त की कोई ऐसी अवस्था नहीं है, जिसका स्वसंवेन प्रत्यक्ष न होता हो। सभी चित्त और चैत्तों की आत्मसंवित्ति अनुभव सिद्ध है।[४] यह विज्ञानवादी बौद्धों की वैचारिक योजना की दोषपूर्ण गौरव दृष्टि न होकर एक अपरिहार्य तथ्य है। चित्त वस्तुमात्र का ग्राहक होता है और चैत्त विशेष अवस्थाओं के ग्राहक होते हैं। बौद्ध शब्दावली में सुख-दु:खादि की वेदना चैत्त कहे जाते हैं। सुखादि के स्फुट होने के कारण उनका स्वसंवेदन असंन्दिग्ध है। रूप आदि वस्तु दिखने पर उसी समय आन्तरिक सुखादि आकृति का संवेदन होता है। यह नहीं कहा जा सकता

कि नीलादि रूपाकृति का ग्रहण ही सौख्य रूप में होता है। क्योंकि, नीलादि रूपाकृति का ही सुख रूप से ग्रहण हो रहा है, ऐसा तद्‌विषयक निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होने से ही नीलादि को सौख्य रूप कहा जा सकता है। जिस रूप का प्रत्यक्ष के द्वारा साक्षात्कार होता है, विकल्प उसी का अनुगमन करते हुए निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न करते हैं।[५] इसप्रकार उस रूप का प्रत्यक्ष व्यवहृत होता है। नीलादि रूपाकृति का इस प्रकार निश्चय नहीं होता है। अतएव "यह नील है" के अनुभव काल में ही सुख-दुःख का अनुभव नीलादि वस्तुओंसे भिन्न रूप में होता है। सुख-दुःखादि चैत्त वस्तुतः ज्ञान रूप है। ऐसे अनुभवों में किसी को यह संदेह नहीं होता कि उसे सुख का अनुभव हो रहा है या नहीं। इसलिए सुख-दुःखादि के अनुभव स्वसंवित् होते हैं।

इसके अतिरिक्त स्मृति एक ऐसा दृष्टान्त है जो स्वसंवित् अनुभव को सिद्ध करता है। स्मृति में केवल पूर्वानुभूत विषय की ही स्मृति नहीं होती बल्कि पूर्वअनुभूत विषय की अनुभूति अनुभूत होती है। यदि ऐसा न स्वीकार किया जाय तो स्मृति ही असम्भव होगी और लोकव्यवहार अवरुद्ध हो जायेगा। चूँकि स्मृति स्थल पर पूर्व अनुभूत वस्तु की अनुपलब्धि होती है, इसलिए पूर्वानुभूत अनुभूति स्वसंवित् होकर ही स्मृति का सम्पादन करती है।[६]

इस प्रकार विज्ञानवादी बौद्ध विभिन्न तर्कों के आधार पर ज्ञान की स्वसंवित्ति को सिद्ध करते हैं। वस्तुतः अनुभव प्रकाश के अभाव में समस्त संसार अन्धत्व की अवस्था में परिणत हो जायेगा। यदि संसार ज्ञान से प्रकाशित होता है तो ज्ञान का स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् होना अपरिहार्य है, चेतना की प्रकृति ही ऐसी हैं कि उसका स्वरूप उसके उपादानों से आवृत्त नहीं होता। जड वस्तुयें अपने उपादानों से ही स्वरूपतया आवृत्त होती हैं। इसलिए जडवस्तुओं को प्रकाशक की आवश्यकता है। चेतना के साथ ऐसी बात नहीं। चेतना विषयों से सम्बद्ध होकर उन्हें प्रकाशित करने के साथ-साथ स्वयं को भी प्रकाशित करती है। विषयअसम्बद्ध स्थिति में चेतना पर-प्रकाशक नहीं होती लेकिन चेतना की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति का अत्यन्ताभाव नहीं होता है।

- ६ -

बौद्धों द्वारा प्रस्तावित ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति की अवधारणा उन सभी बौद्धेतर दार्शनिकों के लिए असह्य रही है जो ज्ञान को स्वयंप्रकाश मानते हैं और नहीं भी मानते हैं। उनकी आलोचनाओं में दो बातें बहुत ही स्पष्ट रूप से देखने को मिलती हैं। प्रथम यह कि ज्ञान सदैव वस्तुतन्त्र होने से "जानना"

एक सकर्मक क्रिया-पद है । इसलिए ज्ञानक्रिया के कर्ता का उस क्रिया के साथ मिश्रण नहीं किया जाना चाहिए । द्वितीय, यह कि यद्यपि ज्ञान को ज्ञात होना चाहिए, यह अनिवार्य तो नहीं लेकिन व्यवहारसम्मत् तो अवश्य है, तथापि इसका तात्पर्य यह नहीं कि ज्ञान स्वसंवित् होता है । स्वसंवित्ति से परे और पृथक् भी अनुभव-प्रकाश की व्याख्या हो सकती है । आलोचकों के इन दोनों आधारों पर विचार किया जाय तो प्रथम वस्तुवाद के पूर्वाग्रह में विज्ञानवाद की आलोचना प्रतीत होती है और द्वितीय स्वसंवित् ज्ञान के बदले एक वैकल्पिक सिद्धान्त के प्रतिपादन का आग्रह प्रतीत होता है। अतएव कहा जा सकता है कि बौध्देतर दार्शनिकों ने अपने सिद्धान्त से मोहग्रस्त होकर बौद्धों की आलोचना की है। वस्तुतः आलोचनाओं का भी अपना एक महत्त्व होता है । आलोचनायें चाहें गलत हो या सही , दोनों ही स्थितियों में यह विचार के इतिहास को एक अतिरेक त्वरण प्रदान करती हैं ।

कुमारिल भट्ट ने अपने *श्लोकवार्तिक* में बौद्धों के "स्वसंवेदन " का इतना अधिक खण्डन किया है कि परवर्ती आलोचकों की आलोचनाओं में कुछ भी नया नहीं प्रतीत होता। संक्षेप में कुमारिल के अनुसार बौद्ध जब यह कहते हैं कि ज्ञान "स्वसंवित्" होता है, तो इसका द्विविध तात्पर्य हो सकता हैं । प्रथम यह कि ज्ञान ही ज्ञाता और ज्ञेय है और द्वितीय यह कि ज्ञान- क्रिया स्वयं को ज्ञेय रूपेण ज्ञात करती है । प्रथम विकल्प में कर्तृ-कर्म का अभेद उपलब्ध होता है,[७] तो दूसरे पक्ष में क्रिया-कर्म का एकत्व आसन्न है ।[८] इस प्रकार का अभेदीकरण ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के स्थापित व्यवहार के विरुद्ध है। व्यवहार-सम्मत् ज्ञान प्रसंग में ज्ञानकर्ता, ज्ञानक्रिया, और ज्ञातविषय का पार्थक्य विवक्षित होता है । यदि ज्ञान को यथार्थता का प्रदर्शक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाय तो ऐसा एकत्व उतना ही असंभव है, जितना कि तर्जनी द्वारा स्वयं अपने अग्रभाग को छूना या नट का स्वयं अपने मस्तक पर नृत्य करना । ध्यातव्य है कि *बोधिचर्यावतार* में भी विज्ञानवादी बौद्धों के प्रति कुछ इसी प्रकार की आलोचनाओं की उद्भावना की गयी है ।

पुनः कुमारिल स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत की अनुपपन्नता प्रदर्शित करते हुए यह दिखाना चाहते हैं कि कोई भी कारण एक कार्य के उत्पादन के समय दूसरे कार्य का उत्पादन नहीं कर सकता है । इसलिए न तो उत्पत्ति काल में ज्ञान "स्व" का ग्रहण कर सकता है, क्योंकि अपने उत्पत्ति काल में तो वह नीलादि विषयों के प्रकाशन में व्यापृत होता है और न तदनन्तर ही "स्व" का ग्रहण हो सकता हैं, क्योंकि बाद के क्षणों में वह स्वयं विनष्ट हो जाता है ।[१०]

इसी प्रकार "प्रमाणाभाव" को उपस्थापित करते हुए कुमारिल कहते हैं कि यदि अपने उत्पत्ति काल में ही ज्ञान स्वयं का ग्रहीता है, तो इसका क्या प्रमाण है ? यदि इसके विरुद्ध यह कहा जाता है कि उत्पत्ति काल में ज्ञान ग्रहण का कोई प्रतिबन्धक नहीं है, प्रतिबन्धकाभाव से ही ज्ञान प्रथम क्षण में गृहीत हो जायेगा, तो यह ठीक नहीं ।[११] केवल प्रतिबन्धक से ही कार्य की उत्पत्ति प्रतिरुद्ध नहीं होती, बल्कि विशिष्ट कारणों के अभाव से भी कार्य की उत्पत्ति प्रतिरुद्ध होती है । प्रकृत में तो ज्ञान प्रथम क्षण में ग्रहणविशिष्ट कारण के अभाव से ही प्रतिरुद्ध होता है, प्रतिबन्धक से नहीं । अत: प्रतिबन्धकाभाव से उत्पत्ति क्षण में ही ज्ञानग्रहण में प्रमाणाभाव सिद्ध है ।[१२]

इस प्रकार स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत में दोषोद्भावन करते हुए कुमारिल इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ज्ञान अपनी प्रकृति में स्वप्रकाश नहीं बल्कि सदैव पर प्रकाशक होता है । अपने प्रकाश के लिए ज्ञान एक परवर्ती क्रिया की अपेक्षा करता है । संक्षेप में कुमारिल का पक्ष यह है कि "ज्ञान " एक क्रिया है। जिस प्रकार पाकज क्रिया के द्वारा भोज्य पदार्थों में "पाक" उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जब हम घट नामक पदार्थ को देखते हैं और "यह घट है" के रूप में उसका व्यवहार करते हैं , तो घट नामक पदार्थ में "ज्ञातता" नामक एक अतिरिक्त धर्म उत्पन्न होता है। घट ज्ञान से पैदा होने वाली ज्ञातता केवल घट में ही होती है, पट में नहीं। इसलिए घट ज्ञान का विषय केवल घट ही होता है। यह ज्ञातता घट के आदि और अन्त में नहीं होती, बल्कि उसकी प्रतीति उस समय होती है जब हम "ज्ञातोमयाघट:" का व्यवहार करते हैं । "ज्ञातता" ही किसी विषय की परिच्छेदित विषयता को नियत करती हैं । इस ज्ञातता की सिद्धि "विषयत्व अन्यथा अनुपपत्तिप्रसूत अर्थापत्ति" से होती है । यह ज्ञातता-रूप धर्म अपने कारण के विना उत्पन्न नहीं हो सकता है । अतएव "ज्ञातता अन्यथा अनुपपत्ति प्रसूत अर्थापत्ति" से ज्ञातता की प्रतीति अनुगृहीत होती है । स्वसंवित् ज्ञान के बदले यही कुमारिल का "ज्ञाततालिंगानुमेयवाद" है, जिससे ज्ञान का ज्ञान होता है ।[१३]

बौद्धों के पक्ष में उपर्युक्त आक्षेपों का परिहार करते हुए कहा जा सकता है कि जिस प्रकार का भेद दो बाह्य पदार्थों के मध्य होता है, उसी प्रकार का भेद ज्ञान और ज्ञेय में विवक्षित नहीं है । ज्ञान और ज्ञेय का भेद केवल संगति का अभाव मात्र है ।[१४] इसलिए ज्ञान प्रसंग में ज्ञाता , ज्ञान और ज्ञेय के पार्थक्य की व्यवस्था हम इसे आरोपित मान कर भी कर सकते हैं। वस्तुत: ज्ञान में प्रकाश्य-प्रकाशक भाव कल्पित ही है । बोध की बोधरूपता से उत्पत्ति ही उसकी स्वसंवित्ति कहलाती है।[१५]

शान्तरक्षित कुमारिल को ध्यान में रखते हुए कहते हैं कि ज्ञान स्वयं क्रिया न होकर क्रियाफल है। यह सदैव जडरूपों से अपनी पृथक्ता को ज्ञापित करते हुए अभिव्यक्त होता है। ज्ञान अचेतन होकर अपनी अभिव्यक्ति इस प्रकार से नहीं कर सकता। इसलिए यह स्वयंचेतन ही है।[१६] पुनः ज्ञान को स्वसंवित् मानने से अपने आप में कर्ता और कर्म होने का विरोध नहीं है। क्योंकि संवेदन रूप व्यापार विज्ञान स्वरूप से भिन्न नहीं है।[१७] स्वसंवित्ति का वास्तविक तात्पर्य न समझने के कारण ऐसा विरोध ऊपरी तौर पर परिलक्षित होता है। वस्तुतः विज्ञान का स्वरूप ही ऐसा है कि वह अपने प्रकाशन के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करता, फिर भी वह अप्रकाशित नहीं होता है।[१८] यही स्वसंवित्ति की स्वरूपस्थिति है। इतने पर भी यदि प्रतिपक्षी विरुद्ध धारणा रखते हैं तो स्वसंवित्ति के लिए स्वभाव हेतु पूर्वक अनुमान प्रमाण को प्रयुक्त करते हुए कहा जा सकता है कि जिसका प्रकट होना जिसके अधीन होता है, वह उसके प्रकट होने से ही प्रकट होता है। यथा - दण्डी, जिसका ज्ञान दण्ड के अधीन है। इसी प्रकार रूपादि विषयों का प्राकट्य ज्ञान के प्रकट होने पर निर्भर है। इस अनुमान का इन्द्रियों में व्यभिचार दिखाते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि जिस प्रकार इन्द्रियाँ अपने विषयों को अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए स्वयं अनभिव्यक्त ही रहती हैं, उसी प्रकार ज्ञान रूपादि विषयों को प्रकाशित करते हुए स्वयं अप्रकाशित ही होता है। वास्तव में ऐसा व्यभिचार प्रदर्शन उपमावैदृश्य के कारण अनुचित है। अन्त में कुमारिल की यह उपस्थापना कि प्रतिबन्धकाभाव के कारण उत्पत्ति क्षण में ही ज्ञान ग्रहण की बात निरर्थक है, क्योंकि उत्पत्ति काल में ज्ञान ग्रहण विशिाष्ट कारणों के अभाव से ही प्रतिरुद्ध होता है - अनुचित है। यह आक्षेप निराकार ज्ञानवाद के संदर्भ में सही है, लेकिन साकार ज्ञानवाद के संदर्भ में यह अनुपपन्न है।[१९] साकार ज्ञानवाद विज्ञानवादी बौद्धों का सिद्धान्त पक्ष है। साकारज्ञानवाद के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि विज्ञान अपने में अन्तर्निहित विषयाकारों को लिए हुए ही उत्पन्न होता है। इसलिए ग्रहण-विशिष्ट कारणों का अभाव भी नहीं होता और वें सप्रतिबन्धक स्वरूप भी नहीं होते हैं।

यदि कुमारिल के स्वपक्ष पर विचार किया जाय तो उनका "ज्ञाततालिंगानुमेयवाद" भी कतिपय दोषों से ग्रसित है। प्रथमतः अनवस्था दोष की उद्भावना करते हुए कहा जा सकता है कि यदि ज्ञान क्रिया विषय में "ज्ञातता" नामक धर्म उत्पन्न करती है और जब ज्ञान स्वयं परवर्ती क्रिया के द्वारा अनुगृहीत होता है, तो कुमारिल ज्ञान में "ज्ञातता" की उत्पत्ति क्यों नहीं स्वीकार करते हैं? काव्यप्रकाशकार की इतिविषयक टिप्पणी उचित प्रतीत होती है कि नैयायिकों और मीमांसकों में केवल इतना ही अन्तर है कि एक आत्मा में तो दूसरा विषय में "ज्ञातता"

की उत्पत्ति को स्वीकार करता है। इसलिए एक के लिए ज्ञान का ग्रहण परवर्ती मानस प्रत्यक्ष से होता है, तो दूसरे में ज्ञान का ग्रहण अनुमानपूर्वक होता है। द्वितीयत: कुमारिल द्वारा स्वत:प्रामाण्यवाद का समर्थन और ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति का खण्डन परस्पर विरोधी आग्रह प्रतीत होता है। ये दोनों बातें एक साथ स्वीकार नहीं की जा सकती। ज्ञान की स्वयंप्रकाशता ज्ञाननिष्ठ स्वत: प्रमाणता का पूर्वापेक्षी है। यदि इनमें तादात्म्य नहीं तो भी ये परस्पर उपकारी अवश्य हैं। स्वत:प्रमाणत्व कुछ और हो सकता है, लेकिन स्वत: ज्ञानत्व उसमें अवश्य होना चाहिऐ। जिस प्रकार किस वस्तु का प्रत्यक्ष होने पर उसकी प्रमाणता पर कोई संदेह नहीं करता कि उसे उस वस्तु का प्रत्यक्ष हुआ या नहीं, उसी प्रकार ज्ञान के संदर्भ में भी किसी को यह संदेह नहीं होता कि उसे ज्ञान हुआ या नहीं। जिस प्रकार स्वत: प्रामाण्य का इतना ही मतलब है कि ज्ञान अपनी प्रमाणता के लिए किसी दूसरे पर निर्भर नहीं करता है, उसी प्रकार स्वसंवित् ज्ञान का भी इतना ही मतलब है कि वह अपने प्रकाशन के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करता है। जिस प्रकार परत: प्रामाण्यवाद में अनवस्था दिखाई जाती है, उसी प्रकार परत:प्रकाश में भी अनवस्था आसन्न होती है। वस्तुत: ज्ञाननिष्ठ प्रामाण्य को स्वयंज्ञात होना चाहिए। एक ओर अज्ञातप्रमाणता की बात निरर्थक है, तो किसी परवर्ती क्रिया के अधीन उसकी स्थापना नहीं हो सकती है। इसलिए ज्ञाननिष्ठ स्वत:प्रमाणता और स्वसंवित्ति एक दूसरे के विरोधी नहीं वरन् परस्परपूरक सिद्धान्त हैं। यहाँ यह विचारणीय हो जाता है कि क्या जो लोग ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति को स्वीकार करते हैं, उनके लिए स्वत:प्रामाण्यवाद को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। यद्यपि भारतीय दर्शन में इस निकष का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता, तथापि कहा जा सकता है कि यह इस बात पर निर्भर करता है कि किस दर्शन में प्रामाण्य ज्ञान का क्या निकष अपनाया गया है। बौद्धों और वेदान्तियों ने अन्तत: "प्रामाण्यं व्यवहारेण" का ही निकष स्वीकार किया है। इसलिए "प्रवृत्तिसाफल्य" को प्रमाणता का निकष स्वीकार कर वे ज्ञान को स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् मानते हुए भी व्यवहारत्वेन प्रामाण्य की व्याख्या कर सकते हैं। जहाँ तक प्रवृत्ति-साफल्य से परे और पृथक् स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् ज्ञान की प्रामाणता का प्रश्न है तो वह स्वनिष्ठ ही है। अतएव ज्ञाननिष्ठ प्रमाणता जैसा कि कुमारिल स्वीकार करते हैं, तो स्वसंवित्ति उनके लिए पूर्वापेक्षित है। वस्तुत: यह कुमारिल का वेदों के प्रति अतिशय अनुराग और बौद्धों के प्रति अतिशय द्वेष ही है, जिसके चलते वे इस अन्तर्विरोध में पतित होते हैं। शायद इसी अन्तर्विरोध को मद्देनजर रखते हुए प्रभाकर ने ज्ञाननिष्ठ प्रमाणता के लिए स्वसंवित्ति की उपयुक्तता और उसके विज्ञानवादी निष्पत्ति के मध्य अपने "त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद" का प्रतिपादन किया है। प्रभाकर ने स्वसंवित्ति की तत्त्वमीमांसीय लंगर को काटते हुए यह स्वीकार किया

है कि विषय और विषयी के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान स्वयंप्रकाश होता है, जो समान रूप से विषय को विषयी के लिए प्रकाशित करता है ।[२०] प्रभाकर का "त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद" ज्ञान की स्वयंप्रकाशता विषयक अ-तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत के रूप में एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान है ।

- ४ -

मीमांसकों के बाद बौद्धों के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी नैयायिक हैं । नैयायिकों और बौद्धों के मध्य पारस्परिक खण्डन-मण्डन का इतिहास बड़ा लम्बा है। स्वसंवित्ति विषयक प्रश्न पर नैयायिकों का मानना है कि बौद्ध "अनुव्यवसाय" का मर्म नहीं समझते हैं, इसलिए उन्होंने स्वसंवित्ति की भ्रान्त अवधारणा प्रतिपादित करने में अपनी शक्ति का अनावश्यक दुरुपयोग किया है । नैयायिक यह प्रस्तावित करते हैं कि ज्ञान को ज्ञात होना चाहिए, यह अनिवार्य नहीं है। यह सम्भव है कि ज्ञाता में ज्ञान उत्पन्न हो और फिर वह उसके लिए अज्ञात ही रहे। यदि ज्ञान को ज्ञात होना चाहिए , यह व्यवहारसम्मत् है और अनुकूल कारकों के होने से यह ज्ञात होता है, तो इसके लिए ज्ञान को स्वसंवित्त मानना अनिवार्य नहीं है। बौद्धों ने स्वसंवित् ज्ञान के लिए जो तर्क प्रस्तुत किया है, वह नैयायिकों की राय में ज्ञान की स्वसंवित्ति को सिद्ध नहीं करता है ।[२१] यह विचारणीय है। प्रथम, जब यह कहा जाता है कि प्रत्येक ज्ञान के दो पक्ष होते हैं, तो ज्ञान में आचरित विषय की चेतना और उस चेतना की चेतना से केवल इतना ही निगमित होता है कि ज्ञान को ज्ञात होना चाहिए । स्वसंवित् ज्ञान इससे निगमित नहीं होता है । यहाँ नैयायिकों से पूछा जा सकता है कि ज्ञात होना या तो ज्ञान को स्वसंवित् मानने से सम्भव है, या किसी अन्य ज्ञान के द्वारा उसे ज्ञात हुआ माना जा सकता है । इसमें प्रथम पक्ष बौद्धों का ही है, लेकिन दूसरे पक्ष के लिए ज्ञान की एक अज्ञात अवस्था को स्वीकार करना होगा । ज्ञान की अज्ञात अवस्था में कोई भी तर्क विधि या निषेध मुखेन नैयायिकों का साथ नहीं दे सकता है । अतः स्वसंवित्ति पूर्वक ही ज्ञान का पक्ष-द्वैविध्य व्याख्येय है । द्वितीय, जब यह कहा जाता है कि पूर्वानुभूत अनुभव की अनुभूति के बिना स्मृति सम्भव नहीं है, तो इससे भी यही आहार्य होता है कि अनुभव अनुभूत होता है । वह स्वसंवित् है, यह सिद्ध नहीं होता। यहाँ नैयायिकों से पूछा जा सकता है कि पूर्वानुभूत अनुभव की अनुभूति या तो स्वतः वेद्य होगी या परतः वेद्य मानी जा सकती है ? स्वतः वेद्यता तो बौद्धाभिमत ही है। परतः वेद्यता मानने पर अनवस्था होगी जो स्मृति को ही असम्भव बना देगी । इसलिए अपने सन्दर्भ में स्मृति स्वसंवित्ति को सिद्ध करती है । यह बात अलग है कि सभी पूर्वानुभवों की स्मृति नहीं होती है । तृतीय, जब यह कहा जाता है कि सुखादि की

अनुभूति स्वसंवित् होती है, तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि सभी अनुभव स्वसंवित् होते हैं। कुछ अनुभव बिना ज्ञात हुए समाप्त हो जाते हैं, तो कुछ तीव्र संवेगिता के कारण उत्पत्ति काल में ही गृहीत हो जाते हैं। अतएव तीव्र संवेगिता के कारण सुखादि अनुभवों की स्फुटता का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता है।[२२] यहाँ नैयायिकों से पूछा जा सकता है कि क्या यह सम्भव है कि किसी को माथे में दर्द हो और उसे ज्ञात न हो ? पुनः सुख-दुःखादि चैत्त ज्ञान रूप हैं, तो इनका सामान्यीकरण क्यों नहीं किया जा सकता है ?

इसप्रकार स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत की आलोचना करते हुए नैय्यायिक इसे एक प्रकार के मानस प्रत्यक्ष नामक अनुक्रिया में रूपान्तरित कर देते हैं। वस्तुतः नैय्यायिकों के अनुसार ज्ञान अपने उत्पत्तिकाल में "यह घट है" के स्वरूप का होता है। वही बाद में अव्यवहित रूप से "मैं जानता हूँ कि यह घट है" के अनुव्यवसाय में परिणत हो जाता है। यह अनुव्यवसाय एक प्रकार का मानस प्रत्यक्ष है। ये दोनों ज्ञान अपने स्वरूप में भिन्न होते हैं, क्योंकि प्रथम स्थिति में घट विषय वेद्य होता है तो द्वितीय स्थिति में घटानुभव विदित होता है। ज्ञान अपने स्वरूप में परप्रकाशक ही है। शान्तरक्षित का यह प्रस्ताव अनुचित है कि ज्ञान को परप्रकाशक मानने से जड़ और चेतन का भेद ही समाप्त हो जायेगा।[२३] चेतना को परप्रकाशक और अचेतन पदार्थों में इसका अभाव बताते हुऐ चेतन और अचेतन का भेद सुरक्षित रहता है। प्रज्ञाकर गुप्त[२४] इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि हम अपनी विचारसरणी में तीन प्रकार की वस्तुओं को सम्मिलित कर सकते हैं। प्रथम प्रकार में ऐसी वस्तुओं को रखा जा सकता है, जो न तो स्वप्रकाशक हैं न हि परप्रकाशक। दूसरे प्रकार में दो प्रकार की परप्रकाशक वस्तुओं को रखा जा सकता है। यथा - प्रकाश और ज्ञानेन्द्रियाँ। अब प्रथम प्रकार की वस्तुयें कुछ ऐसी हैं, जो द्वितीय प्रकार में आने वाली दोनों वस्तुओं की अपेक्षा करती है। द्वितीय प्रकार में आने वाली वस्तुओं को भी एक अन्य तृतीय प्रकार की वस्तु की आवश्यकता है, जो उनकी प्रकाशक हो। इस प्रकार अन्ततः हमें एक ऐसी तृतीय वस्तु की कल्पना में अवश्य ही पर्यवसित होना पड़ेगा जो स्वप्रकाश हो। सुरेश्वराचार्य[२५] ने भी परप्रकाशता के विभिन्न स्तरों के द्वारा एक निरतिशय स्वयंप्रकाशतत्व की अनिवार्यता को सिद्ध करने के बजाय यह सिद्ध करने का प्रयास किया है। भासर्वज्ञ[२६] ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि उपर्युक्त तर्कों में असिद्धि दोष है, क्योंकि प्रश्न है ज्ञान की स्वयंप्रकाशता और उपर्युक्त तर्क इसे सिद्ध करने के बजाय यह सिद्ध करता है कि ज्ञान की सभी स्थितियाँ ज्ञात होती हैं। इसी प्रकार शान्तरक्षित विहित स्वसंवित्ति की परिभाषा में भी असिद्ध साधनता की उद्भावना की जा सकती है। वस्तुतः नैयायिकों ने बौद्धों द्वारा स्वसंवित्ति

की सिद्धि के लिए प्रयुक्त सभी तर्कों में असिद्धि साधनता के दोष को दिखाने का प्रयास किया है। इतिविषयक बौद्धों की तार्किक संरचना में "असिद्ध साधनता" की प्रतीति इसलिए होती है कि बौद्धों ने स्वसंवित्ति की सिद्धि के लिए जिन-जिन उपालम्भों को प्रयुक्त किया हैं वे "आरग्युमेन्ट" नहीं बल्कि "कन्सिडरेशन्स्" हैं जो स्वसंवित्त की अवधारणा को मात्र "लॉजिकल प्रीसपोजिशन ऑफ नॉलेज" के रूप में प्रस्तावित करते हैं।

नैयायिक इसके वैकल्पिक सिद्धान्त के रूप में जिस अनुव्यवसायवाद की अवधारणा प्रतिपादित करते हैं, वह न तो सैद्धान्तिक दृष्टि से उचित है न हि व्यवहार सम्मत है। यदि ज्ञान का ज्ञानान्तर से वेदन स्वीकार किया जाय तो यह बलात् ही "अनवस्था" को निमंत्रित करता है, जिसका अन्तत: "न किंचित्वेदनं" में पर्यवसित हो जाना अवश्यम्भावी है। यदि इस अनवस्था के परिहार के लिए यह स्वीकार किया जाता है कि ज्ञान का ज्ञात होना कोई आवश्यक नहीं, तो यह नैयायिकों का " अज्ञातज्ञान स्थिति" के प्रति अनावश्यक मोह है। इसका सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता है। कोई भी ज्ञान बिना ज्ञात हुए व्यवहार साधक नहीं हो सकता। नैयायिक अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए यहाँ एक महत्त्वपूर्ण पक्ष प्रस्तुत करते हैं, जो विचारणीय है। उनका मानना है कि "व्यवसायात्मक" ज्ञानस्थिति यद्यपि ज्ञात नहीं होती तथापि व्यवहारोत्प्रेरक अपेक्षित स्नायविक प्रभाव को उत्पन्न करने में वह समर्थ होती है। तदनन्तर जब व्यवसाय अनुव्यवसायात्मक मानसप्रत्यक्ष से अनुगृहीत हो जाता है, तो व्यवहार संचार के लिए इतना ही अपेक्षित है। व्यवहार इतने पर आकर अपने व्यापार से निवृत्त हो जाते हैं। अन्य कोई व्यापार अवशिष्ट नहीं रहता जो "ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेदने" के सन्दर्भ में उपदर्शित अनवस्था पूर्वक प्रतिरुद्ध होता हो।[२७] इस प्रकार नैयायिक यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि ज्ञान के कारणभूत विषयों की उपलब्धि होने से ही सम्पूर्ण व्यवहार चलते हैं। इसलिए उपर्युक्त उपदर्शित अनवस्था लक्ष्य को छोड़ते हुए तीर के समान उनके सिद्धान्त का हन्ता नहीं है। वस्तुत: नैयायिकों का यह समाधान सम्यक् नहीं है। व्यवहार संचार को एक यांत्रिक प्रक्रिया के रूप में देखना जीवन के वैचारिक पक्ष की अवहेलना करना है। व्यवहारों का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष वैचारिक भी होता है। व्यवहार के इस पक्ष में नैयायिकों के अनुव्यवसायवाद की अपर्याप्तता दिखाते हुए धर्मकीर्ति ने "दीर्घादिग्रहणं न स्यात् बहुमात्रा अनवस्थिते" की अनुपपत्ति प्रस्तुत की है।[२८] व्यवहार संचार के लिए एक विचार से दूसरे विचार में गति और पुन: विचारों के भाषीय प्रवहन के लिए भावप्रवाहिका भाषा में दीर्घस्वरों का ग्रहण आवश्यक है। ये दोनों बातें नैयायिकों की विचारसरणी में स्वसंवित् ज्ञान के बिना असम्भव है, क्योंकि उनके मत में ज्ञान और कण्ठ-तालु संयोग से उत्पन्न ध्वनि, दोनों ही क्षणिक हैं। दीर्घबुद्धि को अक्रम नियम से प्राप्त नहीं किया जा सकता।

इसके लिए क्रम नियम और क्रमयोग बोध अपेक्षित है । स्वसंवित्ति के अभाव में विज्ञान और वर्णों की क्षणिकता के कारणक्रमनियम में आसन्न अनवस्था से क्रमयोगाबोध पूर्वक दीर्घबुद्धि अनुपपन्न है । यदि पूर्व-पूर्व वर्णों से उपकृत उत्तर-उत्तर वर्णों की उत्पत्ति मानी जाय तो जिस उत्तरवर्ती अन्त्य वर्ण पर इस प्रक्रिया का विराम होगा, वहीं एक साथ उस श्रृंखला के सभी पूर्ववर्ती वर्णों का ग्रहण प्रसक्त होने से उसे दीर्घ ग्रहण नहीं कहा जा सकता है । बौद्धों के क्षणिक विज्ञानवाद में यह समस्या विज्ञानों के स्वसंवित् होने के कारण अनुपपन्न है, क्योंकि प्रत्येक विज्ञान अर्थाभास पूर्वक स्वाभास या स्वाभासपूर्वक अर्थाभास की विज्ञानस्थिति होती है । क्या अर्थाभासपूर्वक स्वाभास और स्वाभासपूर्वक अर्थाभास से परे और पृथक् कोई विज्ञान की स्वरूपस्थिति हो सकती है ? इसकी चर्चा हम आगे करेंगे । इस प्रकार नैयायिकों की समीक्षा से बौद्ध इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि ज्ञान को स्वसंवित् न माना जाय तो जगत् अन्धत्व की अवस्था में परिणत हो जाता है और इससे बचने के लिए यदि ज्ञान का प्रकाश ज्ञानान्तर से माना जाय तो अनवस्था में पतित हो जाना अवश्यंभावी है ।

- ५ -

अद्वैत वेदान्तियों ने भी स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत की आलोचना करते हुए इतिविषयक कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को उद्घाटित किया है । यद्यपि दोनों सम्प्रदायों में इतिविषयक स्वपक्ष स्थापन और परपक्ष खण्डन के लिए अपनाये गये तार्किक उपक्रम में कोई मौलिक भेद प्रतीत नहीं होता, फिर भी दोनों के निष्कर्ष नितान्त भिन्न हैं । इस सम्बन्ध में श्रीहर्ष का यह कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि यदि स्वयंप्रकाश ज्ञान को नित्य, साक्षी , सर्वात्मा, ब्रह्मस्वरूप माना जाय तो अद्वैत वेदान्त सिद्ध होता है और क्षणिक माना जाय तो क्षणिक विज्ञानवाद सिद्ध होता है ।[२९]

शंकराचार्य की दृष्टि में नैयायिक और बौद्ध दोनों ही ज्ञान को वेद्य मानते हैं । यद्यपि ज्ञान की वेद्यता की प्रक्रिया दोनों दर्शनों में भिन्न-भिन्न है तथापि ज्ञान चाहे स्वविषयक हो या परविषयक हो, दोनों ही स्थितियों में "विषयता" का समावेश हो ही जाता है । इसलिए ज्ञान की वेद्यता के खण्डन से शंकराचार्य को उभयविध मतों का खण्डन अभिप्रेत है । *प्रश्नोपनिषद् भाष्य* में शंकराचार्य बौद्धों को ध्यान में रखते हुए कहते हैं कि यदि विज्ञान स्वयं के द्वारा नहीं जाना जाता है, तो वह स्वयंप्रकाश नहीं हो सकता; लेकिन यदि विज्ञान वेद्य है तो वह स्वयं का वेदक कैसे हो सकता है ? यह किसी दूसरे विज्ञान से ही वेद्य हो सकता है, तब बौद्धाभिमत अनवस्था दोष से ग्रसित हो जायगा।[३०] पुन: यदि विज्ञान स्वयमेव अनुभूत होता है तो बौद्धाभिमत

में कर्तृ-कर्म विरोध की उपपत्ति होगी ।[३१] इस तरह बौद्धों की स्वयंप्रकाशता से अनुभव प्रकाश की व्याख्या नहीं हो सकती है । ज्ञान में आचरित विषय बोध और प्रतिबोधित स्वयंबोध के लिए दोनों का साक्षी स्वयंप्रकाश, स्वयंसिद्ध आत्मतत्त्व को स्वीकार करना होगा, जिसकी समस्त प्रतीतियाँ विषय होती हैं, जो समस्त बोधों के समय जाना जाता हैं । ऐसे साक्षी चैतन्य की पृष्ठभूमि में ही समस्त ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय व्यवहार फलित होते हैं । इसलिए जब कोई ज्ञान होता है तो न ही तद्विषयक कोई संदेह रहता हैं और न तो उसके साक्षी को जानने की आवश्यकता होती है । क्योंकि स्वयंप्रकाश आत्मा सभी प्रतीतियों का नित्य साक्षी है । बौद्धों का क्षणिक विज्ञान स्वयं अपने ही उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का साक्षी नहीं हो सकता , तो वह सर्वसाक्षी क्या होगा । इस प्रकार अद्वैत वेदान्ती स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत को आत्मा की स्वयंप्रकाशता में रूपान्तरित कर देते हैं ।

शंकराचार्यकृत उपर्युक्त आलोचनाओं की समीक्षा करते हुए कहा जा सकता है कि एक ओर शंकराचार्य बौद्धों की स्वसंवित्ति में विषयता भाव बलात् ही आरोपित कर अनवस्था दिखाते हैं , तो दूसरी ओर वहीं कर्तृ-कर्म विरोध भी उपस्थापित करते हैं । एक ही प्रतिज्ञा में उपर्युक्त दोनों प्रकार के दोषों की उद्भावना स्वयं में विरोधग्रस्त है । यदि विज्ञानों की स्वसंवित्ति में विषयता भाव के कारण अनवस्था उपपन्न है, तो वहाँ कर्तृ-कर्म विरोध नहीं हो सकता ; लेकिन यदि विज्ञानों की स्वसंवित्ति में कर्तृ-कर्म विरोध नहीं है, तो वहाँ अनवस्था प्रसंग भी नहीं होगा । वस्तुतः स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत इन दोनों ही दोषों से सर्वथा मुक्त है । स्वयं वाचस्पति मिश्र ने "न हि संवेदनस्य स्वरूपादन्यावृत्तिरस्ति" कहते हुए स्वसंवित्ति में कर्तृ-कर्म विरोध निराकरण किया है ।[३२] ऐसे ही "स्वसंवेदन" में "वेदन" पद से आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार विज्ञान अन्य की वित्ति का ग्राहक होता है, उसी रूप में वह स्वयं की वित्ति का भी ग्राहक है । सभी बौद्धेतर दार्शनिक स्वसंवेदन विषयक बौद्धाभिमत के इसी प्रारूप को ध्यान में रखते हुए इसकी आलोचना करते हैं। स्वसंवेदन का परिष्कृत स्वरूप इससे पूर्णतया भिन्न है । बौद्ध दर्शन के विकासात्मक इतिहास में स्वसंवेदन को त्रिविध प्रारूपों में देखा जा सकता है । प्रथम - विज्ञान इस अर्थ में स्वसंवित् होता है कि जब विषय का ज्ञान होता है, तो प्रतिचेतना के रूप में स्वयं की भी वित्ति होती है । यहाँ स्वसंवित्ति अर्थाभास पूर्वक स्वाभास है ।[३३] द्वितीय - विज्ञान इस अर्थ में स्वसंवित् होता है कि वह स्वसंवित्त होकर ही विषय को प्रकाशित करता है । यहाँ स्वसंवित्ति स्वाभास पूर्वक अर्थाभास है ।[३४] तृतीय - विज्ञान अर्थाभासपूर्वक स्वाभास और स्वाभासपूर्वक अर्थाभास से पृथक् और परे अपने स्वस्वरूप में ही आत्मसंवित् है ।[३५] यही स्वसंवेदन का निरपेक्ष स्वरूप है । यहाँ ऐसा नहीं समझना

चाहिए कि बौद्ध दर्शन में स्वसंवित्ति विषयक तीन सिद्धान्त हैं । इन त्रिविध प्रारूपों को स्वसंवित् विज्ञान की ज्ञानमीमांसीय भूमिका और उसके तात्त्विक परिणति के मध्य त्रिविध सोपानों के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है । नैयायिक,मीमांसक और अद्वैत वेदान्तियों की आलोचनायें केवल प्रथम प्रारूप के सन्दर्भ में ही प्रयुक्त हो सकती हैं । स्वसंवेदन का तृतीय प्रारूप जो उसका निरपेक्ष स्वरूप है, वह पूर्वोक्त सभी दोषों से मुक्त है । शान्तरक्षित ने स्वसंवित्ति की परिभाषा करते हुए "स्वरूपवेदनायान्यद् वेदकं न व्यपेक्षते। न चाविदितमस्तीदमित्यर्थोऽयं स्वसंविद: ।।" कहा है ।[३६] चित्सुखाचार्य ने अद्वैतमतेन "अवेद्यत्वे सति अपरोक्षवहार योग्यत्वम्" के रूप में स्वयंप्रकाशता का सर्वदोषमुक्त लक्षण प्रस्तुत किया है ।[३७] इन दोनों परिभाषाओं में वेद्यत्व की अवस्थिति एक समान है, लेकिन दोनों परिभाषायें अपनी परम्परा की दार्शनिक योजना में चेतना के जिस तात्त्विक स्वरूप को प्रस्तावित करते हैं, वह नितान्त भिन्न है। इतिविषयक विज्ञानवादी बौद्ध और अद्वैतवेदान्तियों की पारस्परिक ईर्ष्याजनक स्थिति दोनों का अपना-अपना गौरव है। अन्त में जहाँ तक साक्षी का प्रश्न है, तो स्वसंवित् क्षणिक विज्ञान अपनी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का साक्षी कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि क्षणिक विज्ञान त्रिविध उपक्षणों में विभाजित ही नहीं हैं, तथापि जिस प्रकार अद्वैतमत में स्वयंप्रकाश आत्म तत्त्व को किसी अन्य साक्षी की आवश्यकता नहीं होती है, उसी प्रकार बौद्धों का क्षणिक विज्ञान भी स्वयं साक्षी तो हो ही सकता है । साक्षी को "सर्वसाक्षी" के रूप में स्वीकार करना अद्वैतवादियों का अपना गौरव है । इस गौरव भेद की खाई को पाटने में ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति की कोई महत्त्वपूर्ण मध्यस्थ भूमिका हो सकती है - ऐसा प्रतीत नहीं होता।

- ६ -

इस प्रकार ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति की संज्ञानात्मक भूमिका के विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि अनुभव प्रकाश की व्याख्या के लिए यह अपेक्षित है । यदि ज्ञान स्वसंवित् है, तो वस्तुवादियों का यह तर्क कि ज्ञान किसी की अपेक्षा करता है जिसे वह जानता है, शक्तिहीन हो जाता है । इस तर्क के शक्तिहीन हो जाने से ज्ञान से परे और पृथक् वस्तु की सत्ता स्वीकार करने की बाध्यता तार्किक और निरपेक्ष न होकर मनोवैज्ञानिक बाध्यता में रूपान्तरित हो जाती है । ज्ञान से स्वतन्त्र वस्तु की सत्ता की सिद्धि करने के लिए उस वस्तु की ज्ञात और अज्ञात स्थिति में तादात्म्य बताना आवश्यक है । इस तादात्म्य को बताने के लिए अज्ञात स्थिति में वस्तु को जानने की आवश्यकता होगी । ऐसा जानना बिना जाने हुए जानना है। वस्तुत: अज्ञात अवस्था में वस्तु की सत्ता का निषेध और स्वीकृति दोनों ही अनुपपन्न

हैं । यदि अज्ञात अवस्था में वस्तु की सत्ता का निषेध वस्तुवादियों की दृष्टि में "अहंकेन्द्रित दुरास्था" है, तो उसके विधान को भी विज्ञानवादी "वस्तु केन्द्रित दुरास्था" कह सकते हैं । इस वस्तु केन्द्रित दुरास्था से निकलने का प्रयास करते हुए वस्तुवादी वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता को स्थापित करने के लिए स्वयं ज्ञान की ही एक अज्ञात अवस्था का पक्ष प्रस्तुत कर सकते हैं । "भारतीय वस्तुवाद" में नैयायिकों का "व्यवसाय" और मीमांसकों की "ज्ञातता" वस्तुवाद को ऐसा ही विलक्षण आधार प्रदान करने का सराहनीय प्रयास है । परन्तु ज्ञान को यथार्थता का प्रदर्शक सिद्धान्त स्वीकार करते हुए ज्ञान की ही एक अज्ञात अवस्था पर वस्तुवाद को स्थापित करने के लिए पुनः ज्ञान की अज्ञातावस्था को ज्ञानान्तर के द्वारा जानने की आवश्यकता होगी, जिससे वस्तु की चेतना और वस्तुसारूप्यविशिष्ट चेतना की चेतना के द्वारा ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता की पृथक्ता स्थापित हो सके । इस अभ्युपगम को अपनाने में अनवस्था दोष के कारण कितनी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं, यह पूर्वोक्त सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट ही है । अतएव वस्तुवादियों की वस्तुकेन्द्रित दुरास्था अन्ततः दुरास्था ही बनी रहती है । इससे निकलने का वे जितना ही प्रयास करते हैं, उतना ही उलझते जाते हैं । वस्तु की सत्ता के प्रति एक सामान्य विश्वास ही उनकी मूल भित्ति बन कर रह जाती है । इसके विपरीत विज्ञानवादी ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति का पक्ष प्रस्तुत करते हैं । स्वसंवित् ज्ञान अहंकेन्द्रित दुरास्था को एक दिशा प्रदान करते हुए इस बात के लिए एक सामान्य आधार प्रदान करता है कि चेतना को आधारभूत तत्त्व मान कर समस्त संसार की व्याख्या चेतना की आद्यनियामकता में प्रस्तुत की जा सकती है । ज्ञान की स्वयंप्रकाशता इसी सामान्य अर्थ में प्रत्ययवाद का पोषक सिद्धान्त है । यद्यपि प्रत्ययवादी दर्शनों के विशेष स्वरूप के निर्धारक घटक कुछ और हो सकते हैं तथापि विज्ञानवादी बौद्ध और अद्वैतवेदान्त दोनों ही परम्पराओं में स्वसंवित्ति या स्वयंप्रकाशता अनुभव प्रकाश की व्याख्या के लिए अपेक्षित अनिवार्य तार्किक पूर्वमान्यता के रूप में ही प्रस्तुत होता है । वस्तुतः जिसके अभाव में अनवस्था उत्पन्न होती हो, बुद्धि उसका अध्याहार अनिवार्य तार्किक पूर्वमान्यता के रूप में ही करती है। यह अनिवार्य तार्किक पूर्वमान्यता चेतना के जिस किसी तात्त्विक स्वरूप को प्रस्तावित करती है, वह वसुबन्धु की "विज्ञप्तिमात्रता" या धर्मकीर्ति की "अविभक्त बुद्ध्यात्मा" अथवा शंकराचार्य का "सच्चिदानन्द"या कुछ और भले हो, लेकिन ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति की शर्त केवल इतनी ही है कि उसका निरपेक्ष तात्त्विक स्वरूप विषय और विषयी से परे होना चाहिए। विषय और विषयी दोनों परस्पर सापेक्षिक हैं । अतएव इन दोनों का पूर्ण निषेध ही स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् विज्ञान की स्वरूप स्थिति है ।

डी।५।१११ मीर घाट
वाराणसी - २२१००१

अम्बिका दत्त शर्मा

टिप्पणियाँ

१. किसी वैचारिक योजना की आन्तरिक संरचना में असंगति इन्हीं तीन प्रकार के व्याघातों के कारण उत्पन्न होती है। उदयन - आत्मतत्त्वविवेक - सं. और अनु. पं. केदारनाथ त्रिपाठी (श्री विद्याप्रेस, वाराणसी) पृ. २२३-२२४

२. उक्तं च लोकनाथेन चित्तं चित्तं न पश्यति । - शान्तिदेव - *बोधिचर्यावतार,* ९.१७.

३. एम. हतोरी - *दिग्नाग ऑन परसेप्शन*, पृ. २२९-३०.

४. धर्मकीर्ति - *न्या. बि.*, १.१०, सर्वचित्त चैत्तानामात्मसंवेदनम्.

५. धर्मोत्तर - *न्या. बि.टी.* १.१०, यस्मिन् रूपे प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वव्यापारो विकल्पेनानुगम्यते तत् प्रत्यक्षम् । न च नीलस्य सतादिरूपत्वमनुगम्यते ।

६. धर्मकीर्ति - *प्रमा. वा.* २.४८५, स्मृतेरप्यात्मवित् सिद्धा ज्ञानस्याः अन्य वेदने । और एम्. हतोरी - *दिग्नाग ऑन परसेप्शन,*पृ. ३०.१ कारिका ११-१२.

७. कुमारिल भट्ट - *श्लोक वा.* (औत्पत्तिक सूत्रे शून्यवादः) - ६४ - नैतदस्ति, त्वयैकं हि ग्राह्यं ग्राहकमिष्यते । न चैकस्यैवामात्मत्वे दृष्टान्तः कश्चिदस्ति ते । ।

८. *वहीं*, ७३ - अभिन्नत्वं यदा चेष्टं ग्राह्यग्राहकवस्तुनोः । तदान्यतर संवित्तौ द्वयाकारं ग्रहणं भवेत्।।

९. शान्तिदेव - *बोधिचर्यावतार*, ९.१७ - २३.

१०. कुमारिल भट्ट, *श्लोक वा.* (औप्तत्तिक सूत्रे शून्यवादः) १८४ - व्यापृतं चार्थसंवित्तौ ज्ञानं नात्मानमृच्छति । तेन प्रकाशकत्वेऽपि बोधायान्यत् प्रतीक्ष्यते ।।

११. *वहीं* - २४ - ज्ञानस्योत्पद्यमानस्य प्रतिबन्धो न कश्चन । न चाप्रकाशरूपत्वं येनास्याग्रहणं भवेत्।।

१२. *वहीं* - १८३ - न चाऽपि प्रतिबन्धेन कवलेनाऽग्रहो भवेत् । विशिष्टकारणाऽभावेप्यर्थो नैवाऽनुभूयते।।

१३. पार्थसारथी मिश्र - *शास्त्रदीपिका*, पृ. १५७ -१६१.

१४. प्रज्ञाकर गुप्त - *प्रमाणवार्तिक भाष्य* - प्रत्य. परि. २ - तुरंगस्य न भेदेऽस्ति गवादेरूपभिन्नता।

सङ्गत्यभावान्न ज्ञानज्ञेययोरेव मिष्यते ।।

१५. *न्यायविन्दुप्रकरणम्* - सम्पा. स्वा. द्वारिका दास शास्त्री, बौद्ध भारती ग्रन्थमाला, पृ. ३७-३८ - बोधस्य तु बोध रूपतयोत्पत्तिरेव स्वप्रकाशकत्वम्

१६. शान्तरक्षित - *तत्वसं.* १९१९ - विज्ञानं जड़रूपेभ्यो व्यावृत्तमुपजायते । इयमेवात्मसंवित्तिरस्य याऽजड़रूपता ।।

१७. *वहीं* - २०१६ - ननु चार्थस्य संवित्तिर्ज्ञानमेवाभिधीयते। तस्यां तदात्मभूतायां को व्यापाराऽपरो भवेत् ।।

१८. *वहीं* - २०११ - स्वरूपवेदनायान्यद् वेदकं न व्यपेक्षते । न चाविदितमस्तीदमित्यर्थोऽयं स्वसंविदः ।।

१९. *वहीं* - २०१९ - न हि तत्र परस्यास्ति प्रत्यासत्तिर्निबन्धनम् । यथा साकारविज्ञानपक्षेऽर्थप्रतिबिम्बिकम् ।।

२०. शालिकनाथ - *प्रकरणपंचिका* - का. हि. वि. वि., पृ. १६८ - सर्वत्र प्रमातृ प्रमिति प्रमेयेषु त्रिषु संविदेकैव ।

२१. मतिलाल बी. के. - *परसेप्शन* - क्लारेण्डन प्रेस, ऑक्सफोर्ड, पृ. १५३.

२२. उदयन - *परिशुद्धि* - बिब्लिओथिका इण्डि. , पृ. १२१.

२३. शान्तरक्षित - *तत्त्वसंग्रह* - २०२० - प्रकृत्या जडरूपत्वान्नस्यात्मानुभवो यदि । ज्ञानसंवेदनाभावात् परार्थानुभवस्तदा ।।

२४. प्रज्ञाकर गुप्त - *प्रमाणवार्तिकभाष्य* - काशी प्र. जायसवाल, पटना, पृ. ३५३.

२५. सुरेश्वर; *वार्तिक* - अ. ३. ब्रा. ४ - स्वमहिमनैवचन्नस्यात् ग्राहकादिततोन्यतः। न स्यात् अतिशयाभावात् नैव स्यात् अविशेषतः ।।

२६. *न्यायभूषणम्* - (सं.) स्वा.योगीन्द्रानन्द. पृ. १३८.

२७. वात्स्यायन - *न्यायभाष्य* - २.१.२० - न चास्ति व्यवहारान्तरमनवस्थासाधनीयम्, येन प्रयुक्तोऽनवस्थामुपाददीतेति ।

२८. धर्मकीर्ति - *प्रमाणवार्तिक* - २.४८५ - दीर्घादिग्रहणं न स्याद् बहुमात्रानवस्थिते।।

२९. श्रीहर्ष - *खण्डनखण्डखाद्यम्* - हिन्दी व्याख्या - स्वा. श्रीहनुमान दास जी षट्शास्त्री, चौखम्भा प्रका. , पृ.४५

३०. *प्रश्नोपनिषद् शांकर भाष्य* ४.२ - अवश्यं च वैनाशिकानां ज्ञानं ज्ञेयम् । स्वात्मना चाविज्ञेयत्वेनानवस्थानिवार्या ।

३१. *ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य* , २.२.२८ - न चार्थ व्यतिरिक्तमपि विज्ञानं स्वयमेवानुभूयते स्वात्मनि क्रिया विरोधदेव ।

३२. *न्यायकणिका* - मेडिकल हॉल, काशी २६५.

३३. दिङ्नाग - *प्रमाण समु.* १.१० - स्वसंवित्तिः फलम् चास्य ताद्रूप्यात् अर्थनिश्चया । विषयाकार एवास्य प्रमाणम् तेन मीयते ॥

३४. धर्मकीर्ति - *प्रमा. वा.* २.४४४ - आत्मरूपं नो वेत्ति पररूपस्य वित् कथम्। सारूप्याद् वेदनाख्या च प्रागेव प्रतिवर्णिता॥

३५. धर्मोत्तर - *न्या.बि.टी.* १.१० - नास्ति च काचिद् चित्तावस्था यस्यात्मनः संवेदनं न प्रत्यक्षंस्यात्। येन ही रूपेणात्मा वेद्यते तद्रूपमात्म संवदेनं प्रत्यक्षम् ।

३६. *तत्त्वसंग्रह* , २०११.

३७. *चित्सुखी* - हिन्दी अनु., स्वा. योगीन्द्रानन्द , पृ. ५.

आत्मा के ज्ञातृत्व- निषेध का रामानुज द्वारा खण्डन

रामानुज के अनुसार आत्मा न केवल ज्ञान स्वरूप है, अपितु ज्ञाता भी है। उनका तर्क है कि - "मै जानता हूँ" इत्यादि अनुभवों में आत्मा का ज्ञातृत्व स्वयं सिद्ध है। शंकर इस प्रकार के अनुभवों को सीप में रजत की प्रतीति की भांति मिथ्या और भ्रान्ति परिकल्पित निरूपित करते हुए आत्मा को केवल ज्ञान स्वरूप मानते हैं। उनका तर्क है - "चूंकि अनुभूति रूप आत्मा अपना कर्ता स्वयं नहीं हो सकता अतएव "मै मनुष्य हूँ" इत्यादि प्रतीतियों में आत्मा से अत्यंत भिन्न मनुष्यत्वादि विशिष्ट शरीर में आत्माभिमान जिस तरह अध्यस्त ज्ञान है उसी तरह से आत्मा में ज्ञातृत्व भी अध्यस्त ही है।

चूंकि "मै जानता हूँ" इस अनुभव में ज्ञाता रूप से प्रतीत होने वाले अहमर्थ की अनुभूति सुषुप्ति एवं मुक्ति की अवस्थाओं में नहीं होती अतः ज्ञाता रूप से प्रतीत होने वाला अहमर्थ, आत्मा का वास्तविक धर्म नहीं है। इन अवस्थाओं में अहमर्थ की अनुभूति न रहने के कारण स्वभावतः ज्ञानमात्र रूप से आत्मा का अनुभव होता है। अतः आत्मा ज्ञान मात्र है ज्ञाता नहीं है।[१]

रामानुज शंकर की उक्त मान्यता का विरोध करते हुए कहते हैं कि ज्ञान मात्र अथवा विशुद्ध चैतन्य नाम की कोई वस्तु नहीं हो सकती। यदि विशुध्द चैतन्य अथवा संवित् की प्रतीति अथवा सिद्धि हो जाये तो उससे यह परिणाम निकलता है कि उसमें गुण हैं और यदि सिद्धि नहीं होती तो वह गगन कुसुमवत् असत् है।[२] अनुभूति, ज्ञान, अवगति, संवित् आदि सकर्मक हैं तथा आत्मा के धर्म विशेष हैं। " मैं घर को जानता हूँ " आदि अनुभूतियों में आत्मा के ज्ञातृत्व का स्पष्ट रूप से कथन किया जाता है। प्रत्येक अनुभूति में घटादि के रूप में हमें न केवल प्रमेय पदार्थ का ज्ञान होता है, अपितु उस अनुभूति के आश्रय के रूप में एक विचारशील ज्ञाता का भी अनुभव होता है। इस प्रकार आत्मा का ज्ञातृत्व स्वयं सिद्ध है, क्योंकि आश्रयविहीन एवं ज्ञान मात्र की उपलब्धि असम्भव है,[३] ठीक उसी तरह जिस तरह

छेद्य और छेदनकर्ता के बिना छेदन क्रिया की सिद्धि नहीं हो सकती, उसी प्रकार ज्ञान का अस्तित्व और उसका स्वतः प्रकाशित स्वरूप भी एक ज्ञाता अहमर्थ के ऊपर आश्रित है।[४] अतः आत्मा न केवल चित् स्वरूप है अपितु चैतन्य गुण युक्त भी है। चिद्रूपता ही उसकी स्वयं प्रकाशता है।[५] ऐसा हो नहीं सकता कि प्रभावान् द्रव्य न हो, किन्तु प्रभा पायी जाये।

रामानुज कहते है कि "अहम्जानामि" आदि अनुभवों में "मैं" शब्द से कहा जाने वाला अहमर्थ ही आत्मा है। ज्ञान तो केवल उसका धर्म है। यदि यह केवल ज्ञान मात्र होता है तो सबको " मैं ज्ञान हूँ " ऐसा ही अनुभव होना चाहिये था। किन्तु सभी"मैं ज्ञाता हूँ" ऐसा अनुभव करते हैं। अतः ज्ञाता रूप में अनुभूत होने वाला अहमर्थ ही आत्मा है।[६]

अद्वैती विद्वान् अजडत्व हेतु के द्वारा संवित् का आत्मत्व सिद्ध करते हुए कहते हैं कि संवित् ही आत्मा है, क्योंकि वह अजड है, जो अजड नहीं होता वह आत्मा भी नहीं होता, जैसे घट आदि। उक्त अनुमान में हेत्वाभास प्रदर्शित करते हुए रामानुज कहते हैं कि यदि अजडत्व का अर्थ अपनी सत्ता(विद्यमानता) के द्वारा प्रकाशित होते रहना है तो यहाँ पर पक्ष ,सपक्ष एवं विपक्ष में सत्ता रूप साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास होगा। क्योंकि अजडत्व आत्मभूत संवित् और अनात्मा दीपक आदि में भी पाया जाता है। चूंकि अद्वैत सिद्धान्त में संवित् से अतिरिक्त प्रकाश नामक धर्म नहीं स्वीकार किये जाने पर उक्त प्रकार के अजडत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रकाश नामक धर्म संवित् में स्वीकार किये जाने पर ही स्वसत्ता प्रयुक्त प्रकाशत्व रूप अजडत्व स्वीकार किया जा सकता है और यदि संवित् में उस प्रकाश को स्वीकार किया जाय तो अद्वैत सिद्धान्त की मान्यताओं से विरोध होगा।[७] यदि कहें कि विद्यमान अवस्था में प्रकाश का न होना ही संवित् का अजडत्व है तो अजडत्व का यह लक्षण भी सुख दुख आदि में अतिव्याप्त होगा क्योंकि ऐसा कभी नहीं होता कि सुख आदि रहें किन्तु उनकी प्रतीति न हो। इस पर यदि यह कहा जाय कि यद्यपि सुख आदि का प्रकाश विद्यमान अवस्था में होता है किन्तु दूसरे के लिए प्रकाशित होते रहने के कारण घट आदि के समान जड होने के कारण अनात्मा है, तो इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञान क्या स्वयं अपने लिये प्रकाशित होता है? "मैं सुखी हूँ" इस प्रतीति के समान ही "मैं जानता हूँ" इस प्रतीति में भी ज्ञान का आश्रय ज्ञाता अहमर्थ ही प्रतीत होता है अतः अपने लिये प्रकाशित होना रूप अजडत्व संवित् में सिद्ध नहीं हो सकता।[८]

रामानुज कहते हैं कि आत्मा का ज्ञातृत्व सीप में रजत की मिथ्या प्रतीति

की भांति आध्यारोपित नहीं है, क्योंकि जब सीप में रजत की भ्रान्ति होती है तब उनमें सामानाधिकरण्येन अभेद की प्रतीति होती है, दोनो में धर्म धर्मी भाव की प्रतीति नहीं होती। किन्तु "मैं अनुभव करता हूँ" इत्यादि अनुभूतियों में अनुभूति अहमर्थ से अलग विशेषण-विशेष्य रूप से प्रतीत होती है। अत: इस विशेषण - विशेष्य रूप अनुभूति को अध्यास कैसे माना जा सकता है?[९] साथ ही साथ में रजत की मिथ्या प्रतीति में हमारा मिथ्या ज्ञान ही बाधित होता है हमारा ज्ञातृत्व बाधित नहीं होता। अत: ज्ञातृत्व का बाध न होने के कारण ज्ञातृत्व भी मिथ्या नहीं है।[१०] ज्ञान के विषय और उनके सुख दुखात्मक रूप अनुभव आते और जाते हैं किन्तु ज्ञाता सदैव एक सा रहता है।

शंकर मतानुयायी कहते हैं कि चूंकि - "मैं जानता हूँ" इस अनुभव में ज्ञाता रूप से प्रतीत होने वाले अहमर्थ की अनुभूति सुषुप्ति एवं मुक्ति की अवस्था में नहीं होता अत: ज्ञाता रूप से प्रतीत होने वाला अहमर्थ ,आत्मा का वास्तविक धर्म नहीं है। इन अवस्थाओं में अहमर्थ की अनुभूति न रहने के कारण स्वभावत: ज्ञानमात्र रूप से आत्मा का अनुभव होता है। अत: आत्मा ज्ञान मात्र है, ज्ञाता नहीं।[११]

रामानुज अद्वैत वेदान्त की उक्त मान्यता का बंलपूर्वक खण्डन करते हुए प्रगाढ़ निद्रा एवं मोक्ष की अवस्था में भी ज्ञाता अहमर्थ के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि कोई भी मनुष्य सुप्तावस्था से जाग्रत् अवस्था में आने पर अपनी चेतना का इस प्रकार वर्णन नहीं करता कि "मैं अहम् भाव से रहित, ज्ञातृत्वज्ञेय आदि विषयों से रहित ज्ञान मात्र मैं अज्ञान का साक्षी हूँ।" सो कर उठने वाले का यही परामर्श होता है कि " मैं सुखपूर्वक सोया"। अर्थात् सुषुप्ति काल में भी सुख के अनुभवकर्ता एवं ज्ञाता के रूप में अहमर्थ की प्रतीति होती है। किन्तु उस अवस्था में प्रमेय पदार्थ की अनुपस्थिति के कारण उसका स्वरूप अभिव्यक्त नहीं रहता।[१२] यहाँ तक कि जब हम सुषुप्ति से जाग्रत् अवस्था में आते हैं और यह कहते हैं कि मैंने कुछ नहीं जाना तब भी ज्ञाता अहमर्थ के अनुवृत्ति के स्वरूप का निषेध नहीं होता। जागने पर जिसका निषेध किया जाता है वह ज्ञान के विषय (प्रमेय पदार्थ) हैं। यह अवश्य है कि प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था में अहमर्थ का प्रकट रूप से अनुभव नहीं होता किन्तु केवल इतने मात्र से वह अविद्यमान् नहीं माना जा सकता। "मैं" रूप में अहमर्थ की निरन्तरता इस तथ्य से अनुमित है कि प्रगाढ़ निद्रा के पहले और पश्चात् भी वह अनुभव होता है इसलिये वह निद्रा के समय में भी विद्यमान होगा, क्योंकि आत्म-चेतना स्वयं भूत और भविष्य को निरन्तरता के रूप में लक्ष्य करती है। अत: यदि अहं प्रत्यय अहमर्थ का निद्रा में अभाव माना जाय तो अनुभव की निरन्तरता समझाई नहीं जा

सकती ।[१३]

शंकर स्वयं स्वीकार करते हैं कि प्रगाढ़ निद्रा में आत्मा अज्ञान के साक्षी के रूप में विद्यमान रहता है। किन्तु साक्षी उसे ही कहा जाता है जो किसी वस्तु का साक्षात् द्रष्टा हो । जो ज्ञाता नहीं वह साक्षी नहीं हो सकता ।[१४] रामानुज अपने कथन की पुष्टि में प्रसिद्ध व्याकरणाचार्य पाणिनी को उद्धृत करते हैं जिनके अनुसार साक्षात् ज्ञाता के अर्थ में ही साक्षी शब्द का प्रयोग होता है ।[१५] अतः ज्ञाता रूप से सिद्ध होने वाला अहमर्थ ही प्रत्यगात्मा है, ज्ञान मात्र नहीं । क्योंकि यह तथ्य सिद्ध है कि ज्ञाता के अभाव में ज्ञान और अज्ञान दोनों नहीं रह सकते । क्योंकि अज्ञान का आश्रय और विषय भी वही हो सकता है जो ज्ञान का भी आश्रय और विषय हो।[१६]

रामानुज मानते हैं कि मोक्ष के पश्चात् भी अहमर्थ तत्त्व विद्यमान् रहता है क्योंकि वह आत्मा का निर्देश करता है । यदि मोक्ष में मोक्ष को जानने वाला ही कोई नहीं तो वह कौन है जो मुक्त हुआ ? रामानुज कहते हैं कि ऐसी मुक्ति पुरुषार्थ स्वरूप न हो कर विनाश स्वरूप होगी और वह मोक्ष सम्बन्धी चर्चा से भी दूर भागेगा।[१७] मोक्ष में अहमर्थ का नाश नहीं होता अपितु भेद दृष्टि का ही नाश होता है । नानात्व और भेद अज्ञान जन्य नहीं अपितु अपने को ब्रह्म से स्वतंत्र और भिन्न समझना ही अज्ञान कृत है ।[१८] और मोक्ष में हमारा यही अज्ञान नष्ट होता है, ज्ञाता अहमर्थ का नहीं ।

यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि रामानुज जब ज्ञाता अहमर्थ को आत्मा कहते हैं तो उसे स्पष्टतः बड़ी सावधानी पूर्वक जड़ चित् तत्त्व अहंकार से पृथक् करते हैं जो प्रकृति का विकार है, जो अभिमान की मिथ्या भावना है । इसका दूसरा नाम गर्व है तथा यह बड़ों के प्रति अपमान का कारण बनता है । यह अविद्या-गत है तथा इसे शास्त्रों में अनेक रूप से हेय बतलाया गया है ।[१९] रामानुज कहते हैं कि यद्यपि "अहम् " शब्द के द्वारा अहंकार और आत्मा दोनों का अभिधान होता है, तथापि दोनों अर्थों के वाचक अहम् शब्द के स्वरूप और व्युत्पत्ति में अंतर है । "अहं शुभमोर्युस्" इस पाणिनीय सूत्र की व्याख्या में काशिकाकार एवं पदमज्जरीकार ने लिखा है - " अहम् शब्द दो तरह से बनता है । एक अहम् शब्द अस्मद् शब्द से अह् आदेश होकर बनता है । यह दान्त अहम् शब्द आत्मा का वाचक होता है । दूसरा अहम् शब्द मकारान्त अव्यय विभक्ति प्रतिरूपक है । यह मान्त अहम् शब्द अहंकार का वाचक है । ये दोनों एक से सुनाई पड़ते हैं फिर भी स्वरूपतः भिन्न हैं। दोनों को एक ही अर्थ का वाचक मानना व्याकरण शास्त्र के विरुद्ध है । [२०]

पुन: अद्वैत वेदान्तियों के द्वारा ऐसा तर्क किया जाता है कि आत्मा अपरिणामी होने के कारण ज्ञान व्यापार का कारक और ज्ञाता नहीं हो सकता। अत: ज्ञातृत्व केवल अहंकार का ही धर्म है, जो परिणाामी प्रकृति का विकार है। अहंकार ही आत्मा को अपने आश्रय के रूप में प्रकाशित करता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार दर्पण मुख को अथवा जल, चन्द्र बिन्दु को अपने भीतर प्रकाशित करता है। किन्तु जिस तरह हम दर्पण को मुख नहीं कह सकते, जल को चन्द्रबिन्दु नहीं कह सकते, उसी प्रकार अहंकार को आत्मा नहीं कह सकते। अद्वैती विद्वान् आगे कहते हैं कि यहाँ पर यह शंका अनुपयुक्त है कि स्वयं प्रकाश अनुभूति का अभिव्यंजक जड़ स्वरूप अहंकार कैसे हो सकता है, क्योंकि देखा जाता है कि जलकराध्र से किसी कक्ष में प्रवेश करने वाली स्वयं प्रकाश सूर्य की किरणों का करतल के द्वारा अभिव्यंजन होता है।[२१]

रामानुज उक्त मान्यता का खण्डन करते हुए कहते हैं कि ज्ञातृत्व तो चेतना का धर्म है जबकि अहंकार जड, अचेतन, एवं विकारी है। अत: स्वभाव विरोध के कारण ज्ञातृत्व अहंकार का धर्म नहीं हो सकता।[२२] इस पर यदि कहा जाय कि जिस प्रकार गवाक्ष से किसी कमरे में प्रवेश होने वाली स्वयं प्रकाश सूर्य की किरणों करतल के माध्यम से प्रकाशित होती हैं, उसी प्रकार जड़ अहंकार भी संवित् अथवा ज्ञान का प्रकाशक होता है तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि सूर्य की किरणों का प्रकाशक हथेली नहीं है। वस्तुत: करतल के द्वारा सूर्य की किरणों की गति रुक जाती है और वे किरणें अधिक मात्रा में वहीं पर एकत्रित हो जाती है, जिससे वे स्वयं वहीं पर अधिक स्पष्ट रूप में प्रतीत होने लगती है।[२३]

उसी प्रकार अद्वैत वेदान्तियों द्वारा जो दर्पण और मुख का उदाहरण दिया जाता है वह भी उचित नहीं, क्योंकि दर्पण में मुखड़े का अभिव्यंजक तो प्रकाशादि ही है, दर्पण नहीं।[२४] अत: स्पष्ट है कि ज्ञातृत्व अहंकार का धर्म नहीं हो सकता।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मा एक ज्ञाता है, केवल प्रकाश मात्र नहीं। ज्ञातृत्व परिणामी गुण नहीं है। आत्मा को ज्ञाता कहने का अभिप्राय यह है कि वह सज्ञान गुणाश्रय है। ज्ञान चूँकि नित्य आत्मा का नैसर्गिक गुण है अत: वह भी नित्य है। ज्ञान न केवल आत्मा का स्वरूप है, अपितु उसका गुण भी है। जिस प्रकार एक तेजोद्रव्य दीपक, प्रभा और प्रभावान् दोनों रूपों में पाया जाता है उसी प्रकार आत्मा भी न केवल ज्ञान स्वरूप है, अपितु ज्ञाता भी है।[२५] इसे ही रामानुज वेदान्त में "धर्म - भूत ज्ञान" कहा गया है। धर्मभूत ज्ञान विषय और विषयी, पदार्थ

और ज्ञाता के बीच सम्बध स्थापित करने वाली एक कड़ी के रूप में स्वीकार किया गया है । जीव की समस्त प्रतीतियों का आधार उसका धर्मभूत ज्ञान ही है ।

चूंकि ज्ञाता रूप से आत्मा की नित्यता स्वयं सिद्ध है अतः उसके गुण के रूप में धर्मभूत ज्ञान भी स्वयं सिद्ध है, क्योंकि गुण और गुणी में अपृथक्-सिद्ध सम्बंध है । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यह सभी अवस्थाओं में एक ही समान प्रकाशित होते रहता है । कर्मों के कारण यह संकोच और विकास को प्रात होते रहता है । संकोच और विकास उसकी विक्रियात्मकता नहीं है क्योंकि आत्मा का ज्ञानक्रियाकर्तृत्वरूप विकास उसका स्वाभाविक धर्म नहीं हैं अपितु कर्म-जन्य है ।[२६] अतः आत्मा वस्तुतः अपरिवर्तनशील है ।

दर्शन विभाग पृथ्वीबल्लभ चंद्राकर
दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर - ४९२ ०१०
म.प्र.

टिप्पणियाँ

१. *श्री भाष्य* - १ - १ - १ (महापूर्व पक्ष)

२. अपि च संवित् सिद्धयति वा न वा सिद्धयति चेत् सधर्मतस्यतः । न चेत् तुच्छतां गगनकुसुमादिवत् -*श्रीभाष्य* भाग - ३ पृष्ठ - ४१ (शाम सदन कटरा, अयोध्या से १५ खंडो में प्रकाशित)

३. संविन्नाम काचिन्निराश्रया निर्विषया वा अत्यंतानुपलब्धेर्नसम्भवतीत्युक्तम् -*श्रीभाष्य* भाग ३ - पृष्ठ - ४७.

४. छेत्तुश्छेद्यस्य चाभावे छेदनादेरसिद्धिवत् - *वहीं* पृष्ठ - ४९.

५. एवमात्मा चिद्रूप एव चैतन्य गुणा इति । चिद्रूपता ही स्वयं प्रकाशता। *वहीं*, पृ. ५७.

६. *श्रीभाष्य* - १ - १ - १.

७. *श्रीभाष्य* भाग ३ पृष्ठ - ६२.

८. अतः स्वस्यै प्रकाशमानत्वरूप जडत्वं संविद्यसिद्धम्, तस्मात् स्वात्मानं प्रति स्वसत्तयैव सिध्यन्नजडोऽहमर्थ एवात्मा । *श्रीभाष्य* - भाग ३ पृ. ६२.

९. इति प्रत्ययवद् विशेषणाभूतानुभूतिमात्रावलम्बनः कथमिव प्रतिज्ञायते ?*श्रीभाष्य* - भाग ३ - पृ.

- ६५.

१०. हन्तैवं सति तदबाधादेव ज्ञातृत्वमपि न मिथ्या । *वहीं*, - पृ. - ६७.

११. *श्रीभाष्य* १ - १ - १ महापूर्व पक्ष

१२. *श्रीभाष्य* , भाग - ३ - पृ ९१-९२

१३. मध्ये चाहमर्थाभावे संस्कारधारा भावात् प्रतिसंधानाभाव प्रसंगाच्च *शतदूषणी* - वेदान्त देशिक - वाद - २६.

१४. ज्ञातेव लोकवेदयोः साक्षीतीति व्यपदियश्ते न ज्ञान मात्रम् - *वहीं*, पृ. ११.

१५. साक्षाद्द्रष्टारि संज्ञायाम् (पा. ५.२.९१) *श्रीभाष्य* , १-१-१ पर उद्धृत.

१६. संविदाश्रयत्वमज्ञानस्य संभवति, ज्ञान समानाश्रयत्वात् तत् । *वहीं*, पृ. ८५.

१७. *श्रीभाष्य* , १-४-२१

१८. *श्रीभाष्य*, १-४-२९

१९. अयमेव त्वहंकार उत्कृष्टनजावमानहेतुर्गर्वापरनाम, *श्रीभाष्य* भाग -३ पृ.१०८.

२०. *वहीं* , पृष्ठ - ११३

२१. *श्रीभाष्य* , १-१-१ महापूर्व पक्ष

२२. *श्रीभाष्य* , भाग ३ पृ. - ६८.

२३. *श्रीभाष्य* , भाग ३ पृ. - ६९

२४. *श्रीभाष्य* , भाग ३ पृ. - ८९.

२५. यथैकमेव तेजोद्रव्यं प्रभाप्रभावद्रूपेणावतिष्ठते ।*श्रीभाष्य* , भाग ३ पृ. ५५.

२६. स्वयम् परिच्छिन्नमेव ज्ञानं संकोचविकासार्हमित्युपपादयिष्यामः *श्रीभाष्य* भाग - ३ पृ. ७२.

अरस्तू की सामान्य की अवधारणा : एक विवेचन

यूनानी विचारक प्लेटो के द्वारा विचार की एक समस्या की प्रस्तुति हुई। इस समस्या का सम्बन्ध अनुभूति, विचार एवं भाषा की सार्विकता (जेनरालिटी) के आधार की खोज से था। प्लेटो ने पाया कि सभी अस्तित्ववान् पदार्थ विशेष हैं। प्रत्यक्ष के अन्तर्गत हमारा संपर्क भी इन्हीं विशिष्ट वस्तुओं से होता है, लेकिन यह भी सत्य है कि जबतक इन वस्तुओं को एक बृहत्तर संकल्पना के अन्तर्गत संगठित नहीं कर लिया जाता तबतक इनका पूर्ण ज्ञान संभव नहीं होता। प्रश्न उठता है कि इस बृहत्तर संकल्पना का स्वरूप क्या है? प्लेटो ने इस संदर्भ में सामान्य की अवधारणा को प्रस्तुत किया। यही सामान्य कालान्तर में दार्शनिक विंचार- मंच पर एक उलझा हुआ प्रश्न बन कर उपस्थित हुआ। अरस्तू के सामान्य की अवधारणा प्लेटो की अवधारणा से सहमति की नींव पर अवस्थित विरोध की अवधारणा है। प्लेटो ने सामान्य के अस्तित्व को स्वीकृति प्रदान करने के क्रम में इन्हें स्व-पर्याप्त एवं आत्म-निर्भर मान कर विशेषों से इनकी पृथक्ता स्थापित करते हुए इनके लिए एक अलग दुनियां ही बसा ड़ाली। सामान्यों के अस्तित्व से अरस्तू को भी इन्कार नहीं है। इन्हों ने भी माना कि कोई सत्त्व है जिसके कारण सभी मनुष्य मनुष्य हैं तथा सभी गायें गायें हैं। इन्होंने यह भी स्वीकार किया की यह सत्त्व मनस्-सापेक्ष नहीं वरन् उतना ही वस्तुनिष्ठ और वास्तविक है जितना कि विशिष्ट वस्तु। इनकी समस्या मूलतः इस सत्त्व के स्वरूप, स्थिति तथा विशेष के साथ इसके सम्बन्ध की व्याख्या में निहित है। प्लेटो ने इस संदर्भ में उन्हें एक दिशा दिखलाई, लेकिन साथ ही यह भी सत्य है कि इस दिशा के अनुगमन में अरस्तू ने पाया कि प्लेटो के द्वारा सामान्य और विशेष की इस पृथक्ता ने 'सामान्य' के विचार को उलझनपूर्ण बना दिया। अरस्तू की दृष्टि में 'सामान्यों का लोक' प्लेटो की अपनी तत्त्वमीमांसीय कल्पना थी क्योंकि दो वस्तुओं के विचारक के मूल प्रतिपादक सुकरात ने भी कहीं इस पृथक्ता को स्वीकार नहीं किया है।[१] वस्तुतः सामान्य के स्वरूप और स्थिति के सम्बन्ध में अरस्तू का मतभेद था, और इसी मतभेद के प्रदर्शन में इन्होंने प्लेटो के सामान्य का खंडन कर इसकी नींव पर अपनी सामान्य की अवधारणा को प्रस्तुत किया।

अरस्तू के दर्शन में सामान्य की अवधारणा को तीन दृष्टिकोणों से स्पष्ट

किया जा सकता है :

स्वरूप के दृष्टिकोण से

प्लेटो ने सामान्य को द्रव्यकल्प स्वीकार किया था । अरस्तू की समस्या थी कि क्या सामान्य को इस रूप में स्वीकार किया जा सकता है ? द्रव्य का संप्रत्यय दर्शन में 'सत्' के साथ जुड़ा हुआ है । प्लेटो को भी यह मान्य था तथा अरस्तू ने भी इसे स्वीकार किया है । परन्तु ध्यातव्य है कि सत्ता की भी विभिन्न कोटियां हैं और निश्चयतः सभी कोटियों में अस्तित्ववान् वस्तुओं को द्रव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती । तब फिर किसे 'द्रव्य' कहेंगे ? इसके लिए हमें सत्ता की विभिन्न कोटियों को स्पष्ट करना होगा । अरस्तू ने 'केटेगरीज' में सत्ता की निम्न कोटियों को प्रकाश में लाया है :

एक कोटि की वस्तुएँ वे हैं जो दूसरों पर आश्रित होती हैं , अर्थात् इनका अस्तित्व किसी दूसरी वस्तु में होता है । इस कोटि की वस्तु वस्तुतः 'में होना' (बीइंग इन) के सम्बन्ध से दूसरी वस्तु के साथ सम्बन्धित होती है जो कि 'एक तरफ निर्भरता के एक निश्चित सम्बन्ध' का संकेत करता है ।

इनसे भिन्न दूसरी कोटि की वस्तुएँ वे हैं जो विशेषण-रूप में अन्य वस्तुओं के साथ जुड़ी होती हैं । यहां वस्तु अन्य वस्तुओं के साथ ' के विषय में कहे जाने '(बीइंग सेड आफ) के सम्बन्ध से सम्बन्धित होती है। जैसे सुकरात का मनुष्य होने के विषय में कहा जाना अथवा प्लेटो का 'बुद्धिमान्' होने के विषय में कहा जाना । यहां 'मनुष्य' तथा 'बुद्धिमान्' दोनों ही सामान्य हैं, जिनके होने के विषय में किसी व्यक्ति के संदर्भ में कहा जाता है।

यहां वस्तुओं के दो प्रकार सामने आते हैं :

(क) एक तो वह जो किसी 'में' हैं, लेकिन 'किसी के विषय में' कहे नहीं जाते, जैसे मुस्कान ।

(ख) दूसरे वह, ' जो किसी के विषय में कहे जाते ' हैं, लेकिन किसी ' में ' होते नहीं , जैसे सामान्य मनुष्य ।

क्या द्रव्य का अन्तर्भाव इनमें से किसी में संभव है ? हमें ध्यान रखना होगा कि अरस्तू के द्वारा 'द्रव्य' का प्रयोग दो अर्थों -- मूल एवं गौण अर्थों - में हुआ है। मूल (अर्थ में) द्रव्य वे हैं जो अभिधान में केवल कर्तृपद या उद्देश्य ही हो सकते हैं, वे न तो किसी उद्देश्य के विधेय हो सकते हैं और न किसी उद्देश्य पर आश्रित ही हो सकते हैं।[२] निश्चयत: द्रव्य का अन्तर्भाव इनमें से किसी भी कोटि में संभव नहीं है। इसकी सत्ता न किसी अन्य 'में' है, और न ही इसकी सत्ता किसी 'अन्य के विषय में कह जाने' में ही निहित है। इस रूप में द्रव्य न तो बाह्य शुद्ध प्रत्यय सिद्ध होता है, और न ही भौतिक द्रव्य। प्रत्यय निज रूप में स्थिर, स्थायी एवं अपरिवर्त्य है किन्तु वह सदा वस्तु में अन्तर्भाव्य है। इस प्रकार भौतिक द्रव्य आधार-मूल है, लेकिन, अरस्तू के विचार में,वह वस्तु में परस्परवैपरीत्य-लक्षणों वाले परिवर्तन की संभाव्यता के संदर्भ में ही एक निश्चित एवं विशिष्ट प्रकारता वाला तत्त्व बन कर प्रकट हो पाता है। प्रत्यय तथा भौतिक द्रव्य दोनों भावरूप हैं और इस तरह तात्त्विक हैं किन्तु सत् रूप में दोनों एक ही भाववत्ता को प्रकाशित करते हैं। यह भाववत्ता है -- एकांतत: विश्लेष्य 'ठोस व्यक्ति' का संश्लेष। यही प्राथमिक अथवा मूलद्रव्य है, जैसे 'यह मनुष्य', 'यह घोडा' इत्यादि। अत: अरस्तू के अनुसार द्रव्य तीसरी कोटि का तत्त्व है। यही मूल सत् है क्योंकि अन्य सत्ताएँ या तो किसी 'में' हैं, अथवा 'इसी के विषय में कहे जाते' हैं। अरस्तू की दृष्टि में प्लेटो की गलती यह थी कि द्रव्य की व्याख्या में इन्होंने यहां तक तो सही माना कि यह किसी 'अन्य' में नहीं है, लेकिन इसी सीध में इन्हें यह भी स्वीकार करना चाहिए था कि द्रव्य किसी दूसरे के विषय में कहे नहीं जाते। प्लेटो ने ऐसा नहीं किया तथा सामान्य, जो 'दूसरों के विषय में कहे जाते हैं, को गलत ढंग से द्रव्य मानने की गलती कर बैठे।

अत: अरस्तू के अनुसार सामान्य द्रव्य नहीं है, लेकिन घ्यातव्य है कि अरस्तू जब इस प्रकार बात करते हैं तो उनके मस्तिष्क में मूल द्रव्य की धारणा विद्यमान है, जब कि इनके द्वारा 'द्रव्य' का प्रयोग गौण अर्थ में भी है जिसके अन्तर्गत इसका प्रयोग 'कोटि' अथवा कैटेगरी के अर्थ में हुआ है। 'कैटेगरी' का अर्थ है -- कथन में उद्देश्य के प्रति विधेय का विधान। विचार के अन्तर्गत उद्देश्य व्यक्ति-द्रव्य के साथ विधेय का विधान संप्रत्ययमूलक सामान्य पदों के द्वारा होता है। द्रव्य के इस अर्थ में कैटेगरी के रूप में जाति एवं उपजाति के संप्रत्ययात्मक सामान्य विधेय के एक प्रकार सिद्ध होते हैं। विधेय तत्त्वमूलक नहीं, वरन् गुणधर्ममूलक होते हैं, अत: अरस्तू के दर्शन में सामान्य गुणधर्म के रूप में स्पष्ट होते हैं। अरस्तू ने माना है कि सामान्य केवल एक गुणधर्म, सरल या जटिल, सहज या सम्बन्धज है, जो अपने उदाहरण - विशेषों में समान होता है। इसी गुणधर्म के कारण एक वस्तु वही वस्तु होती है, कुछ

अन्य नहीं । यहाँ कुछ बातें विशेष महत्त्व की हैं । सर्वप्रथम तो यह कि गुणधर्म होने के कारण सामान्यों को मानसिक संप्रत्यय मानने की गलती नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि यथार्थ में ये उतने ही वास्तविक एवं वस्तुगत हैं जितना कि विशेष। नीलत्व का गुणधर्म नीली वस्तुओं में वास्तविक रूप में विद्यमान है तथा कोई इसके सम्बन्ध में विचार करे अथवा न करे, यह नीली वस्तुओं में हर स्थिति में विद्यमान रहता है । यहां एक बात स्पष्ट होती है कि सामान्य वस्तुस्थित है - न कि वस्तु से पृथक् अथवा स्वतंत्र (जैसा कि प्लेटो ने मान रखा है) ।

यह स्पष्ट है कि अरस्तू के सामान्य-दर्शन की स्थापना प्लेटो की आलोचना की नींव पर हुई है । प्लेटो की आलोचना में अरस्तू ने माना कि प्लेटो की गलती यह थी कि इन्होंने द्रव्य तथा गुणधर्म के भेद को ध्यान में नहीं रखा, और इसी कारण ये दोनों को एक ही साथ द्रव्य तथा गुणधर्म एवं वस्तुओं के सादृश्य गुणों के पूर्ण आदर्श तथा सदृश गुण दोनों के रूप में विचार कर लेने की गलती कर कर बैठे । प्लेटो के दर्शन में चूंकि आकार पृथक् वस्तु है, इसलिए इसे 'व्यष्टि द्रव्य' स्वीकार करना होगा । पुन: चूंकि यह सामान्य भी है, तो इसे गुणधर्म के रूप में भी स्वीकार करना होगा । लेकिन तब एक ओर वही वस्तु द्रव्य तथा गुणधर्म साथ-साथ कैसे हो सकती है ? तर्कशास्त्र में भी हम पाते हैं कि उद्देश्य के साथ गुणरूप विधेय का विधान होता है, अत: यदि फॉर्म व्यष्टि-द्रव्य है तो यह सामान्य नहीं हो सकता क्योंकि द्रव्य के गुणधर्म होते हैं ; न कि वह स्वयं गुणधर्म होता है और यदि वह सामान्य है तो वह द्रव्य नहीं हो सकता, क्योंकि सामान्य के द्वारा 'यह है' (दिस समथिंग) का संकेत नहीं होता, बल्कि इसके द्वारा 'यह इस प्रकार का है' (दिस सच) का निर्देश होता है । दोनों को घपला कर यहां प्लेटो ने एक तार्किक असंगति उत्पन्न कर दी है ।

लेकिन क्या इसी प्रकार की आपत्ति अरस्तू के ऊपर नहीं उठायी जा सकती कि इन्होंने भाषायी घपला कर मूल तथा गौण द्रव्य के बीच कोई वास्तविक भेद प्रस्तुत नहीं कर केवल वैयाकरणिक विभेद को प्रस्तुत किया है ? मूल द्रव्य संज्ञा शब्द है, जब कि यहाँ गौण द्रव्य (सामान्य) को विशेषण शब्द माना गया है, यद्यपि कि गौणद्रव्यों की तरह के शब्द 'जातिवाचक संज्ञा' के द्वारा निर्दिष्ट होते है ! क्या यहां भाषायी घपला नहीं है ? निश्चयत: नहीं, क्योंकि जब हम मूल द्रव्य की बात करते हैं, तो वहां प्रश्न उठता है 'यह क्या है' ? जब कि गौण द्रव्यों के संदर्भ में हमारा प्रश्न रहता है 'यह है किस प्रकार का' ? जब हम कहते हैं कि 'यह एक मनुष्य है' तो यह उत्तर प्रथम प्रश्न का उत्तर माना जाएगा , जब कि 'यह सफेद है 'को नहीं। 'मनुष्य' हिन्दी व्याकरण में संज्ञा शब्द है, जब कि सफेद विशेषण । लेकिन ठीक

इसी प्रकार 'यह मानव है' को उत्तर रूप में गिना जाएगा , जब कि 'यह एक सफेद वस्तु है' को नहीं, यद्यपि कि यहां वैयाकरणिक स्थिति बिल्कुल उलटी है । अत: अरस्तू के प्राथमिक तथा गौण द्रव्यों के भेद को व्याकरण के जातिवाचक संज्ञा और विशेषण के भेद के साथ घपलाया नहीं जा सकता [३] । पुनः यहां यह भी उल्लेखनीय है कि प्लेटो के साथ सहमति रखते हुए अरस्तू ने भी माना कि सार्विक (जेनरल) शब्द, जिसके द्वारा सामान्य की अभिव्यक्ति होती है, वास्तव में एक व्यक्तिवाचक नाम होता है । वह एक और केवल एक ही वस्तु का नाम होता है, तथा उस वस्तु के साथ उसका वही सम्बन्ध होता है जो किसी व्यक्ति के स्वकीय नाम के साथ होता है। प्लेटो से अरस्तू की यहाँ भिन्नता इस कारण है कि प्लेटो के सिद्धान्त के अनुसार 'मेज' शब्द किसी विशेष देश और काल में स्थित वस्तु का नाम न होकर भी उस अदेशिक और अकालिक वस्तु का नाम है जिनसे सम्बन्ध होने के कारण ही सब मेज हैं, जबकि अरस्तू के सिद्धान्त के अनुसार 'मेज' न किसी दिक्कालिक वस्तु का और न किसी प्लेटोनी वस्तु का नाम होता, बल्कि सभी मेजों में समान एक अकेली विशेषता का नाम होगा। अत: अरस्तू के सामान्य विचार में कोई भाषायी घपला नहीं है, क्योंकि इनकी दृष्टि में 'मेज' भी एक व्यक्तिवाचक नाम है, हालाँकि यह नाम है गुणधर्म का । [४]

लेकिन तब भी एक प्रश्न उपस्थित होता है। अरस्तू ने सामान्यों को दूसरी कोटि की वस्तु मानते हुए माना है कि इनका अस्तित्व किसी (द्रव्य) 'के विषय में कहे जाने' में होता है । क्या यहाँ ऐसा प्रतीत नहीं होता कि अपने इस सिद्धान्त में अरस्तू ने प्लेटो के 'आत्म स्थित सामान्य तथा परतंत्र विशेष' के बदले 'आत्म निर्भर विशेष तथा परनिर्भर सामान्य' का विचार प्रस्तुत कर प्लेटो का केवल विरोध भर कर दिया है ? इसके उत्तर में अरस्तू के सामान्य एवं विशेष की परस्पर स्थिति को प्रकाश में लाना होगा ।

स्थिति के दृष्टिकोण से

यह ठीक है कि अरस्तू ने माना है कि सामान्यों की स्थिति विशेषों में होती है , तथा विशेषों से अमूर्तीकरण की प्रक्रिया द्वारा इनका संप्रत्यय हमें प्राप्त होता है। अब जबकि सामान्यों की स्थिति विशेषों में होती है, अत: बिना विशेष के सामान्य नहीं हो सकते, वहीं साथ ही यह भी सत्य है कि सामान्यों के बिना विशेष भी नहीं हो सकते । दोनों ही अस्तित्व के लिए एक दूसरे पर निर्भर हैं । अत: यह नहीं कहा जा सकता कि अरस्तू ने अपने सिद्धान्त में विशेष स्थिति-निरूपण के बजाए प्लेटो का केवल सीधा विरोध भर कर दिया है । सत्य यह है कि इस सिद्धान्त ने वस्तुवाद

को एक नयी दिशा प्रदान की है। वस्तुत: जिस भाव में प्लेटो ने प्रत्यय-रूप सामान्यों की स्वपर्याप्तता एवं आत्मनिर्भरता की बात की थी, अरस्तू ने कहीं भी व्यष्टि द्रव्य को उस भाव में अस्तित्व के लिए स्वपर्याप्त एवं आत्म-निर्भर नहीं माना है। प्लेटो ने मान लिया था कि विशेष सामान्य पर आश्रित है, लेकिन सामान्य सभी विशेषों से स्वतंत्र होकर तटस्थ भाव से अस्तित्व रखते हैं। अत: सामान्यों की सत्ता तब भी बनी रहेगी, जब उदाहण रूप में एक भी विशेष नहीं रहेंगे। अरस्तू ने कहीं भी इस प्रकार का भाव प्रस्तुत नहीं किया है। इन्होंने कभी भी यह नहीं माना है कि जब एक भी सामान्य नहीं होंगे तब भी विशेषों की सत्ता बनी रहेगी। इनकी तो यह मान्यता है कि इस प्रकार की स्थिति में विशेषों की सत्ता तो दूर, इनका विचार तक संभव नहीं होगा। अब जब कि अपने अस्तित्व के लिए सामान्यों को विशेषों की उतनी ही जरूरत है, जितनी कि विशेषों को सामान्यों की, अत: अरस्तू के विचार में सामान्य तथा विशेषों में अपृथक्ता पायी जाती है। वस्तुत: सामान्य और विशेष परस्पर अभिन्न रूप में एक दूसरे से अन्योन्याश्रय सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं। अरस्तू के इस विचार की महत्त्वपूर्ण परिणति इस तथ्य में होती है कि उदाहरणों (विशेषों) के बिना सामान्य नहीं होते।

सामान्य का ज्ञान

ज्ञान की दृष्टि से सामान्य शुद्ध ज्ञान का विषय है। ज्ञान की अभिव्यक्ति सामान्य में होती है। लेकिन इसका बोध किस प्रकार संभव है ? प्लेटो की भाँति अरस्तू को भी सामान्य के ज्ञान में बुद्धि का मूल योगदान स्वीकार्य है। लेकिन प्लेटो ने जिस पूर्व अस्तित्व कीं अवधारणा के आधार पर सामान्य के ज्ञान में 'संस्मरण का सिद्धान्त' प्रस्तुत किया है, उससे अरस्तू की असहमति है। अरस्तू के विचार में सामान्यों का ज्ञान बौद्धिक अन्त:प्रज्ञा की देन है। इस अन्त:प्रज्ञा का तात्पर्य विशेषों में सामान्य के साक्षात्कार से है, लेकिन इस साक्षात्कार का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि सामान्य का ज्ञान अपाकर्षित ज्ञान है। यह ठीक है कि अरस्तू के अनुसार सामान्य का संप्रत्यय विशेषों से अपाकर्षण की प्रक्रिया से प्राप्त होता है। लेकिन इससे इसके ज्ञान-प्राप्ति की बात नहीं की जा सकती। अपाकर्षित ज्ञान कभी भी निश्चित नहीं हो सकता। सामान्य का ज्ञान तो आगमन की देन है [५]। लेकिन यहां ध्यातव्य है कि अरस्तू के अनुसार आगमन केवल अनुसंधान विधि है, जिसके द्वारा किसी सामान्य पर हमारा ध्यान संकेन्द्रित भर होता है। उसके द्वारा उसकी सिद्धि नहीं होती। इसे सिद्ध करने की आवश्यकता भी नहीं है, यह तो मानव के बौद्धिक अंत:प्रज्ञा की देन है।

किन्तु यहां उल्लेखनीय है कि सामान्यों के ज्ञान में इन्द्रियानुभव की भूमिका को भी अरस्तू ने माना है। सामान्य पद जातिबोधक हैं, तथा जाति का सम्बन्ध ऐसी वस्तुओं के सतत अनुभव से है जो एक उपजाति के हों।[६] इस तरह की वस्तुओं का अधिग्रहण अरस्तू के अनुसार अनुभव के आधार पर ही संभव है। आनुभविक अधिग्रहण की विविध क्रमिक हैं : इन्द्रियमूल संवेद, जिनका कारण बाह्य उद्दीपन हैं, इन संवेद्यों पर सतत पुनरावर्तनशील स्मृतियों से बने विशिष्ट इन्द्रियानुभव, इन इन्द्रियानुभवों पर बौद्धिक अपाकर्षणकी प्रक्रिया से उद्भूत स्थिरता का प्रत्यय, जो विषय-वस्तु की घटनात्मकता अथवा आकस्मिकता से लक्षणों में बिल्कुल विपरीत है। यह प्रत्यय ही अपने स्थिर वस्तुनिष्ठ रूप में 'परिभाषा' है, जिसकी संरचना में पारिभाषित की जाति को उसकी उपजातिगत विशिष्टता से निर्धारित करने का स्पष्टीकरण होता है। अत: अनुभव की महत्ता अरस्तू को भी मान्य है, लेकिन साथ ही वे यह भी मानते हैं कि अनुभव ज्ञान उत्पन्न नहीं करता, यह ज्ञान को केवल निर्देश अथवा संकेत करता है। ज्ञान तो, अरस्तू के अनुसार हमारी आत्मा का स्वभाव है, वह कहीं बाहर से नहीं आता है, इसे विकसित करने के लिए इन्द्रियानुभव की आवश्यकता पड़ती है, इन्द्रियानुभव के बाद हमारी बुद्धि उसमें सामान्य और सार्वभौमिक सिद्धान्त का आगमन द्वारा अनुसंधान कर लेती है।

अरस्तू की कठिनाईयाँ

लेकिन क्या यह आवधारणा कठिनाईयों से मुक्त है ? सामान्य के ज्ञान की व्याख्या में आगमन जैसी नयी विधि की स्थापना के बावजूद वास्तव में अरस्तू की मीमांसा को प्लेटो की मीमांसा से न्यूनाधिक ही भिन्न माना जाएगा। अन्त:प्रज्ञा को यहां भी मूल में रखा गया है। प्लेटो की तुलना में निश्चयात्मकता लाने के उद्देश्य से अरस्तू की मीमांसा में इन्द्रियानुभव पर विशेष बल दिया गया है, लेकिन प्रज्ञा की तुलना में उसका स्थान द्वैतिक, सेकेण्डरी है। प्रश्न उठता है कि क्या प्रज्ञा के आधार पर कोई तथ्यात्मक ज्ञान संभव है ? तथ्यात्मक ज्ञान से तात्पर्य आवृत्तीय, सार्वजनिक तथा संज्ञापनीय अनुभव से लगाया जाता है। क्या अन्त:प्रज्ञा इस प्रकार के तथ्यात्मक ज्ञान की व्याख्या कर सकती है, जबकि अन्त:प्रज्ञा न आवृत्तीय है, न सार्वजनिक और न संज्ञापनीय ही। वस्तुत: प्रज्ञा के आधार पर न तो कोई तथ्यात्मक ज्ञान संभव है, और न इसके आधार पर अतिवैयक्तिक वस्तुनिष्ठता की स्थापना ही हो सकती है। अत: ज्ञान के धरातल पर अन्तर्ज्ञान न किसी क्षेत्र का तथ्यात्मक ज्ञान दे सकने में सक्षम है और न मनोवैज्ञानिक रूप से असंदिग्ध तथा तार्किक रूप से अनिवार्य ज्ञान प्रदान कर सकने में ही। ऐसी स्थिति में अन्त:प्रज्ञा के बल पर सामान्यों के जिस निश्चित और वस्तुनिष्ठ ज्ञान को स्थापित करने का प्रयास अरस्तू के सिद्धान्त

में प्राप्त होता है, उसे संगत मानने में कठिनाई दृष्टिगत होती है ।

पुन: प्लेटो की तरह ही अरस्तू के सिद्धान्त की एक कठिनाई इसकी बोधगम्यता के सम्बन्ध में है । अरस्तू का यह सिद्धान्त हमें यह मानने के लिए कहता है कि अनेक उदाहरणों में कोई चीज समान होती है, यह चीज एक लक्षण या गुणधर्म है, और हमें इसी को सामान्य कहना है । लेकिन समस्या यह है कि 'अनेक उदाहरणों में समान लक्षण' का अर्थ क्या है ? यदि परिवार के सभी व्यक्तियों के बाल सफेद हों , अथवा दो भिन्न किस्मों के बालों के बीच यह समान लक्षण हो कि दोनों मीठे हैं, तो क्या इसी अर्थ में अरस्तू ने इस कथन को समझा है ? निश्चयत: किसी चीज के अनेक अन्य चीजों में समान होने अथवा उनके सहभागी होने के प्रत्यय को विविध तरीकों से समझा जा सकता है । दो या अधिक व्यक्ति गर्मी पाने के लिए पास-पास सटे हुए लेट कर उसी खाई के सहभागी हो सकते हैं इस अर्थ में कि वे उसके एक ही भाग के नीचे समट जाते हैं । वे एक ही आग के, एक ही कमरे के, एक ही मेज इत्यादि के सहभागी हो सकते हैं इत्यादि । स्पष्ट है कि 'सहभागी होना' अथवा 'समान होना' का प्रयोग विविध अर्थों में किया जाता है । लेकिन यहां उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त उदाहरणों में जिस चीज में सहभागिता बतायी जाती है, अथवा जो चीज समान कही जाती है, वह उतनी ही एक विशेष होती है, जितने सहभागी व्यक्ति । अत: इनमें से कोई भी प्रत्यय किसी लक्षण के अनेक उदाहरणों में समान होने के अरस्तवी प्रत्यय को स्पष्ट करने में सहायक नहीं होगा, क्योंकि इस प्रत्यय में उदाहरण तो विशेष हैं, लेकिन लक्षण प्रकटत: विशेष नहीं है । और इसके फलस्वरूप से किसी भी प्रयोग को, जिसमें समान बात एक विशेष होती है, निकाल दिया जाए, तो यह समझना कठिन हो जाएगा कि तब 'अनेक उदाहरणों में समान लक्षण' का कौन-सा अर्थ है। वस्तुत: यदि जिस बात में वस्तुएं सदृश है कि वह उनमें समान एक अकेला लक्षण है , तो जब तक हम यह नहीं जान लेते कि उनमें किसी लक्षण का समान होना क्या होता है, तब तक हमारे अभिज्ञान में किसी वृद्धि की बात स्वीकार नहीं की जा सकती । अरस्तू इसे स्पष्ट करने में असफल रहें हैं, और यही कारण है कि उनका सिद्धान्त दुर्बोध दृष्टिगत होता है ।[७]

अरस्तू के सिद्धान्त की इन कठिनाईयों ने सामान्य के विवेचन को विकास की दिशा प्रदान की । ग्रीक युग की वह समस्या विकास के क्रम में मध्ययुग की प्रमुख दार्शनिक समस्या के रूप में प्रस्तुत हुई ।

रवीन्द्र कुमार

दर्शनशास्त्र विभाग,
बी.एन.कालेज, पटना,
पटना विश्वविद्यालय,पटना

संदर्भ सूची

१. ऑरिस्टॉटल; *मेटाफिजिक्स* : बुक एम, १०७८ व २८ , अनु. हिप्पोक्रेटस, जी.एपोस्ल , लन्दन, इन्डियाना युनिवर्सिटी प्रेस, १५६६ , पृ.

२. *द कैटेगरीज : द फिलासफी ऑफ ऑरिस्टॉटल* , अनु., वार्डमेन एवं क्रीड, मेन्टर क्लासिक १५६३. पृ १३७

३. स्ट्रेनलैण्ड, एस. : *युनिवर्सल्स*, द मैकमिलन प्रेस लि. १५७८ पृ. १३

४. *ज्ञान मीमांसा परिचय* : ए.डी. वूजले, अनु. , डा. गोवर्धन भट्ट , पटना, विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १५७१, पृ. ७७

५. *अनालिटिका पोस्टीरियरा* : *'रिडिंग्स इन एपिस्टेमॉलोजी* . (से.) रेथिनाल्ड पी.ओ.नील, एस.जे. प्रेन्टिस हाल, १५६२. पृ.१७ ।

६. अरिस्टॉटल; *मेटाफिजिक्स* : ४:२८ . १०२४ व।

७. *थ्योरी आफ नालेज : ॲन इण्ट्रोडक्शन* : वूजले. ए. डी. पृ.८०-८२.

वैज्ञानिक का धर्म

मनुष्यों की वैज्ञानिक जाति सदैव अज्ञेय को जानने की, रहस्यों को खोजने की, ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासु रही है। ऐसे परम ज्ञानी लोग ज्ञान की भूख शान्त करने के लिए तथा असन्तोषों को दूर करने के लिए सदैव ही तत्पर रहे हैं। इतिहास ऐसे ज्ञानी लोगों के नाम अंगुलियों पर गिनने योग्य ही बनाता है। सुख, शान्ति या सन्तोष सापेक्षिक शब्द हैं। जिन चीजों या वस्तुओं या बातों से एक व्यक्ति को आत्मतुष्टि मिलती है, सम्भव है, अन्य साथियों या सहकर्मियों के लिए ऐसा न हो। न केवल इतना ही बल्कि समय तथा स्थितियाँ बदलने पर उसी व्यक्ति को भी आत्मतुष्टि न मिले, या मिले भी तो उसी मात्रा में नहीं। इसीलिए आत्मतुष्टि को एक विशिष्ट मानसिक स्थिति कहा है।

एक बात और, इन वैज्ञानिकों ने इस प्रक्रिया को अपने तक ही सीमित नहीं रखा, अपने समकालीन विचारकों पर भी इनकी विचारधारा का प्रभाव पड़ा - उन्होंने इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाया। वैज्ञानिक आत्मतुष्टि के लिए ही वैज्ञानिक है, वह सन्तों-योगियों की भांति स्वार्थी भी है, वह बिना शरीर की परवाह किये उत्सुकता शान्ति के प्रयासों में संलग्न है, वह शान्ति पाना चाहता है, वह वहाँ पहुँचना चाहता है, जहाँ पहुँच कर उसे जिज्ञासा तथा इच्छा का बोध ही न हो। मार्ग कितना विस्तृत , लम्बा तथा विहड़ है ? क्रमशः आगे बढ़ने पर उसे सन्तोष की झलक मिल ही जाती है।

वैज्ञानिकों का वर्गीकरण :

वैज्ञानिकों को दो भागों में बांटा जा सकता है :

१. भौतिक उन्नति से जुड़े वैज्ञानिक

ये वैज्ञानिक पूर्णतः सांसारिक हैं। पंच तत्त्वों से बने कोई भी वैज्ञानिक इन्हें समझ सकता है। इनमें प्राप्त जिज्ञासा, उत्सुकता, इच्छा तथा भावना उसी स्तर की तथा उत्कृष्टता लिये हुए है जितनी समाज के साधारण मनुष्यों की जो सामान्य

परामर्श (हिन्दी), खण्ड १३, अंक ३, जून, १९९२

सूझबूझ से काम करते हैं। ऐसे वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठ एवं निष्पक्ष रहते हुए शोध पर आधारित निष्कर्ष ही समाज के सामने प्रस्तुत करते हैं, वे अपनी मनोदशा से प्रभावित भी नहीं होते हैं।

२. सत्यान्वेषणी वैज्ञानिक

दूसरी श्रेणी के वे वैज्ञानिक हैं जो विज्ञान को ही साध्य मानते हैं तथा भौतिक या पार्थिव उन्नति को उसकी प्राप्ति का साधन। कुछ अंशों में इन्हें जीवन-विज्ञानी कहा जा सकता है। सत्यान्वेषण के लिए तीव्रता तथा लगन इनके गुण हैं। इनकी आंत्मा, इनका मन सदैव ही अतृप्त रहता है, ये कभी पूर्ण सन्तोष की स्थिति में नहीं आते, क्रमश: प्रयत्नशील रहते हुए ही ये अपनी इहलीला समाप्त कर लेते हैं।

यह कहना बहुत कठिन है कि कौन किस वर्ग का वैज्ञानिक है? जिस प्रकार बुद्धिमान मनुष्य कुछ स्थितियों में मूर्खों जैसी बातें या कार्य करते हैं या इसके उल्टे उदाहरण भी देखने में आते हैं, ठीक उसी प्रकार वैज्ञानिकों के सन्दर्भ में दूसरे वर्ग की विशेषताएँ भी पाई जा सकती हैं। इसी कारण इन्हें बड़ी बारीकी से पृथक् पृथक् वर्गों में नहीं रखा जा सकता। यह भी सम्भव है कि भिन्न भिन्न समय में इन गुणों का अनुपात बदल जाय और यह भी निश्चित नहीं कि यह अनुपात जीवन भर बना ही रहे।

वैज्ञानिक, मनुष्य के रूप में उसी धर्म के आधीन है, उसकी इच्छाएँ तथा कर्तव्य भी सामान्य मनुष्य के समान हैं, उसमें तथा अन्य मनुष्यों में कोई भेद नहीं होना चाहिए। वैज्ञानिक भी वैज्ञानिक होने के पूर्व मनुष्य ही है। अन्तर है तो मात्र इतना ही कि वैज्ञानिक एक साधारण मानव के धरातल से ऊपर उठ चुका है - उसका विकास अधिक समय लेता है, अधिक जगह घेरता है, उसकी बातचीत का क्षेत्र विस्तृत होता है।

जिस प्रकार संत सब कुछ भूल कर, यहाँ तक कि स्वयं अपना अस्तित्व भी, लोक-कल्याण के लिए निकल पड़ता है उसी भाँति वैज्ञानिक भी प्रकृति का रहस्य जानने तथा उसकी जिज्ञासा शान्त करने में आत्म- सन्तोष अनुभव करते हैं।

सुख या सन्तोष कुछ नहीं, मन की स्थिति है। समाज का एक मनुष्य धन तथा सत्ता, नौकर, चाकर, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य की चाहना करता है तभी एक वैरागी इन सबको, कष्टों का कारण मानता है तथा इच्छा तो दूर, उसे त्याग देता है। इसीलिए कहा है कि सुख मनुष्य के मानस की वस्तु है, यह उसके सोचने का तरीका

है। दूसरे के शब्दों में यह उनके मन की विशिष्ट अवस्था का नाम है जिसमें वह अपने मन, हृदय तथा इन्द्रियों का अस्तित्व भी भूल जाता है। जिस किसी क्रिया में वह संलग्न है, ऐसा होने पर उसे दैनिक जीवन के क्रियाकलापों से विमुख तो नहीं कह सकते बल्कि उसे कर्तव्य पालन का ही एक विशिष्ट आनन्द प्राप्त होता है। क्या इस अवस्था में उसके मन एवं शरीर की एकता में पाठकों को सन्देह हो सकता है?

जो मनुष्य लोक कल्याण के लिए संत के रूप में संसार से विरत हो जाता है, क्या उसे संसार छोड़ देने पर पहाड़ों या गुफाओं में , अकेले रहते हुए सांसारिक दुःख याद नहीं आते, क्या संसार की ओर उसका ध्यान नहीं जाता ? ऐसा होने पर क्या वह जड़त्व की स्थिति में नहीं पहुंच गया है ? इसके विपरीत मन तथा शरीर से एक साथ आवाज निकलने पर क्या परम सुख प्राप्ति की स्थिति नहीं है ?

सांसारिक या सामान्य मनुष्य को सुख प्राप्ति के लिए कई कार्यों को रोकना पड़ता है, आदतों पर रोक लगानी पड़ती है, आदतों पर काबू पाना होता है, काबू में करने के लिए बल प्रयोग करना पड़ता है जिससे शरीर में विरोध उत्पन्न होता है तथा यह विरोध ही दुःख का कारण बनता है। परंतु जैसा ऊपर बताया गया है कि मन तथा शरीर के एकाकार होने पर यह विरोध लोप हो जाता है। इस स्थिति को विद्वानों ने आत्मानुशासन कहा है। पहले यह आत्मानुशासन की स्थिति प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं होती थी जबकि अब बिना प्रयत्नों के सहज ही प्राप्त हो जाती है। अपने अस्तित्व को भूल कर या उसे विस्मृत कर मनुष्य जिस मार्ग पर चल पड़ता है यदि उसकी बाह्य क्रियायें मन के अनुरूप हैं तभी वह परम शान्ति तथा परम सुख का पात्र बनता है। इस प्रकार शरीर तथा मन की समन्वित क्रियाओं के फलस्वरूप प्राप्त आत्म-सन्तोष ही परम सुख है।

यह मानना त्रुटिपूर्ण होगा कि सुख एकदम सर्वथा वैयक्तिक विचार है तथा समाज का उससे कोई लेनादेना नहीं है। क्या सुख की समाज से परे कल्पना की जा सकती है ? बिना समाज के सुख का कोई अर्थ नहीं है। सुख क्या है ? किसे सुख कहा जाय ? केवल व्यक्ति ही उसे निश्चय करता हो, ऐसा नहीं है। व्यक्ति के साथ ही समाज की दृष्टि से भी इस पर विचार करना सामान्य रूप से जरूरी है।

यदि कोई मनुष्य पानी से भरे तरणताल में तैर कर प्रसन्नता पाना चाहता है, अपने शरीर को हल्का फुलका बनाना चाहता है, वह एक व्यक्ति के रूप में यह निर्णय ले सकता है, वह पानी में कूद भी सकता है पर यदि उसे तैरना नहीं आता है तथा दुर्भाग्य से डूब कर मर जाता है तो समाज भी विपत्तियों में फँस सकता है। इस प्रकार उसका वैयक्तिक सुख समाज से भी अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। दूसरा

एक और उदाहरण लिजिए । कोई आदमी चाहे तो अपना हाथ काटने का निर्णय ले सकता है, इसे वह अपना अधिकार समझ रहा है , वह स्वतंत्र है , पर क्या वह ऐसा करने के लिए तदनुरूप निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र है ? कानून इसकी स्वीकृति नहीं देता है । कारण कि मनुष्य समाज का सदस्य है तथा सम्भव है, कालान्तर में वह कालिदास या बाल्मिकी बन जाय, पर यदि वह हाथ काट ले तो समाज कालिदास या बाल्मिकी से वंचित रह जाएगा जो समाज की बहुत बड़ी अपूरणीय क्षति होगी। इस प्रकार आदमी के सुख दुःख उसके क्रियाकलाप समाज से अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए है । हां, यह माना जा सकता है कि किसी भी सुख या सन्तोष में मनुष्य तथा समाज के योगदान, उनके हिस्सों में अन्तर हो सकता है । यह भी सम्भव है कि समाज द्वारा बताई गई सीमाओं से आगे भी मनुष्य जाना चाहे । यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या ऐसा सुख समाज सम्मत या समाज से अनुमोदित होगा ?

आज जो असन्तोष, अशान्ति ,सन्देह तथा दुःख है क्या यह अद्यतन प्राप्त ज्ञान का फल नहीं है ? नहीं, ऐसा नहीं है । अशान्ति या सन्देह के निवारण की ओर बढ़ना, प्रयत्न करना ही सन्तोष या सुख प्राप्ति की ओर कदम बढ़ाना है । असन्तोष की स्थिति में सतत आगे बढ़ना अलौकिक आनन्द की अनुभूति कराता है।

संसार की निरर्थकता, अर्थहीनता जिसने जान-समझ ली है या अनुभव कर ली है, वह प्रचलित मूल्यों, सांसारिक रीतिरिवाजों , भौतिक विचारों, बाह्य आडम्बरों को त्याग देता है, वह व्यक्ति इन बातों से ऊपर उठ जाता है, वह इन सब पर विश्वास भी नहीं करता है, फिर चाहे समाज या संसार उसे पागल ही कहे । इसीलिए वैज्ञानिक विचारों तथा विश्वासों पर नहीं चलते, वे प्रयोग कर के देखते हैं, तभी सिद्धान्तों को मंजूर करते हैं । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि श्रद्धा, विश्वास तथा निष्ठा सांसारिक लोगों के विचार क्षेत्र की वस्तु है पर जो चेता या विचारक सांसारिक मूल्यों को गलत या सत्यता से परे कह कर त्याग चुके हैं, वे उनसे संचालित नहीं होते, वे उनसे बंधे नहीं रह सकते, वे श्रद्धा, निष्ठा या विश्वास से निर्देशित नहीं होते, वे तो उनका निर्माण करते हैं ।

सामान्य नागरिक श्रद्धा या निष्ठा का अर्थ अंधविश्वास, रूढियाँ, अंधभक्ति, अनुदारता, तथा परम्पराएँ लगाते हैं । वैज्ञानिक इन अर्थों को स्वीकार नहीं करते हैं, न केवल इतना ही, बल्कि ऐसा सोचना भी उनके विचारजगत् से बाहर होता है। पर यहाँ भी एक प्रश्न किया जा सकता है कि यदि वैज्ञानिक में विश्वास या श्रद्धा नहीं है तो वह कौनसी शक्ति या प्रेरणा है जो उसे अपने प्रयत्नों से विचलित नहीं करती तथा वह सतत अपने कार्य में, प्रयत्नों में जुटा रहता है । क्या उसकी बुद्धि

की सीमा नहीं है ? आप बिना किसी विवाद के यह स्वीकार करेंगे कि वैज्ञानिक अन्य नागरिकों से अधिक जानता है, उसे अपनी मर्यादाओं की जानकारी भी है तथा उसका विश्राम स्थल भी मर्यादा के आसपास है । वह यह भी जानता है कि प्रयत्नों के लिए आधार चाहिए, बिना आधार के साधना नहीं की जा सकती, कर्म नहीं किया जा सकता। इस प्रक्रिया में साहस की जरूरत पड़ती है, साहस निष्ठा का प्रतिफल है तथा अन्तिम निमित्त है लगन । इसे यों भी बताया जा सकता है : कर्म - साहस - निष्ठा (श्रद्धा या विश्वास) --- लगन ।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों- कॉपरनीकस, ब्रूनो, आर्कीमीडिज आदि महान् विचारकों- ने जनसाधारण में गहराई से जमे विश्वास को चुनौती दी तथा आपदाएँ आमंत्रित कीं । ये सब भी सामान्य नागरिक थे , उनमें इन विपत्तियों को सहने की, झेलने की, सामना करने की शक्ति कहां से आई ? क्या वे अपनी बुद्धि से इसका सामना कर पाये ? नहीं ऐसा नहीं है । वे उस निष्ठा के धनी थे और निष्ठा भी अपने प्रति, अपनी बुद्धि-विवेक के प्रति तथा अंतिम सत्य जानने के प्रति, जिस मार्ग पर उन्हें निरन्तर बढ़ते रहने का विश्वास था । यही उनकी आत्मतुष्टि थी, सुख था, सन्तोष था ।

श्रद्धा के नाम पर क्या नहीं हुआ? संत पेरूमान श्रद्धा के नाम पर शहीद हो गये, दो भाइयों का दीवार में चुना जाना कौन नहीं जानता? क्या ये बलिदान कॉपरनीकस, ब्रूनो, आर्कीमीडीज के बलिदान से ऊंचा है ? यदि धर्म के नाम पर श्रद्धा में कमी आई है या सहिष्णुता घटी है तो वह समाज के इन्हीं ठुकराये, उपेक्षित तथा अपमानित किये वैज्ञानिकों के प्रयत्नों का फल है ।

समाज में अमन एवं सुख चैन बनाये रखने के लिए मानसिक नियंत्रण आवश्यक है । युद्ध या अशान्ति मनुष्य के मस्तिष्क में पैदा होती है,इसीलिए किसी वैज्ञानिक ने कहा है कि मनुष्य के मस्तिष्क को शान्ति से रहने की ट्रेनिंग दी जानी चाहिए । मस्तिष्क पर नियंत्रण सिखाने के लिए यही श्रद्धा कभी न सूखने वाला स्त्रोत है । इसे ही अनुदारता की जननी कहा जा सकता है । हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने वालों के लिए ,आलसी, जानने या सीखने का प्रयत्न न करने वालों के लिए आवश्यक हो सकती है, वे इसी श्रद्धा के सहारे जीते हैं.। श्रद्धा रूपी छाते के नीचे वे संसार में आने वाले कष्टों तथा दु:खों को, असन्तोषों तथा विरोधों को झेलते हैं । असहिष्णुता की जननी होने से वह प्रगति की भी समर्थक नही हो सकती । पर क्या सदैव यही स्थिति बनी रहेगी ? नहीं । दुनिया विकासशील है, परिवर्तनशील है , यह प्रकृति का शाश्वत नियम है । लोग प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ेंगे तथा श्रद्धायुक्त अनुदार नागरिक उनकी, प्रगति का विरोध भी करेंगे । यह संसार का नियम है, प्राचीनकाल

से ऐसा ही होता आया है तथा आगे भी होता रहेगा। प्रगति की, विकास की दृष्टि से इस विरोध की भी उपयोगिता है, इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता। संसार या समाज एक रूप में नये ज्ञान या विचारों की प्रयोगशाला है और परीक्षण में सफल होने पर, उपयोगी सिद्ध होने पर ही उसे स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार विचारों में उच्छृंखलता, आधार या विवेकहीन विचारों पर अंकुश लगाया जा सकता है।

इस धरातल पर वैज्ञानिक श्रद्धाहीन होता है, उसकी बात या तर्क परीक्षण या प्रयोग सिद्ध होती है पर वह श्रद्धा के क्षेत्र को विस्तृत अवश्य करना चाहता है। वैज्ञानिक की श्रद्धा, ऊपर के विवेचन के अनुसार, साधारण श्रद्धा की भांति विरोध को जन्म नहीं देती है ; अर्थात् उसकी श्रद्धा में मत विभिन्नता हो सकती है। साधारण श्रद्धा का लक्ष्य स्पष्ट है और इसका भार विरोधी पर पड़ता है। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि विज्ञान के क्षेत्र में इसे विरोध नहीं माना जाता। वहाँ तो प्रत्येक वैज्ञानिक का, विचारक का, चेता का एक ही मार्ग है, उसी पर उसे आगे बढ़ना है, उसकी श्रद्धा किसी को दबाती नहीं, किसी को संकुचित रूप से सोचने को विवश नहीं करती, वह तो सोच विचार को अंकुरित करती है, सीमाओं से आगे बढ़ कर स्वतंत्र पर्यावरण में विचरती है, विचरण के लिए प्रोत्साहन पाती है। श्रद्धा स्वयं वैज्ञानिक के अस्तित्व में रच बस कर उसे अपने लिए पागल बना लेती है, उसे अधीर तथा जिज्ञासु बना लेती है, आसक्त बना देती है। परंतु वैज्ञानिक स्वयं अपने पर, अपनी बुद्धि विवेक पर तथा अन्तिम सत्य पर श्रद्धा रखता है और इस स्थिति में बुद्धि तथा श्रद्धा एकरूप हो जाते है, वे एक दूसरे के पर्याय बन जाते हैं। यही क्रिया, निष्ठा उस वैज्ञानिक के पास सुख, सन्तोष तथा आत्मतुष्टि का कभी न सूखने वाला झरना प्रवाहित करती है। संक्षेप में यही है वैज्ञानिक का धर्म।

जमनालाल बायती

जिला शिक्षाधिकारी
(अल्पसंख्यक भाषाएँ)
शिक्षा निदेशालय
बीकानेर - ३३४००१
(राजस्थान)

धर्मदर्शन में सन्देहवाद की संगतता

हाल में जॉन हिक महोदय के *An Interpretation of Religion* इस शीर्षक के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का प्रकाशन हुआ ।[१] उपशीर्षक , अर्थात् *Human Responses to the Transcendent* , लेखक का मूलसिद्धांत प्रस्तुत करता है : विश्वधर्म सभी परम तत्त्व पर उपयुक्त दृष्टिकोण हैं । रचना-विस्तार एवं तर्क की दृष्टि से श्लाघनीय है । अनुसंधान के क्षेत्र में प्राय: सभी विश्वधर्मों का उल्लेख किया गया है ; युक्तियाँ ब्योरेवार रीति से प्रस्तुत की गयी हैं । फिर भी , अनेक पाठकों के मन में गंभीर आशंका उठ सकती है । धार्मिक विश्वास की भाँति क्या प्रकृतिवाद को भी स्वीकार्य मानना संदेहवाद नहीं है ? और विविध धर्मसिद्धान्तों को इसलिए तुल्य कहना कि वे परम तत्त्व पर सिर्फ अन-अन्तिम दृष्टिकोण हैं, क्या यह अज्ञेयवाद नही है ? तो हिक महोदय द्वारा प्रस्तुत धर्मदर्शन की छान-बीन करनी होगी । धार्मिक विश्वास संबंधी, फिर धार्मिक अनेकता संबंधी ग्रंथ के मूलसिद्धान्तों का क्रमश: प्रतिपादन करने के पश्चात् हम दोनों का मूल्यांकन भी करना चाहेंगे । अंत में यह प्रश्न उठाया जायेगा कि क्या धर्मदर्शन के क्षेत्र में तर्कसंगत रीति से संदेहवाद का पालन करना संभव है ?

प्रथम सिद्धान्त का निरूपण

हिक महोदय ठीक क्या प्रश्न उठाते हैं ? वह इस तरह है : 'क्या अपने धार्मिक अनुभव पर विश्वास करना बौद्धिक क्रिया है या नहीं ?' प्रस्तुत प्रश्न का सही तात्पर्य लेखक स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हैं : जिस बौद्धिकता का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है वह *विश्वास करने* की बौद्धिकता है, न कि *विश्वास के विषय* की।[२] क्रिया बौद्धिक होने पर भी विषय या तो बौद्धिक या अबौद्धिक , दोनों हो सकता है।

विश्वास करने की बौद्धिकता की आधारशिला धार्मिक अनुभव है । वह क्या है ? लेखक उसे अनेक तरह से वर्णित करते हैं । धार्मिक अनुभव ईश्वर के

सान्निध्य में रहने का बोध हो सकता है , या ईश्वर से व्यक्तिगत संबंध रखने का। या यों कहें कि उस अनुभव के फलस्वरूप विश्वासी का जीवन उसे किसी सोद्देश्य प्रक्रिया के अंश -जैसा जान पड़ता है (पृ.२११) 'ईश्वर' या ईश्वरवादी शब्दावली का प्रयोग करने पर भी लेखक पाठक का ध्यान इस बात पर आकर्षित करते हैं कि यहाँ प्रस्तुत तर्क अनीश्वरवादी विश्वास ("non theistic belief " पृ. २११) के संदर्भ में भी प्रयोज्य है । तथाकथित अनीश्वरवादी धार्मिक अनुभव का उदाहरण वेदान्त के अनुसार परम ब्रह्म का साक्षात्कार है ।

हिक धार्मिक अुनभव की सार्थकता - चाहे वह ईश्वरवादी हो या ब्रह्मवादी - इस तरह सिद्ध करते हैं । तर्क भौतिक जगत् के अनुभव की समान्तरता पर आधारित है । सच, भौतिक जगत् के अस्तित्व के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता है । फिर भी मानव जगत् की विषयनिष्ठता असंदिग्ध मानता है - यह उसके लिए " स्वाभाविक विश्वास" ("natural belief " पृ. २१३) की बात है । आखिर संपूर्ण व्यावहारिक जीवन इस पूर्वकल्पना पर आधारित है कि हमारा प्रत्यक्ष अनुभव सच्चा है । लेकिन जगत् की तरह ईश्वर का अस्तित्व भी प्रमाणित नहीं किया जा सकता है । फिर भी "प्रत्यक्ष विश्वास की भाँति ईश्वरवादी विश्वास भी मानव बुद्धि की ओर से अनुभव के प्रति स्वाभाविक प्रतिक्रिया से उत्पन्न होता है "।[३]

अत: जॉन हिक की मान्यता स्पष्ट है :धार्मिक अनुभव के आधार पर हमें ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास करने का बौद्धिक अधिकार है (" rationally entitled", पृ. २१६)। प्रस्तुत सिद्धांत के समर्थन में उनका एकमात्र प्रमाण यह है कि "हम इस तरह बनाये हुए हैं कि हम केवल अपने अनुभव के आधार पर अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं " फलत: हमें मान लेना है कि हमारा अनुभव सामान्यत: ज्ञानात्मक है ।[४]

आगे लेखक यह प्रश्न भी उठाते हैं कि अपने धार्मिक अनुभव के अभाव में क्या हम बौद्धिक रीति से *अन्यों* के अनुभव पर विश्वास कर सकते हैं ? वे कौन-कौन हैं ? आधुनिक भारतीय संदर्भ में वे लोग परमहंस रामकृष्ण जैसे महात्मा (पृ.२२१,२२३) या धर्मात्मा होंगे, जिन्हें पारलौकिक बातों का गहरा अनुभव प्राप्त हुआ। उन इने-गिने व्यक्तियों के अतिरिक्त हिक सम्प्रदाय या धार्मिक समुदाय का भी उल्लेख करते हैं। जनसाधारण का व्यवहार प्राय: समाज के धार्मिक अनुभव पर आश्रित है (देखें पृ. २२८) । लेखक के अनुसार इस तरह "पराये" धार्मिक अनुभव के आधार पर विश्वास करना बुद्धि-विरोधी नहीं है। साथ-साथ व्यक्ति की ओर से

यह भी अपेक्षित है कि वह स्वयं ही पूर्णतया धार्मिक अनुभव से वंचित न हो। उसे भी ऐसा कुछ प्रारंभिक या सदृश धार्मिक अनुभव प्राप्त होना चाहिए, जो धर्मात्माओं के मौलिक अनुभव की "प्रतिध्वनि" हो, जो उसका "तुल्यरूप" हो ("some remote echo or analogue "पृ.२२२) इस तरह सामान्य रूप से धार्मिक अनुभव को विश्वास करने का अनिवार्य आधार कहने के साथ हिक कुछ हद तक व्यक्तिगत अनुभव भी आवश्यक मानते हैं ।

पाठक के मन में यह संदेह उठा होगा कि क्या अनुभव के अतिरिक्त बौद्धिक रीति से विश्वास करने के लिए दूसरी आवश्यक शर्त नहीं है ? ऐसा लगता है कि स्वयं लेखक को उसी आशंका का सामना करना पड़ा । विश्वास का विषय बनाम विश्वास करने की क्रिया का प्रभेद करने के बाद वह कोष्ठकों के बीच यह जोड़ देते हैं कि "विश्वास का विषय भी विश्वास करने की बौद्धिकता या अबौद्धिकता से संबंध रखता है "[५] । दूसरे प्रसंग में लेखक विषय के महत्त्व का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। भूतकाल में लोग जादू-टोने पर विश्वास किया करते थे । उन लोगों के लिए इस तरह तंत्र-मंत्र पर विश्वास करना असंगत नहीं था । कारण, उस काल का वातावरण उन्हें इस प्रकार की बातों पर विश्वास करने के लिए प्राय: बाध्य करता था । फिर भी हमारे लिए केवल उन लोगों के अनुभव के आधार पर इस तरह विश्वास करना बौद्धिक नहीं कहा जा सकता है । जादू -टोने जैसे विश्वास के विषय तो हमारे शेष अनुभव के अनुकूल नहीं हैं । आधुनिक मनुष्य के संपूर्ण अनुभव का एक विशेष अंश उसका वैज्ञानिक ज्ञान है । जो कुछ उसके अनुकूल नहीं है, वह बौद्धिक रीति से विश्वास करने का विषय नहीं हो सकता है । इस तरह अतीत काल के असंदिग्ध अनुभव के बावजूद भी वर्तमान काल में विश्वास करने की बौद्धिकता विश्वास के बौद्धिक विषय की भी अपेक्षा करती है । विषय का महत्त्व स्वीकार करने से हिक धार्मिक अनुभव का एकाधिकार सीमित करते हैं । अत: संशोधित रूप में प्रस्तुत बौद्धिक विश्वास की कसौटी इस तरह होगी : अपने या पराये धार्मिक अनुभव पर तभी विश्वास करना चाहिए जब उसका विषय सत्य होने की *संभावना* है । इस तरह वर्द्धित कसौटी का उदाहरण ईश्वरवाद के प्रसंग में मिल जाता है ।

बौद्धिक विश्वास की परख ईश्वरवादी विश्वास के संदर्भ विशेष में भी करनी है । जाँच द्विविध है : अनुभव की गहराई के अतिरिक्त विश्वास का अपना विषय नगण्य नहीं है । धार्मिक, या और स्पष्ट रूप से, ईश्वरवादी अनुभव कितना प्रभावशाली क्यों न हो, ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन करना होगा यदि या तो ईश्वर की धारणा विसंगत जान पड़े, या कोई बौद्धिक प्रमाण ईश्वर का अनस्तित्व सिद्ध करे । लेकिन

हिक के अनुसार न तो ईशधारणा असंगत है, और न ईश्वर का अस्तित्व तर्क द्वारा खण्डित किया जा सकता है (देखें पृ.२१७)।

वर्तमान प्रसंग में लेखक ईश-दर्शन का अपना उपयुक्त कार्य निर्धारित करते हैं। परंपरागत तत्त्वमीमांसा के विपरीत वह मानते हैं कि ईश-दर्शन को ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए, वरन् केवल उसकी *संभावना* स्थपित करनी है। इसके अतिरिक्त ईश्वर की परिकल्पना का महत्त्व भी दिखाना चाहिए। ईश्वरवादी परिकल्पना का मूल्य इसमें है कि उसका सहारा लेकर हम संपूर्ण विश्व की व्याख्या करने में समर्थ हो जाते हैं। इस प्रसंग में हिक महोदय ईश्वरवाद पर अपना विश्वास घोषित करते हैं यह कह कर कि "मैं मानता हूँ कि बुद्धि ईश्वर के अस्तित्व की *संभावना*, और इस संभावना का वास्तविक महत्त्व, दोनों स्थापित कर *सकती* है" (पृ.२१९, स्वयं लेखक द्वारा रेखांकित)।[६] ग्रंथ का मुख्य तात्पर्य देखने से ऐसा प्रतीत हो सकता है कि लेखक स्वयं ही अज्ञेयवादी हैं। प्रस्तुत कथन, और आगे प्रस्तुत की जाने वाली दूसरी उक्तियाँ भी, यह मान्यता मिथ्या सिद्ध करेंगी। लेखक का झुकाव मूलतः ईश्वरवाद के पक्ष में है।

अनुभव के अतिरिक्त विश्वास के विषय की बौद्धिकता आवश्यक मानने पर भी हिक इस दूसरे पहलू को निर्णायक नहीं कहते हैं। उनके अनुसार केवल ईश्वर की संभावना तर्क द्वारा सिद्ध की जा सकती है, न की उसकी वास्तविकता। बुद्धि की यह अक्षमता स्वयं विश्व की द्वयर्थकता पर आश्रित है। लेखक के अनुसार विश्व की ऐसी यथार्थता हैं कि "उसके हर पहलू की ... चाहे ईश्वरवादी या प्रकृतिवादी, दोनों व्याख्याएँ प्रस्तुत करना संभव है"।[७] इस सिद्धान्त को लेखक ने पुस्तक के द्वितीय भाग में विस्तार से सिद्ध किया है, जहाँ ईशास्तित्व के सभी प्रमाणों की समीक्षा की गयी है। इससे अनिवार्य रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि विश्व की द्वयर्थकता "धार्मिक या प्रकृतिवादी, दोनों विश्वासों ('faith') का आधार हो सकती है"[८]। प्रकृतिवाद को कैसे "विश्वास" कहा जा सकता है, इसे कुछ आगे समझाया जायेगा। अंतिम उद्धरण का संपूरक वाक्य यह है कि किसी भी विकल्प में "विश्वास" भ्रम होने की संभावना के भय से ग्रस्त है। बौद्धिक निर्णय के अभाव में हिक को स्वीकार करना पड़ता है कि धार्मिक अनुभव अंततः पूर्णतया ("as such and in toto" पृ. २२६) भ्रामक हो सकता है, कि यथार्थता में उसका दृढ़ आधार नहीं है। व्यक्त रूप से ऐसा न कहने पर भी इस दृष्टिकोण में यह भी निहित है कि प्रकृतिवादी अनुभव के लिए भी निराधार होने की संभावना सदा बनी रहती है।

लेकिन लेखक का झुकाव कुछ ईश्वरवाद की ओर है। भ्रम की संभावना स्वीकार करने पर वह अब दावा करते हैं कि "इन परिस्थितियों में भी धर्मपरायण आदमी के लिए अपने (धार्मिक) अनुभव पर विश्वास करना पूर्णतया तर्कसंगत है"[९]। इसके विपरीत भ्रम की सैद्धांतिक संभावना मात्र के आधार पर अपना संपूर्ण जीवन संस्थापित करना, अर्थात् नास्तिकता का दृष्टिकोण अपनाना, यह उन्हें अ-बौद्धिक लगता है।[१०] प्रश्न उठता है कि ईश्वरवादी निर्णय के समर्थन में हिक क्या प्रमाण प्रस्तुत करते हैं? उनके अनुसार ईश्वरवादी सिद्धांत विश्व की सार्थक व्याख्या करने में समर्थ है, अतः भ्रम की सैद्धांतिक संभावना मात्र के आधार पर सार्थकता का रास्ता छोड़ना उन्हें निराधार लगता है। किन्तु विश्व की जो व्याख्या ईश्वरवादी के लिए संतोषजनक प्रतीत होती है, क्या वही व्याख्या नास्तिक के लिए निरर्थक नहीं लगेगी? प्रकृतिवादी विश्वदर्शन का परित्याग करना, मात्र इसलिए कि ईश्वरवाद सत्य होने की सैद्धांतिक संभांवना है, यह नास्तिक को भी अबौद्धिक प्रतीत होगा। जो विश्व की मूलभूत द्व्यर्थकता स्वीकार करता है, उसके लिए परस्पर-विरोधी विश्वदर्शनों में से किसी एक का समर्थन करना सिर्फ पसंद की बात हो सकती है, न कि निर्णायक प्रमाण या कारण की।

हिक के धर्मदर्शन के प्रतिपादन के अंत में 'विश्वास' (faith) की उनकी धारणा प्रस्तुत करना उचित होगा। यदि विश्व मूलतः एक ऐसा तत्त्व हो जिसकी दो परस्परविरोधी व्याख्याएं देने की संभावना हो, तो उन में से कोई एक चुनना अनिवार्य होगा। वरण के अतिरिक्त संशयवाद एकमात्र उपाय है। आस्तिक या नास्तिक विश्वदर्शन का चुनाव लेखक इसलिए 'आधारभूत वरण' (fundamental option पृ. १५९) कहते हैं कि दोनों विकल्प संपूर्ण विश्व और मानव जीवन -- की मौलिक व्याख्याएं हैं। विश्वदर्शन का वरण 'ज्ञानात्मक वरण' भी ("congnitive choice") वहीं कहा जाता है, क्योंकि जिस दर्शन-विशेष को अपनाया जाता है, उसे वास्तविक ाति का सही निरूपण माना जाता है। दूसरी ओर निर्णायक कारण के अभाव में - विश्व तो मूलतः द्व्यर्थक है -- लेखक को विश्वदर्शन का चुनाव "अबाधित व्याख्यात्मक क्रिया" (uncompelled interpretive activitiy पृ. १५९) कहना है। इस दृष्टि से धार्मिक (या अधार्मिक) अनुभव प्रत्यक्ष ("physical", पृ. १६०) या नैतिक अनुभव से अभिन्न है : भौतिक या नैतिक स्तर पर भी, लेकिन कम मात्रा में, अनुभव की वैकल्पिक व्याख्या करने की संभावना है। लेकिन धार्मिक अनुभव के क्षेत्र में भौतिक या नैतिक अनुभव की अपेक्षा 'ज्ञानात्मक स्वतंत्रता' ("cognitive freedom", पृ. १६१) के लिए अधिक स्थान है।

यह भी बहुत उल्लेखनीय है कि हिक आस्तिक या नास्तिक विश्वदर्शन, दोनों को 'विश्वास' ('faith' टिप्पणी ८ देखें) की संज्ञा देने से संकोच नहीं करते हैं। दूसरे स्थल पर वह यह भी कहते हैं कि 'ज्ञानात्मक वरण' के परिणामस्वरूप 'हमारा अनुभव *या तो धार्मिक या अधार्मिक* रूप प्राप्त करता है '।[११] धार्मिक दृष्टिकोण को अपनाने के विपरीत मानव 'संपूर्ण धार्मिक पक्ष का बहिष्कार भी कर सकता है '।[१२] इस तरह ईश्वरवाद या प्रकृतिवाद धार्मिक दृष्टिकोण की मूलभूत स्वीकृति या अस्वीकृति के तुल्य विकल्प हैं।

प्रथम सिद्धांत की समीक्षा

हिक महोदय द्वारा प्रस्तुत सिद्धांत की हम द्विविध दृष्टि से समीक्षा करना चाहेंगे। सर्वप्रथम , स्वयं हिक का उदाहरण यह दिखाता है कि तर्कसंगत रीति से शुद्ध संदेहवाद अपनाना प्रायः असंभव है। अनेक बार लेखक यह घोषित करते हैं कि ईश्वरवाद या प्रकृतिवाद विश्व की तुल्य व्याख्याएं हैं। विश्व मूलतः द्व्यर्थक होने कारण उन दोनों में से न तो पहला और न दूसरा निर्णायक विश्वदर्शन हो सकता है। किन्तु दोनों के प्रति निष्पक्ष रहने की कोशिश करने पर भी लेखक एक-दो बार ईश्वरवादी पक्ष की ओर झुकते प्रतीत होते हैं। एक तो वह व्यक्त रूप से कहते हैं कि 'बुद्धि ईश्वर की *संभावना* स्थापित कर सकती है ' (टिप्पणी ६ देखें)। यह सही है कि हिक ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करने से दूर रहते हैं। फिर भी, प्रश्न उठता है कि क्या ईश्वर की संभावना उसकी *अ-संभावना का खण्डन* करती है या नहीं ? प्रथम विकल्प, अर्थात् ईश्वर की संभावना यहाँ तक सिद्ध है कि उसका अनस्तित्व असंभव प्रतीत होता है, यह ईश-दर्शन को निर्णायक कहने से अभिन्न होगा। लेकिन हिक यह दोहराते नहीं थकते हैं कि विश्व मूलतः द्व्यर्थक होने के कारण उसकी केवल एक व्याख्या प्रस्तुत करना असंभव है।

इन परिस्थितियों में हिक दूसरा विकल्प स्वीकार करने के लिए विवश प्रतीत होते हैं, अर्थात् ईश्वर की संभावना उसकी अ-संभावना का *खण्डन नहीं* करती है। दूसरे शब्दों में, ईश्वरवाद या निरीश्वरवाद पूर्णतया तुल्य विकल्प हैं। दार्शनिक संदेहवाद विश्व की द्व्यर्थकता के अनुकूल एकमात्र सिद्धान्त है। हाँ, इसके विषय में कोई संदेह नहीं हो सकता है कि हिक परस्पर-विरोधी दर्शनों के बीच शुद्ध निष्पक्षता के मार्ग पर चलना चाहते हैं। तटस्थता-संकल्प के बावजूद भी हिक महोदय वास्तव में ईश्वरवाद का पक्ष लेते प्रतीत होते हैं। यह कहने के साथ साथ कि बुद्धि ईश्वर की संभावना सिद्ध कर सकती है (देखें टिप्पणी ६), उन्हें यह कहना चाहिए था कि

ईश्वरवाद की भाँति प्रकृतिवाद वैकल्पिक सिद्धान्त है। उनके - चाहे अनजान में भी हो - केवल ईश्वरवाद की संभावना पर बल देने से क्या यह स्पष्ट नहीं दिखाई देता है कि विश्व की द्व्यर्थकता एक ऐसा सिद्धान्त है जिसे तर्कसंगत रीति से अपनाना असंभव है ?

तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में तर्कसंगत-रीति से तटस्थता रखने की असंभावना का दूसरा उदाहरण इस तरह है। हिक के अनुसार प्रकृतिवाद सही होने की संभावना के बावजूद भी धार्मिक अनुभव पर विश्वास करना अबौद्धिक नहीं है। इसके विपरीत, ईश्वरवाद जैसे सार्थक विश्वदर्शन का परित्याग करना, मात्र इसलिए कि उसके भ्रामक होने की सैद्धान्तिक संभावना है, अ-बौद्धिक होगा (देखें टिप्पणी १०)। लेकिन क्या इसमें हिक महोदय का ईश्वरवादी पक्षपात सन्निहित नहीं है ? इसके विपरीत क्या प्रकृतिवादी का प्रत्युत्तर यह नहीं होगा कि भ्रामक होने की सैद्धान्तिक संभावना मात्र के आधार पर क्या निरीश्वरवाद जैसे सार्थक विश्वदर्शन को त्यागना बुद्धि-विरोधी नहीं है ? प्रकृतिवाद की अपेक्षा ईश्वरवाद को ही अर्थपूर्ण कहने से क्या हिक फिर अपने ईश्वरवादी झुकाव का प्रमाण नहीं देते हैं ? बस, उपर्युक्त दो उदाहरणों से जो निष्कर्ष हम निकालना चाहेंगे वह इतना ही है कि विश्व-द्व्यर्थकता पर आश्रित दार्शनिक संशयवाद एक आत्म-खण्डन करने वाला प्रयास है। क्या उसी पर धर्मदर्शन संस्थापित करने का प्रयास सफल हो सकता है ?

हिक द्वारा प्रस्तुत मूल-सिद्धान्त के विरुद्ध हमारी दूसरी आपत्ति विश्वास करने *की क्रिया* बनाम विश्वास के *विषय* के विरोध से संबंध रखती है। ऊपर हम देख चुके हैं कि हिक विश्वास की बौद्धिकता विषयक प्रश्न विश्वास करने की क्रिया तक सीमित करना चाहते हैं(देखे टिप्पणी २)। लेकिन आगे लेखक बौद्धिकता की दृष्टि से स्वयं विषय का महत्त्व भी स्वीकार करते हैं (देखें टिप्पणी ५)। लेखक के द्वारा यह प्रश्न उठाया गया है कि दूसरों के अनुभव के आधार पर विश्वास करना हमारे लिए कहाँ तक तर्कसंगत हो सकता है ? इस प्रसंग में जादू-टोना, अपदूत, चमत्कार या भूतल का समतल होना, ऐसे उदाहरणों का उल्लेख किया गया है (देखें पृ. २१८-२२०)। जहाँ तक गतयुग के मानव का प्रश्न है हिक किसी भी हिचक के बिना कहते हैं कि जो उन लोगों के अनुभव के अनुकूल था, उसी पर विश्वास करना उनके लिए तर्कसंगत था।[१३] यह ध्यान देने योग्य है कि विश्वास करने की बौद्धिकता केवल अनुभव की असंदिग्धता पर आधारित है, विश्वास का स्वयं विषय जो भी हो। किन्तु वर्तमान, वैज्ञानिक युग में बात दूसरी है। हमारे जैसे आधुनिक मनुष्य के लिए उक्त बातों पर विश्वास करने की संगति गत युग के मानव के अनुभव के अतिरिक्त

अन्य शर्तों पर भी निर्भर होगी जो विश्वास के विषय से ही संबंध रखती हैं।[१४]

इस उदाहरण में लेखक विज्ञान की संपूरक कसौटी काम में लाते हैं। विश्वास का जो विषय विशेष वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुकूल नहीं है , उस पर विश्वास करना बुद्धिविरोधी होगा। लेकिन, क्या विषय की बौद्धिकता केवल वैज्ञानिक युग के मानव के लिए वैज्ञानिक सत्य द्वारा निर्धारित है ? क्या विज्ञान का सत्य पूर्व-वैज्ञानिक युग के विश्वासियों के लिए बाध्यकारी नहीं है ? तो क्या विश्वास करने की बौद्धिकता इस तरह काल विशेष- या एक ही युग में स्थान विशेष के अनुसार बदल सकती है? क्या भूतकाल में ही अपदूतों आदि पर विश्वास करना तर्कसंगत था, आजकल नहीं? यह सत्य पर निरी सापेक्षवादी दृष्टि है।

इसलिए स्प्ष्ट है कि विश्वास करने की क्रिया एवं विश्वास के विषय के प्रभेद के साथ-साथ 'तर्कसंगति' या 'बौद्धिकता' के अतिरिक्त दूसरा पद या प्रत्यय अपनाना होगा। असंदिग्ध अनुभव भले ही विश्वास करने के लिए पर्याप्त या अनिवार्य आधार हो, मिथ्या या सत्य विश्वास स्वयं विषय के तात्त्विक स्वभाव पर निर्भर रहता है। इसके अनुसार भूत काल में अपदूतों पर विश्वास करना परिस्थितियों को देख कर स्वाभाविक , अनिवार्य, हाँ बोधगम्य भी कहा जा सकता है। लेकिन इस प्रकार का विश्वास उस युग में भी 'तर्कसंगत' या 'बौद्धिक' कहना भ्रामक शब्दावली है। मानव प्राय: किसी भी बात पर विश्वास करने के लिए विवश हो सकता है, वह कितनी अ-बौद्धिक या विसंगत क्यों न हो। किन्तु विश्वास तभी सत्य होगा जब वह वास्तविकता के अनुकूल है। अत: विषय की अपेक्षा किए बिना विश्वास को बौद्धिक या तर्कसंगत नहीं कहना चाहिए।

दूसरे सिद्धान्त का निरूपण एवं अन्त्य समीक्षा

प्रथम सिद्धान्त के विपरीत जो प्रकृतिवाद के साथ-साथ धार्मिक विश्वास को भी तर्कसंगत सिद्ध करता है, ग्रंथ का द्वितीय सिद्धांत धार्मिक अनेकता से संबंध रखता है। भूमिका में लेखक दोनों सिद्धान्तों को परस्पर संबद्ध कहते हैं : "धार्मिक विश्वास का स्वीकार्य समर्थन ... हमें अनिवार्य रूप से धार्मिक अनेकता संबंधी समस्याओं की ओर ले जाता है "।[१५] उस केंद्रीभूत अध्याय (१३) के उपसंहार में जहाँ धार्मिक विश्वास की तर्कसंगति स्थापित की गयी है, लेखक यह दिखाते हैं किस तरह एक प्रश्न से दूसरा प्रश्न उठता है। अपने अपने धार्मिक अनुभव के आधार पर धर्मपरायण लोग विविध परंपराओं के अंतर्गत भिन्न-भिन्न धर्मसिद्धान्तों पर

तर्कसंगत रीति से विश्वास कर सकते हैं। हाँ, विश्व धर्मों के धर्मसिद्धान्त परस्पर-विरोध भी हो सकते हैं। किन्तु, यदि ऐसा हो, तो क्या विषय की असंगति विश्वास करने की संगति का खण्डन नहीं करती है ? बरट्राण्ड रसेल के साथ हमें स्वीकारना होगा कि "तर्कशास्त्र की दृष्टि से स्पष्ट है कि असहमत होने के कारण विश्व-धर्मों में से एक से अधिक सत्य नहीं हो सकता है"।[१६] परस्पर-विरोधी धर्म-सिद्धान्तों पर विश्वास करना तर्कसंगत घोषित करने से क्या लेखक धार्मिक विश्वास की तर्कसंगति का सिद्धान्त असंगत नहीं करते हैं ?[१७]

अत: अपना प्रथम सिद्धान्त बचाने के लिए हिक महोदय अब द्वितीय सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। यह 'धार्मिक अनेकता' ("Religious Pluralism") विषयक ग्रंथ के चतुर्थ भाग, 'अनेकत्व की परिकल्पना' ("The Pluralistic Hypothesis") शीर्षक अध्याय १४ की विषय-वस्तु है। संक्षेप में परिकल्पना का तात्पर्य इस तरह है। यदि परम तत्त्व को धार्मिक अनुभव के विविध रूपों का आधार माना जा सकता है,[१८] तो उसके विषय में यह मूलभूत प्रभेद करना चाहिए : एक ओर, स्वयं परम तत्त्व (the Real- an Sich) जो मानव ज्ञान की पहुँच के परे है; दूसरी ओर, वही परम तत्त्व जहाँ तक विभिन्न धर्मों में उसका अनुभव होता है। उक्त प्रभेद सभी धार्मिक परंपराओं में प्रचलित कहा गया है : वेदांत में निर्गुण/सगुण ब्रह्म इसका प्रसिद्ध उदाहरण है; ईसाई परंपरा में माइस्तर एकार्त द्वारा प्रतिपादित ईश्वरत्व/ईश्वर ("deitas"/"deus") का प्रभेद मिलता है।दोनों पक्षों का संबंध काँत की शब्दावली में नूमेनन बनाम फेनोमेना के जैसा है। मानव के लिए अज्ञात होने पर भी नूमेनन की विशेषता यह है कि उसका सही अनुभव चाहे ईश्वरवादी या अनीश्वरवादी ('non–theistic') रूप में किया जा सकता है।[१९] या, परम तत्त्व को उन विशेषताओं का मूलाधार या स्रोत भी कहा गया है जिन्हें देवों या ब्रह्म आदि पर आरोपित किया जाता है।[२०] वर्तमान प्रसंग में उल्लेखनीय बात यह है कि हिक ईश्वरवाद और ब्रह्मवाद, दोनों को परम तत्त्व के तुल्य, सही, किन्तु अपर्याप्त प्रतिनिधि मानते हैं। स्वयं परम तत्त्व क्या है, इसे जानने से सभी धर्म समान रूप से दूर रहते हैं। दूसरी ओर अपनी अपर्याप्तता के बावजूद सभी विश्वधर्म परम तत्त्व पर प्रामाणिक दर्शन प्रस्तुत करते हैं।

हम यहाँ हिक महोदय के धर्म-दर्शन का मूल्यांकन करना चाहेंगे। उनके अनुसार धार्मिक विश्वास के विषय भले ही परस्पर-विरोधी हों, विश्वास करने की तर्कसंगति अखण्ड बनी रहती है। विश्व-धर्म परम तत्त्व को या तो वैयक्तिक देवों या अवैयक्तिक ब्रह्म आदि के रूप में मान सकते हैं, धर्मसिद्धान्तों का यह पारस्पारिक

विरोध विश्वास करने की बौद्धिकता का खण्डन नहीं कर सकता है। यह कैसे? ईश्वरवाद, फिर ब्रह्मवाद स्पष्टया परस्पर विसंगत है, लेकिन दोनों न तो व्यक्तित्व और न अ-व्यक्तित्व का स्वयं परम तत्त्व पर आरोपण करते हैं। इस तरह अन-अन्तिम होने के कारण दोनों मुख्य धर्मसिद्धांत विसंगत नहीं , संपूरक ही हैं। परम तत्त्व स्वयं ही व्यक्तिस्वरूप है या नहीं, यह जानना मानव बुद्धि की पहुँच के परे है। दूसरी ओर , अनन्तिम दृष्टि से परम तत्त्व की कल्पना तुल्य रीति से ईश्वरवाद या ब्रह्मवाद के रूप में की जा सकती है। इस तरह प्रतीत होता है कि हिक ईशास्तित्व संबंध ी संदेहवाद को बचाने के लिए परम तत्त्व का स्वरूप संबंधी अज्ञेयवाद अपनाते हैं। "परम तत्त्व है या नहीं है " , इस प्रश्न का उत्तर देना असंभव कहने के बाद, वह अब "परम तत्त्व क्या है या कैसा है " , इसे भी अज्ञेय घोषित करते हैं। संक्षेप में, एक संदेहवादी सिद्धांत की पुष्टि करने के लिए लेखक दूसरा, अज्ञेयवादी सिद्धांत अपनाने के लिए विवश हो जाते हैं।

किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि इस अज्ञेयवादी सिद्धांत के साथ-साथ लेखक एक "अनिवार्य अभयुपगम" (necessary postulate) मानते हैं। वह स्वयं ही आपत्ति उठाते हैं कि परम तत्त्व को मानव-अनुभव के परे कहने के बाद, उसी परम तत्त्व का अस्तित्व कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? जो अज्ञेय है, उसका अस्तित्व जानना संभव है ? लेखक के अपने शब्दों में प्रस्तुत प्रश्न का 'उत्तर यह है कि दिव्य नूमेनन मानव जाति में प्रचलित धार्मिक अनेकता का अनिवार्य अभ्युपगम हैं' ।[२२] जहाँ सभी धार्मिक विचारधाराएँ परम तत्त्व का अस्तित्व वास्तविक मानती हैं, वहाँ धार्मिक विश्वास की बौद्धिकता सिद्ध बनाये रखने के उद्देश से हमें सभी धर्मसिद्धांतों को अनन्तिम कहने के साथ-साथ स्वयं परम तत्त्व की वास्तविकता स्वीकारनी होगी। विश्वधर्म तो सभी सहमत होकर परम तत्त्व को - किसी भी रूप में -- यथार्थ मानते हैं। इस दृष्टि से परम तत्त्व के अस्तित्व के विषय में कोई संदेह नहीं हो सकता है।

यहाँ समीक्षक के मन में हिक महोदय के धर्म-दर्शन के विषय में मूलभूत आशंका उठती है। प्रस्तुत धर्मदर्शन के दो मुख्य सिद्धान्त हैं। पहला, ईश्वरवाद एवं प्रकृतिवाद , दोनों को तुल्य रीति से बुद्धि-संगत कहता है। दूसरा, धार्मिक विश्वास के अंतर्गत सभी धर्मसिद्धांतों को तुल्य रूप से स्वीकार्य मानता है। द्वितीय, अज्ञेयवादी सिद्धांत को मानना इसलिए अनिवार्य कहा गया है कि उसके अभाव में प्रथम सिद्धांत असंगत जान पड़ता है। परस्परविरोधी धर्मसिद्धांत धार्मिक विश्वास की बौद्धिकता का तभी खण्डन नहीं करते हैं, यदि उन्हें अनन्तिम कहा जाये। संक्षेप में द्वितीय सिद्धांत

को प्रथम की पुष्टि करनी है ।[२३]

लेकिन क्या हमने अभी यह नहीं दिखाया है कि द्वितीय सिद्धांत प्रथम का समर्थन कहाँ, उसका खण्डन करता प्रतीत होता है ? द्वितीय सिद्धांत के अनुसार परम तत्त्व का अस्तित्व 'अनिवार्य अभयुपगम' के रूप में स्वीकार करना है । इसके विपरीत प्रथम सिद्धांत के अनुसार परम तत्त्व का अस्तित्व सिद्ध करना असंभव है। जिसे एक असंभव मानता है,उसे दूसरा आवश्यक कहता है : प्रथम सिद्धांत की दृष्टि से परम तत्त्व का अस्तित्व संदेहास्पद है ; द्वितीय की दृष्टि से उसी को निश्चित मानना है ।

हिक महोदय का पक्ष लेकर कोई यह प्रत्यत्तर कर सकेगा कि परम तत्त्व का अस्तित्व संबंधी "अनिवार्य अभ्युपगम" हमें तभी स्वीकारना पड़ता है यदि हम धार्मिक विकल्प को चुन लेते हैं । इसके विपरीत, जो प्रकृतिवाद का विकल्प अपनाता है उसके लिए 'अनिवार्य अभ्युपगम' स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है । प्रकृतिवाद एवं ईश्वरवाद (या ब्रह्मवाद) दोनों वैकल्पिक संभावनाएं हैं । परम तत्त्व का अस्तित्व धार्मिक परिकल्पना में भले ही अनिवार्य है,प्रकृतिवाद की दृष्टि से उसे अस्वीकार किया जा सकता है । इस तरह उक्त 'अनिवार्य अभ्युपगम' प्रथम सिद्धांत के सिर्फ दूसरे, धार्मिक विकल्प का अंग है, न कि प्रकृतिवादी विकल्प का ।

पूर्वपक्ष के विपरीत हमें ऐसा लगता है कि प्रस्तुत धर्मदर्शन में मूलभूत विरोध छिपा हुआ है । बात क्रमशः तीन कदमों में दिखायी जा सकती है । पहले, हिक महोदय प्रकृतिवाद और ईश्वरवाद (या ब्रह्मवाद) , दोनों को पूर्णतया तुल्य विकल्प मानते हैं । विश्व की दार्शनिक व्याख्या या तो अ-धार्मिक या धार्मिक दृष्टिकोण से दी सकती है - यह प्रस्तुत ग्रंथ का आधारभूत सिद्धांत है ।[२४] इस संदेहवाद का सही तात्पर्य यह है कि एक विकल्प की संभावना दूसरे की संभावना रद्द नहीं कर सकती है । ईश्वरवाद (या ब्रह्मवाद) को सत्य मानने पर भी दार्शनिक दृष्टि से प्रकृतिवाद की संभावना बनी रहती है ।[२५] दूसरे, धार्मिक अनेकता की परिकल्पना में परम तत्त्व का अस्तित्व "अनिवार्य अभ्युपगम" के रूप में स्वीकार करना है । इसका तात्पर्य यह है कि परम तत्त्व के स्वभाव की दृष्टि से परस्पर विरोधी होने पर भी ईश्ववरवाद और ब्रह्मवाद , दोनों को समान रुप से परम तत्त्व का अस्तित्व -- "अनिवार्य अभ्युपगम" के रूप में -- मानना पड़ता है । लेकिन ईश्वरवाद एवं ब्रह्मवाद धार्मिक विकल्प के दो रूप हैं । फलतः किसी भी रूप में धार्मिक विकल्प की दृष्टि से परम तत्त्व का अस्तित्व सिद्ध मानना अनिवार्य है । दूसरे शब्दों में , परम तत्त्व

को अवास्तविक मानना असंभव है । तीसरे, इससे मूलभूत अंतर्विरोध स्पष्ट हो जाता है । हिक को प्रथम सिद्धांत के अनुसार धार्मिक परिकल्पना में भी प्रकृतिवाद की संभावना के लिए स्थान होना चाहिए । लेकिन द्वितीय सिद्धांत के अनुसार धार्मिक परिकल्पना में परम तत्त्व का अस्तित्व अनिवार्य मानना है । तो क्या परम तत्त्व के अनस्तित्व की संभावना रह सकती है ?

उपसंहार

ऊपर हमने इस बात की ओर संकेत किया है कि लेखक के लिए संगत रीति से शुद्ध संदेहवाद का पालन करना कठिन है । दो बार वह ईश्वरवाद का पक्ष लेते प्रतीत होते हैं । एक तो, ईश्वर की संभावना स्थापित करना संभव कहा गया है, जहाँ संदेहवाद की दृष्टि से परम तत्त्व का अस्तित्व संभव या असंभव, दोनों को तर्कसंगत विकल्प कहना चाहिए था । फिर, ईश्वरवाद को अर्थपूर्ण विश्वदर्शन कहने के साथ-साथ, लेखक को निरीश्वरवाद की सार्थकता भी स्वीकारनी चाहिए थी । गौण असंगति के ये उदाहरण लेखक के अपने, ईश्वरवादी झुकाव से उत्पन्न हो सकते हैं। लेकिन ग्रंथ के दो मूलभूत सिद्धांत भी एक दूसरे का खण्डन करते प्रतीत होते हैं । यदि ऐसा हो, तो क्या यहाँ प्रस्तुत धर्मदर्शन स्वयं ही मूलत: अंतर्विरोधी नहीं है ? एक ओर, धार्मिक विकल्प में परम तत्त्व की अनिवार्यता निहित कही गयी है ; दूसरी ओर , धार्मिक विकल्प के साथ परम तत्त्व के अभाव की परिकल्पना भी माननी है। तो क्या संगत रीति से संदेहवाद अपनाना संभव है ? और यदि असंभव है, तो क्या इसके बदले सत्य की कसोटी पर आधारित नवीन धर्मदर्शन का निर्माण करना हमारा कर्तव्य नहीं है ?

सेंट अल्बर्टस् कॉलेज
पोस्ट बॉक्स क्र.५
राँची - ८३४००१

योहन फाइस

टिप्पणियाँ

1. Yale University Press, New Haven and London, 1989.
2. " The reference is to the rationality of the believing, not of what is believed". p.212
3. " Theistic belief arises, like perceptual belief, from a natural response of the human mind to its experiences ". p.214.

4. " We are so made that we ... can only live on the basis of our experience and on the assumption that it is generally congnitive ". p.216
5. "The content of the belief, is however relevant to the rationality or otherwise of someone's believing it ".p.212
6. "I believe that reason can ascertain both that there may be a God and that this is a genuinely important possibility". p.219
7. "Each aspect of the universe .. (is) capable of both a theistic and a naturalistic interpretation". p.122
8. "It (the universe) permits both a religious and a naturalistic faith, but haunted in each case by a contrary possibility".p.124
9. "I suggest that in these circumstances it is wholly reasonable for the religious person to trust his or her own experience ". p.228
10. "It would be irrational to base life upon this theoretic possibility ". p.228
11. ... at the deeper level of the cognitive choice whereby we come to experience in either a religious or a non-religious way ".p.159
12. "We are in fact able to exclude the entire religious dimension"p.161
13. "The whole course of this discussion points to the conclusion that it is rational for people to believe what their experience leads them to believe ".p.218
14. "Whether we judge it proper to adopt another person's beliefs, held on the basis of their own experience ... will properly depend upon questions concerning the content of those beliefs " . p.219
15. "... a viable justification of religious belief ... leads inevitably to the problems of religious pluralism ". p.xv
16. "It is evident as a matter of logic that, since (The great religions of the world) disagree not more than one of them can be true ". p.229
17. "For if the different kinds of religious experience justify people in holding the incompatible sets of beliefs developed within the different traditions, has not our justification for religious helief thereby undermined itself ? p.238
18 जिसे हम यहाँ "परम तत्त्व" कहते हैं , उसे हिक अनेक प्रकार से कहते हैं , जैसे "the real " , "the Ultimate (Reality)". आदि। पदका तात्पर्य है : "a term by which to refer to the postulated ground of the different forms of religious experience". p.236.
19. "The noumenal Real is such as to be authentically experienced as a range of both theistic and non-theistic phenomena ". pp.246-247
20. "The Real is the ultimate ground or source of those qualities which characterise each divine *persona* and *impersona* insofar as these are authentic phenomenal manifestations of the Real". p.247.
21. "an authentic manifestation" p.248 (टिप्पणी १९ से तुलना करे) "Authentically experienced , या " an appropriate response to that deity or absolute is an appropriate response to the Real ". p.248
22. "... why postulate such an unknown and unknowable Ding an sich ? The answer is that the divine noumenon is a necessary postualte of the pluralistic religious life of humanity". p.249 ...शेष पृष्ठ भी देखें)
23. "We should have either to regard all the reported experiences as illusory or else return to the confessional position in which we affirm the authenticity of our own stream of religious experience whilst dismissing as illusory those occurring within other traditions. But for those to whom neither of these options seems realistic the pluralistic affirmation becomes inevitable, and with it the postualation of the Real an sich " p.249 {and note 15}
24. "The universe is religiously ambiguious in that it is possible to interpret it, intellectually and experientially, both religiously and naturalistically ". p.12.

25. "..it is wholly reasonable for the religious person to trust his or her own experience ... Such a person will, if a philosopher, be conscious of the ever-present theoretical possibility that it is delusory ... p.229

आन्तरिकता : किर्केगार्ड के चिन्तन में

किर्केगार्ड को अस्तित्ववाद का प्रवर्तक माना जाता है। किर्केगार्ड हेगेल के समयुगीन हैं। किर्केगार्ड के युग में हेगेल के विचारों का प्रमाण स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। हेगेलीय विचारों की प्रभावशीलता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि किर्केगार्ड के विचारों को उनके अपने जीवन-अवधि में मान्यता नहीं मिल पायी। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब अस्तित्ववादी विचार लोकप्रियता की ओर उन्मुख हुआ तो लोगों ने महसूस किया कि करीब सौ वर्ष पूर्व कुछ इसी प्रकार के विचार किर्केगार्ड ने प्रस्तुत किया था। कहीं किर्केगार्ड में अभिरुचि का तत्काल कारण बना और किर्केगार्ड की पुस्तकों और साहित्य के अनुवाद और उन पर वादविवाद का क्रम प्रारम्भ हुआ। किर्केगार्ड के विचारों की दूरगामिता का इससे सबल साक्ष्य और क्या हो सकता है कि जो विचार बीसवीं शताब्दी में चरम लोकप्रिय हुआ उसे इन्होंने करीब सौ वर्ष पूर्व ही प्रतिपादित किया था।

किर्केगार्ड ने अपने जीवनकाल में ही इस तथ्य को महसूस कर लिया था कि उनके विचार इतने मौलिक और प्रचलित धारा से विपरीत हैं कि उन्हें मान्यता नहीं मिलनेवाली है। यदि किर्केगार्ड के जीवन के घटनाक्रम के आलोक में उनके अस्तित्ववादी विचारपर विमर्श क़िया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता कि उनका जीवन दु:खों से परिपूर्ण रहा है। अपने दु:खों को उन्होंने अकेले ही झेला है। और अपने दु:ख में किसी को सहभागी बनाना उन्होंने कभी पसन्द नहीं किया। निराशा, विफलता एवं टूटन उनके जीवन में निरंतर उपस्थित होता रहा और इसकी इतनी तीव्र अनुभूति उन्होंने की कि इसे उन्होंने अपने चिन्तन में भी प्रधानता दी। किर्केगार्ड ने यह महसूस किया कि इनके साथ भी जीते रहने पर 'ठहराव' की स्थिति संभव है। किर्केगार्ड इस बात पर बल देते हैं कि मानवीय स्थिति का सही मूल्यांकन व्यक्ति की विशिष्टता एवं आंतरिकता के अवबोध के आधार पर ही संभव है। किर्केगार्ड व्यक्ति के आंतरिक जीवन को यथार्थ रूप में चित्रित करने के प्रति विशेष रूप से प्रयत्नशील रहे।

किर्केगार्ड यह दिग्दर्शित करते हैं कि व्यक्ति का मानवीय अस्तित्व आंतरिक

परामर्श (हिन्दी), खण्ड १३, अंक ३; जून, १९९२

तनाव तथा क्लेश से संरचित है, तथा इसी के साथ समायोजन के प्रयत्न में व्यक्ति अग्रेसर रहता है।'

किर्केगार्ड के अस्तित्ववाद और हेगेल के अध्यात्मवाद में विरोध

अस्तित्ववाद मानव-केंद्रित दर्शन है। अतः किर्केगार्ड के लिये परिकल्पनात्मक दर्शन का विरोध बिल्कुल स्वाभाविक है। किर्केगार्ड किसी दार्शनिक तंत्र के निर्माण के भी पक्षधर नहीं क्योंकि यह मानव को परतंत्र बना देता है। हेगेलवाद से उनका विरोध इसी कारण हुआ। किर्केगार्ड यह मानते हैं कि जिस प्रकार कट्टरपंथी ईसाई ईसाई धर्म के शत्रु हैं उसी प्रकार हेगेलवाद भी ईसाई धर्म का शत्रु है। किसी भी प्रकार के बंधन में पड़ जाने से मनुष्य अपना स्वत्व खो बैठता है। हेगेल मनुष्य को द्वन्द्वात्मक विधि के बंधन में जकड़ कर उसे परतंत्र बना देता है। इसीलिए हेगेलीय विचार पर उन्होंने तीव्र प्रहार किया।

किर्केगार्ड मानते हैं कि हेगेल का दर्शन मनुष्य तथा उसकी सत्ता के प्रति न्याय नहीं करता। हेगेल का दर्शन सूक्ष्म वस्तुगत चिन्तन है। यह मानव स्थिति के लिये लाभ कर नहीं। हेगेल का दर्शन हमें मनुष्य से दूर करते हुए वस्तुगत दृष्टिकोन से मानवीय सत्ता को उदासीनता का विषय बना देता है।

किर्केगार्ड ने यह अनुभव किया कि हेगेल के दर्शन से किसी नवयुवक के मन का सन्देह दूर नहीं हो सकता। हेगेलीय शुद्ध प्रत्यय की उद्भावना से कोई मार्ग-निर्देश नहीं मिलता। हेगेल के शुद्ध प्रत्यय से किसी व्यक्ति को, जो उसके बीच अति नगण्य स्थान रखता हो, कैसे मार्ग निर्देश मिल सकता है?

हेगेल और किर्केगार्ड की चिन्तन विधि ही परस्पर विरोधी है; अतः इनके निष्कर्ष भी परस्पर विरोधी होंगे। हेगेल के सिद्धांत में विश्व और ईश्वर में तादात्म्य-सम्बन्ध देखने को मिलता है। विश्व के रूप में ईश्वर अपनी अधिकाधिक पूर्णता से प्रकट हो रहा है। जब संसार पूर्णता प्राप्त कर लेगा, उस समय संसार ईश्वर की पूर्ण अभिव्यक्ति माना जायेगा। किर्केगार्ड के अनुसार ईश्वर और उसकी रचना में अवश्य ही कुछ भेद होना चाहिए। असीम और ससीम में अन्तर अपेक्षित है। दोनों के बीच एक असमाप्य खायी है।

किर्केगार्ड की पुस्तकों का नामकरण ही स्पष्ट कर देता है कि किर्केगार्ड के विचार हेगेल-विरोधी हैं। किर्केगार्ड का जीवन-क्रम हेगेल के विपरीत एकान्तप्रिय और आत्मनिष्ठ रहा है। हेगेल का विरोधी होते हुए भी किर्केगार्ड के मन में उसके प्रति आदर का भाव रहा है। उन्हीं के शब्दों में – "मैं हेगेल का आदर करता हूं। वह कभी मुझे पहेली नजर आता है। मैंने उससे बहुत कुछ सीखा है। मैं समझता हूं अभी उससे और कुछ सीख सकता हूं। उसके दार्शनिक चिन्तन, उसका विस्तृत ज्ञान और उसकी सूक्ष्म प्रतिभा का मैं समर्थक हूं .... किन्तु जो व्यक्ति जीवन की जटिल समस्याओं में पड़ा है वह हेगेल के दर्शन से लाभान्वित नहीं हो सकता, उसकी कोई समस्या हल नहीं हो सकती है।[२]

किर्केगार्ड के अस्तित्ववाद में आंतरिकता

हेगेलीय निरपेक्षवाद से असंतुष्ट किर्केगार्ड सत्य पर विशिष्ट रूप से विचार करते हैं। किर्केगार्ड ने सत्य को पारिभाषित करते हुए कहा है कि "सत्य आत्मनिष्ठता है" Truth is Subjectivity। इसका अर्थ यह नहीं लिया जाना चाहिए कि 'आत्मनिष्ठता' कोई पृथक् वैचारिक कोटि है जिसका आरोपण सत्य पर किया जा रहा है। किर्केगार्ड का मन्तव्य यह है कि 'सत्य' और 'आत्मनिष्ठता' दोनों एक दृष्टि से पर्यायवाची हैं।

इस स्थल पर एक भेद की चर्चा प्रासंगिक होगी। किर्केगार्ड के लिये 'वैचारिक आत्म' तथा अस्तित्ववान् आत्म' में प्रकार का भेद है। किर्केगार्ड सामान्य प्रचलित धारणा के विपरीत यह मानते हैं कि वैचारिक आत्म को सत्य की अनुभूति नहीं होती। सत्य की अवधारणा का निर्माण नहीं किया जा सकता, जब कि वैचारिक आत्म अवधारणाओं पर ही विचार करता है। यदि वैचारिक आत्म सत्य का कोई चित्र प्रस्तुत करता भी है तो वह मात्र वैचारिक ही होता है, वास्तविक नहीं। वास्तविक सत्यों की अवधारणा नहीं बनती, उन्हें 'जीया' जाता है, उन्हें झेला जाता है। किर्केगार्ड के ही शब्दों में 'मैं सत्य को तब तक नहीं जान सकता जबतक वह मुझमें जीवन्त न हो जाये'[३]। सत्य का यह स्वरूप यदि मान्य हो तो इसका अर्थ होगा कि 'सत्य आन्तरिकता है'। सत्य बाह्यारोपित नहीं होता, यह अन्तर में जागता है। इसी कारण यह आन्तरिकता है।

किर्केगार्ड के उपर्युक्त कथन ने दर्शन जगत् में कापरनिकसीय क्रांति ला दी। पश्चिमी दर्शन में यह माना जाता रहा है कि सत्य के अवबोध के लिये उस पर वस्तुगत चिन्तन की आवश्यकता है। किर्केगार्ड ने इस प्रचलित विचार का विरोध करते हुऐ सत्य को आत्मनिष्ठता के रूप में स्वीकार किया। केवल बौद्धिक सन्तोष से न सत्य जाना जा सकता है और न जीवन के मूल्य। सत्य तो आन्तरिक अनुभव की वस्तु है। सत्य के स्वरूप के सही बोध के लिये वैज्ञानिक चिन्तन भावना पर विश्वास नहीं करता। यदि लोग सत्य के सम्बन्ध में अपने-अपने विचार प्रस्तुत करने लगेंगे तो उनमें मतैक्य की संभावना नहीं। अत : वस्तुगत चिन्तन के अनुसार सत्य वही है, जो दूसरों को भी ग्राह्य हो। किर्केगार्ड इसे आध्यात्मिक आत्म-हनन कहते हैं। पूर्व प्रचलित धारणा का विरोध करते हुए उन्होंने कहा कि 'दूसरे लोग', 'समाज', 'समुदाय' या 'मानवता' को सत्य का निर्णायक मानने का कोई आधार नहीं। जीवन में हमारे लिये जो कथनीय और करणीय है, उसका मापदण्ड वस्तुगत चिन्तन नहीं हो सकता[४]।

उपर्युक्त विमर्श से यह स्पष्ट है कि किर्केगार्ड सत्य की आन्तरिकता में विश्वास करते हैं। सत्य प्राप्त करने की वस्तुगत और आत्मगत पद्धति में भेद को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। किर्केगार्ड इस संदर्भ में ईश्वरीय ज्ञान की चर्चा करते हैं। यदि ईश्वर का ज्ञान हम वस्तुगत रूप में प्राप्त करने की ओर उन्मुख हैं तो [illegible] अनुचिन्तन इस समस्या पर केन्द्रित [illegible] विषय का ज्ञान हम प्राप्त कर रहे [illegible]

वह ईश्वर सत्य है या नहीं। ईश्वर के ज्ञान को जब हम आत्मनिष्ठ रूप में प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं तो हमारा अनुचिन्तन इस समस्या की ओर केन्द्रित होता है कि व्यक्ति का किसी वस्तु से उस रूप में संबंध है या नहीं कि वस्तु और व्यक्ति के बीच जो सत्य सम्बन्ध है उसे व्यक्ति और ईश्वर के बीच सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किया जाये। अस्तित्ववान् व्यक्ति सत्यप्राप्ति के लिये वस्तुगत या आत्मगत दोनों में किसी भी पद्धति का चयन कर सकता है। वस्तुनिष्ठ विचारक उपगमन की प्रक्रिया (Process of Approximation) में प्रवेश कर ईश्वर को वस्तुनिष्ठता प्रदान करते हैं। पर, किर्केगार्ड की दृष्टि में यह असंभव है क्योंकि ईश्वर एक विषयी है। अत: ईश्वर की ओर अभिगमन मात्र आत्मनिष्ठता की आन्तरिकता में ही संभव है। ईश्वर पर आत्मनिष्ठ रूप में विचार करने के क्रम में ईश्वर की वस्तुनिष्ठता में अन्तर्लीन द्वन्द्वात्मक कठिनाइयों से व्यक्ति परिचित होता है। जब द्वन्द्वात्मक व्याघात व्यक्ति के मनोभावों को निराशा की विन्दु की ओर अग्रसर करता है तब ही मात्र व्यक्ति ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करता है। यह व्यक्ति को निराशा की कोटि के साथ ईश्वर को अंगीकार करने का अवसर प्रदान करता है। इस स्थिति में अस्तित्ववान् व्यक्ति की ईश्वर सम्बन्धी अभिधारणा एक अनिवार्यता है। आत्मनिष्ठ पद्धति के द्वारा ईश्वर की ओर उपागम वस्तुनिष्ठ विमर्श द्वारा नहीं बल्कि आन्तरिकता की अनंत मनोभावों द्वारा संभव होता है। वस्तुनिष्ठ और ज्ञान में अन्तर स्पष्ट करते हुए किर्केगार्ड कहते हैं कि वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ ज्ञान उपगमन की दीर्घ प्रक्रिया के द्वारा अग्रसर होता है जिसमें मनोभाव के लिये कोई स्थान नहीं होता। आत्मनिष्ठ ज्ञान प्रत्येक विलम्ब को एक भयावह संकट मानता है[५]।

इस प्रसंग में प्रश्न यह उठता है कि सत्य आखिर क्या है? क्या सत्य विषय में है या विषयी में? या विषय और विषयी के सम्बन्धों में? या फिर कहीं और? परम्परागत रूप में सत्य को मानसिक अन्तर्वस्तु (निर्णय या विचार) और विश्व में उपस्थित तथ्य, जिसके निर्णय या विचार प्रतिनिधि हैं, के बीच सहमति माना गया है। यदि इस मत की वैधता मान्य हो तो किर्केगार्ड के द्वारा सत्य को आन्तरिकता के रूप में स्वीकार किया जाना दुर्भाग्यपूर्ण माना जाना चाहिये। पर, किर्केगार्ड द्वारा प्रयुक्त भाषा को वस्तुनिष्ठ सत्य की स्वेच्छाचारिता के प्रति उनके खुले विद्रोह के आलोक में समझा जाना चाहिये। सत्य की परिपूर्णता आंतरिकता की उपाधि है। सत्य प्रतिज्ञप्तियों के सम्बन्ध में चर्चा पूर्णतया निर्वैयक्तिक नहीं है। सत्य कुछ इस प्रकार की वस्तु है जिसे हम आंतरिकता के रूप में आत्मसात् करते हैं[६]।

यदि हम ईश्वर को वस्तुनिष्ठ ढंग से जानने की चेष्टा करते हैं, तो तर्क देते हैं, युक्तियों का निर्माण करते हैं तथा समर्थन में साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। इस वस्तुनिष्ठ ढंग से ईश्वरीय अनुभूति नहीं होती बल्कि उसके सम्बन्ध में कुछ वस्तुगत अनिश्चिततायें अवश्य प्राप्त होती हैं। इस अनिश्चितता के कारण हमारे मन में तीव्र आन्तरिक व्याकुलता जागृत

होती है। इस व्याकुलता की प्रबल भावात्मकता की स्थिति में अनिश्चयता का भी आत्मीयीकरण हो जाता है जो इसे ठहराव देता है। इस ठहराव में व्यक्ति को आस्था मिलती है और यह आस्था सत्य के रूप में उभरती है। अत: ईश्वर के प्रति आस्था भी प्रवल भावनात्मक आत्मीयता से ओतप्रोत है। ईश्वरीय सत्य की प्राप्ति इसी प्रकार होती है। इसीलिए किर्केगार्ड की उक्ति है कि तीव्र आंतरिक भावनात्मक व्याकुलता से आस्था जगती है। भावनात्मक रूप में सशक्त आस्था ईश्वरीय सत्य है। अत: यह स्पष्ट है कि सत्य आंतरिकता है।

'सत्य आंतरिकता है' - किर्केगार्ड के इस कथन ने पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तन की दिशा को नूतन आयाम प्रदान किया। अस्तित्ववाद उन विचारों का प्रबल विरोधी है जो मानव जैसे मूर्त विषय को त्याग कर आत्मा, अमरता, विचार जैसे अमूर्त विषयों पर विमर्श करता है। सत्य को आंतरिकता से सम्बन्धित कर किर्केगार्ड ने वस्तुनिष्ठ एवं वैज्ञानिक चिन्तन प्रक्रिया पर सीधा प्रहार किया है। ईश्वरीय ज्ञान वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि यह अनिश्चयता लाता है। अन्ततोगत्वा यह वस्तुनिष्ठ अनिश्चयता भी हमारी भावात्मक व्याकुलता में अन्तर्लीन हो आत्मीयीकरण को प्रश्रय देती है। अत: किर्केगार्ड का यह महत्तम अभिकथन है कि 'सत्य आंतरिकता है'।

बीना शरण

द्वारा, डॉ. विजय शरण
एच्. १३, चाणक्यपुरी कॉलनी
कटारी हिल रोड
गया - ८२३ ००१ (बिहार)

संदर्भ सूची

१ - वसन्त कुमार लाल; *समकालीन पाश्चात्य दर्शन*, मोतीलाल बनारसीदास, पटना, १९६०, पृ. ४७५।
२ - डब्ल्यू लोरी (अनुवादक) *कन्क्लूडिंग अनसाइटिफीक पोस्टस्क्रिप्ट* (आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, पटना, १९४५), पृ. ५५८।
३ - किर्केगार्ड; *ट्रेनिंग इन क्रिश्चयनीटि*, वसन्त कुमार लाल, *समकालीन पाश्चात्य दर्शन*, पृ. ४६० पर उद्धृत।
४ - डॉ. हृदय नारायण मिश्र; श्री प्रतापचन्द्र शुक्ल, *अस्तित्ववाद*, किताब घर, कानपुर, १९८८, पृ. ६२।
५ - एम. के. भद्रा; ए *क्रीटिकल सर्वे आफ फिनोमिनालाजी एण्ड एक्सजिस्टलिज्म* (इंडियन कांसिल ऑफ फिलोसोफिकल रिसर्च, नयी दिल्ली, १८९०, पृ. १९३।
६ - जान मैक्यूरी, *एकजिस्टलियेज्म*, पेनगुइन १९८०, पृ. १३६।

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

२३१. डॉ. चन्द्रकला माटा
टीचर्स फ्लैट क्र. ११
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कैम्पस
कुरुक्षेत्र - १३२ ११९
(हरियाना)

२३२. मुनि श्री. विमल सागर
द्वारा, श्री. कीर्तिकुमार एम्. शाह
एफ्/१०१, विजापूर ज्ञाति नगर
दामोदर वाड़ी के पास
अशोक चक्रवर्ती रोड़
कान्दिवली (पूर्व)
बम्बई - ४०० १०१.

एयर के 'अन्य मनस् का ज्ञान' के मत की व्याख्या

दर्शनशास्त्र में "अन्य मनस् का ज्ञान" एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के भिन्न भिन्न मत हैं। आनुभविक दृष्टिकोण से यह समस्या अन्य व्यक्तियों के विचार, अनुभूतियों एवं संवेदनाओं के ज्ञान की समस्या है। संशयवादियों के अनुसार अन्य मनस् का ज्ञान नाम की कोई समस्या ही नहीं है। उनके अनुसार जब तक एक व्यक्ति स्वयं अन्य व्यक्ति नहीं बन जाता है तब तक वह अन्य व्यक्ति की अनुभूतियों एवं संवेदनाओं का ज्ञान नहीं कर सकता है जो एक तार्किक असंभावना है। एक व्यक्ति अपने स्वयं में रहते हुए अन्य व्यक्ति नहीं बन सकता है। अत: संशयवादियों के अनुसार अन्य मनस् के ज्ञान की समस्या एक मिथ्या समस्या है।

अहंमात्रवादी सिद्धांत के अनुसार सभी ऐन्द्रिक अनुभव एवं ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु एक आत्मा के निजी होते हैं। इस प्रकार की अवधारणा से स्वाभाविक निष्कर्ष यह निकलता है कि सभी आनुभविक ज्ञान विश्लेषण के फल स्वरूप ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तुओं के संवंधी के ज्ञान में परिणत होता है और एक व्यक्ति का संपूर्ण ऐन्द्रिक इतिहास उसके स्वयं का निजी होता है। यह स्थिति अहंमात्रवादी स्थिति है जिसके अनुसार एक व्यक्ति के अतिरिक्त किसी भी अन्य व्यक्ति या अन्य मनस् का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अहंमात्रवादी सिद्धांत आत्मविरोधी नहीं है लेकिन व्यावहारिक जीवन में इसको असत्य माना गया है।

प्रस्तुत पत्र में हम अन्य मनस् के ज्ञान के सम्बन्ध में एयर के मत की व्याख्या करेंगें। इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि वह अन्य मनस् के अस्तित्व को स्वीकार करता है। लेकिन प्रश्न यह है कि अन्य मनस् के अस्तित्व में विश्वास करने का क्या कारण है? यह प्रश्न मनोवैज्ञानिक न होकर एक तार्किक प्रश्न है।

अन्य मनस् के अंस्तित्व में विश्वास के बारे में एयर का कहना है कि इस सम्बन्ध में सादृश्यमूलक तर्क का प्रयोग किया जा सकता है। यह तर्क "हमारे शारीरिक व्यवहार एवं अन्य मनस् के शारीरिक व्यवहार में प्रेक्षित समानता पर आधारित होता है।" उसके अनुसार हम सादृश्यमूलक तर्क का वैधानिक रूप से किसी वस्तु के संभावित अस्तित्व के

बारे में प्रयोग कर सकते हैं, जिसका यद्यपि हमारे जीवन में वास्तविक अनुभव न हुआ हो लेकिन उस अनुभव के बारे में सैद्धान्तिक रूप से विचार किया जा सकता है। जिस वस्तु का सैद्धान्तिक रूप से विचार नहीं किया जा सकता है वह एक तत्त्वमीमांसीय वस्तु होती है। एयर का मानना है कि अन्य मनस् के अस्तित्व की समस्या कोई तत्त्वमीमांसीय समस्या नहीं है, अत: यह कोई मिथ्या समस्या नहीं है।

एयर का यह विचार नहीं है कि अन्य मनस् के अनुभवों को अपने अनुभव में परिणत करने से उनकी वास्तविकता को अस्वीकार करना है। प्रत्येक व्यक्ति को अन्य के अनुभवों को उस संन्दर्भ में परिभाषित करना चाहिए जिसका वह स्वयं सैद्धान्तिक रूप से प्रेक्षण कर सके। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम में से प्रत्येक सभी अन्य मनुष्यों के केवल रोबेट समझ ले। इसके विपरीत चेतन मनुष्य और अचेतन मशीन का भेद उनके प्रेक्षित व्यवहार में देखा जा सकता है। किसी वस्तु के अचेतन या मशीन कहने का आधार यही हो सकता है कि वह उन आनुभविक परीक्षणों में असफल हो जाती है जिनके द्वारा चेतना का होना या न होना निर्धारित किया जाता है।

यहां पर दो कठिनाईयाँ उत्पन्न होती हैं।

१ - एक तो यह प्रश्न उठता है कि क्या कोई ऐसी वस्तु के बारे में कल्पना की जा सकती है जो हर तरीके से उसी प्रकार से व्यवहार करे जैसे कि चेतन व्यक्ति व्यवहार करता है, लेकिन फिर भी वह चेतन न हो।

२ - दूसरी बात यह है कि क्या एयर उस सन्दर्भ में चेतना को गुप्त रूप से रोबोट की अपेक्षा व्यक्ति का विशिष्ट गुण बतलाने का प्रयत्न करता है। अगर ऐसी बात है तब यह कहा जा सकता है कि उसका यह व्यवहारवादी विश्लेषण उचित नहीं है[१]।

एयर अन्य मनस् के अस्तित्व को वास्तविक और काल्पनिक ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु के घटित होने के संदर्भ में परिभाषित करता है। वह कहता है कि अपेक्षित ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु प्रत्येक मनुष्य के ऐन्द्रिक इतिहास में घटित होती है। वह इसके आधार पर इस बात में विश्वास करता है कि उसके स्वयं के अलावा अन्य चेतन व्यक्ति भी अस्तित्व रखते हैं। इस प्रकार वह इस बात को स्वीकार करता है कि अन्य मनस् के बारे में ज्ञान की समस्या ऐसी नहीं है जिसका समाधान नहीं किया जा सकता है, अपितु यह समस्या केवल यह बताने की है कि किस प्रकार एक विशिष्ट प्रकार की प्राक्कल्पना को आनुभविक रूप से प्रमाणित किया जा सकता है।

ऐसा समझा जाता है कि यदि प्रत्येक मनुष्य के अनुभव उसके निजी अनुभव हैं और उस तक ही सीमित रहते हों तो अन्य व्यक्तियों के अनुभव गुणात्मक दृष्टि से उसके समान नहीं हो सकते हैं। लेकिन एयर इस तर्क को उचित मानता है। इस सम्बन्ध में यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि दो व्यक्तियों की संवेदनाओं में केवल संरचना की

समानता देखी जा सकती है न कि अन्तर्वस्तु की समानता। लेकिन एयर की दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु के स्वयं के प्रेक्षण के आधार पर परिभाषित करता है। यदि वह अन्य व्यक्तियों के अनुभवों को आवश्यक रूप से अप्रेक्षीय वस्तु समझता है तो वह उसके लिए एक तत्त्वमीमांसीय प्राक्कल्पना होती है। अत: यह सोचना गलत है कि मनुष्य की संवेदनाओं में हम केवल संरचना के जानते हैं। इसके साथ-साथ हम अन्तर्वस्तु को भी जानते हैं क्योंकि एयर कहता है कि अन्य मनुष्यों की संवेदनाओं की अन्तर्वस्तु यदि वास्तव में किसी के अनुभव की पहुँच के बाहर है तो वह उनके बारे में कुछ नहीं कह सकता है। परन्तु उनके बारे में सार्थक कथन कर सकता है क्योंकि वह स्वयं के और उनके बीच के संबंध को उसी संदर्भ में परिभाषित करता है जो वह स्वयं अनुभव कर सकता है। इस प्रकार हम में से प्रत्येक के पास इस बात को स्वीकार करने के पर्याप्त कारण हैं कि हम एक दूसरे को समझते हैं। "इस प्रकार परस्पर समझ की बात को व्यवहार के सामंजस्य के संदर्भ में परिभाषित किया जा सकता है।" यह कहना कि दो व्यक्ति एक ही जगत् में रहते हैं इसका तात्पर्य यह है कि वे एक दूसरे की समझने की क्षमता रखते हैं।

इस प्रकार एयर अपनी प्रारंभिक अवधारणा में मनस् के ज्ञान के बारे में व्यवहारवादी दृष्टिकोण अपनाता है और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अन्य व्यक्तियों के अनुभवों को हम उन व्यक्तियों के भौतिक या व्यवहारवादी अभिव्यक्तियों के माध्यम से जान सकते हैं।

एयर अपनी पुस्तक *The Foundations of Empirical Knowledge* में उक्त व्यवहारवादी दृष्टिकोण का खंडन करता है। वह इस बात को स्वीकार करता है कि यह एक अनिवार्य तथ्य है कि जो अनुभवों की श्रृंखला मेरे इतिहास को निर्मित करती है वह किसी भी प्रकार से अनुभवों की उस श्रृंखला से मेल नहीं खाती है जो अन्य व्यक्ति के इतिहास को निर्मित करती है। इस कारण से एयर इस बात की कल्पना करने में कोई कठिनाई नहीं महसूस करता है कि ऐसे अनुभव हो सकते हैं जो जिस तरीके से मेरे आनुभविक इतिहास को निर्मित करने में संबंधित न हो कर उसी तरीके से अन्य व्यक्ति के आनुभविक इतिहास से संबंधित हो सकते हैं।[२] इसी सम्बन्ध में यह स्वीकार किया जा सकता है कि ऐसे अनुभवों की अन्तर्वस्तु का प्रेक्षण नहीं किया जा सकता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उनके प्रति हमारे संकेतों का प्रमाणीकरण नहीं हो सकता है।

किन्तु ऐसी बात अन्य मनुष्यों के अनुभवों के बारे में नहीं कह सकते हैं। एयर यह मानता है कि ऐसा कहना तार्किक रूप से अकल्पनीय नहीं है कि कोई व्यक्ति ऐसा अनुभव कर सकता है जो वास्तव में अन्य मनुष्यों का अनुभव है। अनुभव अपने आप में कुछ नहीं है जिससे वह किसी व्यक्ति के इतिहास का निर्माण करता है और किसी अन्य

व्यक्ति के इतिहास का नहीं करता है ।[३] अत : वह इस निष्कर्ष पर आता है कि जिस अर्थ में यह समझते हैं कि अन्य मनुष्यों के अनुभव हमारे प्रेक्षण की क्षमता के बाहर हैं, वह ऐसा नहीं है जो हमारी समझ के लिए उन अनुभवों के अस्तित्व की प्राक्कल्पना को अप्राप्य बना देता है । जब यह कठिनाई दूर हो जाती है तो हमारे लिए यह संभव हो सकता है कि अन्य मनुष्यों के बारे में हमारे जो विश्वास हैं उनका औचित्य सादृश्यमूलक तर्कों के आधार पर बता सकते हैं । और ये अन्य व्यक्तियों के उद्देश्य मूलक व्यवहार एवं उनके द्वारा प्रयोग किए गए संकेतों के प्रेक्षण पर आधारित होते हैं । इस दृष्टि से एयर इस बात पर बल देता है कि अन्य व्यक्ति ऐसे संकेतों का प्रयोग करते हैं, जो हमको ऐसी सूचना प्रदान करते हैं जिसके बारे में हम पहले अनभिज्ञ थे । इस प्रकार वह अन्य मनुष्यों के अनुभवों को जानने का औचित्य सादृश्यमूलक तर्क के द्वारा प्रस्तुत करता है ।

इस बात में एयर बाद में संशय करने लगता है क्योंकि वह इस संभावना को स्वीकार करता है कि यद्यपि ऐसी परिस्थितियों की कल्पना की जा सकती है जिसमें हम यह कैसे कह सकते हैं कि एक ही अनुभव दो भिन्न व्यक्तियों में हो सकता है लेकिन तथ्य यह है कि वह एक अनिवार्य प्रतिज्ञप्ति है कि यह ऐसा नहीं हो सकता है और इस कारण से सादृश्यमूलक तर्क उचित प्रतीत नहीं होता है । अत : एयर अन्य व्यक्तियों के अनुभव के बारे में पुन : व्यवहारवादी दृष्टिकोण को स्वीकार करता है । लेकिन इस दृष्टिकोन के प्रति भी वह पूर्णतया आश्वस्त नहीं है ।[४]

एयर अपनी पुस्तक *Philosophical Essays* में अन्य मनस् के ज्ञान संबंधी समस्या के बारे में नये दृष्टिकोण से चिंतन करते हैं । कुछ दार्शनिक यह मान सकते हैं कि अन्य मनुष्यों के अनुभवों को हम मन :पर्याय द्वारा जान सकते हैं । साधारणतया ऐसा माना जाता है कि मन :पर्याय एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य के बीच की खाई का पाटने की काम करता है । लेकिन यदि यह खाई आनुभविक एवं व्यावहारिक है तब एयर सोचता है कि इसको मन :पर्याय के अलावा अन्य विधियों से भी पाटा जा सकता है । यदि यह खाई तार्किक है तो कोई भी इसको पाट नहीं सकता है । अन्य व्यक्तियों के अनुभव को जानने के लिए हमको उसके अनुभव का भागीदार होना पड़ता है और भागीदार होने का अर्थ है कि उसके अनुभव हमको 'रखने' चाहिए । अन्य के अनुभव हम तभी 'रख' सकते हैं जब कि हम स्वयं अन्य व्यक्ति बनें । लेकिन यह एक तार्किक असंभावना है क्योंकि हम स्वयं के रहते हुए हम अन्य व्यक्ति नहीं बन सकते हैं । जब हम यह कहते हैं कि हम अपने अनुभव जानते हैं तब उसका तात्पर्य यह है कि हम वास्तव में उन अनुभवों को 'रखते' हैं; लेकिन इस अर्थ में हम यह नहीं कह सकते हैं कि हम अन्य व्यक्तियों के अनुभवों को जानते हैं, क्योंकि उनके अनुभवों को हम 'रख' नहीं सकते हैं।[५]

ऐसा कहा जा सकता है यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ सह-चेतना रखता है तो शायद वह उसके अनुभवों के उसी प्रकार जान सकता है जिस प्रकार वह अपने अनुभवों को जानता है। ऐसा करने में वह एक ही समय में दो व्यक्ति होने में सफल हो सकता है। लेकिन यहां ध्यान देने की बात यह है कि दोनों व्यक्तियों के बीच की खाई आवश्यक रूप से रहती है क्योंकि कोई भी व्यक्ति अन्य व्यक्ति के अनुभवों को रखते हुए अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रख सकता है।

एयर इस बात को स्वीकार करता है कि यदि अन्य मनस् का ज्ञान करने का अर्थ अन्य व्यक्ति के अनुभवों में अक्षरश: भागीदार होना है तो हम कभी भी अन्य मनस् को नहीं जान सकते हैं। "ज्ञान" शब्द के इस कठोर अर्थ में अन्य मनस् के ज्ञान की समस्या एक मिथ्या समस्या है। एयर के शब्दों में "यदि इस बात को जानने में कि अन्य व्यक्ति क्या सोच रहा है या अनुभूत कर रहा है मुझे उसके अनुभवों में अक्षरश: भागीदार होना है और यदि उसके अनुभवों में अक्षरश: भागीदार होने का कोई अर्थ नहीं है, तब स्पष्टतया मेरे द्वारा उसके सोचने या अनुभूत करने के जानने का कोई अर्थ नहीं है।[६] इसलिए यदि अन्य मनस् के ज्ञान की समस्या को सार्थक बनाना है तो हमें कठोर अर्थ में "ज्ञान" शब्द के प्रयोग को त्यागना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में हम कह सकते हैं कि यद्यपि हम अन्य व्यक्तियों के अनुभवों के उसी प्रकार जानते हैं, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनके अनुभवों के अस्तित्व में हमारे विश्वास का कोई उचित कारण नहीं है।

अत: अन्य मनस् का ज्ञान उक्त अर्थ में न किया जा कर अनुमान द्वारा किया जा सकता है। एयर इससे सहमत हैं। प्रश्न उठता है कि अनुमान को न्याय संगत कैसे ठहराया जाए? इसका सामान्य उत्तर यह है कि सादृश्यमूलक तर्क द्वारा इसकी न्यायोचित ठहराया जा सकता है। साधारणतया, सादृश्यमूलक तर्क प्रत्यक्ष प्रेक्षण की एक प्रतिस्थापना माना जाता है। लेकिन अन्य मनस् के मामले में प्रत्यक्ष प्रेक्षण क्या है जिसके लिए सादृश्यमूलक तर्क एक प्रतिस्थापना है ? इसमें प्रत्यक्ष रूप से हम अन्य मनुष्यों के केवल व्यवहार के बारे में सूचना एकत्रित करते हैं। इसके अलावा हम उनके विचार एवं अनुभूतियों का ज्ञान नहीं कर सकते हैं। इसी कारण बहुत से दार्शनिक सादृश्यमूलक तर्क को अवैध मानते हैं। एयर भी इस तर्क को पारंपारिक रूप में स्वीकार नहीं करता है। वह यह मानता है कि "अन्य व्यक्तियों पर विचार अनुभूतियों एवं संवेदनाएं आरोपित करने का आंशिक कारण अवश्य ही यह है कि मेरे स्वयं में वे हैं"। उनके आधार पर एवं स्वयं के तथा अन्य व्यक्ति के नाड़ी तंत्र की समानता मानते हुए वह कहता है कि यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मेरे जैसी स्थिति में होने पर उसे ऐसा दर्द हुआ होगा जैसा मुझे हुआ था।[७] इस प्रकार हम देखते हैं कि एयर अपने स्वयं के दर्द की अनुभूति के आधार पर एवं अन्य व्यक्ति के द्वारा प्रदर्शित भौतिक संकेतों को

देख कर उस व्यक्ति पर भी अपने समान दर्द की अनुभूति होने की बात आरोपित करता है।

अन्य मनस् के ज्ञान के सम्बन्ध में हम अप्राधिकृत होते हैं क्योंकि प्राधिकृत होने का अर्थ अन्य मनस् हो जाना है। स्पष्टतया यह विरोध की बात है कि कोई व्यक्ति एक साथ अपने में और अन्य मनस् में कैसे हो सकता है? जैसा कि एयर कहता है "केवल वही (व्यक्ति) वास्तव में जानता है जब वह सोचता है एवम् अनुभूत करता है। मैं नहीं जानता और न जान सकता हूं क्योंकि मैं स्वयं हूं, वह नहीं।"[८] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हम प्राधिकृत स्थिति में नहीं होने के कारण अन्य मनस् के आंतरिक अनुभवों के वास्तविक रूप में नहीं जान सकते हैं। यद्यपि यह तर्क उचित प्रतीत होता है लेकिन एयर इसके प्रबल तर्क नहीं मानता है। उसके अनुसार किसी व्यक्ति के अप्राधिकृत होने की बात किसी व्यक्ति के अनुभव के केवल मात्र वर्णन से निःसृत नहीं होती जब तक कि वक्ता के अभिज्ञान की ओर संकेत नहीं किया जाए। "वह" एवं "वे" एवं "तुम" नामक सर्वनाम का प्रयोग यही बतलाता है कि जिन अनुभवों की बात की गयी है वे वक्ता स्वयं के नहीं हैं।[९] और इसलिए उनको जानने के लिए वक्ता बहुत ही उपयुक्त स्थिति में नहीं है। लेकिन एयर के अनुसार वक्ता के अभिज्ञान का संकेत उन तथ्यों के लिए कोई अर्थ नहीं रखते हैं जिनका वह वर्णन करता है। जब इन सर्वनामों के स्थान पर वर्णन की प्रतिस्थापना हो जाती है तब ये वक्ता की ओर संकेत नहीं करते हैं। एयर के अनुसार हमें यह जानना होगा कि ऐसे मामलों में व्यक्ति की संरचना के संदर्भ में कौन कौन से गुणों का हम चयन करते हैं। इस आधार पर हम किसी व्यक्ति के वर्णन की अभिव्यक्ति के समझ सकतें हैं।[१०]

दो व्यक्तियों के मध्य कभी भी पूर्ण सादृश्य नहीं हो सकता है क्योंकि वे भिन्न-भिन्न व्यक्ति होते हैं। एयर की मान्यता है कि अनुभव व गुणों के मध्य समरूपता का संबंध होता है। (अर्थात् अमुक-अमुक गुण होने पर अमुक-अमुक प्रकार का अनुभव होगा)। सामान्यतया ऐसा कोई गुण नहीं है जिसकी हम सिद्धान्ततः परीक्षा नहीं कर सकते। एयर के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति निश्चित गुणों के अलावा कुछ नहीं है।[११] यह एक साधारण आगमनात्मक तर्क है और इसी आधार पर एयर अन्य मनस् के जानने की समस्या का औचित्य बताता है।

अन्य मनस् की समस्या के संबंध में कई दार्शनिकों ने व्यवहारवादी या भौतिकवादी विचारधारा को अपनाया है। इनमें रूडोल्फ कार्नाप एवं गिलबर्ट रायल प्रमुख हैं। इस विचारधारा के अनुसार किसी व्यक्ति के विचार, अनुभूतियां, संवेदना या किसी भी प्रकार के निजी अनुभव के बारे में कुछ कहने का तात्पर्य उसकी भौतिक दशा या व्यवहार के बारे में कहना है। एयर भी इस विचारधारा के प्रलोभन से अपने आपको

बचा नहीं पाये। उसने अपनी पूर्ववर्ती रचनाओं में इसको अपनाया एवं एक व्यक्ति पर अनुभवों को आरोपित करने वाली प्रतिज्ञप्तियों के मानसिक विश्लेषण को अन्य व्यक्ति पर अनुभवों को आरोपित करने वाली प्रतिज्ञप्तियों के व्यवहारवादी विश्लेषण से सम्मिलित करने का प्रयत्न किया, लेकिन जैसा कि उसने स्वयं स्वीकार किया [१२] वह इसके सत्य होने के बारे में पूर्णतया आश्वस्त नहीं था क्योंकि इसके निष्कर्ष आत्म-विरोधी प्रतीत होते हैं। अत: वह अपनी उत्तरवर्ती रचनाओं में इसे त्याग देता है और आगमनात्मक तर्क का सहारा लेता है जिसके द्वारा अन्य व्यक्तियों पर चेतना अनुभव आदि को आरोपित करने की समुचित व्याख्या की जा सके। इस सम्बन्ध में वह प्रो. हिलेरी पुतनाम के मत से सहमति रखता है जिसके अनुसार "अन्य व्यक्तियों की मानसिक स्थितियों के बारे में प्रतिज्ञप्ति के स्वीकार करना, व्याख्यात्मक आगमन के आधार पर साधारण आनुभविक सिद्धांतों को स्वीकार करने के समान भी है और असमान भी। [१३] वह कहता है "हमारी मानसिक स्थितियों के ज्ञान एवं हमारे द्वारा अन्य व्यक्तियों के व्यवहार के प्रेक्षण के आधार पर हम आगमन के द्वारा उन व्यक्तियों की मानसिक स्थितियों के बारे में विशेष प्राकल्पनाओं का एक समुच्चय स्थापित करते हैं।" [१४] ये विशेष प्राकल्पनाएँ मानव व्यवहार की व्याख्या करती हैं। इस दृष्टि से एयर का अन्य मनस् के बारे में सिद्धांत साधारण आनुभविक सिद्धांतों से समानता रखता है।

एयर सादृश्यमूलक तर्क को उसके परम्परागत रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। उसके अनुसार परंपरावादी इस बिन्दू पर सही थे कि मानसिक स्थिति एवं भौतिक अभिव्यक्ति का संबंध व्यक्ति अपने स्वयं में अनुभव कर सकता है। लेकिन वे इस बिन्दू पर गलत थे कि अन्य व्यक्तियों पर चेतना, अनुभूति, संवेदना आदि आरोपित करना कोई ऐसी विशिष्टता है जिसका प्रेक्षण व्यक्ति अपने स्वयं में कर सकता है, लेकिन अन्य व्यक्तियों में नहीं कर सकता। अन्य व्यक्तियों पर चेतना आरोपित करना मेरे लिए केवल इस सामान्यीकरण को स्वीकार करना नहीं है कि घटनाओं की दो भिन्न-भिन्न श्रृंखलाएं एक मानसिक और एक भौतिक आदतन साथ-साथ होती हैं अपितु यह मेरे द्वारा सिद्धांत के समूचे ढाँचे (Whole body of theory) को स्वीकार किए जाने का परिणाम है, जो मुझे उन अन्य व्यक्तियों के व्यवहार की व्याख्या करने में सक्षम बनाती है जिन पर मैं चेतना, विचार एवं संवेदनाओं के आरोपित करता हूँ। [१५] इस प्रकार एयर के अनुसार सिद्धांत के ढांचे पर विचार करने की योग्यता अपने स्वयं के अनुभव से मानसिक स्थितियों के सीखने पर निर्भर करती है परन्तु उसके स्वीकार करने का औचित्य उसकी "सच्ची व्याख्यात्मक शक्ति" का होना है।

अन्य मनस् की समस्या के सम्बन्ध में सादृश्यमूलक तर्क पर अनेक तीव्र आक्षेप लगाए गए हैं। ऐसा कहा जाता है कि सादृश्य मूलक तर्क के प्रयोग करने वाले दार्शनिक

के पास "अन्य व्यक्तियों के विचार एवं अनुभूतियों के निर्धारण करने की कसौटी नहीं है"।[१६] इसी प्रकार कुछ दार्शनिकों का कहना है कि अपने स्वयं के सम्बन्ध में विचार एवं व्यवहार में सहसंबंध होने का हमारे पास बहुत ही उत्तम आगमनात्मक प्रमाण हो सकता है, लेकिन अन्य व्यक्ति के सम्बन्ध में उसके व्यवहार एवं विचार में सहसम्बन्ध होने की पुष्टि सिद्धांतत : नहीं की जा सकती है।[१७] ऐसा ही मत कुछ अन्य व्यक्तियों के द्वारा भी व्यक्त किया गया है जो सादृश्यमूलक तर्क को सन्देहास्पद समझते हैं।[१८]

कसौटी के बारे में पहले से ही बताया जा चुका है, और एयर भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि अन्य व्यक्तियों के ज्ञान को अगर इस अर्थ में लिया जाए कि उनके विचार, अनुभूतियों एवम् संवेदनाओं को अक्षरश : हम रखते हैं तब इस दृष्टि से अन्य मनस् का ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता है। हम अपने अनुभव में अपनी आंतरिक मानसिक स्थितियों एवम् उनकी बाह्य भौतिक अभिव्यक्तियों में संबंध देख सकते हैं और इसी के आधार पर अन्य व्यक्तियों के भौतिक संकेतों एवम् व्यवहार को देख कर उनके आंतरिक मानसिक स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। एयर के अनुसार अपने स्वयं के अनुभवों एवम् गुणों के आधार पर अन्य मनस् का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन यह आवश्यक रूप से सत्य नहीं होगा कि हमने जो ज्ञान प्राप्त किया है वह अक्षरश : सही है। हमारे अनुभव में जितने अधिक बार गुण और अनुभव का सम्बन्ध हम देखेंगे उतने ही दृढता से हम यह कह सकेंगे कि अन्य व्यक्ति में अमुक-अमुक गुण होने पर अमुक-अमुक अनुभव होगा। हम ऐसी भविष्यवाणी कर सकेंगे, लेकिन इसका पूर्ण रूप से सामान्यीकरण नहीं कर सकते हैं कि "ऐसा गुण होने पर सभी मनुष्यों में ऐसा अनुभव होगा" -[१९] क्योंकि हो सकता है कि व्यक्ति अनुभव कुछ और ही कर रहा है और व्यक्त और ही कर रहा है। एयर द्वारा सादृश्यमूलक तर्क के संशोधित रूप में स्वीकार करना एवम् आगमनात्मक तर्क के द्वारा अन्य व्यक्तियों पर चेतना, अनुभव आदि को आरोपित करने की व्याख्या करना उचित प्रतीत होता है।

अन्य मनस् की समस्या के सम्बन्ध में एयर का मत उचित प्रतीत होता है। अन्य मनुष्यों के अनुभवों का ज्ञान अक्षरश : हम नहीं कर सकते हैं क्योंकि हम अन्य व्यक्ति नहीं बन सकते हैं। एयर ने अनुभववादी होने के कारण अन्य मनस् के ज्ञान की समस्या का जो समाधान प्रस्तुत किया है वह साधारण आनुभविक सिद्धान्तों से समानता रखता है।

निर्मला जैन

दर्शनशास्त्र विभाग
कॉलेज ऑफ सोशल सायन्सेस अँड ह्यूमॅनिटीज
सुखाडिया विश्वविद्यालय
उदयपुर (राजस्थान)

संदर्भ

1. Margaret Chatterjee : *Our knowledge of Other Selves,* Asia Publishing House, Bombay, 1963, p. 51-52
2. A.J.Ayer; *The Foundations of Empirical Knowledge,* Macmillan & Co. Ltd., London, 1940, p. 168.
3. *Ibid.*
4. A.J.Ayer ; *Language Truth & Logic,* Dover, Revi., edition, p.20.
5. A.J.Ayer ; Philosophical Essays, Macmillan & Co. Ltd., London, 1954, P.196-97.
6. *Ibid*, p.198
7. A.J.Ayer ; *Philosophical Essays,* p. 202.
8. *Ibid;* p.208
9. A.J.Ayer ; *The Problem of Knowledge,* MacMillan & Co. Ltd., London, 1956, p.247.
10. A.J.Ayer; *Philosophical Essays,* p.211
11. *Ibid* p.214
12. A.J.Ayer; *Language, Truth & Logic,* Introduction to the Revised edition, p.202
13. Hilary Putnam; Other Minds, *Logic & Art,* Essays in honour of Nelson Goodman, p.82.
14. A.J.Ayer; *The Central Questions of Philosophy,* Weidenfield & Nicolson, London, 1973, p.134.
15. *Ibid*
16. Norman Malcolm; *Knowledge & Certainty,* Prentice Hall, Inc. Englewood Cliffs, N.J.1963, p.131.
17. Marjorie Weinzweig; "Our Knowledge of other Minds : A Pseudo - Problem ?" in *Philosophy & Phenomenological Research* Vol. XXIII, No. 2, 1962.
18. W.G.Burce Aune; "The Problem of other Minds" in *Philosophical Review, vol. LXX, July, 1961, p.323.*
19. निर्मला जैन ; ए. जे. एयर की ज्ञान मीमांसा , पी.एच.डी. की डिग्री के लिए सुखाड़िया विश्वविद्यालय को प्रस्तुत , उदयपुर , १९८५ , पृ. २०

सूचना

गतांक के पृष्ठांक ७३ से १५६ देने के बजाय भूल से १ से ८४ दिये गये हैं। पत्रिका के अंकों के पृष्ठांक आरंभ से हरेक खण्ड के १ से ४ अंकों तक अनुक्रम से इसलिये दिये जाते हैं कि हरेक खण्ड के चतुर्थांक में जो चारों अंकों की लेखक-लेख-सूचि दी जाती है उस पर से कौनसा लेख कौन से पृष्ठों पर प्रकाशित हुआ है इसका संगत संदर्भ उपलब्ध हो। गतांक में इसकी सतर्कता नहीं रह पायी। इसकी वजह से पाठकों की जो असुविधा हुई हो उसके लिये हम क्षमाप्रार्थी हैं। गतांक के पृष्ठांक ७३ से १५६ हैं ऐसा स्वीकार कर इस अंक के पृष्ठांक १५७ से आरंभ किये हैं। आशा है सुविद्य पाठक इसे उचित रूप में स्वीकार कर सहयोग देंगे।

कार्यकारी सम्पादक

युक्तिपरकता : कुछ सवाल, कुछ सुझाव

किसी भी ज्ञानशाखा के लिए 'युक्तिपरकता' का विचार बहुत महत्त्व रखता है। प्राचीन समय से यह स्वीकार किया गया है, कि ज्ञान , चाहे वह किसी भी शाखा का हो, युक्तिपरक होना चाहिए। लेकिन क्या सभी ज्ञानशाखाओं में 'युक्तिपरकता' का अर्थ एक ही है? क्या युक्तिपरकता का परिपूर्ण लक्षण करना संभव है? प्रस्तुत निबंध का उद्देश्य है युक्तिपरकता की संकल्पना के विषय में उठने वाले ऐसे प्रश्नों की चर्चा करना।

- १ -

युक्तिपरकता की संकल्पना साधारणतया तीन तरह से समझी जा सकती है। पहले, हम उसे एक ऐसा गुणविशेष समझ सकते हैं, जो केवल मनुष्य प्राणि में ही पाया जाता है। इस दृष्टिकोण से युक्तिपरकता को 'बुद्धि' भी कहा जा सकता है। दूसरे, हम युक्तिपरकता को ज्ञान का अनिवार्य अंग मान सकते हैं। और तीसरे, हम उसे ऐसा निकष मान सकते हैं, जिससे विभिन्न युक्तियों का, सिद्धातों का तथा निष्कर्षों का मूल्यांकन किया जाता है।

ग्रीक दार्शनिक अरस्तू के समय से यह एक प्रस्थापित सत्य माना जाता है, कि मानव एक तर्कसंगत सोचनेवाला प्राणि है। इससे यह सूचित होता है कि ज्ञान का युक्तिपरक होना अनिवार्य है, वरना वह 'ज्ञान' कहलाने के लायक नहीं है। युक्तिपरकता के अर्थ के बारे में हम चाहे कोई भी प्रश्न उठा लें, हम यह नहीं कह सकते कि ज्ञान होने की कोई जरूरत नहीं है। अगर हम ऐसा गंभीरतापूर्वक कहें तो इसका मतलब यह होगा कि हमने 'ज्ञान' की संकल्पना का पारंपरिक अर्थ अस्वीकार किया है, हम उसे किसी नये तरीके से इस्तेमाल करना चाहते हैं। इस तरह से हमें यह मानना पड़ता है कि युक्तिपरकता के ये दो अर्थ बिना किसी गंभीर आपत्ति के, स्वीकार किये जा सकते हैं।[१]

लेकिन जब हम युक्तिपरकता का विचार यक्ति के मूल्यांकन का निकष मान कर करने लगते हैं, तब कई समस्याएँ निर्माण होती हैं। जब कि सभी यह स्वीकार करते हैं कि युक्तिपरकता इस तरह का निकष है, इस बात पर एकमत प्राय: नहीं हो पाता कि इस निकष का सही आशय क्या है या किस आधार पर हम विशिष्ट युक्ति की

युक्तिपरकता या युक्तियुक्तता निश्चित कर सकते हैं ? परिणामत : यह पाया जाता है कि भिन्न'लोग इस निकष का उपयोग भिन्न तरह से करते हैं । अगर हम इस संकल्पना के इतिहास पर एक नज़र डालें, तो यह बात काफ़ी स्पष्ट हो जाती है । फिर भी यह कहा जा सकता है कि इतिहास में युक्तिपरकता का अर्थ तार्किक निष्पत्ति या निगमन तक ही सीमित रखने की प्रवृत्ति प्रबल रही है ।

इस प्रवृत्ति का एक प्रकटीकरण हम प्राचीन ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के विचारों में देख सकते हैं । प्लेटा के अनुसार 'ज्ञान' उसे ही कहा जा सकता है, जो बुद्धि के द्वारा प्राप्त किया गया हो । इंद्रियजन्य ज्ञान (जिसे प्लेटो 'ओपिनिअन' (Opinion) कहते हैं) सही अर्थ में 'ज्ञान' नहीं होता, क्यों कि उसका विषय अशाश्वत होता है, जब कि प्लेटो के अनुसार सही ज्ञान का विषय शाश्वत होता है । प्लेटो की दृष्टि में भौमितिक ज्ञान के लिए बहुत सम्मान था । वे यह मानते थे कि भौमितिक ज्ञान, ज्ञान का आदर्श स्वरूप है, और किसी भी ज्ञानशाखा का स्वरूप ऐसा ही होना चाहिए । प्लेटो की 'ज्ञान' की संकल्पना तथा बुद्धि का सर्वोत्तम प्रकटीकरण भौमितिक ज्ञान इन दोनों के प्रति उनकी दृष्टि में सम्मान था । ये दोनो ही बातें युक्तिपरकता की संकल्पना के उत्तरकालीन विकास में बहुत प्रभावी रहीं ।

इसी प्रकार का प्रभाव बाद में देकार्त के विचारों का रहा । प्लेटो की तरह देकार्त भी यह मानते थे कि ज्ञान निश्चित और अनिवार्य रूप से सत्य होना चाहिए, और ऐसे ज्ञान का आदर्श भौमितिक ज्ञान है । वे चाहते थे कि हरेक ज्ञानशाखा की रचना भूमिति जैसी हो, याने कि उसका आरंभ स्वत प्रमाणित मूलाधारों से हो, जिनसे तार्किक नियमों के अनुसार निष्कर्षों की निष्पत्ति की जा सके । जो भी विधान इस पद्धति के अनुसार सिद्ध न किया जा सके, वह देकार्त की राय में ज्ञान और बुद्धि के क्षेत्र में अंतर्भूत नहीं होता । इस प्रकार देकार्त के विचारों में हमें युक्तिपरकता और निगमन ये दोनों स्पष्ट रूप में एक हुए दिखाई देते हैं ।

अनुभववादी दार्शनिकों ने "बुद्धि ज्ञान का एकमात्र प्रमाण है" यह देकार्त जैसे बुद्धिवादियों का सिद्धान्त तो गलत माना, लेकिन निगमन का श्रेष्ठत्व भी मान लिया । ब्रिटिश अनुभववादी दार्शनिक, डेव्हिड ह्यूम ने कारणता और निगमन पर जो आलोचना की, उसने निगमन के श्रेष्ठत्व के सिद्धान्त को और भी मजबूत बनाया । बाद में आधुनिक अनुभववादियों ने, खास तौर पर प्रत्यक्षार्थवादियों ने जब निसर्ग विज्ञान को ज्ञान का आदर्श रूप मानते हुए उसका चिकित्सापूर्ण अभ्यास किया, तब वे इस नतीजे पर पहुँचे, कि निगमन का निसर्गविज्ञान के पद्धतिशास्त्र में भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके अनुसार वैज्ञानिक स्पष्टीकरण नैगमनिक नियमशास्त्रीय प्रारूप पर आधारित था, जिसका आधार निगमन ही था ।

इस बहुत ही संक्षिप्त विवरण से युक्तिपरकता के अर्थ को निगमन तक ही सीमित रखने की प्रवृत्ति का प्रभाव जाहिर होता है। इस प्रवृत्ति की उचितता के बारे में प्रश्न उठाने से पहले, यह जान लेना जरूरी है, कि हम यह नहीं कहना चाहते कि इतिहास में युक्तिपरकता की संकल्पना का केवल यही अर्थ रहा है। हम सिर्फ यह निर्देशित करना चाहते हैं कि यक्तिपरकता का यह अर्थ प्राय: सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अर्थ रहा है। आज जब विज्ञान और दर्शनशास्त्र दोनों अपने - अपने एक विशिष्ट स्थान पर आ पहुँचे हैं, तब यह जरूरी हो जाता है कि इस अर्थ का हम ठीक तरह से परीक्षण करें। इस निबंध के अगले हिस्से में हम इस आवश्यकता की चर्चा करेंगे।

- २ -

युक्तिपरकता की संकल्पना के इतिहास के विवरण में हम देख चुके हैं कि प्रत्यक्षार्थवादियों के लिए निसर्गविज्ञान ज्ञान का एक मापदंड था। वे चाहते थे कि आकारिक शास्त्रों के अलावा बाकी सभी ज्ञानशाखाएँ निसर्गविज्ञान के पद्धतिशास्त्र का अनुकरण करें। प्रत्यक्षार्थवादियों की इस "पद्धति की एकता" की घोषणा का आधार था यह विश्वास, कि निसर्गविज्ञान हमें पूर्णत: वस्तुनिष्ठ और सार्वत्रिक ज्ञान देते हैं और अगर अन्य ज्ञानशाखाएँ निसर्गविज्ञान की पद्धति अपना लें, तो वे भी इस प्रकार का वस्तुनिष्ठ और सार्वत्रिक ज्ञान पा सकेंगी। हमने देखा है कि ज्ञान की संकल्पना से युक्तिपरकता तो अवश्य जुड़ी हुई थी। उसके साथ वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता और सार्वत्रिकता भी ज्ञान के आवश्यक गुणविशेष माने गये। ज्ञान, युक्तिपरकता, वस्तुनिष्ठता, सार्वत्रिकता इन सब संकल्पनाओं के एक दूसरे से विशिष्ट तरह से जुड़ जाने के परिणाम स्वरूप शायद युक्तिपरकता और वस्तुनिष्ठता, युक्तिपरकता और सार्वत्रिकता ये भी जुड़ी हुई संकल्पनाएँ मानी गयीं। इससे एक ऐसा आभास पैदा हुआ कि युक्तिपरकता के बिना वस्तुनिष्ठता या वस्तुनिष्ठता के बिना युक्तिपरकता कहीं पायी ही नहीं जा सकती। निसर्ग विज्ञान में तो इस तरह का संबंध कोई कठिनाई नहीं खड़ी करता, क्यों कि वहाँ जो ज्ञान युक्तिपरक है, वह किसी देश या काल से जुड़े हुए सब व्यक्तियों के लिए वैध होने के नाते वस्तुनिष्ठ भी है।

लेकिन जब हम समाजविज्ञान का विचार करते हैं, तब युक्तिपरकता और वस्तुनिष्ठता का यह संबंध इतना सरल नहीं दिखाई देता। निसर्गविज्ञान एवं समाजविज्ञान के अभ्यास विषय में जो मौलिक भेद पाया जाता है, वह उनके पद्धतिशास्त्र तथा उन में प्रयुक्त भाषा में भी परावर्तित होता है। इस फर्क के कारण समाजविज्ञान में वस्तुनिष्ठ और सार्वत्रिक नियमों की रचना करना प्राय: असंभव दिखायी देता है। वस्तुनिष्ठता और युक्तिपरकता को अगर एक-दूसरे से जुड़ा हुआ माना जाए, तो वस्तुनिष्ठता के न होने से यह निष्पन्न होगा, कि या तो समाजविज्ञान में युक्तिपरकता नहीं है, या जितनी भी युक्तिपरकता है, उसमें इतनी शक्ति नहीं कि वह

समाजविज्ञान को सही रूप से 'विज्ञान' (याने निसर्गविज्ञान) के स्तर तक पहुँचा सके।

समाजविज्ञान की युक्तिपरकता तथा वस्तुनिष्ठता से संबंधित और एक महत्त्वपूर्ण संकल्पना है 'मूल्यनिरपेक्षता'।

'पद्धति की एकता' का उद्‌घोष करने वाले प्रत्यक्षार्थवादी यह बात पूरी तरह से समझते थे कि समाजविज्ञानांतर्गत होने वाली चर्चा मूल्यविचारों से संबद्ध रहती है, और समाजविज्ञान को पूरी तरह से वस्तुनिष्ठ बनाने के मार्ग में यह मूल्यविचार ही सबसे बड़ी कठिनाई है। मॅक्स वेबर जैसे समाज वैज्ञानिकों की राय में समाजविज्ञान वस्तुनिष्ठ बनाने के लिए, उसकी भाषा पूर्ण रूप से मूल्यनिरपेक्ष होनी चाहिए। अभ्यासकों के व्यक्तिगत मूल्यों का प्रभाव उनके विचारों में या लेखन में नहीं होना चाहिए। अगर उनके विषय के अनुसार किसी व्यक्तिसमूह के या समाज के मूल्यों की चर्चा करना अपरिहार्य हो, तो यह चर्चा भी मूल्यनिरपेक्ष भाषा में हो, याने कि वह मूल्यों के वर्णन तथा विवरण तक ही सीमित रहे और किसी भी तरह उन मूल्यों का अपने मूल्यों के आधार पर परीक्षण या मूल्यांकन न करे।

मूल्यनिरपेक्षता के इस सिद्धान्त पर कई आक्षेप उठाए गये। यह कहा गया कि ऐसी मूल्यनिरपेक्षता समाजविज्ञान में संभव भी नहीं है और समाजविज्ञान मूल्यनिरपेक्ष बनाने की कोई आवश्यकता भी नहीं है। इस निबंध का विषय मूल्यनिरपेक्षता के बारे में कोई अंतिम निर्णय देना नहीं है। हम सिर्फ युक्तिपरकता के विचार के लिए उसका महत्त्व सूचित करना चाहते हैं। हम यह निर्देशित करना चाहते हैं, कि अगर हम वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता को वैज्ञानिक युक्तिपरकता का एक लक्षण मानते हैं, और इससे भी आगे चल कर अगर हम प्रत्यक्षार्थवादियों का अनुकरण करते हुए वैज्ञानिक युक्तिपरकता को ही सही युक्तिपरकता मानते हैं, तो हम समाजविज्ञान के लिए बहुत बड़ी समस्या निर्माण करते हैं।

प्रत्यक्षार्थवाद का प्रभाव दर्शनशास्त्र के विकास पर भी काफी गहरा रहा है। जैसा कि हम जानते हैं, मुख्यत: प्रत्यक्षार्थवादियों के प्रभाव से बीसवीं सदी में दर्शनशास्त्र की सबसे महत्त्वपूर्ण पद्धति माना गया। इसका एक नतीजा यह हुआ, नीतिशास्त्र का कार्य मूल्यविषयक विधानों के केवल भाषिक विश्लेषण तक ही मर्यादित किया गया, जिससे नीतिशास्त्र अपना पारंपारिक मूल्य एक तरह से खो बैठा। इस विचारधारा का आधार था युक्तिपरकता की वह संकल्पना, जिसे वैज्ञानिक साधनात्मक युक्तिपरकता कहा जाता है। यह दृष्टिकोण स्वीकार करने वाले यह मानते थे कि मूल्य तथा ध्येय की चर्चा अर्थपूर्ण नहीं है (और इसी कारण युक्तिपरक नहीं हो सकती) क्यों कि वे अनुभव के आधार पर सिद्ध नहीं किये जा सकते और वस्तुस्थितिवाचक विधानों से तार्किक नियमों के अनुसार निष्पन्न भी नहीं किये जा सकते। हम सिर्फ साधनों की चर्चा कर सकते हैं, और वह भी उनकी विशिष्ट साध्य के लिए होने वाली परिणामकारकता के बारे में।

आज अगर हम नीतिशास्त्र को इन मर्यादाओं में जकड़ना नहीं चाहते, अगर हम यह बात स्वीकार करने के लिए राजी नही हैं कि समाजविज्ञान निसर्गविज्ञान की तुलना में कनिष्ठ है, तो हमारे लिए यह जरूरी हो जाता है, कि युक्तिपरकता की जो संकल्पना एक ऐतिहासिक प्रक्रिया में निर्माण होकर हम तक पहुँची है, उसकी ध्यानपूर्वक चिकित्सा करें। इस प्रकार का प्रयत्न सद्य :कालीन दर्शनशास्त्र में अनेक तरह से किया जा रहा है। प्रत्यक्षार्थवाद के उपरान्त के विज्ञान - दर्शनशास्त्र को इस बात का एहसास हुआ है कि समाजविज्ञान या दर्शनशास्त्र के लिए निसर्गविज्ञान की पद्धति उचित नहीं है, और इस कारण उन्हें कनिष्ठ मानना भी गलत है। इस निबंध के आखिरी हिस्से में हम इस प्रश्न की चर्चा करेंगे कि अपने विचारों को युक्तिपरकता के सीमित अर्थ से मुक्त करने के लिए हम क्या कर सकते हैं।

- ३ -

इतिहास में एक बात तो साफ नज़र आती है, और वह यह है कि युक्तिपरकता का अर्थ अधिकतर 'आदर्श ज्ञान' की संकल्पना से सम्बद्ध रहा है। प्राय: यह भी देखा जाता है, कि मानवी बुध्दि की सामर्थ्य और मर्यादाओं के प्रति होनेवाला दृष्टिकोण, 'ज्ञान' जो युक्तिपरक ही होता है, उसकी संकल्पना और युक्तिपरकता का एक निकष की हैसियत से होने वाला स्वरूप, इन तीनों में तार्किक तो नहीं, मगर बहुत गहरा संबंध होता है। बुद्धिमात्र को ज्ञान का प्रमाण मानने वाले बुद्धिवादी केवल बुद्धिजन्य आकारिक शास्त्रों को आदर्श मानते हैं और आकारिक वैधता को युक्तिपरकता का सबसे परिणत रूप मानते हैं। दूसरी तरफ अनुभव को भी प्रमाण मानने वाले अनुभववादी, तर्कशास्त्र की सामर्थ्य की तरह मर्यादाओं को भी ध्यान में रखते हुए निसर्गविज्ञान को अनुभवजन्य ज्ञान का आदर्श मानते हैं और इसीलिए वैज्ञानिक युक्तिपरकता की संकल्पना में वैधता के साथ-साथ वास्तविक सत्य का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है ऐसा स्वीकार करते हैं। फिर भी प्लेटो से ले कर प्रत्यक्षार्थवादियों तक यह प्रयास जारी है कि जिस ज्ञानशाखा को आदर्श माना गया है, उसी की पद्धति भी आदर्श मानी जाए, इतना ही नहीं, बाकी सभी ज्ञानशाखाओं में अपनायी जाए। सवाल यह है कि क्या इस प्रकार का प्रयास उचित है?

हम इस बातसे अच्छी तरह से परिचित हैं कि ज्ञान कितने भिन्न भिन्न विषयों का, कितनी तरह का होता है। अपरिमित विविधता और नाविन्य से भरे हुए इस जगत् का ज्ञान क्या केवल किसी एक पद्धति से प्राप्त करना संभव है? हमारी अपनी सुविधा के लिए हम ज्ञान का एक साधारण वर्गीकरण (१) निसर्ग का ज्ञान (२) समाज का ज्ञान और (३) स्वयं का ज्ञान इस प्रकार कर सकते हैं। ज्ञान के उपरोक्त तीन वर्ग ही नहीं बल्कि किसी भी एक वर्ग में अंतर्भूत होने वाली अनेक ज्ञानशाखाएँ भी एक दूसरे से कई तरह से अलग होती हैं। अगर हम निसर्गविज्ञान का उदाहरण लें, तो यह बात जाहिर है

कि भौतिकीशास्त्र, रसायनशास्त्र, जीवशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र आदि शाखाएँ एक दूसरे से संबंधित होते हुए भी, एक दूसरे से भिन्न हैं और इसीलिए भिन्न प्रकार की पद्धति का उपयोग करती हैं। इन ज्ञानशाखाओं के परस्पर-संबंध के आधार पर हम यह ज़रूर कह सकते हैं, कि इन सब में अनुभव, प्रयोग और तर्कशास्त्र का उपयोग अनिवार्य है, लेकिन इससे यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि जिस प्रकार का अनुभव, प्रयोग या तर्कशास्त्र, जिस तरह से किसी एक शाखा में इस्तेमाल किया जाएगा, उसी प्रकार के अनुभव, प्रयोग या तर्कशास्त्र का उसी तरह से इस्तेमाल बाकी शाखाओं में भी किया जाता है। वास्तव में हर एक ज्ञानशाखा अपनी-अपनी ज़रूरतों के अनुसार इन सबका उपयोग करती हैं और उसके विकास के साथ-साथ ही उसका पद्धतिशास्त्र भी निर्मित और विकसित होता रहता है।

इसी प्रकार युक्तिपरकता के विषय में हम यह कहना चाहते हैं कि युक्तिपरकता का निकष तो हरेक ज्ञानशाखा में अनिवार्य है फिर भी किसी भी विशिष्ट ज्ञानशाखा में उसका इस्तेमाल एक विशिष्ट प्रकार से किया जाता है। यह विशिष्टता उस ज्ञानशाखा का विषय, उसकी भाषा, उसके विकास की विशिष्ट अवस्था आदि पर मुख्यत: निर्भर होती है। इस दृष्टिकोण से देखा जाए, तो किसी एक ज्ञानशाखा को आदर्श मानते हुए उसके पद्धतिशास्त्र को और सभी ज्ञानशाखाओं के लिए आवश्यक समझना न तो संभव है, न ही उचित। अगर हम इस भ्रम में फसे हुए हैं कि समाजविज्ञान या दर्शनशास्त्र कम मात्रा में युक्तिसंगत है और इसलिए कनिष्ठ ज्ञानशाखाएँ हैं, और अगर हम इस भ्रम से मुक्त होना चाहते है, तो हमें ज्ञानशाखाओं की विविधता पर, उनके ऐतिहासिक विकास पर, उनकी वर्तमान कार्यपद्धति पर गौर करना चाहिए। इस प्रकार हम जान सकेंगे कि वस्तुनिष्ठता, युक्तिपरकता जैसे सार्वत्रिक भी माने जाएँ, तो भी यह भूलना नहीं चाहिए कि प्रत्येक ज्ञानशाखा में इनका उपयोग भिन्न प्रकार होता है, और यह प्रकार उस ज्ञानशाखा पर निर्भर है।[२]

इस पार्श्वभूमि के आधार पर हमें यह मानने में भी कठिनाई नहीं होगी कि युक्तिपरकता का अर्थ नैगमनिक युक्तिपरकता या वैज्ञानिक युक्तिपरकता तक सीमित रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। वास्तव में हम अनेक भिन्न प्रकार की जो युक्तियाँ इस्तेमाल करते है उनमें से कई प्रकार की युक्तियाँ अगर युक्तिपरकता के किसी भी एक सीमित अर्थ को मानते हुए परखी जाएँ, तो वे युक्तिपरकताहीन कहलाएँगी। लेकिन हम उन्हें युक्तिपरकताहीन नहीं मानते। ऐसी युक्तियाँ जो तर्कत: निष्पन्न भी नहीं हैं और जिन में वैज्ञानिक युक्तिपरकता भी नहीं पायी जाती, उन्हें भी हम कम या अधिक मात्रा में स्वीकरणीय मानते हैं और यह बात तो साफ है कि युक्तिपरकता के बिना कोई भी युक्ति स्वीकाराई नहीं होगी। इसका मतलब यह है कि वास्तविकता में जब हम भिन्न ज्ञानशाखाओं की भिन्न प्रकार की युक्तियाँ का मूल्यांकन करते हैं, तब हम युक्तिपरकता

के अर्थ को इस तरह से मर्यादित नहीं रखते। ज्यादा तर होता यह है कि नैगमनिक युक्तिपरकता के प्रभाव से हम जाने-अनजाने में ऐसा समझते हैं कि जो युक्ति तर्कत: निष्पन्न नहीं होगी वह युक्तिपरकताहीन तो नहीं, मगर पूरी तरह से युक्तिपरक भी नहीं है। जो निकष इस प्रकार की युक्तियों के मूल्यांकन के लिए इस्तेमाल किये जाते है, वे प्राय: क्षेत्र - निर्भर होते हैं। अगर हम क्षेत्र - निर्भरता की संकल्पना स्वीकार करते हैं, तो हमें यह कहने की आवश्यकता नहीं रहती कि नैगमनिक युक्तिपरकता या वैज्ञानिक युक्तिपरकता के स्तर तक न पहुँचने की वजह से जो युक्तियाँ समाजविज्ञान, इतिहास, दर्शनशास्त्र जैसे विषयों मे पायी जाती हैं, वे निसर्गविज्ञान की तुलना में कनिष्ठ हैं। इससे भी आगे चल कर हम यह सूचित करना चाहते हैं कि विभिन्न ज्ञानशाखाओं का और उनमें पायी जानेवाली युक्तिपरकता का श्रेणीबद्ध वर्गीकरण करना ज़रूरी भी नहीं है और उचित भी नहीं।[३]

दर्शनशास्त्र में नैगमनिक युक्तिपरकता तथा वैज्ञानिक युक्तिपरकता दोनों की मर्यादाओं की चर्चा ज़रूर होती आयी है, फिर भी इन दोनों के प्रभाव से दर्शनशास्त्र अभी भी पूरी तरह से मुक्त नहीं हुआ है। नैगमनिक युक्तिपरकता और वैज्ञानिक युक्तिपरकता का महत्त्व और बलस्थानों को नज़रअंदाज न करते हुए भी हम यह कहना चाहते हैं कि युक्तिपरकता का अर्थ इन दोनों में से किसी एक तक या दोनों तक सीमित रखना योग्य नहीं है। भिन्न ज्ञानशाखाओं में युक्तिपरकता जिस प्रकार कार्यान्वित होती है, उन सारे प्रकारों का अध्ययन, विवरण तथा स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता है, जिससे उनके एक- दूसरे से साम्य-भेद स्पष्ट हो सकें और साथ ही साथ ज्ञान तथा युक्तिपरकता की समृद्धता, बहुआयामित्व और वैविध्यपूर्णता के प्रति हम संवेदनशील रहें।

दीप्ति गंगावणे.

दर्शन - विभाग,
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे ४११ ००७.

टिपणियाँ

१. अन्तत: इन दो अर्थों के बारे में भी प्रश्न उठाने होंगे, क्यों कि ये तीनों आपस में जुड़े हुए हैं।

२. यह विवरण एस् टुलमिन की क्षेत्र-निर्भरता (Field - dependence) और क्षेत्र-अपरिवर्तनीयता (Field - invariance) इन संकल्पनाओं के आधार पर किया गया है। Toulmin S., *Uses of Argument* Ch. I, The University Press, Cambridge, 1953.

३. इस विषय में और भी चर्चा होने की ज़रूरत है, लेकिन इस निबंध की मर्यादा में हम इस प्रकार की भूमिका निर्देशित कर सकते हैं।

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (२३)

निरूपकता

पूर्व लेख के अन्तिम भाग में यह प्रश्न उठाया गया था कि जिस प्रकार प्रकारता धर्म और सम्बन्ध से निरूपित होती है उसी प्रकार प्रकारिता आदि भी धर्म और सम्बन्ध से नियमित होती है या नहीं ?

ज्ञान में रहने वाली विषयिता विशेष्यिता रूप होने से वह संसर्गावच्छिन्न नहीं होती है ।[1] ज्ञान में रहने वाली विषयिताओं में अभेद मानने पर विशेष्यिता और प्रकारिता में अभेद होने से विशेष्यिता की तरह प्रकारिता भी सम्बन्ध से नियमित नहीं होती है । परन्तु ज्ञान, कृति, इच्छा आदि में रहने वाली विषयिता-रूप प्रकारिता आदि ज्ञानत्व, इच्छात्व, आदि धर्मों से नियमित होती है ।

पूर्व लेख में कहा गया था कि एक ही पदार्थ में रहने वाली विशेष्यता और प्रकारता में गदाधर भट्टाचार्य के अनुसार अवच्छेद्यावच्छेदकभाव होता है तथा जगदीश के मत में निरूप्यनिरूपक भाव होता है । नैयायिकों के अनुसार प्रतियोग्यनुयोगिभाव इत्यादि के समान निरूप्यनिरूपभाव भी एक महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है ।

जिन दो वस्तुओं में से एक का ज्ञान होने के लिये दूसरे के ज्ञान की अपेक्षा रहती है उनमें परस्पर निरूप्यनिरूपभाव सम्बन्ध रहता है । निरूप्य शब्द का अर्थ बोध्य या ज्ञाप्य होता है तथा निरूपक का अर्थ बोधक या ज्ञापक होता है । उदाहरण के लिये, ज्ञान शब्द सुनने पर मन में उत्कंण्ठा होती है कि किस का (याने किस वस्तु का) ज्ञान । उसी तरह इच्छा सुनने पर जिज्ञासा होती है कि किस वस्तु की इच्छा ? उसके उत्तर में जब कहा जाता है कि घट का ज्ञान, या पट की इच्छा तब उक्त प्रकार की जिज्ञासा का निवारणं होता है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान विषय के बिना पूर्ण नहीं है । ज्ञान की पूर्णता उसके विषय में है । इसलिये विषय ज्ञान का बोधक तथा ज्ञान विषय का बोध्य कहलाता है । इस प्रकार ज्ञान विषय से निरूप्य होता है तथा विषय का निरूपक कहलाता है, जैसे कि कहा गया है - 'विषयनिरूप्यं हि ज्ञानं वित्तिवेद्यो विषय' इति ।[2] इस प्रकार ज्ञान विषय का निरूप्य होने से उसमें निरूप्यता तथा विषय में निरूपकता रहती है । यही

निरूप्यता और निरूपकता निरूप्यनिरूपकभाव के रूप में जाना जाने वाला ज्ञान और उसके विषय के बीच में होने वाला सम्बन्ध है।

जिस प्रकार ज्ञान और उसके विषय के वीच निरूप्यनिरूपक भाव - सम्बन्ध होता है उसी प्रकार प्रतियोगी और अनुयोगी के बीच भी यही सम्वन्ध होता है। 'अभाव' शब्द सुनने पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि किस का (याने किस वस्तु का) अभाव ? घट का अभाव या पट का अभाव ऐसा उत्तर मिलने पर उक्त प्रकार की जिज्ञासा का शमन होता है। इससे स्पष्ट है कि अभाव का बोध उसके प्रतियोगी के बोध के बिना अपूर्ण है। प्रतियोगी के बोध से ही अभाव के वोध में सम्पूर्णता आती है। इस प्रकार प्रतियोगी अभाव का निरूपण करता है। अत : प्रतियोगी में निरूपकता तथा अभाव में निरूप्यता आती है। इसी प्रकार घट का प्रतियोगी के रूप में स्वीकार होने पर यह जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है कि घट किसका प्रतियोगी है ? और घट उसके (घट के) अभाव का प्रतियोगी है ऐसा कहने पर उक्त जिज्ञासा शान्त हो जाती है। इससे स्पष्टतया यह ज्ञान होता है कि घटादि प्रतियोगी के रूप में ज्ञात होने पर ही घटज्ञान की पूर्णता होती है। इस प्रकार प्रतियोगी निरूप्य होता है, तथा अभाव निरूपक होता है। अत : दोनों में स्पष्टतया निरूप्य- निरूपक-भाव है। इसीलिये घटनिरूपक अभाव घटाभाव कहलाता है।[३]

इसी प्रकार कार्य और कारण में भी निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। दण्ड कारण है ऐसा सुनने पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि दण्ड किस का कारण है ? तथा "घट एक कार्य है" ऐसा सुनने पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि घट किसका कार्य है ? दण्ड घट का कारण है और घट दण्ड का कार्य है ऐसा ज्ञात होने पर उक्त जिज्ञासा शान्त होती है। इससे स्पष्ट है कि दण्ड का कारण के रूप में होने वाला ज्ञान तथा घट का कार्य के रूप में होने वाल ज्ञान क्रमश : घटज्ञान से तथा दण्डज्ञान से पूर्ण होता है। अत : कार्य के रूप में घट के होने वाले ज्ञान का पूरक होने से दण्ड, घट में रहने वाली कार्यता का निरूपक है, और घट, दण्ड के कार्य के ज्ञान का पूरक होने से दण्ड में रहने वाली कारणता का निरूपक है। अत : घट में रहने वाली कार्यता की निरूपकता दण्ड में होती है।

इसी तरह घट के आधार होने की चर्चा होने पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि घट किसका आधार है ? उसी तरह घट में आश्रितों के सम्बन्ध में सुनने पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि गुणादि पदार्थ किसमें आश्रित हैं ? घट आदि गुणों के आश्रय हैं तथा गुण आदि पदार्थ घटाश्रित हैं ऐसा उत्तर मिलने पर जिज्ञासा का शमन होता है। इससे ज्ञात होता है कि घट आदि गुणों के आश्रय के रूप में तथा गुण आदि आश्रित के रूप में ज्ञात होते हैं। इस प्रकार घट में होने वाली आश्रयता गुणों से ज्ञाप्य होने से गुण उसका (आश्रयता का) निरूपक है तथा आश्रयता निरूप्य है।

इसी प्रकार जहाँ दो वस्तुओं के साथ-साथ प्रयोग होते हैं - जैसे, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, गृह-गृहपति, क्रिया-कर्ता, क्रिया-कर्म आदि - तब उनमें रहने वाले धर्मों में निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध होता है। इस प्रकार नैयायिक मानते हैं कि युगल के रूप में प्रयुक्त होने वाले- प्रतियोगिता और अनुयोगिता, कारणता और कार्यता, प्रकारता और विशेष्यता, विषयिता और विषयता, उद्देश्यता और विधेयता आदि में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है।

जिस प्रकार अभाव यह प्रतियोगिता का निरूपक होता है, उसी प्रकार घट में रहने वाली अनुयोगिता भी प्रतियोगिता की निरूपक होती है। इसीलिये घटाभाव को घटनिष्ठ प्रतियोगिता निरूपक अभाव जैसे कहते हैं उसी तरह ही उसे घटनिष्ठ प्रतियोगिता निरूपक अनुयोगिताशालि अभाव भी कह सकते हैं। चूंकि प्रतियोगिता और अनुयोगिता में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है इसलिये 'घटनिष्ठ प्रतियोगिता निरूपित अनुयोगितावान् अभाव' को भी घटाभाव कह सकते हैं।

यहाँ विचारणीय विषय यह है कि निरूपकता और निरूप्यता क्या है? इसका और किसी में अन्तर्भाव होता है? दूसरी बात यह है कि यदि निरूपकत्व और निरूप्यत्व वोधकत्व और वोध्यत्व-रूप हैं तो निरूप्य ज्ञान के लिये निरूपक ज्ञान की अपेक्षा होगी और निरूपक ज्ञान के लिये निरूप्य ज्ञान की आवश्यकता होगी और ऐसी अवस्था में उनमें परस्पर अन्योन्याश्रय दोष होगा, उसका क्या उत्तर है? प्रथम प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि निरूप्यत्व और निरूपकत्व जिनका सम्बन्ध है वह उससे भिन्न नहीं है, और इसलिये सम्बन्धी का अन्तर्भाव जिस पदार्थ में होगा उसी पदार्थ में सम्बन्ध का भी अन्तर्भाव होगा। उदाहरणार्थ, जैसे अग्नि में रहने वाली विधेयता पर्वत में रहने वाले उद्देश्य से निरूपित होती है, उसी प्रकार पर्वत में रहने वाली उद्देश्यता से निरूपित होने से वह पर्वत-निरूपित भी है, चूंकि पर्वत में रहने वाली उद्देश्यता पर्वत-रूप है. इसलिये उनका निरूप्यत्व सम्बन्ध भी पर्वत-रूप है तथा पर्वत द्रव्य होने से निरूप्यता भी द्रव्य ही है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि वस्तुत: निरूप्यत्व और निरूपकत्व बोध्यत्व या वोधकत्व नहीं है। उनके स्वरूप को समझाने के लिये उनको वैसा कह सकते हैं। दोनों भी निरूपकता और निरूप्यता स्वरूप सम्बन्ध-रूप ही हैं। गदाधर भट्टाचार्य के अनुसार निरूप्य- निरूपक-भाव सम्बन्ध भी कार्यता, कारणता, आधेयता, आधारता, प्रतियोगिता, अनुयोगिता आदि के परस्पर सम्बन्ध के समान स्वरूप- सम्बन्ध-विशेष है या पदार्थान्तर (भिन्न पदार्थ) है।[४]

कहीं कहीं निरूपकत्व को प्रतियोगित्व-रूप तथा कहीं पर अनुयोगित्व-रूप भी माना गया है। दीधितिकार ने हेत्वाभास के लक्षण में आये अनुमिति पद की व्याख्या

करते समय कहा है कि "तत्रानुमितिपदं अनुमितिनिष्ठ कार्यतानिरूपक सम्बन्धत्वेनानुमिति तत्कारणज्ञानपरम्" ।[५] यहाँ आया हुआ निरूपकत्व प्रतियोगित्व - रूप नहीं है ऐसा गदाधर कहते हैं । नका कहना है कि यदि निरूपकत्व यहाँ प्रतियोगित्वरूप मानें तो कार्य कार्यता का प्रतियोगी न होने से कार्य कार्यता का निरूपक नहीं होगा ।[६] अत : यहाँ प्रतियोगित्वरूप निरूपकत्व नहीं है । इसका तात्पर्य यह है कि कहीं - कहीं निरूपकत्व प्रतियोगित्व-रूप भी होता है ।

लेकिन निरूपकत्व कहीं-कहीं अनुयोगिता-रूप भी होता है । दीधितिकार के उपर्युक्त उद्धरण में निरूपकत्व प्रतियोगित्व-रूप नहीं हो सकता । उसी तरह वह अनुयोगित्व-रूप भी नहीं हो सकता है यह बात टीकाकार ने स्पष्ट की है । गदाधार ने उक्त निरूपकत्व को विषयता रूप में स्वीकार किया है ।[८] किन्तु स्थल-विशेष के सन्दर्भ में निरूपकता को विषयता-रूप न मान कर उसे अतिरिक्त पदार्थ के रूप में भी स्वीकार किया गया है । जैसे, 'वह्न्यभाववान्ह्रद :' इस प्रमा में 'वह्न्यभाववद्ह्रदत्वावच्छिन्न - विलक्षण निरूपकताकत्व' माना जाता है । यह निरूपकत्व विषयता - रूप नहीं है, किन्तु अतिरिक्त ही है । उसे विषयता-रूप मानने पर ह्रद-ज्ञान भी विषयिता सम्बन्ध से 'वह्न्यभाववद्ह्रद' वाला है ऐसी प्रतीति होने लगेगी । परन्तु इस प्रकार का प्रत्यय नहीं होता है, क्योंकि उक्त ज्ञान में 'वह्न्यभाववद्ह्रदत्वावच्छिन्न विलक्षणनिरूपकता (विषयता से भिन्न) नहीं है ।[९]

प्रतियोगिता, अनुयोगिता आदि में रहने वाले निरूप्य-निरूपक-भाव से विषयताओं के बीच होने वाला निरूप्य-निरूपक-भाव कुछ विलक्षण है । जिन विषयताओं में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है, उन विषयताओं से निरूपित विषयिताओं के बीच नियमत : अवच्छेद्यावच्छेदकभाव होता है यह बात पूर्व लेख में स्पष्ट की जा चुकी है । इनके अतिरिक्त जिसमें जिसका निरूपितत्व होता है उसमें उसके आश्रय का भी निरूपितत्व होता है । जैसे, दण्ड में रहने वाली कारणता से निरूपित घट में रहने वाली कार्यता होती है वैसे ही उस घट में रहने वाली कार्यता दण्ड से भी निरूपित होती है । अर्थात्, दण्ड भी घट में रहने वाली कार्यता का निरूपक होता है।[१०]

भिन्न भिन्न पदार्थों में रहने वाली विषयताओं में जिस प्रकार निरूप्य- निरूपक-भाव होता है उसी प्रकार एक ही पदार्थ में रहने वाली विषयताओं में मतभेद से अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव, निरूप्य-निरूपक- भाव आदि होते हैं । परन्तु एक ही पदार्थ में रहने वाली विषयताओं में केवल निरूप्य-निरूपक-भाव ही होता है ऐसा कुछ नैयायिक मानते हैं ।[११] मात्र संशय तथा समुच्चय में विलक्षणता लाने के लिये कोटिता-रूप विषयता से निरूपित विषयताओं में निरूप्य-निरूपक- भाव न स्वीकार कर के अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव स्वीकार किया जाता है ।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि अन्तराभासमाँन् पदार्थ में रहने वाली विशेष्यता और प्रकारता के बीच गदाधर भट्टाचार्य अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव मानते हैं। उनके अनुसार यदि जगदीश स्वीकर करते हैं उस तरह अगर उनमें निरूप्य-निरूपक-भाव माना जाएगा तो उससे गौरव दोष उत्पन्न होता है। उनका आशय यह है कि 'पुरुषत्वावच्छिन्न विशेष्यक दण्डाभावत्वावच्छिन्न प्रकारकबुद्धि' (याने दण्डभाववान् पुरुष-बुद्धि) के लिये पुरुषत्वावच्छिन्न विशेष्यक दण्डत्वावच्छिन्न प्रकारक निश्चय प्रतिबन्धक होता है। यदि एकत्र रहने वाली विशेष्यता और प्रकारता में अभेद स्वीकार करेंगे तो दण्डाभाववान् पुरुष इस बुद्धि के लिये 'सुन्दरपुरुषदण्डवान्देश:' यह बुद्धि भी प्रतिबन्धक (विरोधक) हो जाएगी। क्योंकि यहाँ भी सुन्दरत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित जो विशष्यता पुरुष में है वही पुरुषत्व से अवच्छिन्न प्रकारता भी है। अत: वह दण्डत्वावच्छिन्न विशेष्यता-रूप प्रकारता से भी निरूपित है। इस प्रकार वह निश्चय भी पुरुषत्वावच्छिन्न प्रकारक निश्चय है। उक्त प्रतिबध्य- प्रतिबन्धक-भाव नियम के अनुसार उक्त निश्चय भी प्रतिबन्धक होना चाहिये। परन्तु वस्तुस्थिति में ऐसा नहीं होता। जगदीश उक्त दोष के निवारण के लिये दण्डत्वावच्छिन्न प्रकारतात्वावच्छिन्न निरूपकता से निरूपित निरूप्यतावान् पुरुषत्वावच्छिन्न विशेष्यताशालि निश्चय को प्रतिबन्धक मानते हैं, जिसके कारण 'सुन्दरपुरुषदण्डवान् देश:' यह ज्ञान 'दण्डाभाववववान्पुरुष:' इस ज्ञान में प्रतिबन्धक नहीं होता है। क्योंकि सुन्दरत्व इस प्रकारता से निरूपित जो विशेष्यता पुरुष में है वह दण्डत्वावच्छिन्न प्रकारतात्वावच्छिन्न निरूपकता से निरूपित निरूप्यता वाली नहीं है। परन्तु यहाँ जगदीश के मत में 'निरूपकतानिरूपितनिरूप्यता'- रूप अधिक पदार्थ की कल्पना करने की अपेक्षा एकत्र विद्यमान प्रकारता और विशेष्यताओं में भेद स्वीकार करके अवच्छेद्यावच्छेदक - भाव स्वीकार करना ही उचित है ऐसा गदाधर का विचार है।[१२]

सादृश्य वर्णन के प्रसंग में भी निरूप्य-निरूपक-भाव परिलक्षित होता है। जैसे, 'चन्द्रवतमुख' कहने पर चन्द्रनिरूपित सादृश्य मुख में परिलक्षित होता है। यह चन्द्र सादृश्य का निरूपक है। अत: उनमें निरूप्य -निरूपक-भाव होता है। यहाँ निरूपक के अर्थ में प्रतियोगी पद का व्यवहार भी देखा जाता है। अत: 'चन्द्रप्रतियोगिक सादृश्ययुक्त मुख' कहने पर चन्द्रनिरूपित सादृश्य मुख में परिलक्षित होता है। यह चन्द्र सादृश्य का निरूपक है। अत: 'चन्द्रप्रतियोगिक सादृश्ययुक्त मुख का बोध होता है। इसलिये यहाँ का निरूपकत्व प्रतियोगित्व-रूप माना जाता है।

जिस प्रकार प्रतियोगित्व के तात्पर्य से निरूपकत्व का प्रयोग होता है उसी तरह निरूपकत्व के तात्पर्य से प्रतियोगित्व शब्द का भी प्रयोग होता है। जानकीनाथ भट्टाचार्य ने किसी का मत उद्धृत किया है कि "भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वं प्रकारत्वं" है। यहाँ

टीकाकार ने प्रतियोगित्व का अर्थ निरूपकत्व किया है ।[१३] क्योंकि प्रतियोगित्व को विरोधित्व के रूप में ग्रहण करने वाले के लिये प्रकार वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) का विरोधी न हो कर निरूपक होता है और वहाँ प्रतियोगित्व का अर्थ निरूपकत्व है ।

कुछ नैयायिक विषयता से निरूपित ज्ञान आदि में रहने वाली विषयिता को अतिरिक्त न मान कर विषयित्व को विषयता- निरूपकत्व के रूप में स्वीकार करते हैं । इसी प्रकार अवच्छिन्नत्व को भी निरूपकत्व के रूप में स्वीकार किया गया है । जैसे, अग्नि के अभाव को अग्नित्वावच्छिन्नाभाव कहा जाता है । यह अवच्छिन्नत्व अग्नित्वनिष्ठ (अग्नि में रहने वाली) अवच्छेदकता का निरूपकत्व ही है, क्योंकि अग्नित्व से अवच्छिन्न जो प्रतियोगिता अग्नि में रहती है वह अग्नित्व में रहनवाली अवच्छेदकता की निरूपक होने से उक्त अवच्छिन्नत्व निरूपकत्व-रूप होता है ।

विशेष्यता और प्रकारता में जिस प्रकार निरूप्य-निरूपक-भाव होता है उसी प्रकार प्रकारता और विशष्यता का संसर्गता के साथ भी निरूत्त्य- निरूपक-भाव होता है । जिसका जो सम्वन्ध जहाँ प्रतीत होता है उसकी विशेष्यता और उसकी प्रकारता का भी उस संसर्ग में रहने वाली संसर्गता के साथ निरूप्य-निरूपक-भाव होता है यह एक नियम है । यही कारण है कि विशेष्यता और प्रकारता में जो निरूप्य- निरूपक-भाव है वह संसर्गता के द्वारा ही होता है । अत : प्रकारता में विशेष्यता-निरूपितत्व है वह विशेष्यता-निरूपित संसर्गता- निरूपितत्व है, तथा विशेष्यता में प्रकारता-निरूपितत्व माने प्रकारता-निरूपित संसर्गता-निरूपितत्व है । कार्य-कारण-भाव में जहाँ प्रकारता और विशेष्यता का निवेश होता है वहाँ संसर्गता का निवेश होता ही है । अत : प्रकारता और विशेष्यता में स्वतंत्र रूप से निरूप्य-निरूपक-भाव न मानने पर भी कोई गौरव दोष नहीं है ।[१४]

कुछ नैयायिककों का मत है कि विनिगमनाविरह होने से उन दोनों में भी स्वतंत्र निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध होता है ।[१५]

गदाधर का मत है कि घटत्वावच्छिन्नत्व जो घटनिष्ठ प्रकारता में है वह घटत्वनिष्ठ प्रकारता- निरूपितत्व ही है । अत : घटत्वनिष्ठ प्रकारता से घटनिष्ठ प्रकारता भी निरूपित होती है । प्रकारता और विशेष्यता के बीच में ही निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध होता है ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि भूतल में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित घट में रहने वाली प्रकारता ही घटत्वनिष्ठ प्रकारता-निरूपित विशेष्यता-रूप होने से उन दोनों प्रकारताओं में निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध है ।[१६]

इस प्रकार प्रतियोगिता, अवच्छेदकता आदि नियमत : जिसकी आकांक्षा रखते हैं वह निरूपक तथा प्रतियोगित्व आदि निरूप्य (निरूपित) होते हैं । घट किसका प्रतियोगी है ? यह आकांक्षा होने पर अभाव उसका निरूपक होता है, तथा प्रतियोगिता निरूपित होती है । उसी प्रकार ज्ञान को भी नित्य विषय की आकांक्षा होती है। अत : उसका विषय

निरूपक तथा ज्ञान निरूप्य होता है। परस्पर एक दूसरे की आकांक्षा होने से प्राय: सर्वत्र परस्पर निरूप्य- निरूपक-भाव होता है, तथा जो निरूप्य होता है उसमें निरूपकता होती है। निरूप्यता और निरूपकता की स्थिति प्रत्यय पर अवलंबित है। प्रत्यय के आधार पर ही कौन निरूपक है और कौन निरूप्य है इसका निर्धारण होता है।

पूर्व में यह बतलाया जा चुका है कि घट का अभाव ज्ञात होने पर अभाव से निरूपित प्रतियोगिता घट में तथा उक्त प्रतियोगिता की निरूप्य या निरूपक अवच्छेदकता घटत्व में ज्ञात होती है। इस प्रकार घटत्व में रहने वाली अवच्छेदकता की निरूपक या निरूप्य प्रतियोगिता होती है। घट अवच्छेदकता का निरूपक नहीं है।

वस्तुत: अवच्छेदकता से निरूप्य अवच्छेद्यता होती है। प्रतियोगिता उसकी निरूपक होती है। परन्तु चूंकि अवच्छेद्यता प्रतियोगिता में रहती है अत: अवच्छेदकता के साथ होने वाला निरूप्य-निरूपक-भाव प्रतियोगिता के साथ भी होता है।

निरूपकता और निरूप्यता के सम्बन्ध में कुछ और बातों पर अग्रिम लेख में विचार किया जायेगा।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे - ४११ ००७.

बलिराम शुक्ल

टिप्पणियाँ

१. शिवदत्त मिश्र; ह्रदोजात्यभाववान् इत्यादौ जातिमज्ज्ञातिमत्वावच्छिन्न विषयताया: विशेष्यितारूपत्वेन संसर्गानवच्छिन्नतया संसर्गनिवेशे जातिमान् जातिमानित्यादि ज्ञानावारणाच्चेति वाच्यम्। सामान्यनिरुक्तिटीकायाम्।
२. विश्वनाथ; न्यायसिद्धान्तमुक्तावली; प्रामाण्यवादप्रकरणे
३. शिवदत्त मिश्र; अभावप्रतियोगित्वयो: परस्परनिरूप्य निरूपक भावादिति। जागदिशी, सिद्धान्तलक्षणस्य टीकायाम्।
४. गदाधार; संसर्गतया समं प्रकारताया विशेषतायाश्च निरूप्यनिरूपकभावाख्य सम्बन्धविशेषोऽभ्युपगन्तव्य:। स च सम्बन्ध: कार्यत्व कारणत्वाधेयत्वांधारत्व प्रतियोगित्वानुयोगित्वादीनां मिथ: वादृशसम्बन्ध: इव स्वरूपविशेष: पदार्थान्तरमेव वा। गादाधरी, विषयतावादे
५. रघुनाथ, दीधिति, सामान्यनिरुक्तिप्रकरणे।
६. गदाधर; निरूपकत्वश्चात्र यदि प्रतियोगित्वं तदा कार्यस्य कार्यताप्रतियोगित्वाभावादनुमित्यसंग्रह:। गादाधरी, सामान्यनिरुक्ति प्रकरणे।

७. शिवदत्त मिश्र; निरूपकत्वं यद्यनुयोगित्वरूपं तदा परामर्शाऽसंग्रहेण व्यभिचारादावव्याप्तिर्बोध्या। सामान्यनिरुक्ति टीकायाम्।

८. गदाधर; सम्बन्धिपदं सम्बन्धिद्वयसाधारणस्य तत्साक्षात्कारजनक साक्षात्कार विषयतात्मक निश्चायकत्वस्य लाभाय। गादाधरी, सामान्यनिरुक्ति प्रकरणे।

९. शिवदत्त मिश्र; तादृश्य निरूपकत्वं च न विषयतारूपं किन्त्वरिक्तमेव। सामान्यनिरुक्ति टीकायाम्।

१०. यन्निरूपितत्वं यस्य तदाश्रय निरूपितत्वभवितस्येति। वहीं

११. विषयितयो: परस्पर निरूप्यनिरूपकभाव:। वहीं

१२. शिवदत्त मिश्र; इदमत्रतत्त्वम्। अन्तराभासमानपदार्थनिष्ठ विशेष्यताप्रकारतयो भट्टाचार्यमतेऽवच्छेद्यावच्छेदकभाव:। तेषामयमाशय: - पुरुषत्वावच्छिन्नविशेष्यक दण्डाभावत्वावच्छिन्न प्रकारक बुद्धिं प्रति पुरुषत्वावच्छिन्न दण्डत्वावच्छिन्न प्रकारक निश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वम्। तयोरभेद स्वीकारे तु सुन्दरपुरुषदण्डवान्देश इत्यस्यादि प्रतिबन्धकत्वापत्ति:। अत्रापि सुन्दरत्व प्रकारता निरूपिता या पुरुषे विशेष्यता सैव पुरुषत्वावच्छिन्न प्रकारता इति तस्यां दण्डत्वावच्छिन्न विशेष्यतात्मक प्रकारतानिरूपितत्व सत्वात्। जगदीशस्तु दण्डत्वावच्छिन्न प्रकारत्वावच्छिन्न निरूपकता निरूपित निरूप्यतावत्पुरुषतात्वावच्छिन्न विशेष्यताशालिनिश्चयत्वेन प्रतिबन्धकतामभ्युपैति। सामान्यनिरुक्ति टिप्पण्याम्।

१३. यादवाचार्य; अत्र प्रतियोगित्वं निरूपकत्वम्। न्यायसिद्धान्तमञ्जर्या: टीकायाम्।

१४. गदाधर; यत्र प्रकारताविशेष्यत्वयोर्निवेश: तत्र संसर्गस्याप्यवश्यं निवेशात् तयोर्निरूप्यनिरूपक भावानभ्युपगमेऽपि गौरवानवकाशादिति। गादाधरी, विषयतावादे

१५. शिवदत्त मिश्र; विनिगमनाविरहादेव तयोरपि साक्षान्निरूप्यनिरूपकभावसिद्धिरिति। विषयतावाद टिप्पण्याम्

१६. गदाधर; वस्तुतस्तु .....तत्र घटादिनिष्ठाया: भूतलादिनिष्ठ विशेष्यतानिरूपित प्रकारताया एव घटत्वादिप्रकारतानिरूपित विशेष्यतात्मकत्वात् तादृश प्रकारतयोर्निरूप्यनिरूपकभावोपपक्षे:। गादाधरी, विषयतावादे

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बडा न हो। लेख के बारें में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जाएगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।



University of Poona.

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक प्रिण्ट आर्ट एण्टरप्रायजेस् ११२१, शिवाजीनगर, पुणे ४११ ०१६ में छपवाकर प्रकाशित किया।

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883/79



